Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय संगीत में ताल और रूप विधान

लक्ष्य-लक्षणमूलक अध्ययन

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भारतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सादर

२०.३.८४

आम्नाय-ग्रन्थालय,
धरतन्त्रिंध, करौंदी
वाराणसी-5

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान

लक्ष्य-लक्षणमूलक अध्ययन

आम्नाय–ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान

लक्ष्य-लक्षणमूलक अध्ययन

('Form' in Indian Music)

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

डॉ० सुभद्रा चौधरी
अध्यक्षा
संगीतशास्त्र विभाग
इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय
खैरागढ़ (म० प्र०)

कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

मूल्य : एक सौ चालीस रुपये मात्र
विदेशों में : $: 15

© सुभद्रा चौधरी

प्रथम संस्करण : १९८४

प्रकाशक : कृष्णा ब्रदर्स, महात्मा गांधी मार्ग
अजमेर-३०५००१
(राजस्थान) भारत

आवरण : प्रकाश आर्टिस्ट, अजमेर

मुद्रक : स्वस्तिक प्रिंटर्स,
हाथीभाटा, अजमेर—३०५००१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

समर्पित

दिवंगता वात्सल्यमयी माँ
अंजना देवी चौधरी
को
जिसने कर्म की साधनभूत देह दी,
जिससे संगीत के मूल संस्कार प्राप्त हुए
और
जिसकी प्रेरणा से संगीत के क्षेत्र में
मेरा पुनर्जन्म हुआ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आमुख

बीसवीं शताब्दी में संगीतशास्त्र का जो भी अध्ययन हुआ, उसमें 'गान्धर्व' के घटक स्वर, ताल और पद में से स्वर पर ही पूरा ध्यान केन्द्रित रहने की स्थिति प्राय: १९७० तक बनी रही। स्वर-श्रुति, ग्राम-मूर्च्छना, तान, जाति, राग, मेल, राग-रागिणी—ये ही अध्ययन-अनुसन्धान या विचार-चर्चा के प्रमुख विषय बने रहे। और यह स्वाभाविक भी था क्योंकि 'राग' को केन्द्र में रखकर ही विचार-विमर्श का आरम्भ हुआ था। उपर्युक्त सभी विषय राग से सीधे जुड़े हुए हैं। १९७० से १९८० तक के दशक में अध्ययन की इस एकांगिता या एकरूपता के भङ्ग के साथ एक नया मोड़ उपस्थित हुआ और इस मोड़ से जो दिशा उद्भासित हुई, वह थी 'ताल' की ओर ताल के साथ ही 'निवद्ध' की। ताल के साथ-साथ एक ओर गीतक और दूसरी ओर 'निबद्ध' के देशी रूप प्रबन्ध, वस्तु, रूपक भी अध्ययन का विषय बने और यह भी उतना ही स्वाभाविक था जितना कि राग की परिधि में आये विषयों का अपने केन्द्र के साथ जुड़ना स्वाभाविक था। ताल और पद का भी सहज सम्बन्ध है। अत: अध्ययन की परिधि में पद का भी समावेश हुआ। उक्त दशक में जो भी काम हुआ, उसमें डॉ० सुभद्रा चौधरी के शोध-प्रबन्ध का, प्रथम प्रयास और विषय-विस्तार की दृष्टि से, प्रमुख स्थान है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में ताल के साथ-साथ गीतक, ध्रुवा, प्रबन्ध और छन्द को प्रथम बार अध्ययन का विषय बनाया गया और इस प्रकार ताल और पद, इन दोनों का इसमें समावेश हुआ है। निराकार या निर्विशेष स्वर जब प्रकट होता है तब साकार या सविशेष होकर ही 'प्रत्यक्ष' का विषय बनता है। तब उसका 'मान' (काल-मान) केवल लय अथवा ताल-विशिष्ट लय के आवरण में लिपट कर और उसके आकृति-मूलक खण्ड 'पद' (सार्थक अथवा निरर्थक वर्णात्मक ध्वनि-समूह) के अनुसार विभक्त होकर श्रवणगोचर होते हैं। यह बात 'अनिबद्ध' में भी उतनी ही सत्य है, जितनी कि 'निबद्ध' में। फिर भी इतना तो है ही कि निबद्ध के प्रसंग में ताल और पद अपेक्षाकृत अधिक निश्चित आकार धारण करते हैं; अत: यह सहज है कि इन दोनों का अध्ययन 'निबद्ध' के साथ जुड़ा रहे।

इस नवीन दिशा में उपर्युक्त दशक का, काल-क्रम के अनुसार, संक्षिप्त कार्य-विवरण इस प्रकार है।

प्रथम चरण

१. "भारतीय तालों का शास्त्रीय अध्ययन"—डॉ० अरुण कुमार सेन। (प्रकाशित)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२. डॉ० सुभद्रा चौधरी का प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

३. "दत्तिलम् का अध्ययन"—डॉ० मुकुन्द लाठ। (ताल और गीतक का गान्धर्व के स्वर-पक्ष के साथ-साथ इसमें समावेश है)। (प्रकाशित, अंग्रेज़ी में)

ये तीनों शोध-प्रबन्ध १९७०-७३ के बीच परस्पर स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत हुए। द्वितीय और तृतीय प्रबन्धों में प्रमुख समान-धर्मिता इस बात में है कि दोनों में प्रथम वार अभिनवगुप्तपाद की 'अभिनवभारती' (नाट्यशास्त्र पर टीका) का आधार लिया गया है। गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थमाला के अन्तर्गत 'अभिनवभारती' सहित नाट्यशास्त्र के चतुर्थ खण्ड (अध्याय २८-३७) का प्रकाशन १९६०-७० वाले दशक में हुआ और अधुना संगीतशास्त्र के गम्भीर अध्ययन के इतिहास में यह प्रकाशन एक क्रान्तिकारी घटना है। इस घटना की प्रथम फलश्रुति डॉ० सुभद्रा चौधरी के शोध-प्रबन्ध में प्रकट हुई (नवम्बर १९७२ में)। इस कारण भी उनके प्रबन्ध का अपना वैशिष्ट्य है। 'ताल' (जिसके साथ गीतक जुड़ा हुआ है) के साथ-साथ छन्द, ध्रुवा और प्रवन्ध का भी समावेश इस शोध-प्रबन्ध की सर्वाधिक व्यापक विषय-वस्तु का परिचायक है। (डॉ० मुकुन्द लाठ का कार्य भी स्वतन्त्र रूप से इसी समय चलता रहा और प्राय: एक वर्ष बाद १९७३ के मध्य में उनका शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत हुआ।)

द्वितीय चरण

"'गीत' का विवेचनात्मक अध्ययन"—डॉ० न० रामनाथन्। निर्गीत, गीतक, जाति-प्रस्तार, प्रवन्ध और उनके प्रसंग में ताल का विशेष अध्ययन इसमें हुआ है। (अंग्रेज़ी में प्रकाशन संकल्पित)।

स्पष्ट है कि डॉ० सुभद्रा चौधरी का प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध 'ताल' और 'पद' को लेकर 'निबद्ध' के अध्ययन का प्रथम प्रयास है और विषय-विस्तार की दृष्टि से अप्रतिम है। आधुनिक लक्ष्य के प्रसंग में कर्णाटक संगीत का भी जो समावेश इसमें है, वह इसके विषय-विस्तार को और भी व्यापक बनाता है।

प्रस्तुत होने के प्राय: दस वर्ष बाद इस शोध-प्रबन्ध का प्रकाशन, देर से ही सही, भारतीय संगीत के क्षेत्र में ज्ञान का नया आलोक लेकर अवतीर्ण होगा। मुझे पूर्ण आशा है कि इसका विद्वानों और विद्यार्थियों द्वारा उचित स्वागत होगा। प्रस्तुति और प्रकाशन के बीच के काल के इस व्यवधान का सुभद्राजी ने अपेक्षित परिवर्तन-परिवर्धन के लिये उपयोग किया है। अत: उनके अध्ययन के निष्कर्ष अधिक परिष्कृत रूप में प्रकाश में आ सके हैं।

ऊपर लिखे परिष्कार का प्रथम चरण है शीर्षक में परिवर्तन। मूल शीर्षक में 'ताल' के अतिरिक्त समाविष्ट 'छन्द' और 'प्रबन्ध' के स्थान पर 'रूप-विधान' के ग्रहण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की कुछ व्याख्या यहाँ उचित होगी। इस प्रसंग में ऊपर आरम्भ में सूत्र-रूप में प्रतिपादित विषय का भी किंचित् विशद स्पष्टीकरण हो सकेगा। 'राग' और 'गीत' के भेद पर विचार करते हुए प्राचीन आचार्यों ने यह कहा है कि 'राग' तो स्वर-सन्निवेश मात्र है, किन्तु 'गीत' उन स्वरों के साथ-साथ पद, ताल और मार्ग—यों चार अङ्गों से युक्त होता है। (द्रष्टव्य, संगीत-रत्नाकर २/२/३०-३२ पर कल्लिनाथ की टीका में उद्धृत कश्यप का वचन)। तात्पर्य यह है कि 'राग' तो स्वर-सन्निवेश के 'अमूर्त' प्रत्यय (abstraction) को भी कह सकते हैं, किन्तु, उसी 'राग' का 'गीत' के रूप में मूर्त होना, पद (सार्थक अथवा निरर्थक, किन्तु सुनियोजित अक्षरसमूह), ताल और ताल-सहचारी मार्ग के साँचों में ढलकर प्रकट होने का ही नाम है। 'रागालाप' या 'रागालप्ति' में भले ही ताल और मार्ग का स्फुट सहकार न हो, किन्तु विदारी और उसके भागरूप 'पद' तो उसमें भी बनते हैं जो उसमें संगठन या संरचना का आधान करते हैं। फिर भी उसे 'अनिबद्ध' संज्ञा ही दी गई है यानी उसमें 'बन्ध' (form) का सर्वथा अभाव न सही, किन्तु उसके पूर्ण विकास का अभाव तो मानना ही पड़ता है। 'निबद्ध' में 'बन्ध' तत्त्व अपने समग्र विलास के साथ उपस्थित होता है। अतः 'निबद्ध' के अध्ययन में 'ताल' के साथ-साथ पदगत छन्द का अध्ययन भी आवश्यक है। सुभद्राजी ने छन्द को और 'निबद्ध' के निम्नलिखित भेदों को अध्ययन का विषय बनाया है:—

१. **गीतक**—ये तालप्रधान गीत हैं यानी इनके लक्षण प्रमुख रूप से नियत कलासंख्या और नियत ताल-विधि (पात-कला-विधि) की सीमा में आते हैं। इनके पदांश में चतुर्मात्रिक गणों की व्यवस्था तो है, किन्तु पाद-विभाजनसहित किसी निश्चित छन्द का दर्शन इनमें नहीं होता। ये 'गान्धर्व' के अन्तर्भुक्त हैं, यानी इनका प्रयोजन देवता-परितोष है, इनमें अदृष्टफल प्रधान है, नियतता है और स्वर-तालप्रधान हैं तथा पद गौण है।

२. **ध्रुवा**—ये छन्दोबद्ध पद से युक्त गीत हैं जो कि 'गान' के अन्तर्गत हैं क्योंकि नाट्य का 'उपरञ्जन' इनका प्रयोजन है। दृष्टफल, अनियतता और स्वर-ताल की अपेक्षा पद की प्रधानता—ये 'ध्रुवा-गान' के मुख्य लक्षण हैं।

३. **प्रबन्ध**—इनमें छन्दोबद्ध और छन्दोहीन दोनों प्रकार की पद-रचना का ग्रहण हुआ है। इनके 'गेय'-पक्ष का ध्रुव, उद्ग्राहादि चार या पाँच धातुओं में स्पष्टतः खण्ड-विभाजन हुआ है। 'प्रबन्ध' संज्ञा का प्रयोग जब सर्वप्रथम 'बृहद्देशी' में प्राप्त होता है तभी लक्षण-परम्परा में 'गान्धर्व-गान' के समकक्ष एक अन्य जोड़ी का उद्भव दृष्टिगोचर होता है और वह है 'मार्ग-देशी'। तदनुसार प्रबन्ध का स्थान 'देशी' के अन्तर्गत आता है यानी देशीराग और देशीताल में निबद्ध संरचना को प्रबन्ध कहा गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऊपर दी गई विषय-परिधि से यह स्पष्ट है कि 'निबद्ध' के अध्ययन प्रसंग में गेय पद की छन्दोहीन और छन्दोबद्ध धारा में गान्धर्व-गान और मार्ग-देशी की विचार-परम्परा आदि की चर्चा भी विषय-विस्तार के बाहर नहीं छूट सकती।

'बन्ध'-तत्त्व के इस समूचे विषय-विस्तार को "रूप-विधान" संज्ञा में समेटने का प्रयास इस तथ्य का द्योतक है कि 'बन्ध' और 'रूप' अभिन्न हैं। अंग्रेजी के form शब्द के लिये 'बन्ध' शब्द का प्रयोग सर्वथा संगत होने पर भी अन्यत्र हिन्दी में प्रचलित न होने के कारण उसके स्थान पर 'रूप' को स्वीकार करने का औचित्य यही है कि वह अधिक परिचित शब्द है। यद्यपि 'बन्ध' या 'रूप' में ताल और पद समान रूप से स्वर के उपकारक हैं, तथापि 'ताल' को शीर्षक में 'रूप' से स्वतन्त्र स्थान देना उचित लगा, क्योंकि 'रूप' की यह व्याप्ति सर्वपरिचित नहीं है।

प्रयोग-प्रधान कलाओं के किसी भी तत्त्व का ऐतिहासिक या विश्लेषणात्मक अध्ययन 'लक्षण' के आधार के बिना तो हो ही नहीं सकता, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि 'लक्षण' को समझना लक्ष्य में गहरी पैठ के बिना असम्भव है। अतः प्रस्तुत अध्ययन को लक्षण-लक्ष्य-मूलक कहने का विशेष प्रयोजन है।

भारतीय संगीतशास्त्र के मूल स्रोतों (primary sources) को आधार बनाकर अध्ययन-अनुसन्धान की सरणी के प्रवर्तन का जो विनम्र प्रयास काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संगीतशास्त्र विभाग में चल रहा है, यह शोध-प्रबन्ध उसका प्रथम फल है। 'सम्प्रदाय' के अभाव में 'शास्त्र' का अध्ययन कितना दुष्कर है, यह भुक्तभोगी ही जान सकता है। इस असाध्य साधन के लिये मैं सुभद्राजी को हार्दिक बधाई देती हूँ और आशा करती हूँ कि मेरे इस 'वादी' के अनेक 'संवादी' स्वर सभी दिशाओं से गूँज उठेंगे।

डॉ० सुभद्रा चौधरी से भारतीय संगीत जगत् को बहुत आशाएँ हैं। सुदीर्घ काल तक वे इन आशाओं को पूर्ण करती रहें, यही मेरी हार्दिक शुभकामना है।

प्रेमलता शर्मा
अध्यक्षा
संगीतशास्त्र विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

मकर संक्रान्ति
वि० सं० २०४०
शनिवार
१४ जनवरी, १९८४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भूमिका

प्रस्तुत ग्रंथ मूलरूप में "भारतीय संगीत में ताल, छन्द और प्रबन्ध का ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक अध्ययन" शीर्षक से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित संगीतशास्त्र विभाग से पीएँच० डी० उपाधि के लिये नवम्बर १९७२ में प्रस्तुत किया गया और मार्च १९७३ में स्वीकृत हुआ था। ३ वर्ष के अल्पकाल में इतने बृहत् और लगभग अछूते विषय पर जितना काम करना संभव हो सका किया। उसके बाद इस विषय पर जो विचार उद्‌भूत हुए उन्हें शोध-प्रबन्ध को प्रकाशन के लिये ग्रन्थ रूप में प्रस्तुत करते समय सम्मिलित किया गया है।

विषय का चयन

अनुसन्धान के लिये भारतीय संगीत के क्षेत्र में से ताल, गीतक, प्रबन्ध, छन्द और ध्रुवा चुनने के दो मुख्य कारण थे। प्रथम तो यह कि अब तक शास्त्रसंबंधी जो भी अनुसन्धान या लेखन हुआ वह प्रायः स्वर और राग पक्ष पर ही हुआ। ताल पर सुसंबद्ध ढंग से उल्लेखनीय काम या तो हुआ नहीं या प्रकाश में नहीं आया। दूसरे, स्वर और राग के संदर्भ में आज प्रयुक्त अधिकांश शब्द प्राचीन शास्त्रग्रन्थों में प्राप्त हो जाते हैं; जैसे—स्वर, राग, वादी-संवादी-अनुवादी-विवादी, ग्रह, अंश आदि। लेकिन ताल से संबंधित जो भी शब्द आज प्रचलित हैं उसमें से अनेक उर्दू-फ़ारसी के या देशी भाषाओं के हैं, संस्कृत के बहुत कम हैं। इसलिये यह जिज्ञासा हुई कि क्या ताल पर प्राचीन आचार्यों ने कोई विशेष चिन्तन नहीं किया? अथवा उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दावली लुप्त हो गई? अगर ऐसा हुआ तो क्या ताल का क्रियात्मक स्वरूप भी बदल गया? प्राचीन से वर्तमान लक्ष्य का कोई संबंध रह गया या नहीं? इन कारणों से ताल पर काम करने का विचार आया। लेकिन प्राचीन मार्गताल पद्धति के स्वरूप की सिद्धि 'गीतकों' (विशेष प्रकार के गीत) में होती थी। उन्हीं से विकसित देशीताल प्राचीन और आधुनिक लक्ष्य को जोड़ने वाली कड़ी होने के कारण देशीतालों के अध्ययन के लिये संगीतरत्नाकर से लेकर मध्ययुगीय ग्रंथों का अध्ययन करना ज़रूरी लगा। उधर देशीतालों का देशीप्रबन्धों से संबंध है। दूसरी ओर गीतक स्वर, ताल और पदयुक्त हैं तथा प्रबन्ध के भी मुख्य तत्त्व यही हैं। परस्पर संबद्ध होने के कारण ताल के साथ प्रबन्ध का अध्ययन भी अपेक्षित था। प्रबंध में पद अनिवार्य रूप से रहता है और पद का अध्ययन करते समय छन्द को उससे अलग नहीं किया जा सकता। नाट्य-संगीत में गेयछन्द ही ध्रुवा कहलाते थे इसलिये छन्द में ध्रुवा को भी समेटना पड़ा। ताल, प्रबंध और छन्द का परस्पर घनिष्ठ संवंध होने के कारण तथा गीतक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ग्रौर ध्रुवा का इनसे ऐतिहासिक संबंध होने के कारण ताल, गीतक, प्रबंध, छन्द ग्रौर ध्रुवा ग्रनुसंधान का क्षेत्र बने ।

भारतीय संगीत में ताल पर तो कुछ छुटपुट काम हुग्रा, लेकिन प्रबन्ध का क्षेत्र बिल्कुल ग्रछूता रहा ग्रौर संगीत में छन्द का क्या स्थान है इस पर अभी तक किसी का ध्यान ही नहीं गया । इस दृष्टि से ताल, प्रबंध ग्रौर छंद—ये तीन बड़े विषय गंभीर अध्ययन के लिये सर्वथा उपयुक्त हैं । तीनों विषय ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं ग्रौर इनमें से हरेक स्वतंत्र शोधकार्य की ग्रपेक्षा रखते हैं । तीनों पर एक साथ काम करना बहुत कठिन ग्रौर श्रमसाध्य होते हुए भी एक ही व्यक्ति के द्वारा तीनों पर सुसंबद्ध रूप से कार्य करने पर शायद ज्यादा ग्रच्छा काम हो सकता है, इस विचार से प्रेरित होकर एक साथ तीनों विषयों पर काम किया गया ।

किसी भी विषय के ग्रध्ययन में उस विषय के मूल तत्त्वों ग्रौर पारिभाषिक शब्दों का विश्लेषण तो ग्रपेक्षित होता ही है, विशेष रूप से संगीत के क्षेत्र में, क्योंकि संगीत में इस प्रकार का ग्रध्ययन बहुत ग्रधिक नहीं हुग्रा है । ताल ग्रौर प्रबंध के तत्त्वों ग्रौर पारिभाषिक शब्दों का विश्लेषण करना तो प्राथमिक ग्रावश्यकता थी ही । प्राचीन, मध्ययुगीय ग्रौर ग्राधुनिक—मोटे रूप में इन तीन कालखंडों में ताल ग्रौर प्रबंध तथा संगीत की दृष्टि से छन्द की स्थिति देखने के लिये ऐतिहासिक दृष्टिकोण का सहज रूप से ग्रा जाना भी स्वाभाविक था । इसलिये ताल, प्रबंध ग्रौर छंद-तीनों का विश्लेषणात्मक ग्रौर ऐतिहासिक ग्रध्ययन हमारा विषय बना ग्रौर कार्य क्षेत्र ग्रौर ग्रधिक विस्तृत हो गया ।

भारतीय संगीत के लक्षण का मूल नाट्यशास्त्र में है । संगीतरत्नाकर तक उसका विकास उसी तरह होता रहा जैसे वट के बीज से अंकुरित हुग्रा अंकुर शाखा, प्रशाखा ग्रौर पल्लवयुक्त होने पर भी वटवृक्ष ही कहलाता है । लेकिन संगीतरत्नाकर के बाद के ग्रंथों से स्वर-संज्ञा ग्रौर रागों के क्षेत्र में उत्तर ग्रौर दक्षिण में क्रमशः ग्राये ग्रन्तर के बीज-मात्र के यत्र-तत्र संकेत मिलते हैं । यह ग्रन्तर वर्तमान लक्ष्य में पराकाष्ठा पर पहुँचकर उत्तर भारतीय ग्रौर कर्णाटक संगीत पद्धतियों के रूप में स्पष्ट दिखाई देता है । विषय का चयन करते समय स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा हुई कि स्वर ग्रौर रागनिरूपण में जैसा ग्रन्तर उत्तर ग्रौर दक्षिण में दिखाई देता है क्या वैसा ही ग्रंतर ताल ग्रौर प्रबंधों में भी है ? इसे ध्यान में रखकर हमने दक्षिण की तालपद्धति ग्रौर प्रबंधों का भी संक्षिप्त परिचय देते हुए तुलनात्मक दृष्टिकोण रखकर कार्य किया, यद्यपि ऐसा करने से परिश्रम ग्रौर विषय-विस्तार बहुत ग्रधिक हो गया । इस दृष्टि से हमने केवल भविष्य में ग्रनुसंधान के लिये संकेतमात्र किया है ।

विषय की दुरूहता

ग्रनुसन्धान की प्रथम ग्रनिवार्य शर्त यह होती है कि संबद्ध विषय के मूल ग्रौर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राचीनतम ग्रन्थों के आधार पर कार्य किया जाय। संगीत में यह प्रवृत्ति बहुत कम दिखाई देती है तथा मूलग्रन्थों पर दृष्टि डाले बिना 'सैकिण्ड हैण्ड' पुस्तकों के आधार पर बहुत कुछ लिखा जा रहा है। परिणामस्वरूप कई ग़लत सिद्धान्तों की स्थापना और भ्रान्तियों का जन्म हो रहा है।

हमने तीनों विषयों पर मूलग्रन्थों को ही आधार बना कर अध्ययन किया और विषय को स्पष्ट करने तथा कुछ मौलिक विचार देने का प्रयत्न किया है। लेकिन हमारे विषय से संबंधित जो भी कार्य १९वीं २०वीं शताब्दी में हुआ और उसमें से जो उपलब्ध हो सका उसका अध्ययन भी किया और यथासंभव उपयोग भी किया है।

संगीतशास्त्र पर प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ भरत का नाट्यशास्त्र है। इसमें मूलभूत सिद्धान्तों का सूत्ररूप में निरूपण किया गया है। भाषा अत्यन्त सरल होते हुए भी एक-एक श्लोक में इतना तत्त्व भरा हुआ है जिसे केवल मूलग्रन्थ के आधार पर समझना असंभव है। उसे समझने के लिये अभिनवगुप्त की अभिनवभारती टीका ही एकमात्र अवलम्ब है। लेकिन इसकी भाषा कठिन और बहुत सारगर्भित है। दार्शनिक दृष्टिकोण इतना ज्यादा घुला हुआ है कि उसे संगीत से अलग करना बहुत कठिन है। ग्रंथ का पाठ कहीं-कहीं बहुत ज्यादा खंडित है और अनेक स्थानों पर इतना भ्रष्ट है कि उसका अर्थ निकालना असंभव हो जाता है। कई स्थानों पर जहाँ किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन या स्पष्टीकरण होने की आशा होती है वहीं पाठ के भ्रष्ट और खंडित होने के कारण एक-एक शब्द और एक-एक वाक्य पर अटक जाना पड़ता है और अन्त में उस स्थान को छोड़ कर आगे बढ़ जाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में निर्देशिका, प्रो० प्रेमलता शर्मा, की सतत सहायता और प्रेरणा के बिना अभिनवभारती को समझना लेखिका के लिये असंभव होता। फिर भी जितना समझा जा सका उसे सरलता से प्रस्तुत किया गया है। ताल और गीतक—ये दोनों बड़े नीरस विषय हैं। नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती और संगीतरत्नाकर को समझ कर सार ग्रहण करना, मध्ययुगीय ग्रंथों का इनसे अन्तर स्पष्ट करना तथा पूरे विषय को सरस बनाकर स्पष्ट करते हुए वर्तमान लक्ष्य से संबद्ध करना वैसा ही कठिन कार्य है जैसा किसी बीहड़ घने जंगल में से झाड़-झंखाड़ काट कर, पत्थर रोड़े हटा कर, लक्ष्य से न भटकते हुए पगडंडी बनाना। हमने ताल, प्रबन्ध और छन्द की दृष्टि से जो कार्य किया है उसके लिये किसी प्रकार का मार्गसूचन अब तक हुए कार्य से नहीं मिल सकता था। फिर भी यह ग्रंथ संबद्ध विषयों पर भावी अनुसंधान के लिये दिशासूचन कर सकेगा तो हमारा प्रयत्न सफल समझा जायगा।

ग्रंथ से पूर्व उपलब्ध कार्य

१९वीं २०वीं शताब्दी में संगीत में हुए कुल कार्य में से दो या तीन प्रतिशत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से अधिक कार्य ताल पर नहीं हुआ। ताल पर मुख्य रूप से तीन दिशाओं में कार्य हुआ—१. विश्लेषण, २. संग्रह और ३. शिक्षण। ताल के विश्लेषण या पारिभाषिक शब्दों के स्पष्टीकरण का सुसंबद्ध प्रयास बहुत कम हुआ। फिर भी संगीत कलाधर, भारतीय संगीत, भारतीय संगीते ताल श्रो छन्द, भरत का संगीत सिद्धान्त, संगीत-शास्त्र, भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन—इन प्रकाशित ग्रंथों का नाम लिया जा सकता है जिनमें छुटपुट रूप से कुछ काम हुआ है। १९वीं सदी में उर्दू में लिखे गये 'मादनुल मौसीक़ी' में भी एक अध्याय ताल पर है। लेकिन विश्लेषणात्मक दृष्टि नहीं है, क़िस्से-कहानी के ढंग पर अधिकांश बातें लिखी गई हैं।

अंग्रेज़ी में लिखी गई डॉ० मुकुन्द लाठ की पुस्तक 'ए स्टडी ऑफ़ दत्तिलम्' में गीतक निरूपण में आये कला, पात, पादभाग, परिवर्त आदि ताल-संबंधी कुछ अंगों का विश्लेषण किया गया है जो प्रामाणिक कहा जा सकता है।

संग्रह की दृष्टि से तबला मृदंग वादन पद्धति, ताल दीपिका, गीतवाद्यसारसंग्रह तथा भारतीय तालमंजरी उल्लेखनीय हैं जिनमें विभिन्न प्रकार से अच्छा संग्रह हुआ है।

शिक्षा की दृष्टि से दो पुस्तकों का उल्लेख किया जा सकता है—तबला वादन और तबला विज्ञान। इनके अलावा संगीत चिन्तामणि के प्रथम संस्करण का 'ताल और लय' शीर्षक लेख भी उल्लेखनीय है।

पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर, पं० भातखंडे, श्री चिन्नास्वामी मुदलियार, श्री सुब्बाराम दीक्षितर आदि ने गीतों और तालों को नोटेशन में लिखने के लिये तालों को लिखने का ढंग खोजा। यद्यपि यह अनुसंधान कार्य नहीं था फिर भी संग्रह के लिये इस कार्य के द्वारा इन्होंने प्राथमिक आवश्यकता को पूरा किया।

अब तक जो कार्य हुआ उसमें अधिकांशतः तालों, तालों के ठेकों और बोलों का संग्रह करने की, उन तालों में उदाहरणस्वरूप कुछ बोल, रेले, परन आदि देने की, कुछ लयों और छन्दों के बोल देने की और तबला बजाने और सीखने की विधि देने की प्रवृत्ति रही। इस प्रकार ताल के क्रियात्मक स्वरूप पर ही दृष्टि केन्द्रित रही। ताल के तत्त्वों के विश्लेषण, पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या, ऐतिहासिक परिवर्तन और प्राचीन तथा आधुनिक शब्दावली के संबंध या अन्तर को स्पष्ट करने की सुसंबद्ध और वैज्ञानिक ढंग से कोशिश नहीं की गई। इस कारण विश्व-संगीत में बेजोड़ भारतीय ताल की मूल व प्राचीन पद्धति पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

प्रबन्ध पर वास्तव में अब तक कोई कार्य नहीं हुआ। पं० बलवन्तराय भट्ट की पुस्तक 'भावरंग लहरी' में डॉ० प्रेमलता शर्मा का 'प्रबन्ध का शास्त्रीय अध्ययन : एक संक्षिप्त दिग्दर्शन' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें प्रबन्ध का परिचय मात्र दिया गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'भारतीय संगीते ताल ग्रो छंद' शीर्षक वाली बँगला पुस्तक में छंद और ताल की दृष्टि से कुछ कार्य अवश्य हुआ है तथा उसमें कुछ पुस्तकों का उल्लेख है जिनमें संभवतः संगीत के संदर्भ में छन्द का अध्ययन किया गया हो, ऐसा अनुमान होता है। ध्रुवा पर श्री० मुळे की मराठी पुस्तक 'भारतीय संगीत' में कुछ विचार किया गया है जो बहुत ही संक्षिप्त ग्रार अपूर्ण है और उसमें विषय का स्पष्टीकरण नहीं होता।

विषय विभाजन

प्रस्तुत ग्रन्थ को ५ अध्यायों में विभक्त किया गया है—१. ताल, २. गीतक, ३. प्रबन्ध, ४. छन्द और ५. ध्रुवा। इस क्रम में विशेष दृष्टिकोण है। संगीत की दृष्टि से ताल, प्रबन्ध और छन्द में से ताल का स्थान सर्वप्रथम आता है। इसलिये ताल को सबसे पहले रखा है। प्राचीन दृष्टिकोण के अनुसार ताल की निरपेक्ष सत्ता नहीं थी क्योंकि वह गीत, वाद्य, नृत्त को प्रतिष्ठा प्रदान करने वाला तत्त्व है। गीत और वाद्य में से गीत की ही प्रधानता मानी गई है और मार्गतालों के स्वरूप की सिद्धि गीतकों में होती है; इसलिये ताल के बाद गीतक को रखा है। गीतक के तत्त्व स्वर, ताल और पद हैं। प्रबंध में भी मुख्य रूप से यही तीन तत्त्व हैं, यद्यपि गीतक तालप्रधान है और प्रबंध पदप्रधान (संभवतः यही कारण है कि प्रबन्ध के ६ अंगों में से ४ में—पद, पाट, तेन और विरुद में—पद का ही विभाजन है)। गीतक गेय हैं और प्रबन्ध भी गेय हैं। इस प्रकार इन दोनों में सामीप्य है। इसलिये गीतक के बाद प्रबन्ध को स्थान दिया है। प्रबन्धों में पद की प्रधानता है, पद के साथ छन्द का संबंध है और प्रबन्धों में छन्द का विशेष स्थान है। इसलिये प्रबन्ध के बाद छन्द को रखा है। गेय छन्द ही ध्रुवा कहलाते हैं जिन्हें भरत ने बहुत महत्त्व दिया है इसलिये छंद के बाद ध्रुवा को लिया है। इस प्रकार पाँचों अध्याय अपने से पूर्व-पूर्ववर्ती अध्यायों से संबद्ध हैं।

गीतक और ध्रुवा को छोड़कर शेष तीन अध्यायों में अलग-अलग परिच्छेद बनाये हैं। प्रत्येक अध्याय के परिच्छेदों का परिचय नीचे प्रस्तुत है।

ताल

परिच्छेद क—मार्गताल के तत्त्वों और पद्धति का विश्लेषण।

परिच्छेद ख—देशीतालों के स्वरूप पर विचार।

परिच्छेद ग—संगीतरत्नाकर के बाद के ग्रन्थों में किया गया ताल-निरूपण।

परिच्छेद घ—वर्तमान लक्ष्य में उत्तर व दक्षिण की पद्धतियों में ताल के स्वरूप और प्राचीन ताल-पद्धति से संबंध पर विचार।

प्रबंध

परिच्छेद क—प्रबंध के तत्त्वों और वर्गीकरण का विश्लेषण।

परिच्छेद ख—प्रबंध भेदों के लक्षण।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिच्छेद ग—इसमें उन भेदों को लिया है जिन्हें (१) प्रबंध नाम तो नहीं दिया गया लेकिन जो इसी वर्ग में आते हैं और जिन्हें (२) प्रबंध नाम दिया गया लेकिन जो गेय नहीं बल्कि वाद्य या नृत्य प्रबंध हैं।

परिच्छेद घ—वर्तमान लक्ष्य में प्रचलित उत्तर, दक्षिण और उड़ीसा के प्रबंधों का विश्लेषण।

परिशिष्ट—स्तोत्रों के कुछ उदाहरण देकर प्रबंध, पद और स्तोत्रों का संबंध जोड़ने का और स्तोत्रों में पदशैली का मूल खोजने का प्रयत्न।

छंद

परिच्छेद क—इसमें छन्द का सामान्य व दार्शनिक परिचय, पद का विश्लेषण, गद्य-पद्य-पद-वाद्य-गान-ताल और संगीत से छन्द का संबंध।

परिच्छेद ख—छंद की पारिभाषिक शब्दावली का विश्लेषण।

परिच्छेद ग—वैदिक काल से आरंभ करके आधुनिक काल की प्रमुख उत्तर भारतीय भाषाओं में छन्द के क्रमिक विकास का परिचय देते हुए संगीत की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हिन्दी के कुछ छंदों पर विशेष विचार।

परिच्छेद घ—विशिष्ट छंदों और विशिष्ट तालों का संबंध स्थापित करना इस परिच्छेद का प्रयोजन है।

ग्रन्थ की विशेषताएँ

प्रस्तुत ग्रन्थ की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जिनकी ओर ध्यान दिलाना ज़रूरी है। अतः उन्हें संक्षेप में बताने का हम प्रयत्न करेंगे।

(१) सबसे बड़ी विशेषता इसके विषय-विस्तार की है क्योंकि इसमें ताल, गीतक, प्रबंध, छंद और ध्रुवा—इतने विषयों का विश्लेषण करते हुए ऐतिहासिक दृष्टि से निरूपण किया गया है। ताल और प्रबन्ध की उत्तर भारतीय पद्धति के अतिरिक्त कर्णाटक और उडीसी पद्धति के साथ भी संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। इतने विषयों का एक साथ इतने पहलुओं से और इतने विस्तार से विश्लेषण इससे पहले नहीं हुआ है।

(२) सारा अनुसंधान कार्य यथासंभव मूलग्रन्थों के आधार पर किया गया है।

(३) सिद्धान्तों में ऐक्य होते हुए भी भरत और शार्ङ्गदेव के दृष्टिकोण और निरूपण पद्धति में जो अन्तर है, उसमें समन्वय स्थापित करते हुए विषय को सरल रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। इन दोनों आचार्यों के दृष्टिभेद का यहाँ स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

सिद्धान्त-स्थापन में दो क्रम माने गये हैं—१. गोचर घटना अथवा लक्ष्य के आधार पर मौलिक सिद्धान्तों की उपलब्धि और २. स्थापित सिद्धान्तों का प्रतिपादन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और स्पष्टीकरण। भरत ने पहला और शार्ङ्गदेव ने दूसरा क्रम अपनाया है। प्रथम अत्यन्त कठिन, मौलिक और महत्त्वपूर्ण है इसलिये इस स्तर के व्यक्ति 'लक्ष्यैकचक्षुष' अथवा 'मुनि' कहलाये और दूसरे वर्ग के व्यक्ति 'लक्षणैकचक्षुष' अर्थात् आचार्य कहलाये। लेकिन सूत्ररूप में दिये गये इन सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करने वाले ग्रन्थ ही मौलिक ग्रन्थों को समझने के लिये एकमात्र सहारा थे इसलिये दूसरे वर्ग के ग्रन्थों का भी उतना ही महत्त्व रहा।

भरत का क्रम स्थूल से सूक्ष्म का, प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का, वृक्ष से बीज का, अवयव से अवयवी का है जबकि शार्ङ्गदेव का इसके ठीक विपरीत है। स्वर और ताल दोनों के निरूपण में यह अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। भरत ने ताल के निरूपण के लिये ताल का प्रयोग जिस वाद्य पर होता था सीधे वहाँ से आरंभ किया है, जबकि शार्ङ्गदेव ने ताल के अवयवों से शुरू किया है। हमने दोनों का सार निकालकर ऐसे क्रम से तत्त्व का विश्लेषण किया है जिससे विषय स्पष्ट हो सके।

(४) नाट्यशास्त्र से लेकर आज तक के जितने ग्रन्थ प्रकृत विषय पर उपलब्ध हो सके उन सभी प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रन्थों का अध्ययन और यथासंभव उपयोग यहाँ किया गया है। ताल, गीतक, छन्द और ध्रुवा के विश्लेषण में अभिनवभारती का सर्वप्रथम और पूरा-पूरा उपयोग हमने किया। वस्तुतः संगीत में शोध उपाधि के लिये प्रस्तुत किये गये प्रबन्धों में यह पहला ग्रन्थ है जिसमें अभिनवभारती का उपयोग हुआ। भले ही कुछ पुस्तकें हमारे ग्रन्थ से पहले प्रकाशित हुईं किन्तु वे हमारे शोध-प्रबन्ध के बाद प्रस्तुत हुई थीं।

(५) पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करते समय उनकी व्युत्पत्ति, निरुक्ति, अन्वर्थता, लोक और शास्त्र के अनुसार उनका अर्थ, एक ही शब्द के विभिन्न शास्त्रों में प्रयोग तथा अर्थभेद और संगीतशास्त्र में ही एक शब्द के अनेक अर्थों में प्रयोग की सोदाहरण चर्चा और विशिष्ट शब्दों की प्रवृत्ति का कारण देने का भी यथासंभव ध्यान रखा गया है।

(६) तत्त्वों के विश्लेषण में यथासंभव प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण दिये गये हैं। जहाँ यह संभव न हो सका वहाँ परवर्ती ग्रन्थों से प्रमाण लिये गये हैं।

(७) प्राचीन तथा मध्ययुगीय ग्रंथों के आधार पर विषय को ऐतिहासिक दृष्टि से संबद्ध करते हुए वर्तमान लक्ष्य के साथ प्राचीन व मध्ययुगीय परम्परा के साम्य और भेद को स्पष्ट करना मुख्य प्रयोजन रखा गया है। जहाँ सामग्री या प्रमाणों के अभाव में यह संभव न हो सका उसका संकेत किया गया है और जहाँ विषय स्पष्ट नहीं हुआ या शंकाओं का समाधान नहीं हो पाया, वहाँ असमर्थता को प्राञ्जल भाव से स्वीकार किया गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(८) पहले तत्त्वों का विश्लेषण, फिर ऐतिहासिक अध्ययन और अन्त में वर्तमान लक्ष्य का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अंकन किया गया है। वस्तुतः ये तीनों पक्ष एक दूसरे से इतने घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं कि इन्हें बिल्कुल अलग करना संभव नहीं है। फिर भी क्रम का यथासंभव ध्यान रखा गया है।

(९) प्राचीन शब्दावली में से अनेक शब्द आज लुप्त हो गये हैं, अनेक नये शब्द आ गये हैं, कुछ शब्द प्राचीन हैं लेकिन उनके अर्थ बदल गये हैं, कुछ धारणाएँ मौजूद हैं लेकिन शब्द बदल गये हैं, कुछ शब्द और धारणाएँ—दोनों लुप्त हो गई हैं। इन पर भी यथासंभव प्रकाश डालने की कोशिश की गई है।

(१०) मार्ग और देशीतालों का पृथक्-पृथक् निरूपण करके उनका संबंध जोड़ने का, देशीतालों से वर्तमान तालों का संबंध स्थापित करने का तथा क्रिया, लय, मार्ग, यति, ग्रह की धारणाओं और उनके क्रियात्मक रूप को वर्तमान लक्ष्य से जोड़ने का प्रयत्न भी अभी तक अन्य किसी ने स्पष्ट रूप से नहीं किया है।

हमारा विषय केवल ताल है, ताल वाद्य या अवनद्ध वाद्य नहीं। फिर भी नाट्यशास्त्र में दिये गये अवनद्ध वाद्यों की वादन-विधि से संबंधित पारिभाषिक शब्दों और उनकी धारणा की संक्षिप्त रूपरेखा इस दृष्टि से प्रस्तुत की गई है कि इनसे ताल के स्पष्टीकरण में सहायता मिल सकती है। विभिन्न देशी तालों के ज्ञान के लिये जो लघु उपाय (प्रत्यय) बताये गये हैं, उनका भी निरूपण किया गया है जिससे पाठकों को ताल के गणिताधारित पक्ष का भी ज्ञान हो सके।

(११) गीतक का विषय बहुत उलझा हुआ है। नाट्यशास्त्र में हर गीतक का पूरा निरूपण एक साथ नहीं है बल्कि अंगों के अनुसार बिखरा हुआ है। संगीतरत्नाकर में हर गीतक का निरूपण अपने में पूर्ण तो है लेकिन कहीं-कहीं नाट्यशास्त्र से भेद दिखाई देता है। गीतक हमारा मुख्य विषय नहीं है इसलिये उस पर विस्तार से काम करना हमारे लिये संभव नहीं था। फिर भी नाट्यशास्त्र की उलझनें दूर करके, पूरी सामग्री एकत्र करके, संगीतरत्नाकर और नाट्यशास्त्र के अन्तर का यथासंभव परिहार करते हुए सरल और स्पष्ट रूप में किन्तु संक्षेप में गीतकों का निरूपण किया गया है। छन्दक नामक गीतक के बारे में छन्दःशास्त्र के आधुनिक लेखकों में भ्रान्तियाँ थीं। छन्दक को संभवतः उनमें से कोई भी ठीक से नहीं समझ सके। हमने इन भ्रान्तियों को दूर करने का प्रयत्न भी किया है।

गीतकों का विस्तृत अध्ययन डॉ० मुकुन्द लाठ ने अपनी पुस्तक में किया है जो १९७८ में प्रकाशित हुई, यद्यपि शोधप्रबंध के रूप में वह हमारे शोधप्रबंध के बाद प्रस्तुत हुई थी। इसके अतिरिक्त डॉ० ऐन्० रामनाथन् के अप्रकाशित शोधप्रबंध में भी गीतकों का अत्यन्त विस्तृत और स्पष्ट निरूपण किया गया है। हमारे विषय की मर्यादा और सीमा के कारण हमने गीतक-संबंधी सभी विषयों का अत्यन्त संक्षिप्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निरूपण किया है। मूल शोधप्रबंध के गीतक अध्याय में आवश्यक संशोधन करके प्रस्तुत ग्रंथ में वह प्रकाश में आया है। गीतक के निरूपण में कहीं-कहीं इन दोनों लेखकों से भिन्न अर्थ हमने भरत और अभिनवगुप्त के अंशों का किया है किन्तु विषय व स्थान की सीमा के कारण हमने नाम-निर्देश नहीं किया है क्योंकि ऐसा करने में हमें विस्तार में जाना जरूरी होता।

(१२) प्रवंध के अन्तर्गत 'प्रबंध' और 'गीत' के संबंध को सुसंबद्ध रूप में स्पष्ट किया है, प्रवंध के अंगों का उत्तर और दक्षिण के वर्तमान गीतों के खण्डों से साम्य-वैषम्य दिखाया है, प्रवंध-वर्गीकरण का तर्कसंगत आधार खोजने का प्रयास किया है, प्रबन्धों में लोकगीतों के तत्त्व भी हैं यह दिखाने का प्रयत्न किया है, 'गीतगोविन्द' में प्रबन्ध का स्वरूप सिद्ध किया है, विभिन्न ग्रंथों में किये गये गीत के गुण-दोषों के निरूपण का विश्लेषण करके प्रवंध की दृष्टि से उनकी उपयोगिता सिद्ध की है। विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त प्रायः सभी प्रबंधों के लक्षण संक्षेप में अलग परिच्छेद में दिये हैं। गेय प्रवंधों के अतिरिक्त नृत्य और वाद्य प्रवंधों का तथा प्रवन्ध वर्ग में आने वाले किन्तु प्रवंध संज्ञा से रहित अन्य गेय रूपों का भी अल्प में निरूपण किया है।

प्रवंध के क्षेत्र में एक प्रमुख उपलब्धि यह है कि अब तक यह मान्यता रही है कि पदशैली के प्रवर्तक गीतगोविन्दकार जयदेव हैं। हमने स्तोत्रों के उदाहरण देकर यह संकेत किया है कि पदशैली का मूल गीतगोविन्द से कई सदियों पूर्व से प्रचलित स्तोत्र साहित्य में है, यद्यपि इस बारे में अभी विस्तृत और गहन अध्ययन अपेक्षित है।

(१३) पिछले २०-२५ वर्षों में छन्द पर लिखी गई पुस्तकों में छुटपुट रूप से छंद और संगीत के संबंध पर विचार किया गया है। लेकिन उनमें संगीत पक्ष का स्पर्शमात्र किया गया है और वह भी संगीत के क्रियात्मक ज्ञान के अभाव में ऊपरी सतह का है। हमने छंद और संगीत पर विशेष रूप से अध्ययन करके कुछ नवीन विचार प्रस्तुत किये हैं जिनका सार यहाँ दिया जा रहा है—

(क) इस मान्यता का खंडन किया है कि पहले छंद का विकास हुआ और बाद में उसके आधार पर ताल का। हमने यह स्थापित करने की कोशिश की है कि पहले ताल की उत्पत्ति हुई और बाद में छन्द का विकास हुआ।

(ख) अनेक विचारकों के मत से पहले वर्णिक छन्दों का और बाद में मात्रिक छन्दों का विकास हुआ। हमने यह विचार प्रस्तुत किया है कि सहज विकास क्रम में पहले मात्रिक और बाद में वर्णिक छन्द आते हैं।

(ग) 'पद' का अनेक पहलुओं से विश्लेषण किया है।

(घ) पद, पद्य और छन्द के परस्पर संबंध और भेद संबंधी अस्पष्ट मान्यताओं का निराकरण करके इसे सुस्पष्ट किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(ङ) अब तक छन्द को साहित्य अर्थात् अर्थयुक्त शब्द रचना की ही बपौती माना जाता रहा और संगीत से छन्द का संबंध उपेक्षित ही रहा। हमने अनेक उदाहरणों से यह सिद्ध किया है कि छन्द की स्पष्ट और सहज अनुभूति संगीत में यानी गान में, निरर्थक वर्ण रचना में, केवल तन्त्रीवाद्य की रचना में, यहाँ तक कि अवनद्ध वाद्यों में भी हो सकती है, सार्थक रचना में ही नहीं।

(च) यह भी सिद्ध करने की कोशिश की है कि संगीत में केवल मात्रिक छन्दों का ही नहीं वार्णिक छन्दों का भी अबाध रूप से प्रयोग होता है, अकेले-अकेले वर्णगण तो संगीत में ऐसे घुले-मिले हैं मानों संगीत के निजी अंग हों।

(छ) विद्वानों की पहुंच यहीं तक रही है कि विभिन्न छन्दों के द्वारा होने वाली विशेष प्रकार की अनुभूति का आधार उसमें लघुगुरु मात्रा से आने वाला 'खाल' और 'उभारं' है। हमने उदाहरणसहित यह सिद्ध किया है कि इस अनुभूति का मूल आधार छन्द के पाठ में होने वाले स्वर-भेद यानी ध्वनि के ऊँचे-नीचेपन और नियत स्थान पर वर्ण पर बल-अबल के प्रयोग में भी है।

(ज) छन्द और ताल के अन्तर का स्पष्ट निरूपण किया है।

(झ) छन्द की शास्त्रीय शब्दावली में 'सम्पद्' को अब तक के लेखक या तो समझ ही नहीं सके या ग़लत समझे। सर्वप्रथम हमने उसका स्पष्टीकरण किया है।

(ञ) छन्द और वृत्त के अन्तर को भी पूरी तरह और स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है, यद्यपि इससे पूर्व इसका संकेत एकाध लेखक ने किया है।

(ट) हिन्दी का बहुचर्चित और संगीत का अत्यन्त प्रिय छन्द घनाक्षरी, जिसके उद्भव और प्रथम लेखक के बारे में अनेक मत हैं, के बारे में हमने प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह छन्द संगीतज्ञों की देन है और इसके प्रथम लेखक गायक बैजू थे। मूल रूप में यह कोई छंद नहीं था बल्कि गेय पदों का विशेष पाठ्यरूप था। बाद में संगीत से साहित्य में इसका ग्रहण हुआ होगा।

(ठ) विशिष्ट छन्दों और विशेष तालों के संबंध पर विचार किया है और विभिन्न छंदों में ताल के ग्रहणस्थल का सही निर्देश भी किया है।

(ड) गीतक की ही भाँति 'ध्रुवा' भी बहुत उलझनों से भरा विषय है क्योंकि इसकी परंपरा लगभग लुप्त हो गई है। इस विषय को समझ लेना ही एक उपलब्धि मानी जायगी। ध्रुवा को पूरी तरह और यथातथ रूप में हमने समझ लिया यह तो नहीं कहा जा सकता लेकिन जितना समझा जा सका उसे सरल और सही रूप में हमने प्रस्तुत किया है। इस विषय की ओर अभी तक छन्दःशास्त्रियों का ध्यान नहीं गया, यद्यपि ध्रुवा गेय छन्द ही हैं। इस विषय पर हमने सर्वप्रथम लिखा है। ध्रुवाओं में, पूर्वरंग में प्रयुक्त विशिष्ट ध्रुवाओं में और निर्गीतों में छन्दत्व सिद्ध किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(ढ) पूरे ग्रन्थ में हर विषय से संबद्ध अनेक प्रश्न आये जिनका समाधान नहीं हो पाया। ऐसे अनुत्तरित प्रश्नों को हमने संबंधित स्थलों पर दे दिया है। इनसे भविष्य में अनुसंधान के लिये पर्याप्त सामग्री प्राप्त होगी।

छन्द और ध्रुवा अध्यायों में और कहीं-कहीं ताल और प्रबन्धाध्यायों में विषय की पुनरुक्ति हुई है। हमने यथासंभव इससे बचने की कोशिश की लेकिन सभी विषय इतने नये हैं कि स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिये कुछ धारणाओं को बार-बार याद दिलाना जरूरी था। इसलिये पाठक उसे पुनरुक्ति न समझ कर अनिवार्य आवश्यकता समझेंगे, ऐसी आशा है।

संगीत पर हिन्दी में लिखी गई पुस्तकों और ग्रन्थों को प्रकाशित करने में प्रकाशकों के संकोच, प्रकाशक मिलने पर पुस्तक के मुद्रण में विलम्बित गति आदि अनेक कारणों से प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में असाधारण विलम्ब हुआ है। फिर भी, देर से ही सही, इसे पाठकों के लिये प्रस्तुत करने में मुझे हर्ष है क्योंकि इसमें साहित्य, संगीत और कला के विद्वानों, शिक्षकों, शोधार्थियों, छात्रवर्ग और सामान्य पाठक के लिये भी उपयोगी सामग्री है। गीतक को छोड़कर इसमें प्रायः अस्पृष्ट, उपेक्षित अथवा अस्पष्ट विषयों पर अध्ययन किया गया है। संबद्ध विषयों पर प्रथम अध्ययन होने के कारण यह कार्य पूर्ण तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु संबंधित विषयों पर भावी अनुसन्धान का मार्ग इससे अवश्य खुलेगा, ऐसी आशा है।

विशेष सूचना

पृ० २२१ पर "इसकी अन्तिम दो पंक्तियों" से शुरू होने वाले पैरा में "आरम्भ की दो पंक्तियाँ.........समझा जा सकता है" के स्थान पर निम्न अंश पढ़ें—

"आरम्भ की दो पंक्तियाँ 'उद्ग्राह' जैसी हैं जिनके द्वारा गीत के विषय का प्रवेश और गीत का ग्रहण होता है। तीसरी धातु 'मेलापक' अष्टपदियों में नहीं दिखाई देती। मेलापक के लिये शास्त्र में भी विकल्प है, यह हम देख चुके हैं। फिर भी विषय-प्रवेश कराने के लिये कवि ने अष्टपदी से पहले जो श्लोक लिखे हैं उन्हें उद्ग्राह तथा श्लोक व टेक के बीच के पदांश को 'मेलापक' समझा जा सकता है।"

पृष्ठ २४७ पर मिश्रसूड शीर्षक से पहले संगीतराज शीर्षक देना रह गया है। पृष्ठ ३०४ पर अध्याय ४ शीर्षक छूट गया है।

कृतज्ञता-ज्ञापन

मेरे विचारों को प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप में साकार बनाने में जिन व्यक्तियों से मुझे सहयोग मिला उन सबके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ।

मेरे गुरुदेव संगीत-सम्राट् स्व० पं० ओम्कारनाथ ठाकुर जिन्होंने संगीत में शोध करने की रुचि के बीज का मुझमें रोपण किया, जिनसे प्राप्त गायन की विशेष शिक्षा ने संगीत के लक्ष्य (क्रिया) और लक्षण (सिद्धान्त) को परस्पर जोड़ कर विचार करने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की दिशा प्रदान की और जिन्होंने संगीत में मूलग्रन्थों के आधार पर यथासंभव कार्य करने की दृष्टि दी उनका सर्वप्रथम स्मरण करती हूँ।

मेरी गुरुबहन, मित्र, भगिनिवत्, अध्यापिका, निर्देशिका और 'प्रेम' की 'लता' स्वरूप प्रो० सुश्री प्रेमलता शर्मा, जो 'प्रेम बहिनजी' के रूप में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय परिवार में परिचित हैं, के प्रति अपनी कृतज्ञता को शब्दों में बाँधना मेरे लिये सम्भव नहीं है। पूज्य गुरुदेव द्वारा जिस बीज का रोपण हुआ उसे अंकुरित और पल्लवित कराने का श्रेय 'प्रेम बहिनजी' को है। उनके उत्साहवर्धन, सतत मार्गदर्शन और व्यक्तिगत रुचि ने ही मुझ से यह महत्कार्य करा लिया, यह कहने में किसी प्रकार की अत्युक्ति या आत्मश्लाघा नहीं होगी। प्रस्तुत ग्रन्थ को प्रकाशन के समय नवीन और सटीक शीर्षक देकर और अत्यन्त सारगर्भित 'आमुख' लिखकर उन्होंने 'गागर में सागर भरने' का कार्य किया है।

प्रख्यात विद्वान् श्री० ठाकुर जयदेवसिंह, दिवंगत संगीतशास्त्री आचार्य बृहस्पति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफ़ेसर डॉ० भोलाशंकर व्यास, ध्रुपद गायक श्री० टी० एॅल्० राणा, श्री० वी० वी० षडगोपन्, गुरुबहन स्व० बिजनबाला घोष दस्तीदार, डॉ० दामोदर होता, मृदंगम् विद्वान् श्री० टी० एॅस्० राघवन्, डॉ० कैलाशचन्द्र गंगराडे के प्रति भी कृतज्ञ हूँ जिनसे हुई चर्चाओं में विभिन्न विषयों पर उपयोगी सामग्री प्राप्त हुई।

मेरे मित्र डॉ० एॅन्० रामनाथन्, व्याख्याता, संगीत विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय की आभारी हूँ जिनसे प्रस्तुत ग्रन्थ के गीतक अध्याय के संशोधन में सहायता मिली।

मेरी अभिन्न मित्र डॉ० श्रीमती विमला मुसलगाँवकर, प्राध्यापिका, संगीतशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और उनके पति पं० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, भूतपूर्व रीडर, संस्कृत महाविद्यालय द्वारा समय–समय पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से दिये गये स्नेह और सौजन्यपूर्ण सहयोग के लिये कृतज्ञ हूँ।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को धन्यवाद देना भी अपना कर्तव्य समझती हूँ जिसके आर्थिक अंशदान से शोध–प्रबंध ग्रन्थ के रूप में पाठकों के सम्मुख आ सका है।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ जिसके माध्यम से यह अंशदान प्राप्त हो सका।

ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये प्रकाशक, कृष्णा ब्रदर्स अजमेर, मुद्रण के लिये स्वस्तिक प्रिंटर्स अजमेर, और आवरण-सज्जा के लिये प्रकाश आर्टिस्ट, अजमेर विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं।

मकर संक्रान्ति
वि० सं० २०४०
शनिवार, १४ जनवरी, १९८४

सुभद्रा चौधरी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उद्धरण–संकेत

अभि०	अभिनवभारती
अ० सं०	अनूपसंगीतांकुश
अ० सं० रत्ना०	अनूपसंगीतरत्नाकर
अ० सं० ला०	अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर
अ० सं० वि०	अनूपसंगीतविलास
आ० भा० का त० प्र०	आळवार भक्तों का तमिळ प्रबंधम्
आ० हि० का० में छन्द०	आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना
कल्लि०	कल्लिनाथ
का० और सं० का० पा० सं०	काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध
ग० ओ० मै० ला०	गवर्नमेंट ओरियंटल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास पाण्डुलिपि
गीत०	गीतगोविन्द
चतु०	चतुर्दण्डी-प्रकाशिका
चै० च०	चैतन्य चरितामृत
छ० प्र०	छन्दःप्रभाकर
छान्दो०	छान्दोग्योपनिषद्
जय०	जयदामन्
ताल०	तालदीपिका
दत्ति०	दत्तिलम्
द० पिं०	दलपतपिंगल
न० नि०	नर्तननिर्णय
ना० शा०	नाट्यशास्त्रम्
ना० शि०	नारदीयशिक्षा
प्रा० पैं०	प्राकृतपैंगलम्
बां० की० ओ की०	बाँगलार कीर्तन ओ कीर्तनिया
बृ० पिं०	बृहत् पिंगल
बृह०	बृहद्देशी
भरत०	भरतभाष्यम्
भा० सं० का इ०	भारतीय संगीत का इतिहास
मान०	मानसोल्लास
मिता०	मिताक्षर टीका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यंत्र०	यंत्रक्षेत्रदीपिका
रघु०	रघुवंश
रस०	रसकौमुदी
रसिक०	रसिकप्रिया टीका
राग०	रागकल्पद्रुम
रा० गो० सं०	राधागोविन्दसंगीतसार
वै० छ०	वैदिक-छन्दोमीमांसा
श्रृं० यु० में सं० का०	श्रृंगार-युग में संगीत-काव्य
स्तोत्र०	स्तोत्ररत्नावली
संगी०	संगीताञ्जलि
सं० चिं०	संगीत चिन्तामणि
सं० चू०	संगीतचूडामणि
सं० द०	संगीतदर्पण
सं० दा०	संगीतदामोदर
सं० ना०	संगीतनारायण
सं० पा०	संगीतपरिजात
सं० म०	संगीतमकरंद
सं० र०	संगीतरत्नाकर
सं० शा० वि०	संगीतशास्त्र विभागीय प्रति, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
सं० रा०	संगीतराज
सं० स० सा०	संगीतसमयसार
सं० सा०	संगीतसारामृत
सं० सारो०	संगीतोपनिषत्सारोद्धार
सं० सु०	संगीतसुधाकर
सं० सुधा	संगीतसुधा
सं० शि०	संगीतशिरोमणि
सा० द०	साहित्यदर्पण
सिंह०	सिंहभूपाल
सू० सा० का छं० अ०	सूरसाहित्य का छन्दःशास्त्रीय अध्ययन
हिं० क० का छन्द० को योग०	हिन्दी कवियों का छन्दःशास्त्र को योगदान
हिं० सं० प० क्र० पु० मा०	हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय-सूची

आमुख क-घ

भूमिका ङ-त

उद्धरण-संकेत थ-द

विषय-सूची ध-फ

अध्याय १ : ताल **१-१३७**

परिच्छेद क

ताल और उसके तत्त्वों का विश्लेषण १-६०

मार्ग और देशी की व्याख्या १/काल ३/घन ४/वाद्य ६/ताल ६/कला ९/पात १०/ निःशब्द क्रियाएँ १२/सशब्द क्रियाएँ १३/मार्ग १४/तालों के अन्य भेद २०/मात्रा, परिवर्त २२/लय २३/मार्ग और लय २४/ताल के प्रकार २८/गुरु इकाई ३१/मार्गताल —चच्चत्पुट ३३/चाचपुट ३४/षट्पितापुत्रक, सम्पक्वेष्टाक, उद्घट्ट ३५/कलाविधि ३६/ अंगुलिनियम ४१/'मात्रा' अथवा 'मार्गकला' ४३/यति ४८/'पाणि' अथवा 'ग्रह' ४९/ अवनद्ध विधि के पारिभाषिक शब्द ५६।

परिच्छेद ख

देशीतालों का स्वरूप और विकास ६१-९६

मानसोल्लास ६२/संगीतचूडामणि ६३/देशीताल और उनके तत्त्वों का विश्लेषण ६४/ ताल के अवयव ६५/क्रियाएँ ६८/तालों के लक्षण ६९/तालप्रत्यय—प्रस्तार ७४/ संख्या ७५/नष्ट ७६/उद्दिष्ट, पाताल ७८/द्रुतमेरु ७९/लघुमेरु ८१/गुरुमेरु, प्लुतमेरु ८३/संयोगमेरु ८४/खण्डप्रस्तार ८९/द्रुतमेरु नष्ट ९०/द्रुतमेरु उद्दिष्ट ९३/लघुमेरु नष्ट ९४/लघुमेरु उद्दिष्ट, गुरुमेरु नष्ट, प्लुतमेरु नष्ट ९५/गुरु व प्लुतमेरु उद्दिष्ट ९६।

परिच्छेद ग

रत्नाकरोत्तरकालीन ग्रंथों में ताल-निरूपण ९७-११७

संगीतसमयसार ९७/संगीतोपनिषत्सारोद्धार, आनन्दसंजीवनम्, रसकौमुदी ९९/ संगीतदर्पण, नर्तननिर्णय, संगीतमकरन्द, अनूपसंगीतरत्नाकर—विलास—अंकुश १००/ संगीतपाठ, अपराजितपृच्छा १०१/विभिन्न ग्रंथों में देशीतालों की संख्या १०२/ताल की धारणा में परिवर्तन—अवयव १०३/मार्ग १०४/अवयवों के मान, ग्रह १०५/ जाति, यति १०६/मार्ग और देशीतालों में भेद की समाप्ति, नवीन मोड़ १०७/ चतुर्दण्डी-प्रकाशिका १०८/संगीतपारिजात ११०/तालचन्द्रिका ११२/संगीतनारायण ११५।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिच्छेद घ

वर्तमान लक्ष्य में ताल का स्वरूप ११८-१३७

आधार में परिवर्तन ११८/स्वरूप में परिवर्तन ११९/क्रियाएँ १२०/लय १२१/मार्ग, एककल आदि रूप १२४/ताल के भेद, यति १२५/'ग्रह' और 'सम' १३०/घन से अवनद्ध की ओर, अवनद्ध वाद्यों पर ताल और 'ठेका' १३५।

अध्याय २ : गीतक १३८-१९८

सामान्य परिचय १३८/गीतकों की संख्या और उनका वर्गीकरण १३९/गीतकों में ताल की प्रधानता १४१/गीतकों का प्रयोग स्थल १४२/गीतकों का नृत्त, वाद्य और अभिनय से सम्बन्ध १४४/गीतक का पदांश, गीतक की प्रकृति व उसके भेद १४६/निर्युक्त, अनिर्युक्त, पदनिर्युक्त १४७/'वस्तुनिवद्ध' तथा 'अंगकृत्' गीतक, वस्तु १५१/वस्तु और अंग १५२/गीतकों के विभिन्न अंग और उनके लक्षण १५४/तालांग—पाद, प्रतिपाद, शीर्षक, संहरण १५५/अन्त १५६/वेणी, प्रवेणी, माषघात, सन्धि, चतुरश्र, वज्र, १५७/सम्पिष्टक, उपपात, वैहायस, शरीर १५८/माला, तालिका, उपवर्तन, मुख, प्रतिमुख १५९/गीतांग अथवा वर्णांग १५९—विदारी १६०/एकक, विविध १६१/वृत्त १६२/प्रस्तार १६३/पदांग—उपोहन, प्रत्युपोहन १६३/शाखा, प्रतिशाखा १६४/गीतकों के मार्ग १६४/गीतकों के लक्षण—मद्रक १६५/अपरान्तक १७०/उल्लोप्यक १७३/प्रकरी १७४/ओवेणक, रोविन्दक १७५/उत्तर, छन्दक १७६/आसारित १७८/वर्धमान १८४/पाणिका १९२/ऋक् १९३/गाथा, साम १९४/

अध्याय ३ : प्रबन्ध १९९-३०३

परिच्छेद क

प्रबन्ध का विश्लेषण १९९-२३१

प्रबन्ध की व्युत्पत्ति और विभिन्न अर्थ, प्रबन्ध की विभिन्न संज्ञाएँ १९९/प्रबन्ध और गीत में भेद २०१/प्रबन्ध और गीत का सम्बन्ध २०४/प्रबन्ध का लक्षण तथा धातु और अंग का विश्लेषण २०५/धातु २०६/सामगीतों के अंगों से धातुओं का सादृश्य २०८/अवनद्ध वाद्यप्रबन्धों के अंगों का धातुओं से सादृश्य २०९/अंग २०९/प्रबन्ध-जाति, प्रबन्ध-भेद २१३/प्रबन्धों का वर्गीकरण २१४/सालगसूड २१८/मिश्रसूड २२०/विभिन्न तत्त्वों के आधार पर प्रबन्धों का विश्लेषण २२१/ प्रयोग', रूपकों के भेद २२३/उत्तम रूपक, मध्यम रूपक २२४/अधम रूपक २२५/गीत के गुण-दोष २२५/गुण २२६/दोष २२९/एला प्रबन्ध के दश प्राण २३०।

परिच्छेद ख

प्रबन्ध-भेदों के लक्षण और प्रबन्धों के स्वरूप में परिवर्तन २३२-२६३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रवन्ध सम्वन्धी ग्रंथों का परिचय २३२/(अ) भरत परंपरा के ग्रंथों में प्रवन्ध लक्षण—संगीतरत्नाकर २३३/भरतभाष्य, मानसोल्लास २४५/संगीतराज २४७/(आ) मध्ययुगीय ग्रंथों में प्रवन्ध-लक्षण—संगीतपारिजात २५१/संगीतदामोदर २५३/चतुर्दण्डी प्रकाशिका, संगीतसूर्योदय २५४/प्रबंध के स्वरूप में ऐतिहासिक मोड़ २५४/उड़ीसी शैली २५५/संगीतनारायण २५६ ।

परिच्छेद ग

प्रबन्ध के अन्य रूप २६४-२७०

(१) प्रबंध संज्ञा से रहित गेय रूप—जातिप्रस्तार २६४/आक्षिप्तिका २६५/कपाल-गान २६६/(२) वाद्य प्रबंध २६८/(३) नृत्त प्रबंध २६९ ।

परिच्छेद घ

वर्तमान लक्ष्य में प्रचलित गीतों का विकास और वर्तमान रूप २७१-२९९

(१) उत्तर भारतीय—ध्रुपद २७१/ख़्याल २७८/तराना २८१/धमार, चतरंग २८२/होरी, टप्पा, ठुमरी २८३/दादरा, ग़ज़ल, भजन २८७/बँगला कीर्तन २८९/सरगम, लक्षणगीत, स्वरार्थ, प्रबन्ध २९१/(२) कर्णाटक—कीर्तन-कृति २९२/वर्णम् २९३/पदम्, मणिप्रवाल कृति, रागमालिका २९४/तालमालिका, जावळि, सरगम, गीतम्, २९५/स्वरजति, जतिस्वरम्, तिल्लाना, दरु, स्वराक्षर, आळवार प्रबंधम् २९६/सूळादि २९७(३) उड़ीसी—उड़ीसी, छान्द, चम्पू, मालश्री, सूड २९८ ।

परिशिष्ट

स्तोत्र साहित्य और 'प्रबन्ध' तथा 'पद' का सम्बन्ध ३००-३०३

अध्याय ४ : छन्द ३०४-३९४

परिच्छेद क

छन्द का सामान्य परिचय और गद्य, पद्य, ताल, वाद्य और संगीत से उसका सम्बन्ध ३०४-३२७

वाक् और काल तत्त्व ३०४/सत्, चित् और आनन्द की धारणा से संगीत का संवंध; काव्य और संगीत का सम्बन्ध ३०६/'पद' का विश्लेषण ; पद, छन्द और पद्य ३०७/वाद्य में छन्द ३०९/गान और छन्द ३२०/छन्द, ताल और संगीत का संबंध ३२३/छन्द की परिभाषा ३२६ ।

परिच्छेद ख

छन्द की शास्त्रीय शब्दावली का परिचय ३२८-३४३

छन्द की व्युत्पत्ति, भरत की छन्दोगत विधि ३२८/सम्पद् ३२८/विराम ३२९/पाद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३३१/दैवत, स्थान, अक्षर ३३२/वर्ण, स्वर ३३३/विधि ३३४/वृत्त ३३५/भरतोत्तर-कालीन छन्द सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द—संस्कृत वृत्त सम्बन्धी शब्द ३२६/अक्षर, वर्ण, मात्रा, पाद, विराम ३३७/यति, वर्णगण ३३८/मात्रिकगण, मात्रावृत्त, वर्णवृत्त, छन्दजाति ३३९/दण्डक ३४०/हिन्दी छन्द संबंधी विशेष शब्द—चरण, विश्रान्ति, तुक ३४०/ध्रुव अथवा टेक, पद ३४१/छन्द सम्वन्धी कुछ फुटकर नियम ३४१/यति नियम, तुक योजना ३४२।

परिच्छेद ग

छन्द के उद्‌भव और विकास क्रम का परिचय ३४४-३६८

छन्द का उद्‌भव ३४४/छन्द का क्रमिक विकास ३४५/वैदिक छन्द, संस्कृत वृत्त परम्परा, प्राकृत परम्परा ३४८/अपभ्रंश परम्परा ३५१/डिंगल परम्परा ३५४/हिन्दी छन्द परम्परा के कुछ छन्द ३५५/घनाक्षरी ३५५/सवैया ३६०/ध्रुवपद, पद, आधुनिक हिन्दी काव्य की छान्दसिक प्रवृत्ति ३६३/बँगला छन्द ३६५/मराठी छन्द ३६६/उपसंहार ३६८।

परिछेद घ

विशेष छन्दों का विशेष तालों से सम्वन्ध ३६९-३९४

वृत्त और तालों में समानताएँ ३७०/ कर्षण' और उसका छंद व ताल से संबंध ३७१/ताल में छंद का स्वरूप ३८३/ताल की रचना और विशिष्ट छन्द ३८३/कुछ विचारणीय विन्दु ३८५/कुछ भ्रान्तियों का निराकरण ३८७/विभिन्न वोलों में छन्द का स्वरूप ३८९।

अध्याय ५ : ध्रुवा ३९५-४३२

ध्रुवा की सामान्य चर्चा ३९५/गांन्धर्व और गान का भेद ३९५/ध्रुवा का महत्त्व ३९९/ध्रुवा का स्वरूप ४००/ध्रुवा और गीतक के अंग ४०३/पञ्चविध ध्रुवाओं का स्वरूप-प्रावेशिकी, आक्षेपिकी ४०५/नैष्क्रामिकी, प्रासादिकी ४०६/अन्तरा ४०८/पञ्चविध ध्रुवाओं के भेद—शीर्षका, उद्धता ४०९/अनुवद्धा, विलम्बिता, अड्डिता ४१०/अवकृष्टा, द्रुता ४११/पाठ्य तथा गेय वृत्तों का भेद ४१२/ध्रुवाओं में प्रयुक्त वृत्त ४१३/पूर्व रंग में प्रयुक्त ध्रुवाएँ ४२०/भरतभाष्य के वृत्त ४२२/दशविध निर्गीत ४२३/आश्रावणा, आरम्भ ४२४/वक्त्रपाणि, सङ्खोटना ४२५/परिघट्टना, मार्गासारित, लीलाकृत, आसारितत्रय ४२६/निष्कर्ष ४२७/उत्थापनी ध्रुवा ४२८/परिवर्तनी ध्रुवा ४२८/शुष्कावकृष्टा ध्रुवा ४२८/ध्रुवा संबंधी फुटकर तथ्य ४२८/उपसंहार ४३२।

संदर्भ-ग्रंथ सूची ४३३-४३८

शुद्धि-पत्र ४३९-४४०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ताल

परिच्छेद—क

ताल और उसके तत्त्वों का विश्लेषण

भारतीय ताल पद्धति के मूल सिद्धान्तों का निरूपण संगीत के अन्य विषयों की तरह सर्वप्रथम 'नाट्यशास्त्र' में ही उपलब्ध होता है, इसलिये ताल की दृष्टि से भी आधार ग्रंथ वही है। तत्कालीन ताल पद्धति का इस ग्रंथ में अत्यन्त सूक्ष्म और पूर्ण विवेचन हुआ है। उसे समझने के लिये एकमात्र सहायक और प्राप्य ग्रंथ अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' टीका है तथा नाट्यशास्त्र में स्थापित सिद्धान्तों का सूत्र शैली में स्पष्टीकरण 'संगीतरत्नाकर' में प्राप्त होता है। संगीतरत्नाकर का विशद रूपान्तरण 'संगीतराज' में है। 'बृहद्देशी', 'भरतभाष्य' और 'संगीतशिरोमणि' का तालाध्याय लुप्त है तथा 'मानसोल्लास' में कुछ देशी तालों का निरूपण मिलता है। इसलिये मुख्य रूप से नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती और संगीतरत्नाकर तथा आवश्यकतानुसार संगीतराज के आधार पर ताल का विश्लेषण किया जायगा।

नाट्यशास्त्र के इकत्तीसवें अध्याय, मानसोल्लास के १६वें अध्याय की चौथी विंशति, संगीतरत्नाकर के ५वें अध्याय तथा संगीतराज के तीसरे कोश के तीसरे उल्लास के पहले, दूसरे और तीसरे परीक्षणों में ताल-निरूपण है। अभिनवभारती में तो मूलग्रंथ के अनुसार ही अध्याय हैं।

ताल का विश्लेषण आरंभ करने से पहले इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि भरत और शार्ङ्गदेव की निरूपण पद्धति में जो अन्तर हैं, जिसकी चर्चा भूमिका में की जा चुकी है, वह ताल के निरूपण में भी स्पष्ट है लेकिन विषय के विश्लेषण में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।

'मार्ग' और 'देशी' का विभाजन स्पष्ट होने के बाद भरत की तालपद्धति 'मार्ग' के अन्तर्गत रखी गई। मार्गताल के विश्लेषण की दृष्टि से मार्ग और देशी के अन्तर को समझ लेना आवश्यक और प्रसंगप्राप्त है।

मार्ग और देशी की व्याख्या

ये दोनों शब्द परस्पर अभिन्न रूप से जुड़े हैं और इनमें से एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही संभव नहीं है। नाट्यशास्त्र में इन दोनों की कहीं चर्चा नहीं है लेकिन मतंग के 'बृहद्देशी' के नाम में ही 'देशी' शब्द संयुक्त है।

नाट्यशास्त्र में सामभिन्न संगीत के दो रूपों के लिये 'गांधर्व' और 'गान' शब्दों का प्रयोग हुआ है। बृहद्देशी में मार्ग और देशी का तथा संगीतरत्नाकर में चारों शब्दों का प्रयोग किया गया है। अभिनवगुप्त ने टीका ग्रंथ की मर्यादा में रहते हुए भी यत्र तत्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'देशीमार्गादि'[१] के रूप में मार्ग और देशी का उल्लेख किया है। उसने गांधर्व और गान की जो व्याख्या और टीका की है, उसमें मतंग की मार्ग-देशी की धारणा का प्रभाव दिखाई देता है। गांधर्व और गान पर हम ध्रुवा-अध्याय के अन्तर्गत चर्चा करेंगे। भरत, मतंग और अभिनवगुप्त के दृष्टिकोणों को मिलाकर संगीतरत्नाकर में मार्ग और देशी का स्वरूप और भेद निश्चित किया गया है। मार्ग-देशी की चर्चा इस प्रकार की गई है—

> गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते।
> मार्गो देशीति तद् द्वेधा, तत्र मार्गः स उच्यते॥
> यो मार्गितो विरिञ्च्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः।
> देवस्य पुरतः शंभोर्नियताभ्युदयप्रदः॥
> देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरञ्जकम्।
> गीतं च वादनं नृत्तं तद्देशीत्यभिधीयते॥[२]

अर्थात् गीत, वाद्य और नृत्त का समुच्चय 'संगीत' है जो दो प्रकार का है—मार्ग और देशी। मार्ग उसे कहते हैं जिसे ब्रह्मादि ने खोजा, भरतादि ने शंभु के सामने प्रयुक्त किया और जो नियत रूप से कल्याणप्रद है। जो गीत, वाद्य, और नृत्त देश-देश (विभिन्न देशों) में लोगों की रुचि के अनुसार प्रयुक्त होकर हृदयरंजक होता है वह देशी है।

चौथे अध्याय में प्रबंध-निरूपण से पहले 'गांधर्व' और 'गान' का लक्षण यह दिया है—

> अनादिसंप्रदायं यद् गन्धर्वैः सम्प्रयुज्यते।
> नियतं श्रेयसो हेतुस्तद् गान्धर्वं जगुर्बुधाः॥
> यत्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम्।
> देशीरागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरञ्जनम्॥[३]

अर्थात् जो अनादिसंप्रदाय, गंधर्वों द्वारा प्रयुक्त, नियत रूप से कल्याणप्रद है उसे गांधर्व कहा जाता है और जो वाग्गेयकार द्वारा रचित, लक्षणों से अन्वित, देशी रागों में तथा जनरंजन करने वाला हो, वह गान है।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि मार्ग और देशी को क्रमशः गांधर्व और गान के समकक्ष मान लिया गया है। मार्ग की व्याख्या अभिनवगुप्त के गांधर्व से और देशी की व्याख्या मतंग के देशी से अत्यन्त प्रभावित है। इस प्रकार साम-भिन्न संगीत को शास्त्रीय रूप देते समय नाट्य में प्रयुक्त होने वाले तत्कालीन सभी देशज रूपों का गांधर्व में और गांधर्व में परिवर्तन होने से बने हुए रूपों का गान में समावेश किया गया। इन्हीं को कालान्तर से 'मार्ग' और 'देशी' संज्ञाएँ प्रदान की गईं। इनमें से मार्ग अपौरुषेय, अनादि-परम्परा वाला और आत्मोन्नति का साधन था। उसका प्रयोजन देवता-परितोष और फल अदृष्ट था जो प्रयोक्ता को होता था। देशी पौरुषेय और परिवर्तनशील था। उसका प्रयोजन श्रोताओं का रंजन और फल दृष्ट था जो श्रोता को होता था।

---

१. ना. शा., खण्ड ४, अभि., पृ. ३८-पंक्ति ४, पृ. ४३-पंक्ति ६, पृ. ६९-पंक्ति १३
२. सं. र., १/१/२१-२४
३. वही, ४/२-३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मार्ग शब्द 'मार्ग' धातु से बना है जिसका अर्थ है—'खोजा गया' तथा देशी शब्द 'दिश्' धातु से बना है, अर्थ है—'स्थान विशेष से संवद्ध'। संगीत के प्रसंग में 'मार्ग' का अर्थ है—खोज कर अर्थात् संस्कार करके प्राप्त किया गया और 'देशी' का अर्थ है—स्थान विशेष के लोगों से संवद्ध।

मार्ग और देशी का विभाजन

संगीतरत्नाकर में मार्ग और देशी का भेद मुख्य रूप से ५ प्रसंगों में किया गया है—१. राग—ग्रामराग और देशीरागों के रूप में; २. ताल—मार्गताल और देशीतालों के रूप में; ३. प्रबंध—मार्गतालाश्रित गीतक और देशीतालबद्ध प्रबंध के रूप में; ४. वाद्य—मार्ग किन्नरी और देशी किन्नरी तथा मार्ग पटह और देशी पटह के रूप में तथा ५. नृत्त—मार्गचारी और देशीचारी के रूप में।

मार्ग संगीत में प्रयुक्त होने वाले तालों को भरत के बाद उस परंपरा के ग्रंथों में मार्गताल कहा गया। इस ताल पद्धति का निरूपण मुख्यतः भरत, अभिनव, शार्ङ्गदेव और कुंभा ने ही किया है। बाद के ग्रंथकारों ने या तो परंपरा का निर्वाह करने के लिये रत्नाकर की ही पुनरावृत्ति की है अथवा जिन ग्रंथों में लक्ष्य का निरूपण किया गया है, उनमें मार्ग तालों को छोड़ दिया गया क्योंकि लक्ष्य से मार्गताल पद्धति लुप्त हो चुकी थी।

'ताल' का स्वरूप

भरत ने काल के स्वरूप को प्रथम श्लोक में इस रूप में व्यक्त किया है—

> वाद्यं तु यद्घनं प्रोक्तं कलापातलयान्वितम्।
> कालस्तस्य प्रमाणं हि विज्ञेयं तालयोगतः॥[1]

अर्थ यह है कि कला, पात और लय से अन्वित जो घनवाद्य कहा गया है उसका प्रमाण काल ही है, ऐसा काल जिसमें ताल का योग है। इस श्लोक में आये हुए काल, घन, वाद्य, ताल, कला, पात और लय—ये सभी शब्द पारिभाषिक हैं और ताल के प्राण हैं। इन सभी का विश्लेषण प्रस्तुत है।

काल

काल को ही घनवाद्य का प्रमाण कहा है। लेकिन अनादि, अनन्त, निस्सीम काल प्रमाण नहीं है वल्कि ताल के रूप में जिस काल के खंड बनाये गये हैं वह काल प्रमाण है। निस्सीम काल का ज्ञान असंभव है। ज्ञान के लिये उसे सीमा में बांधना जरूरी है इसीलिये सैकिंड, मिनट, घंटे, दिन, महीने, साल, सदी आदि के रूप में काल का परिच्छेद किया जाता है। घड़ी की एक निश्चित क्रम से होने वाली टिक् टिक् के द्वारा ही काल का ज्ञान होता है। हृदय की निरन्तर होने वाली धड़कन से ही जीवन या चेतना रूप काल का ज्ञान होता है। स्पंदन के बंद होते ही जीव वापस अनंत काल में समा जाता है। इसी तरह संगीत में भी काल ज्ञान के लिये काल का परिच्छेद करना आवश्यक है। संगीत में

---

१. ना० शा०, ३१/१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काल को नापने का साधन ताल और माध्यम घनवाद्य है, इसलिये भरत द्वारा प्रयुक्त 'घन' और 'ताल' बहुत महत्व के हैं।

प्रसंगवश काल (time) और देश (space) के सम्बन्ध पर भी कुछ कहना जरूरी है। ये दोनों तत्त्व एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी परस्पर अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। काल का ज्ञान क्रिया के द्वारा ही होता है और क्रिया देश (स्थान) में होती है। हाथ हिलाना एक क्रिया है वह भी स्थान में होती है। अक्सर स्थान की दूरी का बोध कराने के लिये काल की भाषा में कहा जाता है। जैसे, स्टेशन से घर कितनी दूर है? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाय—पैदल जाने में दो घंटे लगते हैं, ताँगे में एक घंटा लगता है और मोटर से १५ मिनट। घड़ी का दोलक काल का मापक है लेकिन उसकी दोलन क्रिया स्थान में ही होती है। ताल की सशब्द क्रियाएँ भी स्थान में होती हैं।

घन

चतुर्विध वाद्यों में से घनवाद्य को ही काल का मापक कहने का विशेष कारण है। काल का परिच्छेद करने वाली क्रिया का सरलतम रूप दोनों हाथों को परस्पर टकरा कर ताल या ठोके देना है। टकरा कर ध्वनि उत्पन्न करने यानी हाथों के हनन के द्वारा काल का व्यवच्छेद करने के सिद्धान्त का ही विकसित रूप घनवाद्य है क्योंकि सभी घन वाद्यों में दो अंगों को परस्पर टकरा कर वजाने की क्रिया अन्वित है।

लेकिन काल को नापने के लिये घनवाद्य को ही क्यों चुना? स्वर की उत्पत्ति जैसे वीणा,- वंश और अवनद्ध में होती है वैसे ही घन में भी होती है क्योंकि सभी को या तो किसी स्वर में मिलाया जाता है या उनमें किसी स्वर की उत्पत्ति होती है? यह प्रश्न अभिनव ने ३१वें अध्याय के पहले श्लोक की टीका शुरू करने से पहले ३०वें अध्याय के अन्तिम श्लोक के 'स्वरगतं' अंश पर उठाया।

उपर्युक्त प्रश्न का अभिनव ने इस प्रकार समाधान किया कि यह सही है कि अवनद्ध और घन में भी स्वर सुनाई देता है लेकिन वहाँ स्वर का अवभास ही होता है, वास्तव में स्वर उस प्रकार स्पष्ट नहीं होते जैसे वीणा और वंश में। स्वर की मूल उत्पत्ति मनुष्य कंठ में और 'अनुहार' यानी अनुकरण से वीणा और वंश में मान ली जाती है। फिर भी इसमें अनेक स्वरों की उत्पत्ति और स्वरभेद संभव होने के कारण ये स्वरवाद्य कहलाते हैं और इनकी विधि स्वरगत होती है। अवनद्ध वाद्यों को भी किसी एक निश्चित स्वर में मिलाना (मार्जना) संभव है लेकिन एक वार मिला लेने के वाद उनमें से वही एक स्वर उत्पन्न किया जा सकता है, अन्य स्वर उत्पन्न करना संभव नहीं है। घनवाद्यों में 'मार्जना' भी संभव नहीं है। घन की धातु, मोटाई-पतलापन, चौड़ाई, गहराई आदि के कारण उसमें एक वार जो स्वर स्थिर हो जाय उसे वदलना संभव नहीं है। साथ ही अवनद्ध और घन वाद्यों के स्वर का स्वतंत्र रूप से कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि कंठ, वीणा या वंश में से किसी एक के स्वर के आधार पर ही उनमें स्वर स्थापित किया जाता है इसलिये इनमें स्वर की उत्पत्ति मौलिक नहीं वल्कि अनुहार (अनु=वाद में, हार=ग्रहण) से होती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यद्यपि अवनद्ध वाद्यों में भी अक्षरों की उत्पत्ति मानी गई है लेकिन वास्तव में वाद्यों में वर्ण नहीं केवल ध्वनि ही उत्पन्न होती है। व्यवहार या शिक्षा के लिये उन ध्वनियों से साम्य रखने वाले अक्षर जोड़ दिये जाते हैं। इसलिये जैसे वीणा और वंश में पद और तालगत विधि नहीं होती, उसी तरह अवनद्ध और घन में स्वरगत विधि नहीं होती। अवनद्ध में यद्यपि ताल होता है लेकिन प्रयोजन मुख्य रूप से गीत का रंजन है, काल का माप करना नहीं। घनवाद्य ठोस होने के कारण उनमें खिंचाव, ढीलापन या दबाव नहीं होता। इसलिये इनमें हनन के द्वारा कालखंड दिखाना अधिक सरल है। उपर्युक्त चर्चा का आधार अभिनव का निम्न अंश है—

ननु स्वरकृतं रूपं वीणावंशयोरिवावनद्धेऽप्युपलभ्यते तद्वद् घनेऽपि। नादात्मना स्वरस्य शब्दत्वेन नित्यव्याप्यत्वात्। अतश्चैवं तदाऽवनद्धे मार्जनानां स्वरविशेष-योजनात्मना वक्ष्यमाणत्वाद्। सत्यम्। अनुहारेण परं स्वराणामवभासोऽत्र न स्फुटो नाक्षरात्मना। तथात्वे हि रसभावाद्यभिव्यक्तिरपि न भवेत्। तेन ह्यनुहारमात्रेण केवलमत्र स्वरात्मकताऽक्षरषोडशवत्। अक्षराणां हि यद्यपि स्फुटत्वं स्यात् करनज-करततकरथटगतकरिकरटकतटकटाभरणकेलिकाल इति श्रूयमाणानां च यथा वाद्य-प्रतिपत्तिर्भवति तथा वाद्यमानादपि स्यात्। तस्मादनुहारस्यात्मवृत्तित्वादन्यत्र स्वराणां वंशनिरूपणानन्तरमेवोपसंहारो युक्तः। तदुपसंहारानन्तर चोक्तम्। घनातोद्य-विकल्पनं वक्ष्यामीति (भ. ना., अ. ३०-१२)। तत्र हन्यत इति घनः कठिनतैकरूपः। तत एव नमनोन्नमनशैथिल्यादियोगाभावादक्षरवैचित्र्यं स्वरवैचित्र्यं चानुरुध्यमान-मात्रेणोपयोगी कांस्यतालिकादिरुच्यते।[1]

लेकिन इनके अलावा एक कारण और है। गान, वादन और नृत्त तीनों का एकसाथ प्रयोग होने पर गायक तो हाथ से ताल-क्रियाएँ कर सकता है लेकिन वादक और नर्तक के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं है। वे यदि गायक के द्वारा की जाने वाली क्रियाओं का सहारा लें तो कभी भूल हो सकती है, क्योंकि हाथ की क्रियाओं की ध्वनि उतनी स्पष्ट सुनाई नहीं देती जितनी घनवाद्य की। घनवाद्य पर लय और ताल (ठेके) दिये जायें तो गायक, वादक और नर्तकी—सभी को अधिक सुविधा रहती है तथा लय बनाये रखने के लिये वैसा अवधान नहीं रखना पड़ता जैसा स्वयं हाथ से क्रिया करने पर या हाथ से की जाती हुई क्रियाओं को सुनने पर रखना पड़ता है। उस स्थिति में प्रयोक्ताओं को अपने-अपने कर्म में अधिक स्वतन्त्रता रहती है। इसे अभिनव ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

यो गायको यतीनामावापविक्षेपप्रयोगं करोति नर्तकवादकादयस्तदवलोकनं विना तत्परिमाणसमं च लयं कथञ्चिच्चरन्ति प्रयोगस्य साम्यं न स्यात्। सशब्देऽपि पाते करशब्दस्य तथा स्फुटमाकर्णनं न भवति यथा घनशब्दस्य।[2]

यही कारण है कि ताल के लिये घनवाद्य को ही उपयोगी माना गया और भरत परम्परा में गायक वादक के प्रमाद की निवृत्ति के लिये यानी गायक वादक 'बेताला' न हो

१. ना. शा., ३१/१ अभि., पृ. १५०   २. वही, अभि., पृ. १५२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाय इसके लिये कांस्यतालधारी सहायक गायक साथ में होना अनिवार्य माना गया। शार्ङ्गदेव ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है:—

गान्धर्वमार्गकुशल: कांस्यतालधरोऽपर: ।
गातु: सहाय: कर्तव्य: प्रमादविनिवृत्तये ॥[1]

कल्लिनाथ ने 'प्रमादविनिवृत्तये' को स्पष्ट करते हुए कहा कि गांधर्वप्रयोग में मुख्य-गाता अंगुलिकर्म करते हुए गाये लेकिन द्वितीय गाता कांस्यताल धारण करके मुख्यगायक की सहायता करे जिससे प्रमाद न हो क्योंकि प्रमाद होने से न केवल अदृष्ट फल का नाश होगा बल्कि 'प्रत्यवाय' यानी विपरीत फल भी हो सकता है।[2]

'हन्' धातु से 'अप्' प्रत्यय लगाने पर 'घन:' शब्द बनता है जिसका प्रसंग-प्राप्त अर्थ है 'ठोस आकार वाला'। 'घन' शब्द पर अभिनव ने कहा—'मूर्तो घन इति मूर्ति-काठिन्यमिति युक्तम्'।[3] घन के स्वरूप पर संगीतरत्नाकर का यह श्लोकार्ध भी सार्थक है—

घनो मूर्ति: साभिघाताद्वाद्यते यत्र तद्घनम्।[4]

घन अर्थात् ठोस होने के कारण यही ऐसा एकमात्र वाद्य है जिसके स्वर में परिवर्तन नहीं होता। एक वार जो स्वर इसमें स्थापित कर दिया जाय वही बना रहता है इसलिये इसके बेसुरे होने की गुंजाइश नहीं होती।

वाद्य

वाद्य शब्द 'वद्' धातु से 'णिच्' और 'यत्' प्रत्यय लगाने पर बनता है। इसका अर्थ केवल यन्त्र नहीं है। संगीतशास्त्र में यह शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—१. वाद्य-यन्त्र (instrument) ध्वनि उत्पन्न करने का साधन रूप, जैसे—कांस्यताल आदि। २. वादन क्रिया (action) यन्त्र पर की जाने वाली वादन की क्रिया, जैसे—कला, पात आदि से युक्त क्रियाएँ और ३. अन्तर्वस्तु (content) जो कुछ वजाया जाय, जैसे—कला, पात आदि से युक्त वह वादन जिससे ताल की धारणा होती है। विशेष रूप से नाट्यशास्त्र, अभिनव-भारती और संगीतरत्नाकर में वाद्य शब्द का प्रयोग इन विभिन्न अर्थों में अनेक बार किया गया है।

ताल

'ताल' को अभिनवगुप्त ने इन शब्दों में समझाया है—

यद् घनं नाम वाद्यमातोद्यं प्रोक्तमुद्दिष्टं तस्य तालेन भाविनाशम्यादिसशब्दावा-पादिनि:शब्दक्रियाविशेषेणयोगे सति य: काल:—परिच्छित्यात्मककालखण्ड: क्रियारूपो द्रव्यात्मा स एव गीतक्रियाप्रमाणपरिच्छेदोपाय:।[5]

इसका सार यह है कि सशब्द और नि:शब्द क्रियाविशेष के योग से बनने वाला ताल, जो काल का विभाजक है, क्रियारूप है, और द्रव्यात्मा है, वही गीत की क्रिया के

१. सं. र., ५/३८-३९
२. वही, कल्लि.
३. ना. शा., ३१/१, अभि., पृ. १५०
४. सं. र., ६/६
५. ना. शा., ३१/१, अभि., पृ. १५१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काल को नापने का साधन है। इसमें क्रिया ही सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि क्रिया के विना काल का ज्ञान सम्भव नहीं है, क्रिया के विना ताल का अस्तित्व ही नहीं है। इसीलिये अभिनवगुप्त ने कहा है कि कालरूप क्रिया ही परिच्छेदक है, क्रिया व्यतिरेकी काल नहीं—

न कालः क्रियाव्यतिरेकः अपि तु सर्वेषां परिच्छेदहेतुः काल इत्युच्यते। परिच्छेदश्च क्रियैव।[1]

क्रिया दो प्रकार की होती है—सशब्द और निःशब्द। जिन क्रियाओं से ध्वनि सुनाई पड़े वे सशब्द कहलाती हैं और जिनसे ध्वनि सुनाई न दे वे निःशब्द हैं। जैसे—दोनों हाथों को टकराना या चुटकी बजाना सशब्द हैं और हाथ को दाहिने बायें, ऊपर नीचे ले जाना, अंगुलियों को फैलाना-सिकोड़ना आदि निःशब्द हैं। इनमें से किसी भी अकेली क्रिया से काल का परिच्छेद संभव नहीं है और न इनमें से किसी एक प्रकार की क्रिया का महत्त्व कम या अधिक है। ये क्रियाएँ ऐसे दो छोर हैं जिनके बीच लय और ताल रहते हैं। लेकिन ताल के लिये यह आवश्यक है कि क्रियाओं के विशेष समूह का बार-बार आवर्तन हो यानी कुछ विशिष्ट क्रियाएँ हों और एक निश्चित नियम या क्रम से उन्हें दोहराया जाय। इसी को अभिनव ने 'क्रियाविशेष' का 'नियम' और 'अनुवर्तमान' कह कर स्पष्ट किया है—

क्रियाविशेषावच्छेदाद् यो नियमोऽनुवर्तमानः स्थिरशीघ्रमध्यमरूपो लयस्ताल इति।[2]

क्रियात्मक परिच्छेद अबाध गति से चलता रहे तो उससे काल का ज्ञान तो हो सकता है लेकिन उसे ताल नहीं कह सकते। परिच्छेदक सशब्द निःशब्द क्रियाओं के विशेष समूह का बार-बार आवर्तन हो तभी ताल बनता है इसीलिये कालखंड कहा है।

'ताल' शब्द की व्युत्पत्ति

संगीतरत्नाकर में ताल शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

तालस्तलप्रतिष्ठायामिति धातोर्घञि स्मृतः।
गीतं वाद्यं तथा नृत्तं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्॥[3]

प्रतिष्ठा अर्थ वाली 'तल' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने पर ताल शब्द बनता है। गीत, वाद्य और नृत्त इसमें प्रतिष्ठित होते हैं इसलिये इसे ताल कहा जाता है। प्रतिष्ठा का अर्थ है एक सूत्र में बाँधना, व्यवस्थित करना, आधार प्रदान करना, स्थिरता लाना आदि। गीत, वाद्य और नृत्त के विविध तत्त्वों को एक व्यवस्था प्रदान करके स्थिर बनाने वाला और आधार देने वाला तत्त्व ताल ही है। शास्त्र क्या है ?—'प्रतिष्ठानविशेष' यानी व्यवस्था करने का विशेष ढंग। संगीतशास्त्र में प्रतिष्ठान यानी व्यवस्था का संपादन ताल के द्वारा ही होता है।

'तले भवस्तालः'[4]—इसकी निरुक्ति है, जिसका अर्थ है 'तल में होने वाला ताल है।'

---

१. वही
२. वही, ३१/६, अभि, पृ. १५४
३. सं. र., ५/२
४. ना. शा., ३१/१, अभि., पृ. १५२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बोलचाल में तल शब्द का अर्थ 'नीचे रहने वाला' और 'धारण करने वाला' होता है। किसी वस्तु को हाथ पर रखने के लिये 'हस्ततल' (हथेली) शब्द का प्रयोग किया जाता है। उस स्थिति में हाथ का वह भाग जो हस्ततल कहलाता है वस्तु के नीचे रहता है। पूरे शरीर के नीचे रह कर शरीर को धारण करने के कारण पैर के नीचे का भाग 'पदतल' कहलाता है। पृथ्वी के लिये पृथ्वीतल, अवनितल, भूतल आदि का प्रयोग इसीलिये किया जाता है कि वह हर वस्तु को अपने ऊपर धारण करती है। इसी तरह काल का जो आवृत्त होने वाला क्रियात्मक खंड गीत, वाद्य और नृत्त को अपने ऊपर धारण करता है वह 'ताल' है। अभिनव ने ताल में हाथ की क्रियाओं के द्वारा परिच्छेद के उपाय की सुलभता और हस्ततल में 'तल' के द्वारा ताल के ग्रहण को स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है—

> तत्र हस्तक्रियेति परिच्छेदसुलभ उपायः। तयोर्हस्तयोः क्रियैव ताल इति सामान्य-लक्षणं तले भव इति कृत्वा।[१]

प्रायः सभी मध्ययुगीय ग्रंथों में 'ताल' के 'त' और 'ल'—इन दो अक्षरों को क्रम से शिव और शक्ति का सूचक मान कर 'तल' शब्द की निरुक्ति दी गई है और ताल को 'शिवशक्त्यात्मक' कहा गया है।

'ताल' के विभिन्न अर्थ

संगीत में ताल शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है—१. वाद्य—एक प्रकार का घनवाद्य जिसे ताल या कांस्यताल कहा जाता है। २. क्रिया सामान्य—जैसे, हाथ से ताल देना। ३ क्रिया विशेष— सशब्द क्रियाओं का एक विशेष प्रकार। ४. विशिष्ट कालखंड—क्रियाओं के विशिष्ट समूह के आवर्तन से बनने वाला विशेष कालखण्ड, जैसे—चच्चत्पुट, तीनताल आदि। ५. अंतर्वस्तु—विभिन्न क्रियाओं के द्वारा जो प्रयोग गीत, वाद्य, नृत्त को धारण करता है। ६. नृत्य में विशेष प्रकार का नाप, जैसे—संगीतरत्नाकर में उल्लेख है—सूचीपादः स्वपार्श्वे वा समस्तालान्तरे स्थितः[२] यहाँ 'ताल के अन्तर पर स्थित' में ताल नाप-विशेष है।

ताल की क्रियाओं के माप

शार्ङ्गदेव ने ताल का स्वरूप बताते हुए 'लघ्वादिमितया क्रियया'[३] का प्रयोग किया है। लघ्वादि में लघु, गुरु और प्लुत का ग्रहण है जो मार्गतालों में होने वाली क्रिया के मान को सूचित करते हैं। इनमें से लघु और गुरु शब्दों का छन्द-शास्त्र से और प्लुत का साम-वेद से ग्रहण हुआ है। छन्द में मात्रा के दो ही नाप हैं—लघु और गुरु। लेकिन गेय साम-वेद में कर्षण होने के कारण प्लुत का भी प्रचुर प्रयोग होता है। संगीत का मूल साम में माना जाता है इसलिये वहाँ से प्लुत का ग्रहण होना स्वाभाविक है। इन तीनों इकाइयों का अनुपात क्रमशः १, २ और ३ तथा चिन्ह ।, ऽ, ऽ' हैं।

---

१. वही, ३१/३०-३२, अभि., पृ. १६७ २. सं. र., ७/१०६६
३. वही, ५/३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ताल और छन्दःशास्त्र की इकाइयों के माप में अन्तर है। छन्द में लघु का काल एक निमेष का या एक ह्रस्व अक्षर के उच्चारण जितना है और गुरु का इससे दुगना। लेकिन मार्गताल में पाँचगुना अर्थात् लघु का ५, गुरु का १० और प्लुत का १५ होता है। नाट्यशास्त्र में इसे निमेष कहा है—निमेषाः पञ्च विज्ञेया गीतकाले कलान्तरम्।[१] और संगीतरत्नाकर में लघु अक्षरकाल कहा है—

पञ्चलघ्वक्षरोच्चारमिता मात्रेह कथ्यते ॥
अनया मात्रयात्र स्यात् लघुगुर्वादिकल्पना ।[२]

कला

भरत के तालसम्बन्धी श्लोक में ताल के तीन घटक कहे गये हैं—कला, पात और लय। इनमें कला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

'कला' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—१. अंश या भाग, जैसे—चन्द्रमा की १६ कलाएँ। २. शक्ति—जैसे, शक्ति का आकर होने के कारण शिव 'कलानिधि' कहे जाते हैं। ३. काल का माप; जैसे—३० काष्ठाओं का काल या ५ लघु अक्षरों का काल। ४. अभिव्यक्ति का माध्यम; जैसे—संगीत, काव्य, चित्र, नाट्य आदि कलाएँ। ५. क्रिया—जैसे, सशब्द निःशब्द क्रियाएँ। ६. कलाओं की कुल संख्या—जैसे, 'अष्टाचत्वारिंशत्कल, 'षण्णवतिकल' आदि। ७. कुशलता—जैसे, अमुक व्यक्ति में काम करने की कला है। ताल के संदर्भ में अन्तिम को छोड़ कर शेष सभी अर्थों में कला शब्द का प्रयोग होता है। ताल प्रकरण में कला शब्द का प्रयोग इतने अर्थों में किया गया है—१. निःशब्द क्रिया, २. सशब्द क्रिया, ३. क्रियामात्र, ४. गुरु इकाई, ५. लघु मात्रा और ६. कुल कला संख्या। सबके उदाहरण प्रस्तुत हैं :

निःशब्द क्रिया—'कलापातलयान्वितम्'[३] 'निःशब्दा तु कलोच्यते'।[४]

सशब्द क्रिया—'पातः कला तु सा ज्ञेया'।[५] ताल के तीन रूपों में से 'एककल' में प्रयुक्त 'कला' शब्द का अर्थ भी सशब्द क्रिया ही है। एककल का अर्थ है—जिसके प्रत्येक विभाग में एक-एक कला हो। एककल रूप में सशब्द क्रियाएँ ही होती हैं इसलिये यहाँ कला का अर्थ सशब्द क्रिया ही है।

क्रिया मात्र—तालों के यथाक्षर रूपों में केवल सशब्द क्रिया होती है और द्विकल-चतुष्कल में सशब्द-निःशब्द दोनों। लेकिन इनकी क्रियाविधि बताते समय 'कलाविधि' शब्द का प्रयोग 'कला' के सशब्द और निःशब्द दोनों अर्थों का द्योतक है।

गुरु इकाई—'गुरुः कलात्र'[६] तथा 'द्विकल' 'चतुष्कल' में भी कला गुरु की सूचक है।

---

१. ना. शा., ३१/४ — २. सं. र., ५/१६-१७
३. ना. शा., ३१/१ — ४. सं. र., ५/४
५. वही, ५/६ — ६. वही, ५/२०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लघु मात्रा—'षट्कलोऽष्टकलश्चैव तालो ह्यस्मात् प्रवर्तते'[१] चच्चत्पुट अष्टकल और चाचपुट षट्कल है यानी इनमें क्रम से ८ और ६ लघु मात्राएँ हैं।

कुल कलासंख्या—चतुरश्र और त्र्यश्र तालों के भेद बताते समय चतुष्कल, अष्टकल आदि और अष्टाचत्वारिंशत्कल, षण्णवतिकल में 'कला' शब्द के द्वारा ताल में कलाओं की कुल संख्या को व्यक्त किया है।

ताल को क्रिया ही सिद्ध करती है इसलिये ताल की दृष्टि से कला का यही अर्थ प्रमुख है। सशब्द और निःशब्द दोनों प्रकार की क्रियाएँ कला कहलाती हैं क्योंकि १. दोनों ही ताल के प्रधान अंश या घटक हैं, २. दोनों ही ताल की शक्ति हैं, ३. दोनों ही काल का विभाजन करती हैं, ४. ताल को नापने का साधन भी दोनों हैं और ५. दोनों के द्वारा ही लय निश्चित होती है।

पात

'पत्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगा कर बने इस शब्द का अर्थ है 'गिरना'। ताल में 'पात' सशब्द क्रिया का द्योतक है। गिरने में ध्वनि की उत्पत्ति अन्वित है और ध्वनि सुनाई दे, यह सशब्द का प्रयोजन है। सशब्द क्रिया के बिना काल शास्त्रगोचर नहीं होता इसलिये सशब्द-क्रिया-रूप कालखण्ड, जो सुनाई देने के कारण संगीत के काल को शास्त्रगोचर बनाता है वह 'पात' है। ताल की सशब्द क्रियाओं में पतन क्रिया, उससे उत्पन्न होने वाली श्रव्य ध्वनि और क्रिया का परिच्छेद—सभी होता है इसलिये ये क्रियाएँ पात कहलाती हैं।

कला और पात शब्दों का जब साथ-साथ प्रयोग होता है तो कला का अर्थ निःशब्द और पात का अर्थ सशब्द क्रिया होता है। लेकिन जब अकेला कला शब्द का प्रयोग हो तो उसमें दोनों अर्थ रहते हैं। जैसे, संस्कृत में 'गो' शब्द अकेला प्रयुक्त हो तो गाय और बैल या साँड दोनों अर्थ देता है और 'गोबलीवर्द'—इस प्रकार आये तो 'गो' का अर्थ गाय ही होता है क्योंकि साथ में प्रयुक्त बलीवर्द का अर्थ साँड है। अथवा जैसे अंग्रेजी में man and woman कहने पर man का अर्थ पुरुष होता है और अकेला man हो तो पुरुष और स्त्री दोनों का वाचक 'मनुष्य' अर्थ होता है।

अभिनव ने पात शब्द का इसके अतिरिक्त अर्थ भी दिया है। भरत के 'एषामन्तरपातास्तु पातसंज्ञाः प्रकीर्तिताः'[२] पर टीका करते हुए कहा कि ताल के चतुष्कल रूप में शम्यादि सशब्द क्रियाएँ आवापादि निःशब्द क्रियाओं की अपेक्षा बहुत कम होती हैं और निःशब्द क्रियाओं के बीच-बीच में पड़ी रहती हैं (पतन्ति) इसलिये पात कहलाती हैं:

एषां निष्क्रामादीनां मध्ये पतन्तीति ज्ञेयमिति परिभाषेयम्।[३]

---

१. ना. शा. ३१/१५

२. वही, ३१/३६

३. वही, अभि. पृ. १७१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साथ ही ये क्रियाएँ बीच-बीच में आती हैं इसलिये एक सशब्द और दूसरी सशब्द क्रिया के बीच का काल-परिमाण कम ज्यादा हो जाता है (पात्यते) इसलिये भी इन्हें 'पात' कहा जाता है :

येषामावापादीनां यदन्तरं कालपरिमाणं तत् पात्यते ऊनाधिकभावं गम्यते येषु गुरुलघुषु तेषु ते पातसंज्ञा: ।[१]

इन क्रियाओं में दोनों हाथ गिरते हैं इसलिये भी इन्हें पात संज्ञा दी गई है—'उभयकरनिपतनस्वभावात्' ।[२]

कला शब्द का प्रयोग सशब्द नि:शब्द दोनों के लिये किया जाता है, यह ऊपर कहा जा चुका है। लेकिन अभिनव ने पात में दोनों का समावेश यह कह कर किया है—'परिच्छेदोपयोगिक्रियामात्र पात इति।'[३] काल का परिच्छेद ही क्रिया का प्रयोजन है इसलिये सशब्द नि:शब्द दोनों ही परिच्छेदक सिद्ध हुईं। इस प्रकार कला और पात दोनों ही शब्द सामान्य रूप से सशब्द और नि:शब्द के यानी क्रिया मात्र के सूचक हैं लेकिन दोनों के विशिष्ट स्वरूप के अनुसार कला नि:शब्द के लिये और पात सशब्द के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं।

सशब्द और नि:शब्द क्रियाओं का संबंध

सशब्द और नि:शब्द क्रियाओं के संबंध के बारे में अभिनव के ये वाक्य बहुत सारगर्भित हैं—

कांस्यतालिकानुरणनक्रियाया: प्रसिद्धाया सन्निपातशम्यादीनां साम्ये तदेतत्सन्निपातादि-परिच्छिन्नं गीतं गेयमिति न तत्रावापादय: सत्परिच्छेदका: । किं चास्य तालयोगेने-त्याशङ्क्याह । कृताभिप्राये सविशेषणमाह । कलापातेति । कलाऽऽतोद्याऽऽत्मना न विषयतया । काल: परिच्छिद्यते आवापादिक्रियया सा कला ।[४]

इसका सार यह है कि कांस्यताल की अनुरणन क्रिया ताल की सशब्द क्रियाओं का साम्य खड़ा करने वाली है इसलिये गीत का परिच्छेद सशब्द क्रियाओं से ही होता है नि:शब्द से नहीं। तब ताल में नि:शब्द क्रिया की क्या आवश्यकता है ? भरत ने इस शंका को ध्यान में रखकर ही कला और पात दोनों रखे हैं। कला आतोद्यात्मक है, विषयरूप नहीं। आतोद्यात्मक क्रिया से काल का परिच्छेद होता है इसलिये वह कला कहलाती है और वह काल के मान के लिये आवश्यक है।

नि:शब्द क्रिया तीन प्रकार की हो सकती है—१. सशब्द क्रिया की अभावरूप अर्थात् कोई क्रिया न होने की स्थिति में, २. दो सशब्द क्रियाओं के मध्यान्तर में बीतने वाला नि:शब्द काल यानी विस्ताररूप नि:शब्द क्रिया जो पहली क्रिया का विस्तार करती

१. वही, पृ. १७० .
२. वही
३. वही, पृ. १७४
४. वही, पृ. १५१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है और ३. वैपरीत्य-रूप निःशब्द क्रिया यानी सशब्द के विपरीत की जाने वाली स्वतंत्र निःशब्द क्रिया जिसका अपना संकेत भी हो। अभिनव ने 'विषयतया' से दूसरे प्रकार की और 'आतोद्याऽऽत्मना' से तीसरे प्रकार की क्रिया को सूचित किया है। काल के खंड करने के लिये पहली क्रिया सशब्द ही होनी चाहिये और उसकी विस्तारक निःशब्द क्रिया भी अभिन्न रूप से जुड़ी है। लेकिन इस निःशब्द की अपेक्षा स्वतन्त्र रूप से होने वाली आतोद्यात्मक निःशब्द क्रिया का महत्त्व कहीं अधिक है। 'आ' उपसर्ग, 'तुद्' धातु और 'घञ्' प्रत्यय के योग से 'आतोद्य' शब्द बनता है जिसका अर्थ है हनन। हनन एक स्वतन्त्र क्रिया है जिससे ध्वनि अवश्य उत्पन्न होती है। वह ध्वनि श्रव्य हो भी सकती है और नहीं भी। जैसे, किसी डंडे को तेज़ी से घुमायें तो 'ज़ूँ ऽऽऽऽऽ' ध्वनि सुनाई देती है। लेकिन अगर उसी को धीरे घुमायें तो ध्वनि तो उत्पन्न होती है लेकिन हमारे कान उसे पकड़ नहीं पाते, किसी ध्वनि-ग्राहक यन्त्र से उसे पकड़ा जा सकता है।

सशब्द और निःशब्द क्रिया को क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में समझा जा सकता है। जैसे क्रिया के बिना प्रतिक्रिया नहीं होती, उसी तरह सशब्द के बिना निःशब्द भी नहीं होती। आतोद्यात्मना में प्रतिक्रिया स्वरूप निःशब्द क्रिया की ही विवक्षा है। एक उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। मौन तीन प्रकार का हो सकता है— १. गूँगे का मौन यानी जिसमें बोलने की क्रिया है ही नहीं। २. तटस्थ व्यक्ति का मौन यानी बोलने की क्रिया तो है लेकिन बोलने की आवश्यकता न समझे इसलिये न बोले और मौन रहे। ३. प्रतिक्रियारूप मौन अर्थात् बोलना जानता भी है. बोलने की ज़रूरत भी है फिर भी न बोले। पहले प्रकार के मौन की वास्तविक सत्ता नहीं है। दूसरे में सत्ता तो है लेकिन वह निरभिप्राय है। तीसरे प्रकार का मौन सबसे अधिक सार्थक है क्योंकि किसी बात का उत्तर देने के बजाय मौन रहकर उसके प्रति पूर्ण समर्थन या पूर्ण उपेक्षा करना अभिप्रेत है। बोल कर की जाने वाली अभिव्यक्ति को मौन के द्वारा अधिक प्रभावशाली बनाया गया है।

ताल को तीनों प्रकार की निःशब्द क्रियाओं की स्थिति ठीक इसी प्रकार की है। 'कला' के रूप में अन्तिम प्रकार की निःशब्द क्रिया ही अभिप्रेत है जो स्वयं निःशब्द होते हुए भी सशब्द की शब्दात्मकता को और अधिक तीव्र बनाने के कारण आतोद्यात्मना कही गई है। निःशब्द क्रियाओं के लक्षण सशब्द से पहले बताने में भी निःशब्द को अधिक महत्त्व देना ही अभिप्रेत हो सकता है।

निःशब्द क्रियाएँ

चार प्रकार की निःशब्द क्रियाएँ कही गई हैं—आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेश।

आवाप—'वप्' धातु से बोने के अर्थ में 'आ' उपसर्ग और 'घञ्' प्रत्यय से आवाप शब्द बनता है जिसका संदर्भ अर्थ है—'विस्तार करना'। बीज बोने से जैसा विस्तार होता है उसी प्रकार आवाप के प्रयोग से ताल का विस्तार होता है। इस क्रिया का लक्षण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है—'हस्तस्योत्तानस्याङ्गुलिकुञ्चनम्'[१] यानी हथेली ऊपर की ओर रख कर अंगुलियों को सिकोड़ना।

निष्क्राम—'क्रमु' धातु से 'निस्' उपसर्ग और 'घञ्' प्रत्यय के द्वारा निष्पादित निष्काम शब्द का अर्थ है—'बाहर निकालना'। लक्षण है—'अधस्तलस्य स्यादङ्गुलीनां प्रसारणम्'[२] यानी हथेली उल्टी करके अंगुलियों को फैलाना। यह आवाप की ठीक उल्टी क्रिया है। अंगुलियों के बाहर फैलने में बाहर जाने का भाव होने के कारण यह संज्ञा भी सार्थक है।

विक्षेप—'वि' उपसर्ग, 'क्षिप' धातु और 'घञ्' प्रत्यय से वने इस शब्द का अर्थ है—'विशेष रूप से फेंकना'। लक्षण इस प्रकार है—'क्षेपो दक्षिणपार्श्वस्योत्तानस्य प्रसृताङ्गुले'[३] और नाट्यशास्त्र में 'तस्य दक्षिणतः क्षेपः'[४] यानी हाथ को एक ओर से दूसरी ओर फेंकना। 'क्षेप' का अर्थ विस्तार भी होता है। इस क्रिया का प्रयोग चतुष्कल तालों में होता है जो द्विकल की क्रिया का विस्तार करती है। अतः यह संज्ञा भी सार्थक है।

प्रवेश—'विश' धातु, 'प्र' उपसर्ग और 'घञ्' प्रत्यय से बने 'प्रवेश' का अर्थ है 'आना'। लक्षण यह है—'अधस्तलस्यास्य प्रवेशोऽङ्गुलिकुञ्चनम्'[५] यानी हथेली नीचे की ओर करके अंगुलियों का संकोच करना।

द्विकल तालों में निष्क्राम और प्रवेश का और चतुष्कल में चारों का प्रयोग किया जाता है।

सशब्द क्रियाएँ

सशब्द क्रियाएँ भी चार प्रकार की होती हैं—ध्रुव, शम्या, ताल और सन्निपात।

ध्रुव—इसका लक्षण है 'हस्तस्य पातः स्याच्छोटिका शब्दपूर्वकः'[६] यानी चुटकी बजाते हुए हाथ का नीचे की ओर जाना। यह उल्लेखनीय है कि भरत ने उद्देश और श्लोकों में ध्रुव का नाम अवश्य लिया है लेकिन सशब्द क्रियाओं के लक्षण देते समय ध्रुव का लक्षण नहीं दिया। अभिनव ने इसका औचित्य इस प्रकार कहा है कि ध्रुवपात का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से नहीं होता बल्कि तीन मार्गों में गुरु कलाओं में अनुस्यूत होकर ही इसका प्रयोग होता है। भरत ने केवल इतना कह कर छोड़ दिया है :

कला या त्रिविधा प्रोक्ता तस्याः पातो ध्रुवः स्मृतः।
यथाक्षरस्य तालस्य स च गुर्वक्षरे स्मृतः॥[७]

अर्थात् जो तीन प्रकार की कला कही गई है उसका पात 'ध्रुव' कहलाता है और वह यथाक्षर ताल के गुरु अक्षर में माना जाता है। इसमें प्रयुक्त 'ध्रुव' पर अभिनव ने बड़ी

१. सं. रा., ५/७ २. वही ३. वही, ५/८
४. ना. शा., ३१/३३ ५. सं. र., ५/८ ६. वही, ५/६
७. ना. शा., ३१/३८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लम्बी टीका की है जिसका सार यह है कि गुरु कला दो लघु के बराबर होती है। पहले लघु अंश में छोटिका (ध्रुव) का प्रयोग करके दूसरे लघु अंश में सशब्द क्रिया की जाती है। लघु के आश्रित होने पर भी इसका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता। किन्तु गीतकों के उपोहन नामक अंग में विकल्प से इसका प्रयोग होता है। दत्तिल ने ध्रुव का नामोल्लेख भी नहीं किया।

शम्या और ताल—'शम्या दक्षिणहस्तस्य तालो वामकरस्य तु'[1] (पातः) यानी दाहिने हाथ का पात 'शम्या' और वायें का पात 'ताल' है। दोनों में क्रिया भी एक सी है और ध्वनि भी एक सी है। लेकिन दोनों हाथों के संयोग में प्रवृत्ति का अन्तर है। दाहिने हाथ से प्रवृत्ति होने पर शम्या और वायें से होने पर ताल होता है। संगीतराज में गाता (गायक) के पाप का शमन करने के कारण 'शम्या'—यह निरुक्ति दी गई है—'गातुः पापस्य शमनाच्छम्या'।[2]

सन्निपात—'उभयोः सन्निपातः'[3] यानी दोनों हाथों का पात 'सन्निपात' है। शम्या और ताल से इसका यह अन्तर है कि उनमें एक ही हाथ से प्रवृत्ति होती है और इसमें दोनों हाथों से। ध्वनि की उत्पत्ति तो तीनों क्रियाओं में दोनों हाथों के संयोग से ही होती है लेकिन शम्या और ताल में एक हाथ से क्रिया होती है और दूसरा निश्चेष्ट रहता है। इसमें दोनों हाथों से क्रिया होती है।

उपर्युक्त चार सशब्द क्रियाओं में से अन्तिम तीन में वास्तविक अन्तर शब्द उत्पन्न होने से पहले की हाथ की प्रवृत्ति में ही है इसलिये तीनों की ध्वनि लगभग समान होने पर भी अलग-अलग भेद कहे हैं।

सशब्द और निःशब्द क्रियाएँ प्रधान रूप से अदृष्ट में सहायक होती हैं इसलिये इन पर बहुत अवधान रखना जरूरी माना गया। लेकिन साथ ही अभिनव ने यह भी स्पष्ट किया कि ये दृष्ट में भी सहायक होती हैं इसलिये इन्हें ललित और रुचिर ढंग से करना चाहिये :

> तत्र केवलमदृष्टप्राधान्यभावाभावाद्यनादरेणाङ्गतोदनाविरहोपनतं सुकरललित-रुचिरकरक्रियात्मकत्वं दर्शितम्।[4]

भरत के श्लोक में आये हुए 'लय' को समझने के लिये 'मार्ग' को समझना आवश्यक है इसलिये पहले मार्ग को समझा कर उसके बाद लय का स्पष्टीकरण किया जायगा।

मार्ग

संगीतशास्त्र में अन्य अनेक शब्दों की तरह 'मार्ग' भी लोक से लिया गया है, जिसका अर्थ है 'रास्ता'। जैसे लोक में मार्ग दो स्थानों के बीच की दूरी का द्योतक है, उसी तरह ताल में भी इस शब्द के द्वारा दूरी का यानी ताल के आवर्तन की कुल लम्बाई

---

१. सं. र., ५/६
२. सं. रा., द्वितीय खंड (अप्रकाशित), ३/३/१/४५
३. सं. र., ५/१०
४. ना. शा., अ. ३१, अभि., पृ. १६७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का सूचन किया जाता है। इसकी परिभाषा या व्याख्या भरत, मतंग, शार्ङ्गदेव या अभिनवगुप्त में से किसी ने भी नहीं दी। लेकिन ध्रुवपात पर टीका करते हुए अभिनव ने प्रसंग से इतना सा कहा—'नियतकालकलासम्पातश्च मार्ग उच्यते'।[१] यानी निश्चित काल से युक्त कला और पात के समूह को मार्ग कहते हैं; क्योंकि ऐसे कलासमूह के द्वारा ही ताल की लम्बाई या दूरी निश्चित होती है।

भरत ने तीन मार्गों का उल्लेख किया—चित्र, वार्तिक और दक्षिण। शार्ङ्गदेव ने चार मार्गों का :

मार्गा स्युस्तत्र चत्वारो ध्रुवश्चित्रश्च वार्तिकः।
दक्षिणश्चेति, तत्र स्याद् ध्रुवके मात्रिका कला।
शेषेषु द्वे चतस्रोऽष्टौ क्रमान्मात्राः कला भवेत्॥[२]

यहाँ भरतोक्त तीन मार्गों के अलावा ध्रुवमार्ग भी कहा है जिसमें एक मात्रा की कला होती है। मतंग ने गीति-प्रकरण में शून्य मार्ग का भी उल्लेख किया है जिसमें द्रुत यानी आधी मात्रा की कला होती है।[३] उसके अनुसार ध्रुव और शून्य मार्गों का प्रयोग मार्गतालों में स्वतन्त्र रूप से नहीं होता बल्कि मार्गों के अन्तर्गत लयभेद करते समय अथवा मागधी गीति के प्रयोग में ही होता है। इस बारे में 'मार्ग और लय' के अन्तर्गत विचार किया जायगा। मानसोल्लास में ध्रुव मार्ग के स्थान पर चतुर्थ मार्ग 'चित्रतर' कहा है :

'वार्तिकं दक्षिणं चित्रं तुर्यं चित्रतरं तथा।[४]

भरत ने कला को 'त्रिमार्गनियता'[५] कह कर चित्र में २ मात्रा की, वार्तिक में ४ की और दक्षिण में ८ मात्रा की कला कही। अभिनव ने भी कला और मार्ग के इस सम्बन्ध को स्पष्ट किया :

आवापादीनां कियदप(व)कर्षणं शम्यादेः कियत्पातं चित्रादिवशादित्युक्तौ ....।[६]

अर्थात् आवापादि निःशब्द क्रियाओं में कितना अवकर्ष अर्थात् विस्तार हो और शम्यादि में कितना पात हो यह चित्रादि मार्गों के अनुसार निश्चित होता है।

शार्ङ्गदेव ने ताल का लक्षण देते समय कहा कि लघु आदि से मापी गई क्रियाओं के द्वारा गीतादि को धारण करते हुए सम्यक् रूप से नापने वाला काल ताल है :

कालो लघ्वादिमितया क्रियया संमितो मितिम्।
गीतादेर्विदधत्तालः ....॥[७]

तथा सशब्द निःशब्द क्रियाओं में लघु आदि का नाप मार्ग के आधार पर कहा : 'तासां मार्गवशान्मितिः'।[८]

---

१. वही, अभि., पृ. १७४ २. सं. र., ५/१०–११ ३ बृह., पृ. ५३
४. मान., ४/१६/८५० ५. ना. शा., ३१/३ ६. वही, अभि., ३१/३८, पृ. ७४
७. सं. र., ५/३ ८. वही, आनन्द., ५/१०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मार्ग के द्वारा प्रत्येक क्रिया का मान और उसके आधार पर ताल की कुल लम्बाई सूचित की गई है। पूर्व उद्धृत संगीत-रत्नाकर के श्लोकों में ध्रुवमार्ग में कला का मान १ मात्रा, चित्र में २, वार्तिक में ४ तथा दक्षिण में ८ मात्रा कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि मार्ग-भेद से प्रत्येक क्रिया का काल दुगना-दुगना हो जाता है। इसके अनुसार ऽ ऽ । ऽ' लक्षण वाले चच्चत्पुट ताल का तीनों मार्गों में रूप इस प्रकार होगा :—

चित्रमार्ग

कला	ऽ	ऽ	।	ऽ'	
अक्षरकाल	१०	१०	५	१५	कुल अक्षर काल ४०
मात्रा	२	२	१	३	

वार्तिक मार्ग

कला	ऽ	ऽ	।	ऽ'	
अक्षरकाल	२०	२०	१०	३०	कुल अक्षर काल ८०
मात्रा	४	४	२	६	

दक्षिण मार्ग

कला	ऽ	ऽ	।	ऽ'	
अक्षरकाल	४०	४०	२०	६०	कुल अक्षर काल १६०
मात्रा	८	८	४	१२	

प्रत्येक मार्ग में कलाएँ ऽ ऽ । ऽ' ही हैं किन्तु चित्र में वे लघु गुरु प्लुत क्रमशः ५, १०, १५ अक्षर काल के हैं। वार्तिक में यही १०, २०, ३० और दक्षिण में २०, ४०, ६० अक्षर काल के हैं। अथवा यह कहें कि चित्र में वे क्रमशः १, २, ३ लघु के माप के, वार्तिक में २, ४, ६ के तथा दक्षिण में ४, ८, १२ लघु माप के हैं। प्रत्येक क्रिया का काल दुगना होने के फलस्वरूप ताल की लम्बाई दुगनी हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि मार्ग बदलने से लय वदलती है।

ध्रुव मार्ग के स्वरूप और क्रियाओं पर केवल अभिनव ने प्रकाश डाला है। उसके अनुसार ध्रुव मार्ग में सभी क्रियाएँ समान रूप से गुरु-रूपा होती हैं और गुरु का माप ५ लघु अक्षर के बराबर होता है, प्लुतादि विभाग नहीं होते किन्तु शम्यादि पात योजना पूर्ववत् होती है।[1] तदनुसार चच्चत्पुट का ध्रुव मार्ग में प्रस्तार इस प्रकार होगा :

कला	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
अक्षरकाल	५	५	५	५
मात्रा	१	१	१	१

भरत ने प्रत्यक्ष रूप से ध्रुव मार्ग नहीं कहा किन्तु अनेक स्थानों पर इसका आभास अवश्य मिलता है। अभिनव ने इन अंशों के आधार पर यह निरूपित किया कि भरत को ध्रुव मार्ग मान्य है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो मूल इकाई का नाप ५ लघु अक्षर न देकर

१. ना. शा., अभि., ३१/१६०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रथम चित्र मार्ग में १० लघु अक्षर कह कर वार्तिक और दक्षिण में दुगना-दुगना कहते। अर्थात् चित्र में कला (१० लघु अक्षर काल वाली) १ मात्रा की, वार्तिक में २ तथा दक्षिण में ४ मात्रा कहा जाता। मूल नाप ५ अक्षर और चित्र मार्ग में कला का माप २ मात्रा से आरम्भ करने में यह अन्वित है कि चित्र से छोटा अर्थात् ध्रुवमार्ग भी भरत को स्वीकार है।[1]

तालों के यथाक्षर आदि रूप

प्रत्येक ताल के तीन-तीन रूप होते हैं—यथाक्षर, द्विकल और चतुष्कल। भरत ने इनका लक्षण इस प्रकार दिया :

यथाक्षरकृतैः पातैस्तालो ज्ञेयो यथाक्षरः।
गुर्वक्षरैश्च विश्लिष्टैः स एव द्विकलो भवेत्॥
द्विर्भावाद् द्विकलस्यापि विज्ञेयोऽथ चतुष्कलः।[2]

ताल के नाम में अक्षरों का जैसा मान हो ठीक उसी मान से क्रियाएँ होने पर ताल 'यथाक्षर' होता है। वही जब गुरु अक्षरों से श्लिष्ट होकर दुगना हो जाता है तो 'द्विकल' और 'द्विकल' का भी दुगना होने पर 'चतुष्कल' होता है।

यथाक्षर, द्विकल और चतुष्कल का परस्पर संबंध अथवा यथाक्षर से ही द्विकल और चतुष्कल की रचना नाट्यशास्त्र में तीन स्थानों पर दिखाई देती है—१. विश्लेषण प्रक्रिया के द्वारा यथाक्षर से द्विकल तथा चतुष्कल रूपों की प्राप्ति में, २. द्विकल और चतुष्कल की कलाविधि में और ३. द्विकल तथा चतुष्कल में अंगुलि-प्रयोग की विधि में। इनकी चर्चा यथास्थान की जायगी।

संगीतरत्नाकर में यथाक्षर का लक्षण यह है—'नामगतैर्गलैस्तत्र यथाक्षरः अयमेककलः'।[3] यानी ताल के नाम में रहने वाले लघु गुरु के अनुसार यथाक्षर होता है। उदाहरण के लिये चच्चत्पुट में अक्षरों का मान इस प्रकार है :

चच्चत्पुटः ऽ ऽ । ऽ'

इस ताल के हर अक्षर पर उन अक्षरों के लघु, गुरु, प्लुत आदि मान से ही एक-एक क्रिया होने पर यथाक्षर कहलाता है। ताल के मूल रूप को यथाक्षर कहा जाता है क्योंकि उसमें नाम के अनुसार ही क्रियाएँ होती हैं। भरत ने यथाक्षर को ही शुद्ध कहा है—'एवमेककलो ज्ञेयः शुद्धश्चच्चत्पुटादिकः'।[4] यथाक्षर में कुल जितने गुरु हों द्विकल और चतुष्कल में उसके ठीक दुगने-दुगने गुरु होते हैं।

भरत के 'गुर्वक्षरैश्च विश्लिष्टैः'[5] का विशेष अर्थ है। यथाक्षर में इकाइयाँ लघु, गुरु, प्लुत में से कोई भी हो सकती हैं किन्तु द्विकल रूप प्राप्त करने के लिये यथाक्षर की कलाओं की संख्या दुगनी करके उन्हें गुरुओं में परिवर्तित कर दिया जाता है और फिर पादभाग में २-२ कलाएँ रखी जाती हैं।[6] जैसे :—

यथाक्षर	ऽ	ऽ	।	ऽ'
	ऽ ऽ	ऽ ऽ	। ।	ऽ' ऽ'
	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ	ऽ ऽ ऽ
द्विकल	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ

१. वही, अभि., ३१/३८ २. वही, ३६/४० ३. सं. र., ५/१६ ४. ना. शा., ३१/२६
५. वही, ३६ ६. वही, अभि., पृ. १७६, पंक्ति ५-६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चतुष्कल के लिये द्विकल की कलाओं की संख्या दुगनी करके पुनर्योजन कर दिया जाता है।

इस प्रकार भरत और अभिनव के अनुसार यथाक्षर का ही परिवर्तित रूप द्विकल और चतुष्कल है। किन्तु संगीतरत्नाकर में विश्लेषण के द्वारा द्विकल और चतुष्कल की रचनाविधि का कोई संकेत नहीं है बल्कि सीधे कलाओं की संख्या बताई गई है।

यथाक्षर की ही अन्य संज्ञा एककल भी है। सामान्य रूप से द्विकल और चतुष्कल के साथ यथाक्षर के स्थान पर एककल का ही प्रयोग होता है। संगीतरत्नाकर में 'अय-मेककल:' कहा है अर्थात् यथाक्षर ही एककल है। लेकिन दोनों में सूक्ष्म अंतर होने के कारण भरत ने दोनों का पर्याय के रूप में प्राय: प्रयोग नहीं किया। एककल का ठीक दुगना द्विकल होता है। इसका अर्थ यह है कि अगर एककल में ४ कलाएँ हों तो द्विकल में ८ होनी चाहिएँ और अगर एककल में तीन हों तो द्विकल में ६। मार्गतालों में से दो ताल प्रमुख हैं—चच्चत्पुट और चाचपुट। दोनों के यथाक्षर रूपों में ४-४ क्रियाएँ हैं। लेकिन चच्चत्पुट के द्विकल में ८ और चाचपुट में ६ हैं। इसलिये चच्चत्पुट के यथाक्षर को तो एककल कहा जा सकता है, चाचपुट के यथाक्षर को नहीं। क्रिया संख्या में भेद होते हुए भी यह सही है कि चाचपुट में यथाक्षर की कुल लम्बाई की अपेक्षा द्विकल की लम्बाई ठीक दुगनी होती है इस दृष्टि से चाचपुट के यथाक्षर को भी एककल कहा जा सकता है।

यथाक्षर और एककल में अंतर इस प्रकार समझा जा सकता है। क्रियात्मक दृष्टि से यथाक्षर नाम ही उपयुक्त है लेकिन द्विकल और चतुष्कल में प्रर्युक्त 'कल' के महत्व को स्पष्ट करने और इनका संबंध ताल के मूल रूप से समझने के लिये एककल संज्ञा सार्थक है। यथाक्षर के द्वारा यह व्यक्त होता है कि ताल के नामगत अक्षरों के मान से ही क्रियाएँ भी होनी चाहियें और एककल के द्वारा यह सूचित किया जाता है कि ताल के हर खण्ड में एक-एक ही क्रिया होती है। यों तो यथाक्षर के प्रत्येक खण्ड में भी क्रिया एक-एक ही रहती है, इतने अर्थ में दोनों समान हैं। इसलिये यथाक्षर को एककल भी कहा जा सकता है लेकिन एककल को यथाक्षर नहीं। जैसे, एककल मद्रक, एककल अपरान्तक कहते हैं, न कि यथाक्षर मद्रक या यथाक्षर अपरान्तक। दोनों में प्रधानता का भेद है। यथाक्षर में अक्षरों के लघु-गुरु मान पर और एककल में हर खण्ड की क्रिया संख्या पर बल है।

एककल के खण्ड में एक-एक, द्विकल में दो-दो और चतुष्कल में ४-४ क्रियाएँ हैं। इसलिये एककल की अपेक्षा द्विकल और उसकी अपेक्षा चतुष्कल को पूरा करने में दुगना-दुगना समय लगता है। क्रियाओं का समय (duration) सर्वत्र समान होते हुए भी क्रियाओं की संख्या दुगनी होने के कारण कुल समय भी दुगना-दुगना लगता है। मार्गों में क्रिया का काल दुगना होने से लय दुगनी-दुगनी होने के कारण (क्रियाओं की संख्या समान होने पर भी) समय दुगना लगता है।

अभिनव ने यह स्पष्ट किया कि यद्यपि एककलादि में लयभेद नहीं होता किन्तु उनकी शीघ्र, मध्य और विलंब समाप्ति को व्यक्त करने के लिये अन्य कोई प्रकार न होने के कारण व्यवहार में एककल को द्रुत, द्विकल को मध्य और चतुष्कल को विलंबित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कह दिया जाता है। किन्तु इनमें न तो मार्गों जैसी तीन लय होती हैं और न वे दुगनी-दुगनी होती हैं जब कि मार्ग भेद में लय की द्विगुणता ही होती है।[1]

मार्गों और एककलादि का संबंध

तीनों मार्गों और एककलादि तीनों रूपों का घनिष्ठ संबंध है—चित्रमार्ग का एककल से, द्विकल का वार्तिक से तथा दक्षिण का चतुष्कल से, जैसा कि निम्नलिखित से स्पष्ट होता है।

एककल अथवा यथाक्षर

कला	ऽ	ऽ	।	ऽ'
अक्षरकाल	१०	१०	५	१५
मात्रा	२	२	१	३

द्विकल

कला	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
अक्षरकाल	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०
मात्रा	२	२	२	२	२	२	२	२

चतुष्कल

कला	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
अक्षरकाल	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०
मात्रा	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२

कुल अक्षरकाल				
	चित्रमार्ग			
	ऽ	ऽ	।	ऽ'
→४०←	१०	१०	५	१५
	२	२	१	३
	वार्तिक मार्ग			
	ऽ	ऽ	।	ऽ'
→८०←	२०	२०	१०	३०
	४	४	२	६
	दक्षिण मार्ग			
	ऽ	ऽ	।	ऽ'
→१६०←	४०	४०	२०	६०
	८	८	४	१२

---

१. ना. शा., अ. ३१, अभि., पृ. १६३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि ताल का एककल रूप यानी 'चित्रमार्ग, द्विकल यानी वार्तिक मार्ग और चतुष्कल यानी दक्षिण मार्ग होता है। किन्तु मार्ग के द्वारा ताल की लय और एककलादि के द्वारा ताल के एक पादभाग की लंबाई प्रकट होती हैं। इसे संगीतरत्नाकर में निम्न श्लोक में कहा गया है :

द्विकले द्विकलो मतः ॥
पादभागः कलानां तु चतुष्केण चतुष्कले।[1]

यानी द्विकल के पादभाग में दो और चतुष्कल के पादभाग में ४ कलाएँ होती हैं। इस प्रकार ताल की लय और उस पर आधारित ताल के आकार को व्यक्त करने के लिये मार्ग का और ताल की क्रिया के स्वरूप और संख्या को स्पष्ट करने के लिये एककलादि का प्रयोग किया गया है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि:

(१) द्विकलादि में क्रियाओं का माप गुरु और मार्गों में मूल के अनुपात में होता है।

(२) द्विकलादि में क्रिया संख्या दुगनी, मार्गों में क्रियाओं का नाप दुगना होता है।

(३) द्विकलादि में लय वही, मार्गों में लय दुगनी-दुगनी होती है।

(४) अर्थात् द्विकलादि में क्रियाओं की संख्या दुगनी-दुगनी किन्तु लय वही तथा मार्गों में क्रियाओं की संख्या उतनी ही किन्तु लय दुगनी-दुगनी होती है।

(५) एककल और चित्रमार्ग की, द्विकल और वार्तिक मार्ग की तथा चतुष्कल और दक्षिण मार्ग की लम्बाई समान है।

तालों के अन्य भेद

भरत ने तालों के अन्य भेद भी कहे हैं जो क्रमशः दुगने-दुगने हैं। चतुरश्र ताल के ३ भेद—चतुष्कल, अष्टकल और षोडशकल तथा त्र्यश्र के ६ भेद—त्रिकल, षट्कल, द्वादशकल, चतुर्विंशतिकल (२४ कला वाला), अष्टचत्वारिंशत्कल (४८ कला वाला) और षण्णवतिकल (९६ कला वाला) होते हैं। इनमें से प्रथम में क्रम से चतुरश्र ताल के यथाक्षरादि तीनों रूपों की कुल कला संख्याओं का निर्देश है। त्रिकल, षट्कल, द्वादशकल में चाचपुट और उद्घट्ट के तीनों रूपों की और चतुर्विंशतिकल मिला कर ६ कला वाले षट्पितापुत्रक और संपक्वेष्टाक के तीन रूपों की कला संख्या बताई है। ४८ और ९६ कला वाले दो भेदों को गीतकों के आधार पर सम्मिलित किया है। इनमें से पहला प्रकार चतुष्कल मद्रक में और दूसरा प्रकरी में प्रयुक्त होता है। एककल आदि में प्रयुक्त 'कल' शब्द के द्वारा हर विभाग की कला संख्या का और चतुष्कल आदि तथा षण्णवतिकल के द्वारा ताल की कलाओं की कुल संख्या का सूचन होता है। इससे अधिक कला संख्या के अनेक भेद इसी प्रकार दुगना-दुगना करके बन सकते हैं किन्तु गीतकों में ऐसे आकार नहीं हैं। भरत ने गांधर्व के लक्ष्य के आधार पर ताल के सिद्धान्तों और स्वरूप का

१. सं. र., ५/२०-२१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निरूपण किया और चूँकि पूर्वोक्त प्रकारों से अधिक बड़े प्रकारों का प्रयोग नहीं होता इसलिये अन्य भेद नहीं कहे।

नाट्यशास्त्र के 'गति-अध्याय' में भी भरत ने एककल, द्विकल और चतुष्कल शब्दों का प्रयोग किया है तथा 'अर्धकल' भी कहा है। अगर मार्गों की दृष्टि से देखा जाय तो इसे ध्रुवमार्ग के साथ संवद्ध किया जा सकता है। इस अध्याय में उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के मनुष्यों का गतिभेद बताते हुए भरत ने कहा :

पादयोरन्तरं कार्यं द्वौ तालावर्धमेव च।
पादोत्क्षेपस्तु कर्तव्यः स्वप्रमाणविनिर्मितः॥

चतुस्तालो द्वितालश्चाप्येकतालस्तथैव च।
चतुस्तालस्तु देवानां पार्थिवानां तथैव च॥

द्वितालश्चैव मध्यानां तालः स्त्रीनीचलिङ्गिनाम्।
चतुष्कलोऽथ द्विकलस्तथा ह्येककलः पुनः॥

चतुष्कलो ह्युत्तमानां मध्यानां द्विकलो भवेत्।
तथा चैककलः पातो नीचानां संप्रकीर्तितः॥

स्थितं मध्यं द्रुतं चैव समवेक्ष्य लयं बुधैः।
यथाप्रकृति नाट्यज्ञो गतिमेवं प्रयोजयेत्॥

धैर्योपपन्ना गतिरुत्तमानां
मध्या गतिर्मध्यमसंमतानाम्।
द्रुता गतिश्च प्रचुराधमानां
लयत्रयं सत्त्ववशेन योज्यम्॥[1]

इसमें मुख्य कथन यह है उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृतियों की गति में ४, २ और १ 'ताल' के प्रमाण से पैरों के बीच की दूरी होनी चाहिये। 'ताल' का प्रमाण अभिनव ने मध्यमा उँगली और अँगूठे को फैलाने पर होने वाली दूरी बताया जो लगभग १ बालिश्त होता है। द्विकल आदि में कला के द्वारा गति में लगने वाले काल को सूचित किया है। तीनों प्रकृतियों में क्रमशः एक 'द्विपदी' ४, २ और १ गुरु के बराबर होती है और यही क्रम से विलंबित, मध्य, द्रुत गति कहलाती है।

आगे चल कर भरत ने यह भी स्पष्ट किया कि गति प्रकृति के अनुसार क्रमशः दुगनी-दुगनी होती जाती है। इसलिये जब चित्तवृत्ति के अनुसार उत्तम के लिये द्विकल का प्रयोग होगा तो मध्यम के लिये एककल का और अधम के लिये अर्धकल का।

त्रिताल, षट्ताल और अष्टताल गति के प्रयोग का भी भरत ने विधान किया है लेकिन पंचताल या सप्तताल का नहीं। विषमगति को पाँच या सात ताल वाली गति के

---

१. ना. शा., १२/८-१४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूप में न कह कर भिन्न प्रकार से समझाया है। वीर, रौद्र रसों में पैर उठाने में जितना समय लगता है उससे कम समय पैर गिराने में लगता है। इसी प्रकार बालकों में भी स्वच्छन्द गति होती है, अंगसौष्ठव या प्रमाण के अनुसार नहीं। इस प्रकार भरत ने 'ताल' और 'कला' का भिन्न अर्थ में भी प्रयोग किया है।

पादभाग

पादभाग ताल का पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है ताल का खंड या विभाग। इसका संबंध द्विकल या चतुष्कल से है। द्विकल के हर पादभाग में २-२ तथा चतुष्कल के हर पादभाग में ४-४ कलाएँ होती हैं :

द्विकले द्विकलो मतः ॥

पादभागः कलानां तु चतुष्केण चतुष्कले।[१]

हर पादभाग में कला दुगनी होने के कारण ताल की कुल लम्बाई दुगनी हो जाती है। जैसे—४ कला वाले चच्चत्पुट ताल का स्वरूप इस प्रकार होगा :

एककल	ऽ	ऽ	।	ऽ'
द्विकल	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
चतुष्कल	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ

इस प्रकार पादभाग द्विकल अथवा चतुष्कल ताल का एक खंड है जो पूरे ताल का चौथा भाग होता है।

मात्रा

मात्रा भी पारिभाषिक शब्द है जिसके ताल में अनेक अर्थ हैं। ५ लघ्वक्षर काल वाली इकाई के रूप में मात्रा का निरूपण पहले किया जा चुका है। हाथ की कुछ विशेष प्रकार की क्रियाओं को भी मात्रा कहा गया है, जैसे—ध्रुवका, सर्पिणी आदि। इनकी चर्चा आगे की जायगी।

यहाँ मात्रा का विशेष अर्थ है :

चत्वारः पादभागास्तु मात्रेति परिचोद्यते।[२]

पादभागैश्चतुर्भिस्तैर्मात्रा स्यान्मद्रकादिषु ॥[३]

भरत के श्लोक पर टीका करते हुए अभिनव ने पहले पादभाग को स्पष्ट किया और कहा कि पादभाग का अर्थ चौथा भाग है इसलिये द्विकल और चतुष्कल दोनों में ही ४-४ पादभाग होते हैं। इस प्रकार द्विकल में ८ और चतुष्कल में १६ कलाएँ होती हैं। यही मात्रा है तथा पादभाग इसका चौथा भाग है।

परिवर्त

शार्ङ्गदेव के अनुसार पादभाग आदि की आवृत्ति परिवर्त है—'आवृत्तिः पादभागादेः परिवर्तनमिष्यते'[४]। द्विकल और चतुष्कल में प्रथम पादभाग की ही आवृत्ति ३-३ बार होती है। इस प्रकार आवृत्त होने वाला चार पादभागों का खंड ही मात्रा कहा गया है। कल्लिनाथ ने स्पष्ट किया कि 'पादभागादेः' में 'आदि' शब्द के द्वारा ताल समझना

१. सं. र., ५/२०-२१
२. ना. शा., ३१/५२
३. सं. र., ५/२१
४. वही, ५/४३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चाहिये—'पादभागादेः इत्यादिशब्देनावयवी तालो गृह्यते'[1]। इसका अर्थ यह है कि पादभाग, मात्रा आदि की आवृत्ति को परिवर्त कहा गया है। वर्धमान गीतक की विभिन्न कण्डिकाओं की आवृत्ति को भी परिवर्त कहा गया है। इन कण्डिकाओं की चर्चा गीतक अध्याय में वर्धमान गीतक के अन्तर्गत की जायगी।

लय

लय शब्द का सामान्य अर्थ है लीन होना या विश्रान्ति। चित्त में उठने वाले भावों की विश्रान्ति को 'चित्तवृत्तिलय' कहा जाता है। जल में उठने वाली तरंगों के वापस जल में लीन होने को 'तरंगलय' कहते हैं। आत्मा की परमात्मा में विश्रान्ति के लिये 'आत्मा का लय' प्रयोग किया जाता है। ताल के संदर्भ में भी विश्रान्ति अर्थ का ग्रहण तो होता है लेकिन कुछ अलग ढंग से। इसे आगे स्पष्ट किया जायेगा।

लय की परिभाषा यह है :

विश्रान्तियुक्तया काले क्रियया मानमिष्यते ॥
क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लयः ………………… ।[2]

अर्थात् विश्रान्तियुक्त क्रिया के द्वारा काल का मान यानी माप होता है। क्रिया के अनन्तर यानी बिल्कुल साथ होने वाली विश्रान्ति लय है। इसे यों भी कह सकते हैं कि एक क्रिया और दूसरी क्रिया के बीच का काल, जो पहली क्रिया का विस्तार है, वही लय है। विस्तार कम या अधिक होने से लय भी तेज या मन्द हो जाती है। जब यह कहा जाय कि 'द्रुत लय में गाओ' तो इसका अर्थ यह है कि क्रियाओं के बीच का विस्तार या विश्रान्ति कम करने का संकेत है। जब बहुत अधिक विस्तार हो तो विलंबित लय होती है। वास्तव में क्रिया और विश्रान्ति अभिन्न हैं। विश्रान्ति के विना क्रिया का अस्तित्व ही नहीं है। इसीलिए अभिनव ने कहा—'कलाया एव च लयं विना न स्वरूपलाभो'।[3]

लय तीन प्रकार की मानी गई हैं :

क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लयः, स त्रिविधो मतः।
द्रुतो मध्यो विलम्बश्च, द्रुतः शीघ्रतमो मतः॥
द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ।[4]

लय तीन प्रकार की हैं—द्रुत, मध्य और विलम्बित। द्रुत शीघ्रतम है। उससे दुगुनी-दुगुनी मध्य और विलम्बित हैं। यहाँ 'द्विगुण-द्विगुणौ' का अर्थ दुगनी विश्रान्ति वाली' है क्योंकि विश्रान्ति को ही लय कहा गया है। द्रुत से दुगनी विश्रान्ति वाली मध्य और मध्य से दुगनी विश्रान्ति वाली विलम्बित होती है। ५ लघु अक्षर के उच्चारण काल को द्रुत लय मान लें तो १० और २० अक्षरवाली लयें क्रमशः मध्य और विलम्बित

---

१. वही, कल्लि., पृ. २४
२. वही, ५/४३-४४
३. ना. शा., ३१/५, अभि.
४. सं. र., ५/४४-४५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहलायेंगी। इस प्रकार तीनों लय परस्पर सम्बद्ध और एक दूसरे पर आश्रित हैं। इनमें से किसी एक को आधार मान कर ही शेष दो का निर्णय करना संभव है, स्वतन्त्र रूप से नहीं।

मार्ग और लय

इन दोनों के स्वतंत्र स्वरूप को समझने के बाद इनके परस्पर सम्बन्ध को भी समझ लेना चाहिये क्योंकि वह मार्ग पद्धति का आधार है। मार्गतालों में मध्यलय को प्रमाणभूत माना गया है :

लयो त्रयास्तु विज्ञेया द्रुतमध्यविलम्बिताः ॥
यस्तत्र तु लयो मध्यस्तत्प्रमाणा कला भवेत् ।[1]

मध्यलय के प्रमाण से कला होती है इससे यह स्पष्ट है कि मध्य ही प्रमाणभूत है। मार्ग में मौलिक इकाई गुरु ही होती है इसलिये १० लघु अक्षरकाल वाली लय ही मध्य है और वही मूल तथा प्रमाणभूत है।

संगीतरत्नाकर में मार्ग और लय के एक अन्य पक्ष को इस प्रकार कहा गया है :

द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्वितौ ।
मार्गभेदाच्चिरक्षिप्रमध्यभावैरनेकधा ॥
लयः ………… ……… ……… …।[2]

अर्थ है—द्रुत की अपेक्षा मध्य और विलंबित क्रमशः दुगनी-दुगनी होती हैं। मार्ग भेद से चिर, क्षिप्र और मध्य भावों के कारण लय अनेक प्रकार की होती हैं।

कल्लिनाथ ने इस पर टीका करते हुए कहा :

तस्मात् द्रुतलयात् द्विगुणो विश्रान्तिकालो मध्यलयः। तस्मात् मध्यलयात् द्विगुणो विश्रान्तिकालो विलम्बितलयः। एवमेककलादिष्वेकैकस्मिन्मार्गे विश्रान्तिकाल-प्रमाणभेदात् लयत्रयं दर्शितम्। यथा लोक एकस्मिन्नेव मार्गे त्रयोऽपि गन्तुं प्रवृत्ताः। तत्रैको धावति तस्य गतिः शीघ्रा भवति। ततो मन्दमन्यो गच्छति तस्य गतिर्मध्यमा भवति। ततोऽपि मन्दमपरो याति तस्य गतिर्विलम्बा। एवं पादन्यास-क्रियाविश्रान्तिकालवैषम्यात् गतिभेदः। तथा ताले लयभेदो द्रष्टव्यः।[3]

अर्थात् द्रुतलय से दुगनी विश्रान्तिकाल वाली मध्यलय है। मध्यलय से दुगनी विश्रान्तिकाल वाली विलंबित लय है। इस प्रकार एककलादि में एक-एक ही मार्ग में विश्रान्तिकाल के प्रमाण के भेद से तीन लय दिखाईं। जैसे—लोक में एक ही मार्ग पर जाने के लिये तीन व्यक्ति प्रवृत्त होते हैं। उनमें से एक दौड़ता है, उसकी गति शीघ्र होती है। दूसरा उससे मन्द जाता है, उसकी गति मध्य होती है। तीसरा उससे भी मन्द जाता

१. ना. शा., ३१/५-६ २. सं. र., ५/४५ ३. वही, कल्लि., पृ. २५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है, उसकी गति विलंब होती है। इस प्रकार पैर रखने की क्रिया में विश्रान्ति काल की विषमता से गतिभेद होता है। इसी प्रकार ताल में भी लयभेद होता है।

चच्चत्पुट ताल के आधार पर इसे इस प्रकार समझ सकते हैं—इसमें तीन मार्गों में से चित्रमार्ग में क्रियाएं १०, १०, ५, १५, अक्षरकाल के अनुसार होती हैं इसलिये द्रुत लय हुई। वार्तिक में इसकी अपेक्षा गति मंद होती है क्योंकि क्रियाएँ २०, २०, १०, ३० के अनुसार हैं इसलिये यहाँ मध्यलय होती है। दक्षिण मार्ग में क्रियाएँ उससे भी मन्द-४०, ४०, २०, ६० के माप से होती हैं इसलिये विलंवित लय होती हैं। इस प्रकार ताल क्रियाओं के विश्रान्ति काल में विषमता से लयभेद होता है।

कल्लिनाथ ने उपर्युक्त व्याख्या में मार्गों के साथ एककल आदि को लयभेद के संदर्भ में जोड़ कर उचित नहीं किया, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि एककलादि में विश्रान्तिकाल का भेद न होने से लयभेद नहीं होता वल्कि पूरे आवर्तन को समाप्त करने में क्रमशः दुगना-दुगना समय लगने के कारण वहाँ द्रुत, मध्य, विलंब से समाप्त होने का आभास होता है। जब कि मार्गों में क्रमशः इन तीनों लयों का योग होता है जैसा कि चच्चत्पुट के उदाहरण से स्पष्ट होता है।

'चिर-क्षिप्र-मध्य भाव' की व्याख्या करते हुए कल्लिनाथ ने आगे कहा :

> दक्षिणमार्गे चिरभावः; चित्रमार्गे क्षिप्रभावः; वार्तिकमार्गे मध्यभावः; तैः लयोऽनेकधा भवति। तथाहि; चित्रमार्गे दशलघ्वक्षरोच्चारमितकालानन्तरं यो लयो भवति, स द्रुत इत्युच्यते। वार्तिकमार्गे पूर्वोक्तक्रमेण कलाद्वयानन्तरं यो लयो भवति, स मध्य इत्युच्यते। दक्षिणमार्गे तादृशकलाचतुष्टयानन्तरं यो लयो भवति, स विलम्बित इत्युच्यते। विश्रान्तिकालस्यैकरूपत्वेऽपि तत्तत्क्रियाप्रमाणोपलक्षितमार्गभेदतो लयभेदोऽवगन्तव्यः। यथा लोक एकस्यैव ग्रामस्य गङ्गां प्रति मार्गत्रये सति तत्र संनिहितेन मार्गेणागतः शीघ्रमागत इत्युच्यते। ततोऽपि द्विगुणदूरेण मार्गेणागतः पूर्वापेक्षया मध्यभावेनागत इत्युच्यते। ततोऽपि द्विगुणदूरेण मार्गेणागतः पूर्वोत्तरापेक्षया विलम्ब्यागत इत्युच्यते। एवं गमनक्रिया वैषम्याभावेऽपि मार्गभेदात् द्रुतादिव्यवहारः। तथा प्रकृतेऽपि। तत्रापि प्रतिमार्गं विश्रान्तिकालप्रमाणभेदात् लयत्रये योजिते सति द्रुते द्रुतः; द्रुते मध्यः; द्रुते विलम्बितः। यथा मध्ये द्रुतः; मध्ये मध्यमः; मध्ये विलम्बितः; तथा विलम्बिते द्रुतः, विलम्बिते मध्यः, विलम्बिते विलम्बित इति। अयमेवानेकधेत्यस्यार्थः।[1]

अर्थात् दक्षिणमार्ग में चिरभाव, चित्र में क्षिप्र और वार्तिक में मध्य भाव होता है। इन (भावों) के द्वारा लय अनेक प्रकार की होती है। जैसे चित्रमार्ग में १० लघ्वक्षर उच्चार से नापे गये काल के बाद जो लय होती है वह द्रुत कही जाती है। वार्तिक में पूर्वोक्त क्रम से (१० अक्षर काल वाली) दो कलाओं के बाद जो लय होती है वह मध्य कही जाती

१. वही, पृ. २५. २६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। दक्षिण मार्ग में वैसी ४ कलाओं के वाद जो लय होती है वह विलंबित कही जाती है। विश्रान्तिकाल की एकरूपता होने पर भी उस-उस क्रिया प्रमाण (संख्या) से उपलक्षित मार्ग भेद से लयभेद समझना चाहिये। जैसे-लोक में एक ही ग्राम से गंगा की ओर तीन मार्ग होने पर उनमें से संनिहित मार्ग से आने वाले को शीघ्र आया-ऐसा कहा जाता है। उससे दुगने मार्ग से आने वाले को पहले को अपेक्षा मध्यभाव से आया कहा जाता है। उससे भी दुगने मार्ग से आने वाले को पूर्वोत्तर की अपेक्षा विलंब से आया कहा जाता है। इस प्रकार गमन क्रिया के वैषम्य का अभाव होने पर भी मार्गभेद से द्रुतादि व्यवहार होता है। इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। यहाँ भी प्रतिमार्ग में विश्रान्तिकाल के प्रमाण के भेद से तीन लय योजित करने से द्रुत में द्रुत, द्रुत में मध्य और द्रुत में विलंवित; मध्य में द्रुत, मध्य में मध्य और मध्य में विलंबित और उसी प्रकार विलंवित में द्रुत, विलंबित में मध्य, विलंवित में विलंवित। 'अनेकधा' का यही अर्थ है।

कल्लिनाथ ने यहाँ मार्ग की मूल लय को भाव माना, प्रत्येक मार्ग में क्रिया का काल एकसा-१०-लघ्वक्षर-माना और ऐसी १-१, २-२, और ४-४ क्रियाओं को क्रम से मार्गभेद का आधार कहा। इसीलिये 'एककलादिष्वेकैकस्मिन्मार्गे' कह कर दोनों में अभेद माना। तीन भिन्न लंवाई वाले मार्गों का लोक से जो उदाहरण दिया और उसमें विश्रान्तिकाल की जो एकरूपता कही वह मार्गों में नहीं वल्कि एककलादि के संदर्भ में सही है। उसने मार्गों में क्रियासंख्या में वृद्धि तथा विश्रान्ति की एकरूपता बताई जब कि यह मार्ग में नहीं, एककलादि में होता है। एककलादि में क्रियाकाल का अभेद होते हुए भी, संख्या दुगनी होने से कुल लंबाई दुगनी होने पर ऐसा आभास होता है कि एककल शीघ्र, द्विकल मध्य और चतुष्कल विलंव से समाप्त हुआ। किन्तु इसमें न लयभेद होता है और न एक ही मार्ग अथवा एककलादि में से प्रत्येक में चिर, क्षिप्रादि भावों के आधार पर अनेक लय बनती हैं। प्रत्येक का अपना-अपना एक भाव अर्थात् एककल में क्षिप्रभाव, द्विकल में मध्य भाव और चतुष्कल में चिरभाव रहता है।

कल्लिनाथ ने प्रतिमार्ग में विश्रान्तिभेद से तीन लयों की योजना का जो क्रम बताया है उसमें द्रुत में द्रुत, मध्य और विलंबित तीनों मूल लय हैं। इसी प्रकार मध्य में तथा विलम्बित में भी तीनों मूल लय है। इस क्रम में तीन मूल लयों के अतिरिक्त न तो कोई नई लय बनती है और कोई नया भाव उत्पन्न होता है। 'चिर, क्षिप्र, मध्य भाव से अनेकधा लय' में शार्ङ्गदेव को यही अभिप्रेत हो, ऐसा नहीं लगता। बृहद्देशी के गीतिप्रकरण में जो संकेत है उसका शार्ङ्गदेव के भाव से साम्य दिखाई देता है। यथा :

> लयः प्रयोगे नवधा द्रष्टव्याः। लयसम्प्रयोगं दर्शयति—दक्षिणो मार्गो वार्तिको मार्गश्चित्रमार्ग इति दक्षिणप्रवृत्तौ लयत्रयम्। वार्तिकमार्गश्चित्रमार्गो ध्रुवमार्गश्चेति वृत्तिमार्गप्रवृत्तौ लयत्रयम्। चित्रमार्गो ध्रुवमार्गः शून्यमार्गश्चेति चित्रे लयत्रयम्। एवं नवधा लययोगश्चित्रादि मार्गेषु द्रष्टव्यम्।[1]

१. बृह., पृ. ५२-५३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दक्षिण मार्ग से आरंभ करके प्रत्येक मार्ग में आधी आधी लय करके अन्य दो-दो लयों के प्रयोग के द्वारा तीन मार्गों में कुल ९ प्रकार की लय यहाँ बताई गई हैं। चच्चत्पुट ताल के निम्न प्रस्तारों से इन्हें समझ सकते हैं :

दक्षिणमार्ग

	ऽ	ऽ	।	ऽ'		
अक्षरकाल	४०	४०	२०	६०	दक्षिण मार्ग	विलम्ब
,,	२०	२०	१०	३०	वार्तिक मार्ग	मध्य
,,	१०	१०	५	१५	चित्र मार्ग	द्रुत

वार्तिक मार्ग

	ऽ	ऽ	।	ऽ'		
अक्षरकाल	२०	२०	१०	३०	वार्तिक मार्ग	विलम्ब
,,	१०	१०	५	१५	चित्र मार्ग	मध्य
,,	५	५	२½	७½	ध्रुव मार्ग	द्रुत

चित्र मार्ग

	ऽ	ऽ	।	ऽ'		
अक्षरकाल	१०	१०	५	१५	चित्र मार्ग	विलम्ब
,,	५	५	२½	७½	ध्रुव मार्ग	मध्य
,,	२½	२½	१¼	३¾	शून्य मार्ग	द्रुत

इनमें दक्षिण, वार्तिक और चित्र के अतिरिक्त दो नये मार्ग हैं-ध्रुव और शून्य। मार्गों में आधी-आधी लय का प्रयोग करने से हर मार्ग में जो तीन-तीन लय बनती हैं उनमें परस्पर विलंब, मध्य और द्रुत का संबंध रहता है। जैसे-दक्षिण मार्ग में प्रथम की अपेक्षा अन्य दोनों में विश्रान्तिकाल आधा-आधा होने से लय आधी-आधी होती हैं इसलिये इनमें विलंव, मध्य, द्रुत संवंध है। इसी प्रकार वार्तिक मार्ग के लय भेदों में तथा चित्रमार्ग के तीनों भेदों में क्रमश: आधी-आधी लय के कारण यही संबंध है।

दक्षिण मार्ग की मूल लय विलंबित होती है इसलिये इस मार्ग की शेष दोनों लयों को मध्य और द्रुत कहना सार्थक है। किन्तु वार्तिक मार्ग की मूल लय मूलत: मध्य मानी गई है (क्योंकि वह दक्षिण की आधी यानी २० लघुअक्षर वाली है) इसलिये वार्तिक मार्ग के तीन लय भेदों में से प्रथम को विलंबित लय और तदनुसार शेष दो भेदों को मध्य और द्रुत नहीं कहा जा सकता। किन्तु इन तीन भेदों में संबंध वही है जो विलंबित, मध्य, द्रुत लय में है। इसी प्रकार चित्रमार्ग की मूल लय (१० लघ्वक्षरकाल वाली) को द्रुत कहा गया है इसलिये इस मार्ग के प्रथम लय भेद को विलंबित और शेष को मध्य तथा द्रुत कहना संभव नहीं किन्तु यहाँ भी तीनों में वही संबंध है जो अन्य भेदों में। इस सापेक्ष्य संवंध को शार्ङ्गदेव ने लय न कह कर चिर, मध्य और क्षिप्र भाव कहा है। प्रत्येक मार्ग की पहली लय सबसे देर से तथा शेष दोनों क्रमश: मध्य और शीघ्र समाप्त होती हैं। इसी पक्ष को शार्ङ्गदेव ने चिर, मध्य और क्षिप्र भाव कह कर व्यक्त किया है।

तीनों मार्गों में होने वाले लय-भेदों का विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि चित्रमार्ग की पहली, वार्तिक की दूसरी और दक्षिण की तीसरी लय में लगने वाला कुल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समय समान है यानी इन तीनों आवर्तनों को पूरा करने में बराबर का समय लगता है। तीनों में भाव भिन्न है यद्यपि अक्षरकाल समान है। चित्रमार्ग की दूसरी और वार्तिक की तीसरी में अक्षरकाल समान होने से समय बराबर लगता है किन्तु भाव भिन्न है। इसी तरहवा र्तिक की पहली तथा दक्षिण की दूसरी लय में अक्षरकाल समान किन्तु भाव भिन्न है।

उपर्युक्त भेदों में ५, १० और २० अक्षरकाल की पुनरावृत्ति होने पर भी मार्ग के अनुसार कुल लंबाई कम-ज्यादा होने से पुनरावृत्ति नहीं लगती, भिन्नता ही लगती है। जैसे दो समान वृत्तों में से एक के भीतर और दूसरे के बाहर एक-एक वृत्त और खींच दिया जाय तो पहले वाले वृत्त समान होते हुए भी दूसरे वृत्तों की अपेक्षा से छोटे बड़े दिखाई देने लगते हैं; उसी प्रकार अक्षरकाल की समानता होते हुए भी पूर्व या पर लय की अपेक्षा से एक ही लय मार्ग भेद से द्रुत, मध्य या विलंबित लगने लगती है।

ऊपर दिखाये गये लय प्रयोगों में ५-५ और २½-२½ लघु अक्षर वाली दो कलाएँ और प्राप्त हुईं जो कालमान की दृष्टि से क्रमशः लघु और द्रुत के बराबर हैं। इनमें से पहली का प्रयोग ध्रुवमार्ग में और दूसरी का मंतग द्वारा उल्लिखित शून्य मार्ग में होता है। इनसे छोटी एक और इकाई-१¼ अक्षरकाल वाली—भी शून्य मार्ग में है।

ताल के प्रकार

ताल दो प्रकार के कहे गये हैं :

चतुरश्रस्तथा त्र्यश्र इति तालो द्विधा मतः ॥
चच्चत्पुटश्चाचपुट इति नाम्नी तयोः क्रमात् ।[1]

ताल दो प्रकार का है—चतुरश्र और त्र्यश्र। इनके प्रतिनिधि ताल क्रमशः चच्चत्पुट और चाचपुट हैं। 'अश्र' का अर्थ है 'कोने वाला'। समास में अर्थ है 'कोना'। इसलिये चतुरश्र का अर्थ हुआ 'चार कोने वाला' और त्र्यश्र का 'तीन कोने वाला'। इन दोनों तालों में क्रम से ४ और ३ गुरु हैं जो चार और तीन कोनों के द्योतक हैं। चार संख्या सम की और तीन विषम की द्योतक है। जिस ताल में ४ पादभाग हों वह चतुरश्र और जिसमें तीन हों वह त्र्यश्र कहलाता है। चच्चत्पुट और चाचपुट के यथाक्षर रूपों में ४ ही क्रियाएँ, ४ ही अक्षर और ४ ही पादभाग हैं लेकिन चच्चत्पुट में द्विकल और चतुष्कल में ४-४ तथा चाचपुट में ३-३ पादभाग हैं इसलिये चच्चत्पुट चतुरश्र और चाचपुट त्र्यश्र है। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से किसी ताल के द्विकल और चतुष्कल रूप ही उस ताल के चतुरश्रत्व या त्र्यश्रत्व के निर्णायक होते हैं।

इन दो तालों को अन्य तालों की 'योनि' अर्थात् 'मूल प्रकृति' कहा गया है क्योंकि गुरु इकाई के रूप में मूल उपादान एक होते हुए भी उसके आधार पर बनने वाले दो आकार-चतुरश्र और त्र्यश्र—अन्य तालों की रचना के लिए आधार होते हैं। जैसे ईंट, मिट्टी, चूना, पत्थर आदि एक से उपादान होने पर भी एक गोलघर बनता है और दूसरा चौकोर। अथवा मिट्टी से गोल घड़ा भी बनता है और लम्बी सुराही भी। अन्य मकानों के लिये गोल या चौकोर आकृति और मिट्टी के अन्य पात्रों के लिये गोल या लम्बी आकृति प्रकृति होती है।

---

१. स. र., ५/१७-१८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह भी संभव है कि ताल के स्वरूप को दृश्यमान बनाने की दृष्टि से आचार्यों ने चतुरश्र और त्र्यश्र नाम दिये हों। ताल पद्धति का आधार 'आवर्तन' है जिसमें गोलाकृति का भाव है। यह आकृति दो बिन्दुओं के बीच नहीं बन सकती, न उनमें कोने संभव हैं जो 'अश्रि' या 'अस्र' शब्दों का विशेष अर्थ है। तीन या चार बिन्दुओं के बीच क्रम से तीन या चार कोने बनते हैं। इनमें आवर्तन की कल्पना की जा सकती है क्योंकि एक बार पार किये हुए मार्ग पर वापस नहीं लौटना पड़ता, क्रमशः आगे बढ़ते हुए ही आवर्तन बन जाता है जैसे—△ ▭। लेकिन दो बिन्दुओं के बीच आवर्तन नहीं बन सकता क्योंकि दो बिन्दुओं के बीच रेखा बनती है और रेखा पर आगे बढ़ने और फिर उस पर वापस लौटने की ही संभावना हो सकती है, जैसे : ———————— ।

'वृत्त' (circle) और 'चक्र' (cycle) ताल की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों का आकार गोल होते हुए भी मूल स्थान पर वापस लौट जाने से वृत्त तथा कुंडली की तरह क्रमशः आगे-आगे बढ़ते जाने से चक्र बनता है। जैसे :

ताल के एक आवर्तन में वृत्त का स्वरूप है क्योंकि मूल क्रिया अर्थात् आरम्भक स्थान पर लौट आते हैं। लेकिन ताल के द्वारा काल का माप ही मुख्य प्रयोजन है। इस दृष्टि से ताल के एक आवर्तन के रूप में जो काल बीत गया उसे फिर से पकड़ना संभव नहीं इसलिये काल में क्रमशः आगे बढ़ते जाने के कारण ताल का 'चक्र' कहा जाता है 'वृत्त' नहीं।

ताल संबंधी इस धारणा के मूल में भारतीय दर्शनशास्त्र का अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण है। भारतीय विचारधारा में चक्र की प्रधानता है जब कि पाश्चात्य दृष्टिकोण रेखात्मक है। यह अन्तर प्रायः सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है। पश्चिमी जगत् में सृष्टि की उत्पत्ति किसी समय हुई और कभी उसका अन्त भी हो जायगा। लेकिन हमारे यहाँ न सृष्टि का आरंभ है और न उसका अन्त। यद्यपि सृष्टि के चक्र में वह उत्पन्न भी हुई और प्रलय के समय नष्ट भी हो जाती है। लेकिन यह उसका 'वृत्त' रूप है। उत्पत्ति और विनाश का 'क्रम' है जो कभी समाप्त नहीं होता। वह अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। ऋतुओं का चक्र, दिन-रात का चक्र, जन्म-मृत्यु का चक्र और और सर्वत्र इसी प्रकार चक्रिक गति ही दिखाई देती है।

चतुरस्र और त्र्यस्र का स्वरूप मानसोल्लास में कुछ भिन्न प्रकार से कहा गया है :

चत्वारो गुरवो यत्र गुरुद्वितयवर्धिताः ॥
हीना वा गुरुयुग्मेन तालास्ते चतुरस्रकाः।
गुरुत्रयं भवेद्यस्मिन् षड्भिः षड्भिर्विवर्धितम् ॥
त्र्यस्रः स तालो विज्ञेयः प्रस्तारेषु बहुष्वपि।[1]

चार गुरुओं में २ गुरु बढ़ाने या घटाने से चतुरस्र ताल होते हैं और तीन गुरुओं में ६-६ बढ़ाने से त्र्यस्र ताल होते हैं। यह भरत और शार्ङ्गदेव की धारणा से भिन्न

१. मान., १६/४/८४०-८४२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मालूम होता है क्योंकि ४ को क्रमशः दुगना-दुगना करने पर चतुरश्र और ३ को दुगना-दुगना करने से त्र्यश्र ताल की रचना होती है, ऐसा विधान भरत का है।

चतुरश्र को युग्म और त्र्यश्र को अयुग्म अथवा ओज भी कहा गया है।

भरत ने चतुरश्र और त्र्यश्र के अतिरिक्त ताल के संकीर्ण और मिश्र भेद भी कहे हैं। चतुरश्र और त्र्यश्र के मिश्रण से ५ प्रकार के संकीर्ण ताल बनते हैं जिनमें ५, ७, ९, १० और ११ कलाएं होती हैं :

कलाः पञ्च तथा सप्त पुनर्नव च कीर्तिताः।
दशैकादश चैवैते सङ्कीर्णाः समुदाहृताः ॥
न ह्येषामुपयोगोऽस्ति सप्तरूपे ध्रुवासु वा।
प्रवृत्तादिषु कर्तव्या एते भूयः प्रयोक्तृभिः ॥[१]

इनका प्रयोग आसारितादि गीतकों में अथवा ध्रुवाओं में नहीं होता बल्कि गीतकों में प्रयुक्त होने वाले गीतांगों में होता है। अभिनव के अनुसार विशाला, सुनन्दा आदि कंडिकाओं में ५, ७, ९ कला वाले, (ओवेणक के) सम्पिष्टक में १० कला वाले और एककल मद्रक की द्वादशकल वस्तु की प्रत्युपोहन रूप प्रथम कला को छोड़ कर शेष कलाओं में ११ कला वाले तालरूपों का प्रयोग होता है। संकीर्ण होने के कारण इन्हें चच्चत्पुटादि के समान पृथक् संज्ञा नहीं दी गई।[२]

निःशब्द और सशब्द के मिश्रण से मिश्रताल बनते हैं :

द्विप्रकारः पुनश्चायं निःशब्दः शब्दवांस्तथा।
अनयोर्मिश्रभावात्तु मिश्रस्तालः प्रकीर्तितः ॥[३]

यहाँ निःशब्द और सशब्द के मिश्रण का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। अभिनव की टीका खंडित होने से इस पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। यों तो सभी तालों के द्विकल और चतुष्कल रूपों में यथाक्षर की सशब्द क्रियाओं के साथ निःशब्द क्रियाओं का भी प्रयोग होता है। लेकिन अभिनव की टीका से ऐसा लगता है कि यहाँ मिश्रण में यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है।

शार्ङ्गदेव ने 'खण्ड' नामक एक भेद और कहा है :

चच्चत्पुटादिभेदास्तु सन्ति खण्डाभिधाः परे।
देशीतालप्रपञ्चेन तानपि व्याहरामहे ॥[४]

अर्थात् चच्चत्पुट और चाचपुट के खंड नामक अन्य भेद होते हैं जिन्हें देशीताल के प्रपंच के रूप में कहेंगे। संभव है कि विभिन्न मेरुओं के आधार पर बनने वाले प्रस्तारों के रूप में इन्हीं मार्गतालों से देशीतालों का विकास हुआ जो इन तालों के खंडभेद कहलाये। इसका निरूपण करते हुए अभिनव ने केवल चच्चत्पुट के ही लाखों भेद कहे हैं।[५]

भरत ने खण्ड भेद नहीं कहे किन्तु अभिनव के अनुसार भरत को ये भेद मान्य थे।[६] ध्रुवाध्याय में अभिनव ने कहा कि ध्रुवातालों की मूलप्रकृति रूप षट्पितापुत्रक

१. ना. शा., ३१/२४-२५ २. वही, अभि., पृ. २३-२५ ३. वही, ३१।१६
४. सं. र., ५/४२ ५. ना. शा., ३२/४११, अभि., पृ. ३८५ ६. वही, ३२/१८१, अभि., पृ. ३३०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आदि त्र्यश्र, चतुरश्र, मिश्र तालों के भंजन से भङ्ग तालों की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार इनके मिश्र और संकीर्ण तथा लयभेद से अनेक प्रकार बनते हैं जो उपभङ्ग, विभङ्ग, लयताल कहलाते हैं। चच्चत्पुटादि के अतिरिक्त इनका प्रयोग ध्रुवाओं में होता है।[१] इससे स्पष्ट है कि खंडतालों का मूल 'गान्धर्व' सम्बन्धी तालों में है यद्यपि इनका प्रयोग गीतकों में नहीं बल्कि ध्रुवाओं में होता था।

मिश्र और संकीर्ण भेदों का मानसोल्लास में भी उल्लेख है

चतुरस्रे गुरुर्यत्र त्र्यस्रे च गुरुयुग्मकम् ॥
प्रवेश्यते स बोद्धव्यस्तालो मिश्रसमाख्यया।
त्र्यस्रे वा चतुरस्रे वा भेद्यते गुरुलक्षणम् ॥
यत्र तालः स विज्ञेयः खण्डानामाङ्कितो बुधैः।[२]

श्लोकों का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है लेकिन संभवतः यह अभिप्राय है कि चतुरश्र में एक गुरु और त्र्यश्र में दो गुरु जोड़ देने से मिश्र ताल हो जाता है। ऐसा करने से दोनों में ५ गुरु हो जाते हैं। खण्ड में त्र्यस्र और चतुरस्र के गुरु को खण्डित किया जाता है। संभवतः लघु या अवान्तर इकाइयों में परिवर्तित करने से तात्पर्य हो।

ताल रचना में गुरु इकाई का महत्त्व

मार्गतालों में मौलिक इकाई गुरु ही है क्योंकि लयस्थापना का आधार यही है और तालों के द्विकल तथा चतुष्कल रूप भी गुरु के आधार पर ही बनते हैं। रत्नाकर में 'कला' को गुरु का पर्याय कहा है—'गुरुः कलान्न'। चच्चत्पुट के तीनों रूपों में क्रम से ४, ८ और १६ गुरु कहे हैं। इसका सीधा अर्थ तो यही है कि ८, १६ और ३२ मात्रा (लघु) होती हैं लेकिन गुरु के महत्त्व को दिखाने के लिये 'मात्रा' के बजाय 'गुरु' का प्रयोग किया है।

चतुरश्र और त्र्यश्र के प्रतिनिधि तालों—चच्चत्पुट और चाचपुट के यथाक्षर रूप व क्रियाएँ इस प्रकार हैं :

S S I S'	S I I S
च च्च त्पु टः	चा च पु टः
सं श ता श	सं श ता श

दोनों में अक्षर, क्रिया और पादभागों की संख्या में समानता होने के कारण दोनों एक से दिखाई देते हैं लेकिन दोनों की क्रियाओं के काल में अंतर है। चच्चत्पुट में २+२+१+३ के क्रम से और चाचपुट में २+१+१+२ के क्रम से क्रियाएँ होती हैं। इस प्रकार इनमें कुल लघु क्रमशः ८ और ६ हैं। इन्हें गुरु इकाई के द्योतक अंक २ से भाग देने पर क्रम से ४ और ३ अंक प्राप्त होते हैं जो ४ और ३ अस्रों (कोनों) के सूचक हैं

१. वही, ३२/४११ २. मान., १६/४/८४३-८४४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसीलिये चच्चत्पुट को चतुरश्र और चाचपुट को त्र्यश्र कहा गया है। इस प्रकार इन दोनों तालों के स्वरूप की उपलब्धि 'गुरु' के द्वारा ही होती है।

४ अंक सम संख्या का द्योतक है और ३ विषम का। सम के बाद एक सम और विषम के वाद एक विषम जोड़ देने से अर्थात् दो सम या दो विषम कर देने से (४+४=८) चतुरश्र और (३+३=६) त्र्यश्र तालों की मात्रा संख्या प्राप्त हो जाती है। यहाँ भी आधार २ अंक ही है।

८ और ६—गणित की दृष्टि से ये दोनों अंक सम हैं क्योंकि सम संख्या २ से विभाजित हो जाती हैं। लेकिन ताल की दृष्टि से ६ विषम है क्योंकि विषम अंक ३ को दो बार रखने पर ६ प्राप्त होता है। ६ का मूल विभाजित अंक ३ है जो विषम ही है। ६ को २ से विभाजित करने पर ही उसकी विषमता का पता चलता है सम्पक्वेष्टाक ताल में क्रिया का क्रम ऽ'ऽ ऽ ऽ ऽ' है। संख्या की दृष्टि से ५ क्रियाएँ हैं लेकिन कुल १२ मात्राएँ हैं। यह भी सम संख्या है लेकिन २ से विभाजित करते जाने पर अंत में विषम अंक ३ प्राप्त होता है इसीलिये यह भी त्र्यश्र ताल माना जाता है।

गुरु के इस महत्त्व, अनिवार्यता और मूल होने के कारण ही भरत ने इसे ताल की 'प्रकृति' कहा है--"द्वविधस्यापि तालस्य त्वेका प्रकृतिरिष्यते'।[1] लघु, गुरु, प्लुत आदि विभिन्न स्वभाव वाले अवयवों में एकस्वभावत्व अर्थात् एकता लाने वाला गुरु ही है इसलिये अभिनव ने भी इसे प्रकृति कहा :

> गुरुरूपो यो भेदः सोऽत्रैकस्वभावे लघुप्लुतादिच्छेदविभागशून्यः सोऽत्र प्रकृतिर्मूलभूतः। तदपेक्षया च त्र्यश्रेतरविभागम्।[2]

अभिनव ने प्रकृति का अर्थ 'मूलभूत' किया है। आचार्य विशाखिल का अभिनव ने जो उद्धरण दिया है वह भी गुरु के महत्त्व को प्रतिपादित करता है :

> विशाखिलाचार्यस्त्वाह। द्वयेऽपि पादानामक्षराणां च संख्या-साम्यादेवात्र प्रकृतिरिति।[3]

अर्थात् पाद और अक्षरों की समानता होने पर भी अन्तर स्थापित करने के कारण ही 'गुरु' प्रकृति है।

लघु, गुरु और प्लुत के द्योतक अंक हैं—१,२ और ३। इनमें से गुरु ही चतुरश्र और त्र्यश्र का भेदक हो सकता है क्योंकि यथाक्षर रूप में तीनों इकाइयों के होते हुए भी उन्हें गुरु में परिवर्तित करके ही चतुरश्र या त्र्यश्र का बोध होता है। इन तीनों अंकों में से १बहुत छोटा है जिसमें 'अनेक' का 'भाव' या 'सामर्थ्य' नहीं है। यह अंक 'प्रवृत्ति' या 'व्यापार' (क्रिया) का द्योतक नहीं बल्कि 'प्रवृति के अभाव' का ही सूचक है।३ अंक 'बहुत्व' या 'अनेकता' का सूचक है। इन दोनों के बीच की कड़ी २ है। जैसे पाश्चात्य संगीत में 'B' (निषाद) leading note कहलाता है उसी तरह भारतीय ताल में २ का अंक leading number कहा जा सकता है।

---

१. ना. शा., ३१/७ २. वही, अभि., पृ. १५५ ३. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रस्तार बनाने के लिये २ ही ऐसा अंक है जिसमें १ जोड़ते ही अनेक संभावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। २ में मूल अंक १ जोड़ते ही त्र्यश्र और २ जोड़ते ही चतुरश्र भी बन जाता है। ताल में यह अंक दर्शनशास्त्र के 'काकाक्षिगोलकन्याय' अथवा 'देहलीप्रदीप-न्याय'[1] के समकक्ष है।

सभी तालों की मूल योनि भी दो ही हैं—चच्चत्पुट और चाचपुट। मूल प्रकार भी दो ही हैं—चतुरश्र और त्र्यश्र। मूल इकाई भी दो ही हैं—लघु और गुरु।

दार्शनिक दृष्टि से भी दो ('द्वि') का बड़ा महत्त्व है। ब्रह्म अकेला यानी एक था। जब उसे अनेक होने की इच्छा हुई (एकोऽहं बहुस्याम) तो पहले उसने अपने आप को प्रकृति और पुरुष के रूप में 'द्विधा' विभक्त किया और तब संसार की सृष्टि हुई। इससे भी सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति के लिये कम से कम दो तत्त्वों का होना आवश्यक है।

इन सब कारणों से २ की संख्या और 'गुरु' इकाई का ताल में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गुरु इकाई एक होते हुए भी मार्गों के अनुसार उसका मान भिन्न होता है, यह स्मरण दिलाना आवश्यक है। द्विकलादि में गुरु का माप निश्चित है—१० लघुअक्षरकाल। किन्तु मार्गों में गुरु सापेक्ष्य इकाई है। जैसा पहले समझ चुके हैं तीनों मार्गों में गुरु का मान क्रमशः १०, २० और ४० अक्षरकाल होता है।

मार्गताल

भरत ने ५ ताल कहे। इनकी संख्या या स्वरूप में कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ये ताल हैं—चच्चत्पुट, चाचपुट, षट्पितापुत्रक, सम्पक्वेष्टाक और उद्घट्ट। इनमें से प्रथम दो प्रमुख हैं और यही दोनों चतुरश्र और त्र्यश्र के प्रतिनिधि ताल माने जाते हैं, यह पहले कहा जा चुका है। यद्यपि षट्पितापुत्रक का सर्वाधिक प्रयोग होता है।

चच्चत्पुट—इस शब्द की व्याकरणसम्मत व्युत्पत्ति नहीं है। संस्कृत में श्रव्य ध्वनियों के आधार पर भी शब्द रचना कर ली जाती है। संभव है कि टूटना या बिखरना अर्थ वाली 'चट्' धातु से यह अनुकरण शब्द बनाया गया हो। इसमें होने वाली क्रियाओं के कालमान (ऽ ऽ । ऽ') में अधूरेपन का, बिखरने का सा भाव लगता है।

अभिनवभारती में तथा अन्यत्र भी कहीं-कहीं चञ्चत्पुट नाम भी मिलता है जो आगम परम्परा के अनुसार सही नहीं है क्योंकि इस परम्परा में ४ ही अक्षरों के मेल से इस ताल का नामकरण हुआ है और चञ्चत्पुट में 'ञ्' अक्षर बढ़ जाता है।

---

१. किसी एक वस्तु के दो ओर संबद्ध हो सकने की सामर्थ्य को ये दोनों 'न्याय' व्यक्त करते हैं। कौए के एक आँख होती है लेकिन आवश्यकतानुसार वह उसे किसी भी गोलक में ले जा सकता है यानी एक आँख दोनों ओर संबद्ध हो सकती है। इसी प्रकार देहली पर रखा हुआ दीपक भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश कर सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभिनव ने भरत के चच्चत्पुट और चाचपुट सम्बन्धी श्लोक टीका में देने से पहले दो श्लोक और दिये हैं जिनमें शिव के चार मुखों से इन तालों के ४ अक्षरों की उत्पत्ति बताई है। ये सारे श्लोक एक साथ एक क्रम में दिये गये हैं जिससे लगता है कि ये दो श्लोक भी नाट्यशास्त्र के मूलपाठ में होने चाहियें। श्लोक इस प्रकार हैं :

देवश्चतुर्भिर्निश्वासैरक्षराणां चतुष्टयम् ।
उदीर्यं तस्यातीते तु विश्रान्तो गिरिजापतिः ।।
प्लुतान्तन्यासतो नाह्ययमुत्तमानां विधीयते ।
द्वितीयो न तथा तेन ह्यधमानां प्रतीयते ।[1]

सार यह है कि अपने चार मुखों से चार निश्वासों में ४ अक्षरों का उच्चारण करके शिव विश्राम करने लगे। प्लुतान्त होने से चच्चत्पुट का विधान उत्तम प्रकृति में होता है और चाचपुट का अधम में। ये चार अक्षर—च, त, प और ट हैं। अभिनव के अनुसार इनके आवर्तन से अभ्युदय होता है, इसलिये आचार्यों ने 'चच्चत्पुट' और 'चाचपुट' शब्द बनाये :

पुराणे चागमादौ भगवतो महेश्वरस्य वक्त्रचतुष्कोद्भूतमेतदक्षरचतुष्कमेतदावर्त्य-मानमभ्युदयदायीत्युक्तम् । तदभिप्रायेण चच्चत्पुटश्चाचपुट इत्याचार्यै-र्निर्दिष्टम् ।[2]

चच्चत्पुट में चारों अक्षर हैं इसलिये इसे श्रेष्ठ माना और चाचपुट में 'त' को छोड़ कर शेष तीन हैं इसलिये इसे कम कल्याणप्रद कहा। सम्भव है कि चच्चत्पुट में ४ और चाचपुट में ३ अक्षर होने के कारण भी आगम परम्परा में इन्हें क्रमशः चतुरश्र और त्र्यश्र का प्रतीक माना गया हो।

चच्चत्पुट का यथाक्षर रूप इस प्रकार है :

ऽ	ऽ	।	ऽ'
च	च्च	त्पु	टः

अन्तिम अक्षर गुरु होते हुए भी भरत के विधान से प्लुत होता है।

चाचपुट—चच्चत्पुट की ही तरह यह शब्द भी व्याकरण द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। पूर्वोक्त आगम परम्परा के अनुसार इसका प्रयोग अधम प्रकृति में होता है। इसका यथाक्षर रूप यह है :

ऽ	।	।	ऽ
चा	च	पु	टः

कुल ३ गुरु होने से यह त्र्यश्र ताल है।

१. ना. शा., अ. ३१, अभि., पृ. १५५ २. वही, पृ. १५६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

षट्पितापुत्रक—अभिनव ने इस संज्ञा को अन्वर्थ कहा है लेकिन अन्वर्थता सिद्ध नहीं की है। हमारी दृष्टि से इसकी अन्वर्थता इस रूप में समझी जा सकती है—इसके नाम में तीन शब्द हैं—'षट्', 'पिता' और 'पुत्रकः'। इससे ऐसा लगता है कि इस ताल का ६ संख्या और पिता-पुत्र से कुछ संबंध होना चाहिये। इसे समझने के लिये इसका यथाक्षर रूप देखें जो इस प्रकार है :

ऽ′ । ऽ ऽ । ऽ′

षट् पि ता पु त्र कः

इसमें कुल ६ अक्षर हैं, ६ क्रियाएँ हैं, कुल मिलाकर ६ ही गुरु हैं और ६ ही पादभाग हैं। ताल में दो खण्ड दिखाई देते हैं—ऽ′ । ऽ और ऽ । ऽ′; पहले खंड का ही प्रतिबिंब दूसरा खण्ड है जैसे पिता का प्रतिविम्ब पुत्र माना जाता है। सम्भवतः इसीलिये इस ताल का नाम षट्पितापुत्रक रखा गया हो। इस ताल की अन्य संज्ञाएँ पञ्चपाणि और उत्तर भी हैं लेकिन ये अन्वर्थ नहीं हैं। भरत ने केवल पञ्चपाणि का और शार्ङ्गदेव ने दोनों का नाम लिया है। यह भी त्र्यश्र ताल है।

सम्पक्वेष्टाक—इसे षट्पितापुत्रक की योनि का अर्थात् उससे उत्पन्न माना गया है क्योंकि इसमें भी आदि और अन्त की कलाएँ प्लुत हैं और कुल ६ गुरु हैं। साथ ही इसके द्विकल और चतुष्कल रूपों की कलाविधि भी षट्पितापुत्रक जैसी ही है। इसका यथाक्षर रूप यह है :

ऽ′ ऽ ऽ ऽ ऽ′

स म्प क्वे ष्टा कः

इस ताल का नाम 'सम्पक्व' और 'इष्टिका' शब्दों से मिल कर बना है। व्याकरण की दृष्टि से यह नाम शुद्ध नहीं है क्योंकि यहाँ 'इष्टिका' के स्थान पर 'इष्टाक' है। सम्पक्व का अर्थ है 'अच्छी तरह पकाई हुई' और 'इष्टिका' का अर्थ है 'ईंट'। पूरे शब्द का अर्थ हुआ 'अच्छी तरह पकाई हुई ईंट वाला'।

लघु के अभाव, गुरु व प्लुतों की योजना, आदि व अंत प्लुत—इन कारणों से इस ताल में भारीपन और गम्भीरता की कल्पना होती है। इसका प्रयोग पूर्वरंग में गीतकों में था। इन गीतकों का प्रयोजन सामाजिकों के चित्त को नाट्य की ओर एकाग्र करके नाट्य के रसास्वादन के लिये आधार या नींव तैयार करना था। संभव है सब गुरुओं के कारण इस ताल को नींव तैयार करने में सहायक समझ कर यह संज्ञा दी गई।

उद्घट्ट :—यह भी त्र्यश्र ताल है जिसमें ३ गुरु हैं। यथाक्षर रूप यह है :

ऽ ऽ ऽ

उ द्घ ट्टः

वास्तव में यही त्र्यश्र का प्रतिनिधित्व करता है फिर भी इसके स्थान पर चाचपुट को ही प्रमुखता मिली क्योंकि इसका प्रयोग पूरे गीतक में न होकर केवल उल्लोप्यक और ओवेणक के अंग के भी छोटे से खंड में ही होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'उत्' और 'घट्ट' के मेल से यह शब्द बना है। जिसका अर्थ है 'रगड़ा हुआ' या 'घिसा हुआ'। संभव है कि क्रियाओं की संख्या कम होने और सब गुरु होने के कारण इसमें घर्षण की अनुभूति हुई हो और इसी कारण यह संज्ञा दी गई।

इस ताल की योनि चाचपुट कही गई है क्योंकि इन दोनों में कुल ३ गुरु हैं और आदि अंत भी गुरु ही हैं।

उपर्युक्त ५ तालों में से केवल एक चच्चत्पुट ही चतुरश्र है शेष चारों त्र्यश्र हैं। चतुरश्र को मूल, उत्तम प्रकृति के उपयुक्त और श्रेष्ठ माना गया है। आज क्रम उलट गया है। त्र्यश्र का एकमात्र ताल दादरा है शेष ताल चतुरश्र, मिश्र, संकीर्ण या खंड में से कोई है। गीतकों, जातिप्रस्तारों और ग्रामरागों की आक्षिप्तिकाओं में चच्चत्पुट का प्रयोग अधिक और चाचपुट, षट्पितापुत्रक का कम है। गीतकों के छोटे अंगों में त्र्यश्र तालों का, विशेष रूप से षट्पितापुत्रक का प्रयोग अधिक है।

यह संभव है कि गीतकों के अतिरिक्त अन्य गीतों में अथवा ध्रुवाओं में त्र्यश्र तालों का प्रयोग अधिक होता हो। यों भी त्र्यश्र गति के ताल चतुरश्र की अपेक्षा जल्दी आकृष्ट करते हैं। इसका कारण शायद यह है कि चतुरश्र यानी सम गति मनुष्य जीवन का अभिन्न अंग है, हर क्रिया सम गति से होती है। उससे भिन्न होने के कारण विषम गति तुरन्त आकर्षित करती है और भिन्न संवेदना को जागृत करती है।

तालों की कलाविधि

तालों में सशब्द और निःशब्द क्रियाओं के क्रम और उन्हें करने के ढंग को 'कलाविधि' कहा गया है। तालों के यथाक्षर आदि तीनों रूपों में कलाविधि भिन्न होती है। कलाविधि बताने के लिए संगीतरत्नाकर में क्रियानामों के पहले-पहले अक्षर का प्रयोग संकेत के रूप में किया जाता है :

श अथवा शं	शम्या
ता	ताल
सं	सन्निपात
आ	आवाप
नि	निष्क्राम
वि	विक्षेप
प्र	प्रवेश

नीचे सभी तालों की कलाविधि दी जा रही है। चच्चत्पुट और चाचपुट की यथाक्षर कलाविधि एकसी है। इन दोनों में तीन-तीन प्रकार की विधियाँ बताई गई हैं।

S	S	I	S'	S	I	I	S
च	च्च	त्पु	टः	चा	च	पु	टः
सं	श	ता	श	सं	श	ता	श
श	ता	श	ता	श	ता	श	ता
ता	श	ता	श	ता	श	ता	श

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इनमें से पहली का अधिक प्रयोग होता है। दूसरी का आसारित आदि गीतकों में और तीसरी का पाणिकादि गीतों में होता है।[१]

तालों का मूल रूप यथाक्षर में ही होता है जिसमें केवल सशब्द क्रियाएँ रहती हैं। यथाक्षर की सशब्द क्रियाओं को रखते हुए द्विकल में दो और चतुष्कल में शेष निःशब्द क्रियाएँ जोड़ दी जाती हैं।

एककल, द्विकल और चतुष्कल के प्रसंग में यथाक्षर में ही 'विश्लेषण' के द्वारा अन्य दो रूपों की प्राप्ति की भरतोक्त विधि बताई जा चुकी है। इनकी कलाविधि का निरूपण करते समय भी भरत द्वारा तीनों में संबंध बनाये रखा गया है किन्तु शार्ङ्गदेव ने सीधे इनकी पूरी क्रियाएँ बताईं।[२] भरत ने द्विकल में निष्क्राम और प्रवेश का योग कहा—'निष्क्रामश्च प्रवेशश्च द्विकले परिकीर्तितौ'।[३]

अभिनव ने इस पर टीका करते हुए जो विधि बताई उसे साररूप में इस प्रकार समझा जा सकता है :

द्विकल के लिये प्रत्येक पदभाग में पहले निष्क्राम और प्रवेश की योजना करके यथाक्षर की सशब्द क्रियाओं को अनुपात के अनुसार द्विकल में निःशब्द क्रियाओं के स्थान पर रखना चाहिये। चतुष्कल में प्रत्येक पादभाग में आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेश रख कर द्विकल की सशब्द क्रियाओं को यथास्थान रखना चाहिए। यह स्मरणीय है कि द्विकल और चतुष्कल में संनिपात अंत में रहता है। दत्तिल ने स्पष्ट कहा है—'वस्त्वन्ते सन्निपातश्च सप्तरूपविधौ सदा'।[४] तदनुसार चच्चत्पुट के आधार पर विधि को इस प्रकार समझा जा सकता है—

	ऽ	ऽ	।	ऽ'
	च	च्च	त्पु	टः
	सं	श	ता	श
अनुपात	२	२	१	३

इसी के अनुसार द्विकल की कलाओं में प्रत्येक पादभाग की दूसरी, दूसरी, पहली और तीसरी (रेखांकित स्थानों पर) सशब्द क्रियाएँ होंगी, संनिपात अंत में होगा :

१	नि प्र	नि प्र	नि प्र	नि प्र
	श	ता	श	सं

द्विकल रूप—

नि श | नि ता | श प्र | नि सं |

१. ना. शा., ३१/१३-१४
२. सं. र., ५/३१-३२
३. ना. शा., ३१/३५
४. दत्ति., १६०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चाचपुट में २, १, १, २ का अनुपात है अतः विधि इस प्रकार होगी :

नि प्र	नि प्र	नि प्र
श	ता श	सं

द्विकल नि श | ता श | नि सं

षट्पितापुत्रक में ३, १, २, २, १, ३ का अनुपात है। तदनुसार :

नि प्र	नि प्र	नि प्र	नि प्र	नि प्र	नि प्र
	ता श	ता	श	ता	सं

नि प्र | ता श | नि ता | नि श | ता प्र | नि सं |

द्विकल से चतुष्कल रूप प्राप्त करने के लिये द्विकल के प्रत्येक पादभाग की पहली क्रिया से पहले आवाप और दूसरी क्रिया से पहले विक्षेप का योग करना चाहिये। जैसे चच्चत्पुट में :

द्विकल नि श | नि ता | श प्र | नि सं |

आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि प्र आ नि वि सं

अथवा आ, नि, वि, प्र के क्रम से प्रत्येक पादभाग में क्रियाएँ रख कर फिर सशब्द क्रियाओं को रखा जा सकता है। जैसे :

आ नि वि प्र	आ नि वि प्र	आ नि वि प्र	आ नि वि प्र
श	ता	श	सं
आ नि वि श	आ नि वि ता	आ श वि प्र	आ नि वि सं

इसी प्रकार अन्य तालों की चतुष्कल कलाविधि की भी रचना होती है।

क्रम से सभी तालों की सम्पूर्ण कलाविधि इस प्रकार है।

चच्चत्पुट

	ऽ	ऽ	।	ऽ'
	च	च्च	त्पु	टः
यथाक्षर	सं	श	ता	श
	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
द्विकल	नि श	नि ता	श प्र	नि सं
	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
चतुष्कल	आ नि वि श	आ नि वि ता	आ श वि ता	आ नि वि सं

चाचपुट

	ऽ	।	।	ऽ
	चा	च	पु	टः
यथाक्षर	सं	श	ता	श

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
द्विकल	नि श	ता श	नि सं
	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
चतुष्कल	आ नि वि शि	आ ता वि श	आ नि वि सं

षट्पितापुत्रक

	ऽ'	।	ऽ	ऽ	।	ऽ'
	षट्	पि	ता	पु	त्र	कः
यथाक्षर	सं	ता	श	ता	श	ता
	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
द्विकल	नि प्र	ता श	नि ता	नि श	ता प्र	नि सं
	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
चतुष्कल	आ नि वि प्र	आ ता वि श	आ नि वि ता	आ नि वि श	आ ता वि प्र	आ नि वि सं

सम्पक्वेष्टाक

	ऽ'	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ'
	स	म्प	क्वे	ष्टा	कः
यथाक्षर	ता	श	ता	श	ता

	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
द्विकल	नि प्र	ता श	नि ता	नि श	ता प्र	नि सं
	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
चतुष्कल	आ वि वि प्र	आ ता वि श	आ नि वि ता	आ नि वि श	आ ता वि प्र	आ नि वि सं

उद्घट्ट

	ऽ	ऽ	ऽ
	उद्	घट्	टः
यथाक्षर	नि	श	श
	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
द्विकल	नि श	ता श	नि सं
	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
चतुष्कल	आ नि वि प्र	आ ता वि श	आ नि वि सं

सम्पक्वेष्टाक और उद्घट्ट की द्विकल और चतुष्कल कलाविधि क्रमशः षट्पितापुत्रक और चाचपुट जैसी ही है। इस पर अभिनव ने स्पष्ट कहा कि लक्षण अथवा लक्ष्य में सम्पक्वेष्टाक और उद्घट्ट की द्विकल विधि पृथक् नहीं है—'तयोर्न पृथक् द्विकलभावो लक्षणे लक्ष्ये च दृश्यते'[1] इसी प्रसंग में अभिनव ने सम्पक्वेष्टाक और उद्घट्ट को क्रमशः पञ्चपाणि और चाचपुट का भेद कहा।[2]

सम्पक्वेष्टाक और उद्घट्ट को छोड़ कर शेष तालों में यथाक्षर में सशब्द क्रियाओं का जो अनुपात कालमान की दृष्टि से है उस अनुपात को द्विकल और चतुष्कल में क्रियाओं

१. ना. शा., ३१/५३, अभि, पृ. १८०   २. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की संख्या के रूप में बनाये रखा गया है। इसे समझने के लिए चच्चत्पुट की कलाविधि को फिर से देखें :

ऽ	ऽ	।	ऽ'
च	च्च	त्पु	टः
सं	श	ता	श

यहाँ अनुपात १, १, ½, १½ का है। अब द्विकल की कलाविधि देखें :

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
नि	श	नि	ता	श	प्र	नि	सं

इसमें यदि संनिपात से आरम्भ करें और हर सशब्द क्रिया से नया विभाग बना दें तो रूप यह होगा :

ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ	ऽ ऽ ऽ
सं नि	श नि	ता	श प्र नि

यहाँ हर सशब्द क्रिया के साथ निःशब्द का संयोग होने पर क्रियाओं की संख्या (२, २, १, ३) में १, १, ½, १½ का ही अनुपात है यद्यपि इकाई लघु के स्थान पर गुरु है। चतुष्कल की कलाविधि भी समझ लें :

ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श	आ नि वि ता	आ श वि प्र	आ नि वि सं

इसमें भी क्रम बदल दें :

सं आ नि वि | श आ नि वि | ता आ | श वि प्र आ नि वि |

संख्या द्विकल से दुगनी होकर ४, ४, २, ६ हो गई किन्तु अनुपात वही १, १, ½, १½ का बना हुआ है।

इसका अर्थ यह है कि यद्यपि द्विकल और चतुष्कल में इकाई एक सी अर्थात् गुरु ही है फिर भी अनुपात ऐसा है जिससे यथाक्षर की क्रियाओं का अनुपात तो नहीं लेकिन अनुपात का 'भाव' बना रहता है।

तालों की कलाविधि के बारे में कुछ प्रश्न अनुत्तरित रह गये हैं जो यहाँ दिये जा रहे हैं :

(१) यथाक्षर में केवल सशब्द क्रियाएँ हैं, केवल उद्घट्ट में ही निष्क्राम को क्यों रखा गया ?

(२) यथाक्षर में हर सशब्द क्रिया से एक-एक खण्ड बनता है। ये क्रियाएँ लघु, गुरु, प्लुतरूपा हैं। द्विकल और चतुष्कल में यथाक्षर के दुगने और चौगुने अनुपात मे क्रियाएँ रख कर विभाग क्यों नहीं बनाये गये ? सारी इकाइयों को गुरु में परिवर्तित करने की आवश्यकता क्यों हुई ?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(३) क्रियात्मक दृष्टि से पादभाग सशब्द क्रिया से ही बनते हैं, जैसे यथाक्षर में, लेकिन द्विकल और चतुष्कल में अधिकांशतः निःशब्द क्रिया से। इनमें आरम्भ में सशब्द क्रियाएं क्यों नहीं रखी गईं ?

(४) संनिपात का प्रयोग यथाक्षर में शुरू में होता है, द्विकल और चतुष्कल में अन्त में क्यों रखा गया ?

(५) सम्पक्वेष्टाक और उद्घट्ट की द्विकल और चतुष्कल कलाविधि में अन्य तालों की तरह उनके यथाक्षर रूपों को क्यों नहीं रखा ? तथा उनमें पट्पितापुत्रक और चाच-पुट की कलाविधि क्यों लगाई गई ?

(६) क्रियात्मक रूप में चतुरश्र और त्र्यश्र यानी सम और विषम की अनुभूति हर विभाग में होने वाली क्रियाओं की संख्या के आधार पर होती है; जैसे—कहरवा में ४-४ और दादरा में ३-३ मात्रा संख्या के आधार पर। लेकिन मार्ग तालों में हर पादभाग में २-२ अथवा ४-४ ही क्रियाएँ रहती हैं और चतुरश्र या त्र्यश्र का निर्णय पादभागों की ४ या ३ संख्या के आधार पर होता है। ऐसा क्यों किया गया ? पादभागों में क्रियाओं की संख्या ४ और ३ क्यों नहीं रखी गई, जो स्वाभाविक क्रम था।

तालों में अंगुलिनियम

मार्गतालों का प्रयोग मुख्य रूप से गीतकों में होता था। गीतकों का प्रयोजन प्रधा-नतः अदृष्ट यानी देवता परितोष होने के कारण वेदपाठ की तरह इनका भी विधि-विधान निश्चित था। जैसे वेदपाठ में हाथ से स्वरविधि दिखाना अनिवार्य था उसी प्रकार गीतकों में भी तालक्रियाओं का, उँगलियों का विशेष ढंग से प्रयोग करने का नियम था। इसलिये ताल निरूपण में अंगुलिनियम भी बताया गया।

भरत और शार्ङ्गदेव का अंगुलिनियम समान है। शार्ङ्गदेव ने (केवल) पातयुक्त पादभाग में उँगली से क्रिया का निषेध किया—'पातयुक्ते पादभागे नाङ्गुल्या क्रियते कला'[1]। सिंहभूपाल ने यह स्पष्ट किया कि अंगुलिनियम आवापादि अशब्द क्रियाओं के लिये ही है क्योंकि पात यानी सशब्द क्रियाएँ तो पूरे हाथ से की जाती हैं।[2] कल्लिनाथ ने यह भी स्पष्ट किया कि केवल अंगुली से पात होने पर शब्द उत्पन्न नहीं होता इसलिये वहाँ अंगुलिनिषेध किया है।[3] यह उल्लेखनीय है कि केवल पट्पितापुत्रक और चाचपुट में द्विकल का दूसरा पादभाग ही ऐसा है जिसमें कोई निःशब्द क्रिया नहीं है केवल सशब्द क्रियाएं ही हैं इसलिये उन पादभागों में अंगुलिप्रयोग नहीं बताया गया। शेष सभी तालों में हर पादभाग में निःशब्द क्रिया अवश्य है।

अंगुलिप्रयोग के लिये यह नियम है कि अगली सशब्द क्रिया जिस हाथ से की जाने वाली हो उसी हाथ की अंगुली से निःशब्द क्रिया की जाती है—'आवापादिः प्रयो-

---

१. सं., र. ५/३६ २. वही, सिंह. ३. वही, कल्लि.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

त्तव्यो भाविपातस्य पाणिना ।[१] अभिनव ने भी यह उल्लेख किया है--'तत्र भाविपातानुसारेणावापनिष्क्रामादिषु वामदक्षिणविभागः' ।[२]

चच़्चत्पुट के चार पादभागों में अंगुलिनियम इस प्रकार है—पहले पादभाग में कनिष्ठा से, दूसरे में कनिष्ठा और अनामिका से, तीसरे में कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा से तथा चौथे में चारों अंगुलियों से ।[३]

भरत ने चाचपुट के दूसरे पादभाग में अंगुली निर्देश नहीं किया क्योंकि यहां केवल सशब्द क्रिया हैं। शार्ङ्गदेव के अनुसार चाचपुट के तीन पादभागों में क्रम से कनिष्ठा, कनिष्ठा-अनामिका और कनिष्ठा-अनामिका-तर्जनी से क्रियाएं होती हैं। इसमें मध्यमा अंगुली का प्रयोग नहीं होता ।[४]

षट्पितापुत्रक के ६ पादभागों में से द्वितीय में केवल सशब्द क्रियाओं के कारण भरत ने अंगुलिनियम नहीं कहा ।[५] शार्ङ्गदेव ने प्रथम चार में चच्चत्पुट की तरह और ५वें तथा छठे में क्रम से कनिष्ठा और तर्जनी का प्रयोग कहा है ।[६]

अंगुलिनियम बताने का प्रयोजन सम्भवत: यह भी है कि ताल में कौनसा पादभाग चल रहा है इसका भान रहे ।

इस प्रकार द्विकल और चतुष्कल तालों की कलाविधि में कौनसी निःशब्द क्रिया किस हाथ से की जाय इसका विधान यथाक्षर के आधार पर किया गया। यथाक्षर की सशब्द क्रियाओं में शम्या दाहिने हाथ से, ताल बायें हाथ से और संनिपात दोनों हाथों से की जाती हैं। इसलिये द्विकल और चतुष्कल में शम्या से पहले होने वाली निःशब्द क्रियाएं दाहिने हाथ की अंगुलियों से, ताल से पहले बायें हाथ की अंगुलियों से तथा संनिपात से पहले दोनों हाथ की अंगुलियों से निःशब्द क्रिया होती है। किन्तु विशेष पादभाग के अनुसार विशेष अंगुलिप्रयोग का भी नियम रखा गया। पहले पादभाग में केवल एक अंगुली—कनिष्ठा—से आरम्भ करके अगले-अगले पाद-भागों में अगली-अगली अंगुली जोड़ते हुए अंगुलि-प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ द्विकल चच्चत्पुट में इस प्रकार अंगुलियों का प्रयोग होगा। अंगुलियों के लिये संकेत इस प्रकार हैं :

क = कनिष्ठा, अ = अनामिका, म = मध्यमा, त = तर्जनी

द्विकल चच्चत्पुट

कलाविधि	नि श	नि ता	श प्र	नि सं
अंगुली	क	क+अ	क+अ+म	क+अ+म+त
हाथ	दाहिना	बायाँ	दोनों	दोनों

---

१. वही, ५/३५

२. ना. शा., अ. ३१, अभि , पृ. १७८

३ वही, ३१/४१-४४, सं. र., ५/३२-३३

४. सं. र., ५/३४

५. ना. शा., ३१/४७ ५०

६. सं. र., ५/३४-३५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'मात्रा' अथवा 'मार्गकला'

'मात्रा' से वे ८ प्रकार की क्रियाएँ अभिप्रेत हैं जिन्हें संगीत रत्नाकर के पदार्थ संग्रह प्रकरण में मार्गकला[१] और तालाध्याय में 'मात्रा' कहा गया है। भरत ने इनका नामोल्लेख नहीं किया। अभिनव ने इसका यह स्पष्टीकरण दिया कि इनका उपयोग अदृष्ट में न होने के कारण भरत ने इनको छोड़ कर केवल सशब्द निःशब्द क्रियाओं का ही निरूपण किया।[२] कुम्भा का कथन इसके बिल्कुल विपरीत है। उसने कहा कि गांधर्व में सर्पिणी आदि का जो योग कहा गया है वह रक्ति और माधुर्य के अभाव के कारण अदृष्ट फल देने वाला है। लेकिन लौकिक गीतों में श्रोता के चित्त की प्रसन्नता के लिये ध्रुवपात आदि क्रियाओं का प्रयोग होता है और वे दृष्ट-अदृष्ट दोनों फल देती हैं।[३] पहली ध्रुवका क्रिया को छोड़ कर सर्पिणी से आरम्भ करने से यह संकेतित है कि ध्रुवका का प्रयोग शेष ७ क्रियाओं के साथ नहीं होता। यहाँ ७ क्रियाओं का प्रयोग स्पष्टतः गांधर्व में कहा है और उससे भिन्न लौकिक गीतों में ध्रुवपात आदि का।

'गांधर्व' और 'लौकिक गीतों' के सन्दर्भ में सर्पिणी आदि और ध्रुवपात आदि क्रियाओं में अन्तर करना कुंभा को अभिप्रेत है लेकिन आशय पूरी तरह स्पष्ट नहीं है। शार्ङ्गदेव ने इतना तो कहा है कि सर्पिणी आदि का प्रयोग ध्रुवपात में ही होता है आवापादि में कभी नहीं—'ध्रुवपाते प्रयोज्यास्ता नावापादौ कदाचन'।[४] ध्रुवपात से कल्लिनाथ ने सशब्द क्रिया अर्थ निकाला है और 'नावापादौ' से नि.शब्द क्रियाओं का निषेध किया है।[५] कुंभा ने संभवतः इसी का अनुसरण करके 'ध्रुवपातादि' का प्रयोग किया है। उसने अन्यत्र इन मात्राओं से पूर्व छोटिकायुक्त पात नामक सशब्द क्रिया का प्रयोग भी कहा :

छोटिकाशब्द पूर्वं तु पात आसां प्रकीर्तितः।
अतः प्रयोगमासां तु ध्रुवपातानुगं विदुः॥
नावापादिषु ते नेयाः प्रयोज्याः स्युः कथञ्चन।[६]

सिंहभूपाल ने भी 'ध्रुवपाते' का अर्थ केवल ध्रुव नामक सशब्द क्रिया कहा है—'छोटिकाशब्दवती ध्रुवपाते कर्तव्या।[७]

इन सब बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि इन मात्राओं के प्रयोग, प्रयोजन, फल आदि के बारे में एकरूपता नहीं है। संभव है कि भरत के समय तक या तो इनकी स्पष्ट धारणा नहीं बनी थी अथवा गांधर्व में इनके प्रयोग का अवसर नहीं था। रत्नाकर के समय तक इनकी धारणा स्थिर हो चुकी थी और मागधी आदि गीतियों में इनका प्रयोग भी होता था। कुंभा ने संभवतः भरत, अभिनव और शार्ङ्गदेव

---

१. सं. र., १/१/४४
२. ना. शा. अ. ३१, अभि., पृ. १६८
३. सं. रा., द्वि. खंड, ३/३/१/१२८-१२९
४. सं. र., ५/१५
५. वही, कल्लिप., पृ ७
६ सं. रा.; द्वि. खंड, ३/३/१/७५-७६
७. सं. र., ५/१५; सिंह. पृ.७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तीनों के साथ इन्हें संवद्ध करने का प्रयत्न किया। यों मार्गकलाओं का और मागधी आदि गीतियों में उनके प्रयोग का सर्वप्रथम उल्लेख मतंग के गीति प्रकरण में तालगीति के रूप में हुआ है।[१]

शार्ङ्गदेव ने ८ मात्रा कहीं—ध्रुवका, सर्पिणी, कृष्णा, पद्मिनी, विसर्जिता, विक्षिप्ता, पताका और पतिता।[२] इनके लक्षण इस प्रकार हैं—ध्रुवा सशब्दा है, सर्पिणी में हाथ बाईं और, कृष्णा में दाहिनी ओर, पद्मिनी में नीचे की ओर, विसर्जिता में बाहर की ओर जाता है। विक्षिप्ता में आकुंचन होता है। पताका में हाथ ऊपर की ओर जाता है तथा पतिता में नीचे गिरता है।[३] इनका प्रयोग मार्गों में होता है—ध्रुवका और पतिता का चित्रमार्ग में; ध्रुवका, सर्पिणी, पताका और पतिता का वार्तिक में तथा क्रम से आठों का दक्षिण-मार्ग में प्रयोग होता है।[४] क्योंकि चित्र, वार्तिक और दक्षिण मार्गों में कला क्रमशः २,४ और ८ मात्राओं के मान की होती है।[५] इतनी बड़ी कला (इकाई) को केवल एक क्रिया के द्वारा संपन्न करना कठिन है संभवतः इसीलिये प्रत्येक कला में मुख्य सशब्द क्रिया के साथ इन मात्राओं के प्रयोग का विधान है। वर्तमान लक्ष्य के आधार पर भी इसकी सार्थकता समझी जा सकती है। अति विलंबित लय में मात्रा बहुत बड़ी होने पर उसके काल को बनाये रखने के लिये दो मात्राओं के बीच के समय को अनेक क्रियाओं द्वारा 'भरा' जाता है। हाथ से ताल देते समय उंगलियों से, तबलादि अवनद्ध वाद्यों में बोलों से और तंत्रीवाद्यों में विभिन्न आघातों के द्वारा यह कार्य किया जाता है। यही प्रयोजन 'मात्रा' अथवा 'मार्गकला' का भी है।

इनका प्रयोग केवल सशब्द क्रियाओं में होता है निःशब्द में नहीं, शार्ङ्गदेव के इस विधान को कल्लिनाथ ने इस प्रकार स्पष्ट किया :

> ध्रुवपाते ध्रुवादिपाते; सशब्दक्रियायामित्यर्थः। नावापादौ कदाचनेति। निःशब्दक्रियाया तु न प्रयोक्तव्या एव। नावापादाविति निःशब्दक्रियाया एव निषेधविषयत्वेनोक्तत्वात्। ध्रुवपात इत्यत्र सामर्थ्यादादिशब्दमध्याहृत्य विधिविषयत्वेन सर्वापि सशब्दक्रिया गृह्यत इति मन्तव्यम्।[६]

ध्रुवपात का अर्थ सशब्दक्रिया है और इसके द्वारा सभी सशब्द क्रियाओं का ग्रहण किया है अर्थात् मात्राओं का प्रयोग सभी सशब्द क्रियाओं के साथ होता है, आवापादि निःशब्द क्रियाओं में से किसी में इनका प्रयोग नहीं होता।

यह उल्लेखनीय है कि चित्र, वार्तिक और दक्षिण मार्गों में ही इनका प्रयोग कहा गया, ध्रुव में नहीं जब कि शार्ङ्गदेव ने मार्ग चार कहे। साथ ही सशब्द क्रियाओं में से ध्रुव का प्रयोग मार्गतालों की कलाविधि में कहीं नहीं है। कल्लिनाथ का इस ओर ध्यान गया है :

---

१. बृह., पृ. ५०-५१ २. सं.र., ५/१२ ३. वही, १२-१५
४. वही, १५-१६ ५. वही, ११ ६. वही, पृ ७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्रुवमार्गे तु पारिशेष्यात् ध्रुवसंज्ञः पात एव प्रयोक्तव्य इत्यवगन्तव्यम्। पारिशेष्यं च ध्रुवव्यतिरिक्तानामेव कलानां, तालेषु प्रयोक्ष्यमाणत्वात्। अन्यथा ध्रुवपातस्य न क्वापि प्रयोगः। अतस्तत्र ध्रुवकैव मात्रा प्रयोक्तव्येत्येवं मन्यमानेन ग्रन्थकारेण 'ध्रुवके मात्रिका कला' इति प्रथममुक्तम्। ध्रुवके ध्रुवमार्गे मात्रिका ध्रुवकेत्यर्थः। प्राथम्यात् ध्रुवपातयोग्यत्वाच्च तस्या एवोपादेयत्वात्।[1]

आशय यह है कि चित्रादि तीन मार्गों में ही मात्राओं का प्रयोग बताया, ध्रुव में नहीं। इसलिये शेष रहे ध्रुवमार्ग में ध्रुव नामक पात का ही प्रयोग समझना चाहिये क्योंकि आगे चल कर तालों में ध्रुव को छोड़ कर अन्य सशब्द क्रियाओं का ही प्रयोग कहा जाने वाला है। इसका अर्थ यह होगा कि ध्रुव नामक सशब्द क्रिया का प्रयोग कहीं नहीं होता। इसे ध्यान में रख कर ही शार्ङ्गदेव ने 'ध्रुवके मात्रिका कला' कहा जिसका आशय यह है कि ध्रुवमार्ग में एक मात्रा की कला है जिसमें ध्रुव नामक पात का प्रयोग होता है।

मार्गों में इन मात्राओं के क्रम को देखने से यह स्पष्ट होगा कि प्रत्येक मार्ग में पहली मात्रा ध्रुवका ही है। तालों की कलाविधि में मूल सशब्द क्रिया का प्रयोग, साथ ही वहीं ध्रुवका नामक मार्गकला (जो सशब्द है) के प्रयोग का भी विधान, ध्रुवका में किसी निश्चित क्रिया के निर्देश का अभाव, चित्रमार्ग की द्विमात्रिका कला में पहले ध्रुवका नामक सशब्द मार्गकला का और फिर अन्य निःशब्द मार्गकला का प्रयोग—ये सारी बातें क्रियात्मक दृष्टि से समस्या उत्पन्न करती हैं, क्योंकि दो सशब्द क्रियाओं का एक साथ प्रयोग संभव नहीं है। इससे ऐसा लगता है कि मात्राओं के प्रयोग के समय कलाविधि की मूल सशब्द क्रिया को ही ध्रुवका नामक मात्रा माना जाता है और उसके बाद शेष मात्राओं का प्रयोग होता है। इसी आशय से शार्ङ्गदेव ने 'सशब्दा तु ध्रुवा ज्ञेया'[2] कहा। भरत के 'कला, या त्रिविधा प्रोक्ता तस्याः पातो ध्रुवः स्मृतः, का भी यही आशय है।

मार्गों में इन मात्राओं के प्रयोग की विधि का निरूपण शार्ङ्गदेव ने मागधी और अर्धमागधी गीतियों के प्रसंग में किया है। यद्यपि ये गीतियाँ पदाश्रित हैं फिर भी मात्राओं के प्रयोग के द्वारा उन्हें तालाश्रित भी बनाया है। मागधी में मात्राप्रयोग इस प्रकार है:

यद्वा यथाक्षरे युग्मे गुर्वोः प्रथमयोर्यदा ॥
एकैकं चित्रमार्गादि प्रयुज्य चगणात्मकम्।
मात्राभिरष्टभिर्युक्तं दक्षिणे ध्रुवकाऽऽदिभिः ॥
प्रयुज्यते तदा गीतिर्मागधीत्यभिधीयते।[3]

---

१. वही., पृ ७-८   २. वही, ५/१३   ३. वही, १/८/२०-२२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ये श्लोक कल्लिनाथ की टीका के द्वारा ही स्पष्ट होते हैं। इसका सार यह है। यथाक्षर चच्चत्पुट में ऽ ऽ। ऽ'—इस प्रकार चार कलाएं हैं। इनमें से गुरू की दो कलाओं में तालाश्रित मागधी और अन्तिम दो में अर्धमागधी का प्रयोग होता है। मागधी का प्रयोग विशेष क्रम से होता है। पहली बार दोनों गुरु कलाओं का उसी मान से अर्थात् चित्रमार्गाश्रित प्रयोग होता है जो यथाक्षर में है और उनमें ध्रुवका और पतिता मात्राओं का प्रयोग किया जाता है। दूसरी बार उन दो गुरु कलाओं को 'चगणात्मक' बना दिया जाता है अर्थात् हर गुरु को दुगना करके चतुर्मात्रिक बना दिया जाता है। ऐसा करने पर चच्चत्पुट की वे कलाएं वार्तिक मार्ग के आश्रित हो जाती हैं। तब इनमें ध्रुवका, सर्पिणी, पताका और पतिता—इन ४ मात्राओं का प्रयोग किया जाता है। अन्त में उन दो कलाओं को चौगुना करके अर्थात् हर गुरु को ८ लघु मूल्य तक बढ़ा कर दक्षिण मार्ग के आश्रित करके उनमें क्रम से आठों मात्राओं का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार दो गुरुओं की चित्र, वार्तिक और दक्षिण मार्गाश्रित होकर ३ बार आवृत्ति होती है इसलिये यह तालाश्रित मागधी गीति कहलाती है।[१] तीनों मार्गों में मात्राओं के प्रयोग का जो क्रम बताया जा चुका है उसी के अनुसार यहाँ मात्राओं का प्रयोग होने के कारण ये तालाश्रित कही गई हैं।

चच्चत्पुट की शेष दो कलाएं लघु, प्लुत हैं। इनमें अर्धमागधी गीति का प्रयोग होता है। पदाश्रित अर्धमागधी में आधे शब्द की आवृत्ति होती है। इसी प्रकार तालाश्रित अर्धमागधी में आधे गण की आवृत्ति होती है। इसमें लघु को 'छगणात्मक' बना कर अर्थात् ६ मात्रा का बना कर उसके आधे गण को यानी ३ मात्राओं को मूल लघु के साथ मिला दिया जाता है। इस प्रकार आधे गण की आवृत्ति भी होती है और कला वार्तिक मार्गाश्रित चतुर्मात्रिक भी हो जाती है। इसमें क्रम से ध्रुवका, सर्पिणी, पताका और पतिता का प्रयोग होता है। अन्तिम प्लुत में डेढ़ गण है। इसमें भी छगणात्मक और उसका आधा यानी ९ मात्राओं में प्लुत की ३ मात्रा मिला कर यानी मूल का चौगुना करके प्लुत को दक्षिण मार्गाश्रित बना दिया जाता है। इन १२ मात्राओं में क्रम से ८ मात्राओं का और फिर अन्तिम दो—पताका और पतिता का दो बार प्रयोग किया जाता है।[२] यहाँ लघु भी चौगुना हो जाता है और प्लुत भी इसलिये अर्धमागधी का यह प्रयोग दक्षिण मार्गाश्रित है। इस क्रम के अनुसार मागधी और अर्धमागधी का तालाश्रित रूप इस प्रकार होगा :

---

१. वही, कल्लि., पृ. २८६-२८७ २. वही, पृ. २८७-२८८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मागधी

चित्रमार्गाश्रित

		च			चच
कला		ऽ			ऽ
कलाविधि		सं			श
मान	।	।		।	।
मात्राप्रयोग	ध्रु सं	पति.		ध्रु श	पति.

वार्तिक मार्गाश्रित

मान	।	।	।	।	।	।	।	।
मात्राप्रयोग	ध्रु सं	सर्पि.	पता.	पति.	ध्रु श	सर्पि.	पता.	पति.

दक्षिण मार्गाश्रित

मान	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।
मात्राप्रयोग	ध्रु सं	सर्पि.	कृष्णा	पद्मि.	विस.	विक्षि.	पता.	पति.	ध्रु श	सर्पि.	कृष्णा	पद्मि.	विस.	विक्षि.	पता.	पति.

अर्धमागधी

	त्पु		टः	
कला	।		ऽ'	
कलाविधि	ता		श	
मान	।	।	।	।

वार्तिक मार्गाश्रित

मान	।	।	।	।
मात्राप्रयोग	ध्रु ता	सर्पि.	पता.	पति.

दक्षिण मार्गाश्रित

मान	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।
मात्राप्रयोग	ध्रु श	सर्पि.	कृष्णा	पद्मि.	विस.	विक्षि.	पता.	पति.	पता.	पति.	पता.	पति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यति :

यति की भरत ने यह परिभाषा दी है :

लयप्रवृत्तवर्णानामक्षराणामथापि च ।
नियमो यो यतिः सा तु गीतवाद्यसमाश्रया ॥[1]

अर्थात् वर्णों और अक्षरों का लय द्वारा उपलक्षित जो नियम है वह यति है । यति गीत और वाद्य के आश्रित है। अभिनव के अनुसार वर्ण का अर्थ गीत के स्थायी आदि वर्ण और अक्षर का अर्थ वाद्यों के 'झुण्टुं कट कथ' आदि अक्षर है। इस प्रकार यति गीत और वाद्य के आश्रित होती है।

संगीत रत्नाकर में लय के प्रयोग के नियम को यति कहा है :

लयप्रवृत्तिनियमो यतिरित्यभिधीयते ।[2]

'प्रवृत्ति' का अर्थ सिंहभूपाल के अनुसार 'प्रयोग' है। तीनों लयों का कितने और किन-किन क्रमों में प्रयोग हो सकता है यही यति है जो तीन प्रकार की कही गई है— समा, स्रोतोगता और गोपुच्छा। भरत ने इनके केवल नाम गिनाये हैं, लक्षण नहीं दिये। शार्ङ्गदेव ने लक्षण भी दिये हैं।

समा यति—इसका लक्षण यह है—'आदिमध्यावसानेषु लयैकत्वे समा त्रिधा'।[3] आदि से अन्त तक लय एकसी होने पर समा यति होती है। यह तीन प्रकार की है— १. आदि से अंत तक द्रुत, २. आदि से अन्त तक मध्य और ३. आदि से अन्त तक विलंबित।

स्रोतोगता यति—यह संज्ञा अन्वर्थ है। इस शब्द का अर्थ है 'स्रोत जैसी गति वाली'। स्रोत की गति शुरू में विलंबित होती है और जल बढ़ने के साथ द्रुत होती जाती है और बाद में द्रुत होती है। यह भी तीन प्रकार की होती है—१. शुरू में विलंबित, मध्य में मध्य, अंत में द्रुत, २. शुरू में विलंबित, बाद में मध्य और ३. शुरू में मध्य, बाद में द्रुत।

गोपुच्छा यति—'गोपुच्छा' का अर्थ है 'गाय की पूँछ वाली'। गाय की पूँछ शुरू में पतली और अन्त में विस्तृत होती है। उसी तरह इस यति में भी शुरू में लय संकीर्ण अर्थात् द्रुत होती है और बाद में विस्तृत यानी विलंबित होती है। अतः यह संज्ञा भी सार्थक है। गोपुच्छा यति भी तीन प्रकार की होती है—१. द्रुत से शुरू करके मध्य और विलंबित, २. द्रुत से मध्य और ३. मध्य से विलंबित।

स्रोतोगता संज्ञा स्रोत की गति से साम्य रखने के कारण दी गई है जब कि गोपुच्छा में गाय के पूँछ के आकार से साम्य है। यों तो स्रोत का आकार भी शुरू में पतला और फिर विस्तृत होता है लेकिन गति पहले विलंबित और बाद में द्रुत होती है। गाय की पूँछ में गति का प्रसंग नहीं केवल आकार का ही हैं इसलिये पतले भाग को द्रुत के और विस्तृत भाग को विलंबित के समकक्ष मान कर यह नाम दिया गया है।

---

१. ना. शा., ३१/३७२ २. सं. र., ५/४६
३. वही, ४७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्रोतोगता पर टीका करते हुए सिंहभूपाल ने कहा :

गीतस्य भागत्रयं हत्वा प्रथमे भागे विलम्बितो लयः, द्वितीयभागे मध्यलयः तृतीयभागे द्रुतलयः, ।[१]

इसका अर्थ यह है कि यति प्रयोग के समय गीत के एक भाग में एक लय, दूसरे भाग में दूसरी लय और तीसरे भाग में तीसरी लय का प्रयोग विहित था । चूँकि समा में आदि से अन्त तक एकसी लय होती थी इसलिये समा के प्रयोग के समय गीत के बीच में लय नहीं बदलती थी ।

'पाणि' अथवा 'ग्रह'

ग्रह शब्द का सामान्य अर्थ है 'ग्रहण करना' या 'पकड़ना' । किन्तु ग्रह की धारणा में मुख्य बात यह है कि गीत, वाद्य, नृत्त के साथ ताल की उठान कब होती है । यानी ताल और गीतादि साथ-साथ उठते हैं अथवा पहले-पीछे । इसके अनुसार ग्रह दो प्रकार के हो सकते हैं १. एकसाथ उठने पर सम और २. आगे पीछे उठने पर विषम । विषम में पहले और बाद में दो प्रकार से उठान हो सकती है इसलिये इसके दो भेद किये गये । इसी अर्थ में शार्ङ्गदेव ने एला प्रवन्ध में विषमग्रह कहा—'ग्रहस्तु विषमो भवेत्,[२] जिसे स्पष्ट करते हुए कल्लिनाथ ने कहा-'विषमः समादन्यः; अतीतानागतयोरेकतर इत्यर्थः' ।[३] अर्थात् विषम यानी सम के अतिरिक्त अतीत-अनागत में से कोई भी ग्रह वाग्गेयकार को स्वेच्छा से प्रयोग करना चाहिये । इसीलिये ग्रह तीन प्रकार के कहे गये—सम, अतीत और अनागत :

समोऽतीतोऽनागतश्च ग्रहस्ताले त्रिधा मतः ।[४]

भरत और दत्तिल ने ग्रह के स्थान पर 'पाणि' शब्द का प्रयोग किया है और वह तीन प्रकार का कहा है :

समपाणिश्च विज्ञेयो ह्यवपाणिस्तथैव च ।
तथैवोपरिपाणिश्च गीतवाद्यसमाश्रयाः ॥[५]

अर्थात् गीत और वाद्य के आश्रित तीन प्रकार का 'पाणि' होता है—समपाणि, अवपाणि और उपरिपाणि ।

तथा- समोपर्यवपूर्वस्तु पाणिस्त्रिविध इष्यते ॥[६]

पूर्व परम्परा के अनुसार दत्तिल ने पाणि को ताल का पर्याय कहा है :

तत्र तालं च पाणिं च प्राहुरेकं मनीषिणः ।
समं चोपरिपातस्तु यद्वाधः संस्थितं भवेत् ॥[७]

ग्रह अथवा पाणि की धारणा मूलतः एक ही है क्योंकि दोनों में गीत के साथ किसी अन्य (वाद्य, ताल आदि) के उठान को ही व्यक्त किया जाता है । पाणि, गीत और वाद्य

---

१. वही, सिंह., पृ. २७ २. वही, ४/३९ ३. वही, पृ. २१८
४. सं. र., ५/५० ५. ना. शा., ३१/३७३ ६. दत्ति., १५२
७. वही, १५३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गीत और ताल, गीत और अवनद्ध के उठान के संबंध का सूचक है। यद्यपि यह सही है कि ताल का स्वतंत्र रूप से महत्त्व नहीं है, वह गीतादि के अनुसार ही प्रवृत्त होता है, इसलिए प्रधानता गीतादि की ही होती है; लेकिन ताल ही इन्हें प्रतिष्ठा देता है इसलिये इन तीनों के संबंध में उसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। गीतादि के साथ ताल का उठान बताते समय ताल की प्रधानता होने के कारण 'ग्रह' में भी ताल का उठान—यही अर्थ मुख्य रूप से अभिप्रेत है और 'पाणि' तो ताल का पर्याय है ही इसलिये उसमें भी ताल का ग्रहण ही विवक्षित है।

भरत ने पाणि के तीन प्रकारों का लक्षण यह दिया है :

लयेन यत् समं वाद्यं समपाणिः प्रकीर्त्यते।
लयाद् यदवकृष्टं स्यात् सोऽवपाणिः प्रकीर्तितः॥
लयस्योपरि यद्वाद्यं पाणिः सोपरिरिष्यते।[1]

'लय' का अर्थ 'गीत' है—'तत्र लय इति तात्पर्यत्वाद्गीतमुच्यते'।[2] 'अवकृष्ट' का अर्थ 'नीचे की ओर खींचा हुआ' है।

ऊपर श्लोकों में आये 'नीचे' और 'ऊपर'—इन दो शब्दों का अर्थ समझ लेना चाहिये। व्यवहार में इन दोनों शब्दों का प्रयोग स्थान और काल दोनों में होता है। जैसे—नीचे वाली पुस्तक लाओ या नीचे के स्वर लग रहे हैं। पहले वाक्य में नीचे का अर्थ स्थान की दृष्टि से 'पहले रखी हुई' और दूसरे वाक्य में काल की दृष्टि से 'पहले के स्वर' हैं। इसी तरह 'ऊपर की मंजिल में है' और 'ऊपर के स्वर लगाओ' में क्रमशः देश और काल की दृष्टि से 'बाद' अर्थ है।

नीचे-ऊपर और पहले-बाद को समझने का एक और दृष्टिकोण भी हो सकता है। रखने के क्रम में नीचे वाली वस्तु पहले रखी गई किन्तु उठाने के क्रम में ऊपर वाली 'पहले' होती है। इसी प्रकार कालक्रम की दृष्टि से नीचे के स्वर पहले होने पर भी सितार आदि वाद्यों में मंद्र स्वर वाद्य के ऊपरी हिस्से से उत्पन्न होने के कारण उनके लिये 'ऊपर के स्वर' यह प्रयोग भी दिखाई देता है। 'अव' और 'उपरि' के अर्थों में इस वैपरीत्य के कारण 'अवपाणि' और 'उपरिपाणि' के अर्थ भी भिन्न हो सकते हैं।

भरत के उपर्युक्त श्लोकों में अभिनव के अनुसार गीत के साथ वाद्य की अवकृष्टता अर्थात् गीत पहले वाद्य बाद में होने पर अवपाणि तथा गीत के उपरि वाद्य अर्थात् वाद्य पहले गीत बाद में होने से उपरिपाणि—यह अर्थ है जो आश्रावणा निर्गीत पर अभिनव की टीका से भी पुष्ट होता है।[3] आश्रावणा के तीन खंडों में उपरिपाणि, समपाणि, अवपाणि का विधान भरत ने दिया। वहाँ उपरिपाणि में वीणा पहले गीत बाद में तथा अवपाणि में गीत पहले वीणा बाद में—यही क्रम है। किन्तु ताल के संदर्भ में अभिनव की टीका का निम्न अंश महत्त्वपूर्ण है :

१. ना. शा., ३१/३७४-३७५
२. वही, अभि., पृ. २८५
३. ना. शा., २९/८७, अभि.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काचिन्नियमाद्दष्टा रक्त्यतिशया वाऽन्या क्रियाऽवच्छेदिका तया गीतस्य समकालता पूर्वकालताऽऽगन्तुककालता वा। तन्नेहावापादिकाऽऽयात(काल)ता।[१]

अर्थ यह है कि किसी नियत अदृष्टविषया या रंजक अवच्छेदिका क्रिया के द्वारा गीत की समकालता, पूर्वकालता या आगन्तुककालता साधित होती है। समकालता आदि तीनों क्रम से समपाणि, अवपाणि और उपरिपाणि को सूचित करते हैं। इसलिये अवच्छेदिका क्रिया अर्थात् ताल की गीत से समकालता होने पर समपाणि, पूर्वकालता होने पर अवपाणि और आगन्तुककालता होने पर उपरिपाणि होता है।

दत्तिल के ऊपर उद्धृत श्लोक में भी 'उपरि' और 'अधः' का अर्थ क्रमशः 'बाद में' और 'पहले' है। इसलिये भरत, दत्तिल और अभिनवगुप्त का समान अभिप्राय है।

संगीतरत्नाकर में तीन पाणि के समकक्ष तीन ग्रहों का लक्षण इस प्रकार दिया गया है :

गीतादिसमकालस्तु समपाणिः समग्रहः ।
सोऽवपाणिरतीतः स्याद्यो गीतादौ प्रवर्तते ॥
अनागतः प्राक्प्रवृत्तग्रहस्तूपरिपाणिकः ।[२]

अर्थात् गीतादि समकाल में हों तो समपाणि या समग्रह होता है, जो गीत के आदि में प्रवर्तित हो वह अवपाणि या अतीत है और प्राक्प्रवृत्त अर्थात् पहले प्रवृत्त होने वाला ग्रह तो उपरिपाणि या अनागत है। यहाँ 'गीतादौ' और 'प्राक्प्रवृत्त' शब्द विशेष हैं। गीतादौ का विग्रह 'गीतस्य आदौ' होगा और अर्थ होगा—जो गीत के आदि में अर्थात् गीत से पहले प्रवृत्त हो। स्पष्ट है कि ताल पहले शुरू होने पर गीत उठने के कारण यानी ताल बीत जाने के कारण 'अतीत' ग्रह है और ताल पहले उठा इसलिये 'अवपाणि' है। यहाँ दोनों में ताल की प्रधानता से अर्थ ग्रहण हुआ। यदि 'प्राक्प्रवृत्तग्रहः' में भी ताल की प्रधानता समझें तो अतीत और अनागत में कोई अन्तर नहीं रहता। इसलिये यहाँ यह अर्थ लेना आवश्यक है कि गीतादि की प्राक्प्रवृत्ति होने पर अनागत ग्रह होगा। दोनों में सामान्य दृष्टि से जो थोड़ी विसंगति दिखाई देती है उसे कल्लिनाथ और सिंहभूपाल दोनों ने दूर करने का प्रयत्न किया है। कल्लिनाथ की टीका इस प्रकार है :

अवपाणिरिति। अत्र अवशब्दोऽधः पर्यायः कालापेक्षया पूर्वभावे वर्तते। तालस्य गीतादिपूर्वभावित्वादवपाणिरित्यतीतग्रह उच्यते। गीतादिना तालकालमतिक्रम्योत्तरकालभाविना अतीतत्वादतीत इत्यर्थः। प्राक्प्रवृत्तग्रह इति। अत्र ग्रहशब्देन गृह्यत इति ग्रह इति कर्मसाधनेन गीतादित्रितयमुच्यते। प्राक्प्रवृत्तः प्रथमारब्धो ग्रहो यस्येत्यनागतग्रहस्य विशेषणम्। तालस्य गीताद्युत्तरकालभावित्वात्। स एवोपरिपाणिकश्च भवति। अनागत इति गीतादिप्रारम्भकाल आगतो न भवतीत्यन्वर्थो द्रष्टव्यः।[३]

---

१. वही, अ० ३१, अभि., पृ. २८५ २. सं. र., ५/५१-५२

३. वही, कल्लि., पृ. २८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ है—'अवपाणि' में 'अव' शब्द 'अधः' का पर्याय है और काल की अपेक्षा से 'पूर्वभाव' अर्थ वाला है। ताल के गीतादि से पूर्वभावी होने के कारण अवपाणि या अतीत-ग्रह कहा जाता है। गीतादि ताल के काल का अतिक्रमण करके यानी ताल के अतीत हो जाने के बाद प्रयुक्त होते हैं यही 'अतीत' का अर्थ है। 'प्राक्प्रवृत्तगृह' में ग्रह शब्द 'ग्रहण किया जाता है' इस अर्थ में कर्म के साधन अर्थात् जो कर्म है और जिसका ग्रहण किया जाय ऐसे गीतादि के ग्रहण—इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्राक्प्रवृत्त का अर्थ है पहले आरंभ हुआ यानी जिसमें गीतादि का पहले आरम्भ हुआ है। ताल के गीतादि के बाद (उत्तरकालभावी) होने के कारण वही उपरिपाणि है। अनागत इसलिये कहा है कि ताल की दृष्टि से गीत का प्रारम्भकाल नहीं आया यानी गीत शुरू हो गया जब कि ताल के साथ उसका आरम्भ काल आया ही नहीं। यहाँ 'गीतादौ' का सीधा अर्थ लेने के कारण कल्लिनाथ को 'प्राक्प्रवृत्त' की संगति बिठानी पड़ी है।

सिंहभूपाल ने इससे उल्टा क्रम रखा है :

य आदौ गीते सति पश्चादावर्तते सोऽतीतग्रहः, स एवावपाणिरित्युच्यते। यो गीतप्रारम्भात्पूर्वं प्रवृत्तः स अनागतग्रहः।[1]

अर्थात् गीत के शुरू में होने पर जो (ताल) बाद में प्रवृत्त हो वह अतीत और वही अवपाणि है तथा जो (ताल) गीत के आरम्भ होने से पहले प्रवृत्त हो वह अनागत ग्रह है।

गीत के शुरू में होने पर जो (ताल) बाद में प्रवृत्त हो वह अतीत और वही अवपाणि है तथा जो (ताल) गीत के आरम्भ होने से पहले प्रवृत्त हो वह अनागत ग्रह है, में सिंहभूपाल ने 'प्राक्प्रवृत्त' का सीधा अर्थ लिया—जो पहले प्रवृत्त हो यानी ताल पहले उठे इसलिये 'गीतादौ' का टेढ़े ढंग से अर्थ निकालना पड़ा। उधर कल्लिनाथ ने 'गीतादौ' का सीधा अर्थ निकाला तो 'प्राक्प्रवृत्त' का टेढ़ा अर्थ निकालना पड़ा। लेकिन भरत के श्लोकों के अर्थ, दत्तिल के श्लोक और अभिनवगुप्त की टीका को देखते हुए कल्लिनाथ ने जो अर्थ दिया है उसी की पुष्टि होती है। इसलिये यही समझना होगा कि ताल के बाद गीत का ग्रहण होने पर अवपाणि या अतीतग्रह होता है और ताल से पहले गीत का ग्रहण हो तो उपरिपाणि या अनागत ग्रह कहलाता है।

तीन पाणि अथवा तीन ग्रहों के साथ तीनों लयों का भी सम्बन्ध जोड़ा गया है। अवपाणि के सम्बन्ध में भरत ने इस प्रकार कहा—'सोऽवपाणिस्तु विज्ञेयस्तज्ज्ञैर्द्रुत-लयाश्रितः'।[2] इसके अनुसार उपरिपाणि में विलम्बित लय और अवपाणि में द्रुत लय का प्रयोग होता है। अभिनव ने इस सम्बन्ध को एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया है। प्रधान तत्त्व जब पहले आरम्भ होता है तो वह गौण तत्त्व की प्रतीक्षा किये बिना द्रुत लय में बढ़ जाता है इसलिये वहाँ प्रधानता के आधार पर उपरिपाणि होता है। किन्तु जब गौण तत्त्व

१. वही, सिंह., पृ. २६ २. ना. शा., ३१/३७७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहले शुरू होता है तो मुख्य के साथ मिलने के लिये विलम्बित गति से चलता है इसलिये गौणता के कारण अवपाणि होता है :

द्रुतलयोचितो यस्यातिशीघ्रं गच्छति स प्रथममेव निर्याति स चापरमपि न प्रतीक्षते गीतक्रिया तु यदा न तावत् प्रवर्तते प्रथममेव वाद्यानि क्रियान्तरं तदोपरिपाणिः। स चौचित्याविलम्बिते लये दीर्घसूत्रो हि सहचरेषु प्राङ्निर्गतेषु गतिमारभत इति ।[1]

निर्गीतों में वाद्य प्रधान होता है इसलिये वहाँ वाद्य के आधार पर उपरिपाणि में द्रुत और अवपाणि में विलम्बित लय होती है। किन्तु गीत की प्रधानता में द्रुतलय का अवपाणि से तथा विलम्बित का उपरिपाणि से सम्बन्ध होता है।[2] क्योंकि यहाँ प्रधान तत्त्व गीत पहले शुरू होने से (अवपाणि में) द्रुत लय में आगे बढ़ जायगा और गौण तत्त्व वाद्य पहले शुरू होने पर (उपरिपाणि में) विलम्बित लय में चलेगा।

संगीतरत्नाकर में भी सम, अतीत और अनागत ग्रहों में क्रम से मध्य, द्रुत और विलम्बित लय का प्रयोग कहा है। ग्रहों और लयों के सम्बन्ध को कल्लिनाथ ने भी एक उदाहरण के द्वारा समझाया है जो अभिनव से प्रभावित है :

समग्रहे मध्यलयः ; अतीतग्रहे द्रुतलयः ; अनागतग्रहे विलम्बितलय इति क्रमः। यथा लोके कश्चन केनचिन्मित्रादिना सह कंचित्प्रदेशं प्रति गन्तुमुद्युक्तः। सः मित्रादिरात्मानमतीत्य पुरस्ताद्गच्छतीति श्रुत्वा तत्पश्चाद्देशे स्थितः तेनसाम्यसिद्ध्यर्थं स्वयं द्रुतं गच्छति ; यथा वा मित्राद्यागमनारम्भकाले स्वयमनागतः तद्देशात्पुरोदेशे स्थित्वा गन्तुं प्रवृत्तः पश्चाद्देशे मित्रादिरागच्छतीति श्रुत्वा तस्य स्वसाम्यसिद्ध्यर्थं पदे पदे विलम्ब्य गच्छति तद्वदिति प्रकृतेऽपि द्रष्टव्यम् ।[3]

सार यह है कि कोई व्यक्ति किसी मित्र के साथ कहीं जाने के लिये तैयार होता है लेकिन मित्र उसे छोड़कर (अतीत्य) पहले ही चल देता है। यह सुनकर वह व्यक्ति जो पीछे रह गया था उसके साथ मिल जाने के लिये तेजी से जाता है। अथवा मित्र को आने में देर है इसलिये व्यक्ति चल पड़ता है लेकिन यह सुनकर कि मित्र पीछे-पीछे आ रहा है वह उसे साथ कर लेने की दृष्टि से धीरे-धीरे चलता है। इन दोनों दृष्टान्तों में व्यक्ति गीत-स्थानीय और मित्र तालस्थानीय (समकक्ष) है। इसलिये पहले उदाहरण से यह स्पष्ट किया गया है कि जैसे आगे निकले हुए मित्र का साथ पाने के लिये व्यक्ति तीव्र गति से जाता है उसी प्रकार पहले से प्रवृत्त हुए ताल के साथ मिल जाने के लिये गीत द्रुतलय में चलता है। तथा जैसे पीछे छूटे हुए मित्र को साथ मिला लेने के लिये व्यक्ति धीरे-धीरे चलने लगता है उसी प्रकार पहले से शुरू हुए गीत के साथ ताल के ग्रहण के लिये गीत विलंबित लय में चलता है।

---

१. वही, ३१/३७५, अभि.

२. वही, ३१/३७७, अभि., पृ. २८६

३. सं. र., अ. ५, कल्लि, पृ. २८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ग्रह की धारणा और हर ग्रह के साथ एक निश्चित लय के संबंध-स्थापन के बारे में कुछ बातें विचारणीय हैं।

भरत, दत्तिल, अभिनव, शार्ङ्गदेव, सिंहभूपाल और कल्लिनाथ—सभी ने ताल के साथ गीत और वाद्य के ग्रहण को 'ग्रह' या 'पाणि' कहा है जिसमें मुख्यतः दो प्रकार से ग्रहण हो सकता है—१. एक साथ अथवा २. गीत आदि या ताल में से किसी एक का ग्रहण पहले हो। लेकिन ग्रहण करने का आशय क्या है यह किसी ने भी स्पष्ट नहीं किया है। अगर ऐसा समझें कि गीत या ताल में से कोई पहले आरंभ होता है और दूसरा बाद में तो फिर यह मानना होगा कि ग्रह के द्वारा गानवादन आदि के बिल्कुल प्रारंभस्थल के साथ ताल के संबंध को दिखाया जाता है। लेकिन निर्गीतों में एक ही निर्गीत में भिन्न-भिन्न ग्रहों के प्रयोग का विधान है। क्या वहाँ बीच-बीच में वादन या ताल को रोक कर फिर से आरंभ किया जाता होगा ? अथवा बल के स्थान के परिवर्तन से यह आभास कराया जाता होगा कि गीत पहले चल रहा है ताल बाद में ? यानी ताल के घात से ठीक पहले गीत में आघात दिखाया जाता होगा अथवा यह आभास कराया जाता होगा कि ताल पहले चल रहा है गीत बाद में, यानी ताल में घातस्थान के तुरन्त बाद गीत का घात दिखाया जाता होगा ? अथवा ग्रहों का प्रयोग कैसे होता होगा ? उदाहरण के लिये आश्रावणा नामक निर्गीत में तीनों ग्रहों का विधान इस प्रकार है :

त्रिःशम्योपरिपाणौ तालावप्येवमेव चैककवान् ।
समपाणौ द्वे शम्ये तालावप्येवमेवाथ ॥
भूयः शम्यातालाववपाणावुत्तरस्तथा चैव ।
चच्चत्पुटस्तथा स्यादेवं ह्याश्रावणातालः ॥[१]

इसकी टीका के निम्न अंशों से भी उपर्युक्त अनुमान का संकेत मिलता है :

न सोऽपि त्रिरुपरिपाणौ च तेन शम्यात्रये आदौ वीणादिवाद्येऽनुगतं गीतम् ।[२]
ततश्च यौ शम्यातालौ तत्र पूर्वं गीतं ततो वाद्यमित्यवपाणिः ।
..............................तेन सप्त विदार्योऽत्र द्वयोरुपरिपाणिर्द्वयोः
समपाणिस्तिसृष्ववपाणिः ।[३]

बल स्थान के परिवर्तन से भी एक ही गीत में ग्रहभेद की अनुभूति कराना संभव है। वर्तमान लक्ष्य में भी इस प्रकार का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिये राग आभोगी में त्रिताल के एक तराने की स्थायी प्रस्तुत है जिसमें सम, अतीत और अनागत तीन ग्रहों का प्रयोग बल स्थान के परिवर्तन के आधार पर हुआ है। उन स्थानों को चिन्हित करके दिखाया गया है:

---

१. ना. शा., २९/८७-८८
२. वही, अभि., पृ. १०६
३. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्थायी

१				५				०				१३			
							सा		ग्						
							म	ग्	म	रे	रे	सा	ध	सा	रे
							त	न	त	न	त	न	त	दे	रे
							(अना.)								
म			सा	ग्							म				
ग्	–	–	ग्	म	रे	सा	ध	सा	–	सा	ग्	–	म	–	म
ना	ऽ	ऽ	त	दि	य	न	त	दा	ऽ	नि	ता	ऽ	दा	ऽ	नि
(सम)							(अना.)				(अना.)				
। सा		।		।	।	।	।	।	।		।	।	।	।	
ध	–	सा	–	सा,	म	ग्	म	रे	सा	ध,	रे	सा	रे	सा	ध
ता	ऽ	दा	ऽ	नि	त	न	त	दि	य	न,	त	न	त	दि	य
(सम)					(अती.)						(अना.)				
	।		।												
म,	सा	ध	सा	ध	म	ग्	[1]								
न	त	न	त	दि	य	न									
	(अती.)														

इस रचना में चिन्हित स्थानों पर गीत के बल स्थान हैं क्योंकि उन स्थानों के स्वरों का धक्के या आघात के साथ प्रयोग है, किन्तु ताल के आघात स्थल भिन्न हैं। ताल के बल से पहले गीत का बल होने के कारण अनागत ग्रह या उपरिपाणि और ताल के बल का

1. यह रचना स्व. पं. ओमकारनाथ ठाकुर के प्रधान शिष्य पं. बलवन्तराय भट्ट की है और उन्हीं से लेखिका को प्राप्त हुई है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्थान बीत जाने पर गीत के बल से अतीत ग्रह या अवपाणि है। दोनों का बलस्थान एक स्थान पर होने पर समग्रह या समपाणि है।

ताल का महत्त्व

भारतीय संगीत के तीन मूल उपकरणों—स्वर, ताल और पद—में से ताल का विशेष स्थान है क्योंकि वही गीत, वाद्य और नृत्त को आधार प्रदान करता है। यहाँ तक कि मानसोल्लास में ताल को इनका 'कारण' कहा गया :

न तालेन विना गीतं न वाद्यं तालवर्जितम् ॥
न नृत्यं तालहीनं स्यादतस्तालोऽत्र कारणम् ।
गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रितयं येन लभ्यते ॥
तेन ताल इति ख्यातः सोमेश्वरमहीभुजा ।[1]

इसीलिये गायक आदि के लिये ताल का पूरा ज्ञान और उसमें अवधान अनिवार्य माना गया। ताल को न जानने वाला गायक या वादक कहलाने का अधिकारी नहीं है। इसीलिए भरत ने कहा :

यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादकः ॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कार्यं तालावधारणम् ।[2]

अवनद्ध विधि के पारिभाषिक शब्द

अवनद्ध अथवा ताल वाद्यों का निरूपण प्रस्तुत ग्रंथ की परिधि से बाहर है किन्तु अवनद्ध वाद्यों के संदर्भ में कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है जो ताल में भी प्रयुक्त हुए हैं। उनका अध्ययन मार्ग ताल की धारणा के स्पष्टीकरण में सहायक हो सकता है इसलिये उनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

भरत ने अवनद्ध वाद्यों के १०० भेद कहे और उनमें से तीन को प्रमुख माना[3]-मृदंग, पणव और दर्दर। इन्हें भरत ने 'पुष्कर'[4] और 'त्रिपुष्कर'[5] नाम से भी अभिहित किया है। इन्हें 'अंग'[6] (मुख्य) और अन्यों को 'प्रत्यंग (सहायक) कहा। अनवद्ध वाद्यों के प्रसंग में अनेक स्थलों पर भरत ने इन्हीं तीन वाद्यों के नाम सबसे पहले लिये हैं और अवनद्ध वाद्यों का पूरा विधान भी मुख्य रूप से इन्हीं तीन वाद्यों के आधार पर किया है।

अवनद्ध वाद्यों के संबंध में ध्वनि को वायु-आत्मक कहा और उसके दो भेद बताये—स्वरवान् और अभिधानवान् ।[7] स्वरवान् का अर्थ है 'नादात्मक'[8] और अभिधानवान् अर्थात् 'वर्णात्मक'[9]। इनमें से प्रथम का उपयोग वीणादि में है तथा दूसरे की उपयोगिता भाषा में अर्थ के लिये है।[10]

---

१. मान., १६/४/८३७-८३९
२. ना. शा., ३१/३६८-३६९
३. वही, ३४/२४
४. वही, ६, ३५
५. वही, २३,२४,२७
६. वही, १४-१५
७. वही, २८
८ वही, अभि., पृ. ४०९
९. वही
१०. वही, २९

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नाट्य में पुष्कर तीन प्रकार से उपयोगी होता है—१. वर्ण के अनुसार, २. स्वर के अनुसार और ३. ताल के साम्य से।[१] कुछ वाद्यों में कुछ वर्णों की उत्पत्ति मानी गई है। नाट्य में जिन वर्णों का प्रयोग हो रहा हो उनके अनुसार पुष्कर में भी वही वर्ण उत्पन्न किये जायँ; नाट्य में जिस स्वर को अंश या प्रधान बना कर गान-वादन हो उसी के अनुसार पुष्कर में भी स्वर मिलाया जाय और जिस ताल का प्रयोग हो उसी के अनुसार उपरंजन करने के लिए पुष्कर का प्रयोग हो—इस रूप में पुष्कर के नाट्यगत प्रयोग को समझा जा सकता है।

पुष्कर-विधान में इन पारिभाषिक शब्दों का निरूपण भरत ने किया है—अक्षर, मार्ग, लेपन, करण, यति, लय, गत (गति), प्रचार, संयोग, पाणि, पाणिप्रहत, प्रहार, मार्जन, अलंकार और जाति।

इनमें से 'अक्षर' और 'संयोग' का संबंध वर्ण (अक्षर) से; 'मार्जन' का स्वर से; यति, लय, पाणि का ताल से और शेष का पुष्कर की वादनविधि से है।

अक्षर—पुष्कर वाद्यों में १६ वर्णों की उत्पत्ति मानी गई है—क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, म, र, ल और ह। इनमें से त्रिपुष्कर के दाहिने मुख से क, ट, ढ, त, थ और र—ये ६; बायें मुख से घ, म, ह—ये ३; ऊर्ध्वक में ग, द और आलिङ्ग्य में ख, ठ, ड, ध और ल—ये ५ उत्पन्न होते हैं। इन व्यंजनों के साथ निश्चित स्वरों का संयोग भी कहा गया है। रेफ का संयोग क, ग, घ, त, द और ध के साथ, ल का क के साथ, ण का ह के साथ, त का थ के साथ और द का ध के साथ संयोग होता है।[२] इन वर्णों की उत्पत्ति 'पाणिप्रहत' और 'प्रहार' के अनुसार होती है जो नीचे की सारिणी में दिखाई गई है :

अक्षर	पाणिप्रहत	प्रहार
म	समपाणिप्रहत	निगृहीत
ग, द, ध, प	अर्धसमपाणिप्रहत	अर्धनिगृहीत
क, ख, ट, द	पार्श्वपाणिप्रहत	निगृहीत
त, थ	अर्धार्धपाणिप्रहत	अर्धनिगृहीत
ढ, र, व	प्रदेशिनीप्रहत	मुक्त
घ्रु, द्रों, क्ले	द्विहस्तप्रहत	,,
थि, क्र	अर्धपाणिप्रहत	निगृहीत

मार्ग—मार्ग ४ हैं—अड्डिता, आलिप्त, वितस्ता और गोमुखी। ताल के मार्गों से ये भिन्न हैं। मार्गों के द्वारा यह बताया है कि किस वाद्य में किन अक्षरों का प्रयोग हो। जैसे :

---

१. वही., अभि, पृ. ४१२ २. वही, ३६,४२,४४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मार्ग	वाद्य	अक्षर
अङ्किता	आङ्किक, मृदंग	मटकटथिधघटघेधोघहर्मधिधं धनधिधि
आलिप्त	वाम, ऊर्ध्वक	धड गुटुगुटमघेदोधिधदुधिदुघेंधि
वितस्ता	ऊर्ध्व आङ्किक के दाहिने मुख पर आलिप्त हस्त से	किंकाकिटुमेटकितां किंकेकितांद·········· ·······तसितां गुटुग
गोमुखी	आलिंग्य तथा सभी पुष्करों में	मद्धिकुटघेधेमत्थिद्धिधखुखुणंघेधोटत्थिमट[1]

लेपन[2]—लेपन दो प्रकार से होता है—१. त्रिपुष्करों में वायें मुख पर और २. ऊर्ध्वक में। लेपन के लिये विशेष प्रकार की मिट्टी कही है जो कंकरीली, रेतीली, तिनके या भूसे वाली, चिपचिपी, लवणयुक्त, कड़वी, पीली, हल चली हुई, खट्टी, तिक्त न हो। नदी किनारे की काली, मधुर, चिकनी मिट्टी होनी चाहिये। अथवा जौ और गेहूँ के आटे का लेप करना चाहिये। लेकिन इसका एक दोष कहा है कि उससे वाद्य 'एकस्वरकृत'[3] होता है। इसका आशय स्पष्ट नहीं है।

करण[4]—वीणा के करणों के ही नाम यहाँ भी है—रूप, कृतप्रतिकृत, प्रतिभेद, रूपशेष, ओघ, प्रतिशुष्क। इनका स्वरूप भी बिल्कुल वीणा के करणों जैसा ही है।

यति—समा, स्रोतोगता, गोपुच्छा यतियाँ हैं।

लय—द्रुत, मध्य, विलंबित तीन लय हैं।

पाणि[5]—समपाणि, अर्धपाणि (ताल में 'अवपाणि' संज्ञा है) उपरिपाणि—तीन पाणि हैं। यति, लय और पाणि का तीन प्रकार का संयोग होता है—राद्ध, विद्ध और शय्यागत। इनमें लय आदि का योग इस प्रकार होता है :

संयोग	यति	लय	पाणि
राद्ध	समा	द्रुत	उपरिपाणि
विद्ध	स्रोतोगता	मध्य	समपाणि
शय्यागत	गोपुच्छा	विलंबित	अर्धपाणि

गति—गति तीन प्रकार की है। पुष्करवाद्य के साथ जो 'गमन' या 'मिश्रता' हो वह 'गतत्व' है जो तीन प्रकार का है[6]—तत्त्व, अनुगत, ओघ। ये तीनों पुष्कर की प्रधानता से हैं जब कि वीणा की त्रिविध वादनविधि में तत्त्व, अनुगत, ओघ वीणा के संबंध से कहे गये हैं। तत्त्व—जिस पुष्कर वाद्य में करण स्फुट हों, पदवर्ण स्फुट हों और पुष्कर के अक्षरों से ही सार्थक रचना हो वह तत्त्व है। अनुगत—सम और अवपाणि युक्त, स्फुट प्रहारों से गीत

१. वही, ५०
२. वही, १२७-१३१
३. वही
४. वही, १०२-१०६
५. वही, ११२-११५
६. वही, अभि., पृ. ४३४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और वाद्य का अनुगमन करने पर अनुगत होता है। ओघ—गान और वादन की अपेक्षा से रहित जो द्रुतलय में वादन हो वह ओघ है।

प्रचार—हाथ के चालन के विशेष प्रकार को 'प्रचार' कहा है। प्रचार तीन प्रकार का होता है—सम, विषम और समविषम। समप्रचार—पुष्कर के बायें भाग में बायें हाथ का और दाहिने भाग में दाहिने हाथ का चालन। विषमप्रचार—सम का उल्टा अर्थात् दाहिने भाग में बायें हाथ से और बायें भाग में दाहिने हाथ से चालन। समविषम—दोनों का मिश्रण।[1]

समप्रचार तो अवनद्ध वाद्यों में सर्वत्र आज भी है। पखावज और तबला में कभी-कभी वाद्य के एक मुख पर दोनों हाथों से एकसाथ वादन भी होता है जो 'दुहत्थी' कहलाता है, विषम प्रचार दुर्लभ हो गया है। किन्तु मणिपुरी शैली की नृत्यांगना झवेरी बहनों के कार्यक्रम में विषमप्रचार का अत्यन्त आकर्षक खोलवादन लेखिका ने स्वयं देखा है जिसमें दो नर्तकियाँ परस्पर आमने-सामने बैठ कर खोलवादन करती हैं। इसमें बीच-बीच में अपने-अपने वाद्य पर विषम प्रचार तथा दूसरी के वाद्य पर भी वादन करती हैं। इसमें खोलवादन के साथ अभिनय और एक के वादन का उत्तर दूसरी द्वारा वादन में दिया जाता है।

संयोग—अक्षरों का संयोग तीन प्रकार का होता है—गुरुसंयोग, लघुसंयोग, गुरुलघुसंयोग। जहाँ केवल गुरु अक्षरों का योग हो वह गुरुसंयोग होता है। जैसे—धंतां केतां धंद्रां धंधं आदि। जहाँ केवल लघु अक्षर हों वहाँ लघुसंयोग कहलाता है। जैसे-घटमटगड दुगु धधि आदि। जहाँ मिश्रण हो वहाँ गुरुलघुसंयोग होता है।[2]

पाणिप्रहत—इस शब्द का सामान्य अर्थ है—'हाथ से विशेष प्रकार से आघात'। पुष्कर वाद्यों पर हथेली से कितने प्रकार से आघात किया जा सकता है यही इसके द्वारा व्यक्त किया गया है। पाणिप्रहत ५ प्रकार का है—समपाणि, अर्धपाणि, अर्धार्धपाणि, पार्श्वपाणि और प्रदेशिनीपाणि।[3] इनका लक्षण या व्याख्या नहीं है। लेकिन संभवतः पूरी हथेली से अर्थात् चारों अंगुलियों से एक साथ आघात करने पर समपाणि, आधी उठी हथेली से अर्धपाणि, लगभग चौथाई हथेली से आघात होने पर अर्धार्धपाणि, हथेली के एक किनारे की ओर से पार्श्वपाणि और प्रदेशिनी उंगली से आघात करने पर प्रदेशिनी पाणिप्रहत होता है।

प्रहार—प्रहार से उत्पन्न होने वाली ध्वनि के गुण के आधार पर तीन प्रकार के प्रहार कहे गये हैं, ऐसा उनके नामों से अनुमान होता है—निगृहीत, अर्धनिगृहीत और मुक्त।[4] निगृहीत और मुक्त एक दूसरे के विपरीत हैं। मुक्त का अर्थ है खुला हुआ इसलिये निगृहीत

१. वही, ५९-६२
२. वही १३२-१३५
३. वही, ४०
४. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का अर्थ होगा बंद। बंद नाद उत्पन्न हो तो निगृहीत, खुली ध्वनि हो तो मुक्त और आधी बंद हो तो अर्धनिगृहीत।

मार्जना[1]—मार्जना का अर्थ है मिलाना। गीत, वाद्य में जो स्वर स्थायी या अंश हो उसके साथ पुष्कर वाद्य की एकरूपता स्थापित करना ही मार्जना है। मार्जना तीन प्रकार की होती है—मायूरी, अर्धमायूरी और कार्मारवी। मायूरी—आलिङ्गक में गांधार, आंगिक में षड्ज और ऊर्ध्वक में त्रिश्रुति पंचम मिलाने पर मायूरी नामक भेद होता है। अर्धमायूरी—क्रमशः षड्ज, ऋषभ और चतुःश्रुति धैवत स्वर मिलाने पर अर्धमायूरी होता है। कार्मारवी—इसमें ये क्रमशः ऋषभ, षड्ज और त्रिश्रुति या चतुःश्रुति पंचम में मिलाये जाते हैं। सामान्य रूप से मध्यमग्राम में मायूरी, षड्जग्राम में अर्धमायूरी और उभयग्राम में कार्मारवी मार्जन किया जाता है।

अलंकार[2]—पुष्करवाद्यों में उत्कर्ष लाने वाले २० अलंकार होते हैं—चित्र, सम, विभक्त, छिन्न, छिन्नविद्ध, विद्ध, वाद्यसंश्रय, अनुसृत, प्रतिविद्युत, दुर्ग, अवकीर्ण अर्धावकीर्ण, परिक्षिप्त, एकरूप, नियमान्वित, साचीकृत, समलेख, चित्रलेख, सर्वसमवाय और दृढ़।

जाति—रस, भाव, प्रकृति आदि की विशेष प्रतिपत्ति की उत्पत्ति की हेतु होने से ये जाति कही गई हैं। स्वर संबंधी जातियों की तरह पुष्कर वाद्य में भी जाति हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—शुद्धा, पुष्करकरणा, विषमा, विष्कम्भिता, एकरूपा, पार्ष्णिसमा, पर्यस्ता, समविषमकृता, अवकीर्णा, पर्यवसाना, उच्चितिका, संयुक्ता, संप्लुता, महारम्भा, विगतक्रमा, विगलिता, वञ्चितिका और एकवाद्या।[3] इन सबके लक्षण नाट्यशास्त्र में दिये गये हैं। जाति में दो बातें मुख्य रूप से कही गई हैं—१. अक्षर और २. नाट्य में विनियोग यानी किस प्रकृति के पात्र की किस अवस्था में किन अक्षरों का प्रयोग हो।

पूर्वरंग में गीतक तथा नृत्त प्रयोग और नाट्यान्तर्गत ध्रुवाओं में जहाँ गीत, वाद्य, नृत्त का एकसाथ प्रयोग होता है वहाँ जब भाण्डवाद्य की प्रधानता होती है उस समय उनका उत्कर्ष अभिप्रेत रहता है। इस दृष्टि से गत, प्रचार, पाणिप्रहत, प्रहार, अलंकार और जाति का विशेष महत्त्व है। लेकिन अवनद्ध-वादन ताल के अनुसार होता है इसलिये लय, यति और पाणि का संबंध रखा गया है। गीत के अनुसार वाद्य होने पर ही रस भाव प्रकृति का उत्कर्ष होता है इसलिये 'अक्षर' और 'संयोग' का निरूपण किया है। विभिन्न ग्रामों से संबंधित रागों का प्रयोग होने पर अनवद्ध वाद्यों की मार्जना भी उनके अनुसार होनी चाहिये इसलिये त्रिविध मार्जना विधि कही है।

---

१. वही, ३४/११८-१२४ तथा अभिनव २. वही, १६१-२१२
३. वही, १५०-१६६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिच्छेद ख

देशीतालों का स्वरूप और विकास

नाट्यशास्त्र में देशी संज्ञा या इससे संबद्ध कोई भी विषय प्राप्त नहीं होता। देशी तालों के बारे में भी यही स्थिति है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि पाँच मार्गतालों के अतिरिक्त अन्य ताल नहीं थे या उनका प्रयोग नहीं होता था। चतुरश्र और त्र्यश्र तालों के मिश्रण से ५ प्रकार के तालों का भरत ने उल्लेख किया है जिनकी चर्चा पिछले खंड में की जा चुकी है। गीतकों और निर्गीतों में ५ (मार्ग) तालों के प्रयोग का विधान भरत ने किया। ध्रुवाओं के निरूपण में कहीं-कहीं संकेत रूप में मार्गतालों या उनकी क्रियाओं के प्रयोग का उल्लेख, ध्रुवाओं के सताल और अताल दो प्रकार तथा इनमें पात्र की प्रकृति, चित्तवृत्ति आदि के अनुसार ताल का प्रयोग—ये सब संकेत देते हैं कि भरत को ध्रुवाओं में मार्गतालों से भिन्न ताल भी अभिप्रेत थे अन्यथा यहाँ भी मार्गतालों का नाम लिया जा सकता था। फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि अन्य तालों की अपेक्षा रही हो तो उनका उल्लेख या निरूपण क्यों नहीं किया। इसका उत्तर यह है कि जैसे ध्रुवाओं में विशेष जातियों या रागों के प्रयोग का निश्चित या नियत विधान नहीं किया उसी प्रकार विशेष तालों का विधान भी आवश्यक नहीं समझा। अनन्त चित्तवृत्तियाँ हो सकती हैं तब उनके अनुकूल ताल का निर्माण व प्रयोग करने की स्वतंत्रता नाट्य-प्रयोक्ता को देने के लिये ही भरत ने ऐसा किया है। जैसे विभिन्न रसों के लिए अंश स्वर बता दिये उसी प्रकार विभिन्न प्रकृतियों के लिये चतुरश्र, त्र्यश्र तालों का संकेत कर दिया। फिर भी भरत ने यह कहा कि राग, ताल, ध्रुवा आदि का प्रयोग पात्र की प्रकृति, परिस्थिति, रस-भाव के अनुसार करना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि इनके बारे में कोई निश्चित नियम बनाना उचित या आवश्यक नहीं समझा गया। इन सबसे यह अनुमान होता है कि मार्गतालों का प्रयोग मुख्यत: पूर्वरंग में गीतकों व निर्गीतों में होता था और उनसे भिन्न अन्य तालों का प्रयोग नाट्य के अन्तर्गत विभिन्न ध्रुवाओं में। अभिनव ने कई बार ध्रुवाओं में लयभङ्गादि तालों के प्रयोग का उल्लेख किया है।

यों भी नियमबद्ध (शास्त्रीय) और उससे भिन्न संगीत की दो धाराएँ सदा साथ-साथ चलती हैं। इसलिये भी यह कहा जा सकता है कि 'गांधर्व' के अतिरिक्त अन्य प्रकार के संगीत में प्रयोक्ता व श्रोता की रुचि के अनुसार गांधर्व की अपेक्षा अधिक छूट रहती होगी। नाट्यशास्त्र नाट्य का शास्त्र है, केवल संगीत का नहीं। उसमें जिस संगीत को लक्षणबद्ध किया गया है यह मुख्यत: नाट्य से संबद्ध ही है, नाट्य बाह्य नहीं। इसलिये यह मान लेना लोक और शास्त्र की परंपरा और मान्यता के विरुद्ध होगा कि उस काल में जातियों के अतिरिक्त अन्य रागों का, गीतकों के अतिरिक्त अन्य प्रबंधों का या मार्गतालों के अतिरिक्त अन्य तालों का विकास नहीं हुआ होगा या प्रयोग नहीं होता होगा। नाट्य के संदर्भ में उनका निरूपण भरत को अभिप्रेत नहीं था अथवा यह भी संभव है कि नाट्शास्त्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की 'द्वादशसाहस्री' संहिता में राग, ताल, प्रवंध आदि के बारे में ऐसे उल्लेख रहे हों जो उपलब्ध 'षट्साहस्री' संहिता में प्राप्त नहीं हैं।

भरतभाष्य की ध्रुवाओं में यत्र तत्र चच्चत्पुटादि तालों के उल्लेख अवश्य मिलते हैं, लेकिन अनेक ध्रुवाओं में ऐसेताललक्षण भी हैं जिनका मार्गतालों से संबंध नहीं जान पड़ता, देशी से ही संबंध हो सकता है।

संगीतरत्नाकर से पहले दो ग्रंथ और प्राप्त हैं जिनमें 'देशीताल' नाम तो नहीं है लेकिन परवर्ती ग्रंथों में देशी ताल के अन्तर्गत प्राप्त होने वाले ताल और उनके विभिन्न अंग अवश्य हैं। ये ग्रंथ हैं—मानसोल्लास और जगदेकमल्ल का 'संगीतचूडामणि'। देशी संज्ञा के बिना उन तालों का स्पष्ट उल्लेख सबसे पहले इन्हीं ग्रंथों में मिलता है जो बाद में देशी के अन्तर्गत रखे गये। इस दृष्टि से इनका—विशेषतः मानसोल्लास का—बड़ा महत्त्व है। इस लिये दोनों के तालांशों का अल्प परिचय दिया जा रहा है।

मानसोल्लास

चार प्रकार के ताल कहे गये हैं—चतुरश्र, त्र्यश्र, मिश्र और खंड। ये अनन्त हैं।[1] चतुरश्र का लक्षण भरत से भिन्न है। यहाँ २, ४ या ६ गुरु से चतुरश्र होता है, ३ से और फिर ६-६ गुरुओं की वृद्धि करने से त्र्यश्र। मिश्र संबंधी श्लोक स्पष्ट नहीं है लेकिन संभवतः यह आशय है कि चतुरश्र और त्र्यश्र का मिश्रण करने से मिश्रताल बनता है।[2] खंड का यह लक्षण है—

> त्र्यस्रे वा चतुरस्रे वा भिद्यते गुरुलक्षणम् ॥
> यत्र तालः स विज्ञेयः खण्डनामाङ्कितो बुधैः ।[3]

अर्थात् त्र्यश्र या चतुरश्र में गुरु का भेदन करके यानी गुरु लघु, द्रुत आदि इकाइयों में परिवर्तित या विभक्त करके खंडताल की रचना होती है।

लघु, गुरु, प्लुत, द्रुत और विन्दु—इतनी इकाइयाँ हैं और क्रम से I, S, S', ० चिन्ह हैं, विन्दु का चिन्ह नहीं है। यह उल्लेखनीय है कि द्रुत और विन्दु का उल्लेख तो अभिनव ने भी अनेक बार तालों और ध्रुवाओं में किया है लेकिन मार्गतालों में उनका प्रयोग नहीं होता, यह भी कहा है। मानसोल्लास के अनुसार लघु का मान ५ लघु अक्षरकाल है। गुरु और प्लुत का मान क्रमशः दुगना और तीनगुना है। द्रुत लघु का आधा और विन्दु द्रुत का आधा है।

ताल के पात में ४ प्रकार के मान हैं—वार्तिक, दक्षिण, चित्र और चित्रतर। ध्यान रहे कि 'मार्ग' नाम नहीं है वल्कि 'मान' कहा है। निजमान से वार्तिक, विलंबित से दक्षिण, शीघ्रमान से चित्र और अतिशीघ्र से चित्रतर। 'निजमान' का अर्थ मध्यमान है। मान के द्वारा 'मार्ग' और 'लय' दोनों को व्यक्त किया है।

---

१. मान., १६/४/८३९-८४०   २. वही, ७४०-८४३
३. वही, ८४३-८४४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३० तालों के लक्षण दिये हैं। शब्दों में लक्षण देने के साथ-साथ उनके प्रस्तार भी दिये हैं और ताल में पातों की कुल संख्या भी बताई है, यद्यपि सशब्द और निःशब्द क्रियाओं का उल्लेख नहीं है। २-३ को छोड़ कर शेष सभी ताल संगीतरत्नाकर में हैं जिनमें से छ के स्वरूप भिन्न हैं।

मानसोल्लास के तालांश के बारे में कुछ उल्लेखनीय तथ्य ये हैं :

(१) मार्ग-देशी संज्ञाओं का प्रयोग तालों के लिये नहीं किया है।

(२) भरतोक्त तालों के मार्ग, यति, ग्रह, सशब्द-निःशब्द क्रियाओं का कोई उल्लेख नहीं है।

(३) भरतोक्त संकीर्ण भेद की भी चर्चा नहीं है, उसके स्थान पर खंड संज्ञा है।

(४) मार्गतालों की इकाइयों के अतिरिक्त द्रुत और बिन्दु का और संभवतः 'विराम' का भी प्रयोगताललक्षणों में किया है।

(५) तीन लयों का उल्लेख नहीं है, 'मान' में संकेत अवश्य है।

(६) ताललक्षणों में लघुगुरु क्रम, प्रस्तार और पातसंख्याओं का निरूपण है।

(७) तालों में कुछ विशेष शब्दों का प्रयोग किया है, जैसे—कल्पनायुक्त, धृतनाद, कल्पित, विधृत ध्वनि, संकल्पन[५] जिनका आशय स्पष्ट नहीं है। लेकिन संगीतरत्नाकर के तालों से मिला कर देखने से ऐसा लगता है कि इनका अर्थ 'विराम' है क्योंकि जिन तालों में जिन स्थानों पर इन शब्दों का प्रयोग हुआ है वे स्थान रत्नाकर में विरामयुक्त हैं (विराम की व्याख्या आगे की जाएगी)।

संगीत संबंधी अंशों को मानसोल्लास में 'गीतविनोद', 'वाद्यविनोद', 'नृत्यविनोद' संज्ञा दी है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि इनमें संगीत संबंधी केवल वही विषय लिये गये हैं जिनका विनोद में उपयोग होता है। इसीलिये मार्ग संबंधी श्रुति, स्वर, ग्राम, जाति, मूर्च्छना, धातु, वृत्ति, मार्गताल, ग्रामराग, गीतक आदि छोड़ दिये। लेकिन प्रबंध कहे और अन्त में 'लौकिका मतः' कहा। इसी प्रकार देशी वर्ग के ताल भी कहे।

संगीतचूडामणि

इसका तालप्रकरण अत्यन्त खंडित है फिर भी मार्गताल संबंधी पारिभाषिक शब्दों के लक्षण और १०१ देशीतालों के भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्गीकरण इसमें दिये हैं। मानसोल्लास की तरह ताल का संकीर्ण भेद इसमें भी नहीं है। ६ मार्ग कहे हैं—मानसोल्लास के अलावा चित्रतम और अतिचित्रतम विशेष हैं।

द्रुत, लघु, गुरु और प्लुत के ५-५ पर्याय दिये हैं—द्रुत के अर्धमात्र, द्रुत, व्योम, व्यंजन और बिन्दुक। लघु के मात्रिक, सरल, ह्रस्व, लघु, व्यापक। गुरु के द्विमात्रिक, कला, वक्र, गुरु, दीर्घ। प्लुत के सामोद्भव, प्लुत, दीप्त, त्र्यंश, त्रिमात्रिक। ताललक्षणों में विराम भी है। इनके देवता भी कहे हैं। द्रुत का शम्भु, लघु की गौरी, गुरु के शिव और गौरी, प्लुत के ब्रह्मा, विष्णु और महेश।

---

५. वही, ८५४-८८५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१०१ तालों में ५ भरतोक्त ताल हैं और शेष देशी वर्ग के हैं। लेकिन मार्ग देशी भेद नहीं है। लक्षणों में कहीं-कहीं निःशब्द संज्ञा का प्रयोग है और उसके लिये + इस चिह्न का प्रयोग है। संभवतः यहाँ निःशब्द क्रिया का प्रयोग नहीं होता और अन्य सारी क्रियाएँ सशब्द होती हैं। ये सभी ताल संगीतरत्नाकर में भी हैं लेकिन कहीं-कहीं नाम में और कुछ लक्षणों में अन्तर है।

तालों के ४ प्रकार से लक्षण दिये हैं। पहली बार के लगभग सभी ताल संगीत-रत्नाकर में भी हैं। दूसरी बार में अधिकांश संज्ञाएँ वही हैं जो देशी प्रबंधों की हैं। कुछ ताल पहले वर्ग में भी हैं लेकिन उनके स्वरूप भिन्न हैं। तीसरे वर्ग में भी १०१ ही ताल हैं लेकिन चच्चत्पुट से शुरू करके फिर १२ तालों के लक्षण देकर चाचपुट और फिर ७ तालों के लक्षण, तब षट्पितापुत्रक और ७ तालों के, संपक्वेष्टाक और ४१ तालों के तथा उद्घट्ट और २७ तालों के लक्षण दिये हैं। इससे सम्पादक ने ऐसा अनुमान किया प्रतीत होता है कि ये उन-उन मार्ग तालों के भेद हैं इसलिये इस वर्ग को 'पञ्चविध-तालाङ्गताला:' संज्ञा प्रदान की है। अन्त में एक वर्ग और है जिसमें ग्रन्थकार ने चतुरश्र और त्र्यश्र तालों के रूप में क्रमशः ४५ और ५६ तालों के लक्षण दिये हैं।

इन सभी वर्गों के अनेक ताल संगीतरत्नाकर में हैं। प्रबंधनामों से युक्त वर्ग के अनेकों नाम प्रबंधों के रूप में पूर्ववर्ती ग्रंथों—बृहद्देशी और भरतभाष्य में भी हैं और परवर्ती संगीतरत्नाकर में भी। लेकिन बृहद्देशी का तालाध्याय प्राप्त न होने के कारण यह कहना मुश्किल है कि ताल के रूप में ये नाम वहाँ भी थे या नहीं। संभवतः ये नाम प्रबंध से ताल में अथवा ताल से प्रबंध में गये हों। मार्गतालों के साथ जो ताल दिये हैं वे संभवतः उन मार्गतालों के खंड भेद हों। लेकिन ऐसा मानने में एक बाधा यह है कि इस वर्ग में चच्चत्पुट को छोड़ कर शेष मार्गतालों के स्वरूप मूल स्वरूप से भिन्न हैं। अन्तिम वर्ग में ४५ तालों के नाम गिनाने के बाद 'इति चतुरश्र खण्ड:' कहा है जिससे ऐसा लगता है कि शायद चतुरश्र और त्र्यश्र भेद से ताल लक्षण दिये हैं। लेकिन तालों में ऐसा भेद नहीं दिखाई देता।

एक मजेदार बात यह है कि तालों के लक्षण देते समय किसी लघु आदि अवयव का जितनी बार प्रयोग करना हो उसे सूचित करने के लिये इकाई की संज्ञा के पहले अक्षर में अ, इ, उ आदि मात्रा लगाई है। जैसे—लू का अर्थ है ६ लघु। ल+ऊ में 'ऊ' अक्षर स्वरों के क्रम में छठा (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ) है इसलिये 'ल' में 'ऊ' लगाने से ६ लघु अर्थ निकला। साथ ही छंद संबंधी मगण आदि गणनामों का भी प्रयोग किया है और तालों के शाब्दिक लक्षणों के साथ-साथ प्रस्तार भी दिये हैं।

देशीताल और उनके तत्त्वों का विश्लेषण

उपलब्ध ग्रन्थों में देशीताल के रूप में तालों का निरूपण सर्वप्रथम संगीतरत्नाकर में ही प्राप्त होता है। मानसोल्लास और संगीतचूडामणि में देशी वर्ग के ऐसे ताल हैं जो संगीतरत्नाकर में भी हैं लेकिन वहाँ देशीताल संज्ञा का प्रयोग नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसी अध्याय के पहले खंड में यह कहा जा चुका है कि तालों के एक भेद—खंड ताल—का विस्तार देशीतालों के रूप में किया गया है। खंड का अर्थ है भेदन करना यानी टुकड़े करना। इन तालों की रचना मूलतः गुरु आदि को लघु आदि के रूप में खंडित करके हुई है इसलिये ये खंडताल कहलाते हैं। अथवा लघु आदि खंडों का बाहुल्य होने के कारण ये खंडताल कहे जाते हैं :

गुर्वाद्याश्चतुरश्रादेः खण्डयित्वा निवेशिताः ॥
यद्वा लघ्वादिखण्डानामाधिक्यमिह दृश्यते ।
तेनैषां खण्डतालत्वमभाषन्त पुरातनाः ॥[1]

संगीतराज में इसे और अधिक स्पष्ट किया गया है :

देशीतालस्तस्य संज्ञा खण्डताल इतीरिता ।
यतोऽत्र चतुरस्रादेर्गुर्वाद्याः खण्डशः कृताः ॥
द्रुतलघ्वादिरूपेण निवेश्यन्तेऽथवा बुधैः ।
लघ्वादिखण्डाधिक्येन खण्डतालत्वमीर्यते ॥[2]

भरत ने खंड भेद नहीं कहा लेकिन सोमेश्वर और जगदेकमल्ल ने खंडतालों का यही स्वरूप कहा है। सबसे पहले शार्ङ्गदेव ने ही इन्हें 'देशीताल' नाम से अभिहित किया।

मार्ग और देशीतालों में मोटा अन्तर यह है :

(१) मार्ग और देशी संज्ञाओं का प्रयोग है।

(२) दोनों की मौलिक इकाई भिन्न हैं।

(३) मार्ग में सशब्द निःशब्द क्रियाएँ होती हैं, देशी में नहीं।

(४) लघु का मान मार्ग में निश्चित है, देशी में लचीला।

देशीताल के अवयव

देशीतालों के स्वरूप को शार्ङ्गदेव ने इन शब्दों में रखा हैं :

देशीतालस्तु लघ्वादिमितया क्रियया मतः ।
यथाशोभं कांस्यतालध्वननादिकया मतः ॥[3]

इसका सामान्य अर्थ यह है कि लघु आदि मान वाली क्रियाओं से देशीताल माना गया हैं और शोभा के अनुसार कांस्यताल के नाद के द्वारा देशीताल होता है। कल्लिनाथ ने इस श्लोक को स्पष्ट किया है जिसका सार यह है कि इस श्लोक में प्रयुक्त 'तु' शब्द के द्वारा मार्गतालों से देशीतालों का भेद ध्वनित होता है। 'लघ्वादि' शब्द का प्रयोग तालों के संदर्भ में पहले भी इसी रूप में हुआ था। यथा :

कालो लघ्वादिमितया क्रियया संमितो मितिम् ।
गीतादेर्विदधत्तालः .... ॥[4]

यहाँ 'लघ्वादि' के द्वारा कल्लिनाथ ने लघु, गुरु, प्लुत का ग्रहण किया क्योंकि मार्गतालों में सबसे छोटी इकाई लघु ही होती है। लेकिन देशीतालों के संदर्भ में कल्लिनाथ

---

१. सं. र., ५/२५४-२५६ २. सं. रा. /३/३/२/५-६
३. सं. र., ५/२३७ ४. वही, ३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के अनुसार 'लघ्वादि' से द्रुत का भी ग्रहण किया जाना चाहिए क्योंकि देशीतालों में वही सबसे छोटी इकाई है। कल्लिनाथ का संबंधित अंश इस प्रकार है :

> लघ्वादिमितयेति । आदिशब्देन गुरुप्लुतद्रुता गृह्यन्ते। अत्राल्पग्रहणे द्रुतादीति वा, महद्ग्रहणे प्लुतादीति वा वक्तव्ये लघ्वादीति वचनं देशीतालेषु ग्रहणमोक्षयोर्लघोरेव प्राधान्यद्योतनार्थम्। तेन केवलद्रुतात्मकेऽपि ताले द्रुतद्वयं लघूकृत्य तत्र ग्रहमोक्षौ कुर्यादिति संप्रदायो वेदितव्यः।[1]

यद्यपि लघु के द्वारा द्रुत का भी ग्रहण कर लिया है लेकिन देशीतालों में प्रधानता लघु की ही होती है क्योंकि ताल का ग्रहण और समाप्ति लघु से ही हो सकती है द्रुत से नहीं। इस नियम के अनुसार सम्प्रदाय में लक्ष्यगत परम्परा यह है कि किसी ताल के लक्षण में आरंभ और अंत द्रुत से हो तो उन्हें लघु बना दिया जाता है। लेकिन यह प्रश्न उठता है कि क्या ऐसा होने पर ताल के बीच में अन्य अवयवों का प्रमाण भी द्रुत के प्रमाण के अनुपात में बदल जायगा ?

दूसरी विशेषता यह है कि इसकी क्रियाएँ कांस्यताल पर की जाती हैं क्योंकि देशीतालों का प्रयोग रंजकता के लिये होता है। कांस्यताल की ध्वनि रंजकता में वृद्धि करती है इसलिये देशीतालों में हाथ की क्रियाएँ नहीं कही गईं बल्कि कांस्यताल के प्रयोग की ही बात कही है। हाथ की क्रिया में अनुरणन न होने से रंजकता नहीं होती जब कि कांस्यताल की ध्वनि में रंजकता होती है। कांस्यताल पर केवल सशब्द क्रिया ही हो सकती है और वह भी एक ही प्रकार से। निःशब्द तो संभव ही नहीं है। यद्यपि सशब्द में ध्वनि बंद करके, खुली ध्वनि में और अन्य प्रकार से कुछ भेदों का उल्लेख कल्लिनाथ ने किया है[2] जिनसे ध्वनि में वैचित्र्य उत्पन्न हो सकता है फिर भी कांस्यताल को आघात करके ही बजाया जाता है और ऐसा करने पर शब्द उत्पन्न होना अनिवार्य है। यही कारण है कि देशीतालों में सशब्द निःशब्द क्रियाओं का उल्लेख नहीं किया गया जब कि मार्गतालों की पूरी विधि इन क्रियाओं पर अवलंबित है। जहाँ विशिष्ट तालों के नाम लेकर उन तालों के लघुगुरु क्रम न भी रखे गये हों वहाँ भी उन तालों की क्रियाएँ अवश्य होती हैं। संगीत रत्नाकर के उपर्युक्त श्लोक में प्रयुक्त 'कांस्यतालध्वननादिकया' इस दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि देशीतालों में क्रियाओं के प्रयोग का उल्लेख न होने का कारण इसी शब्द से सूचित होता है।

'यथाशोभं' शब्द का अन्य दृष्टि से भी महत्त्व है। कल्लिनाथ ने स्पष्ट किया कि मार्गतालों में मात्रा पाँच लघु अक्षर मान की निश्चित है लेकिन देशीतालों में शोभा के अनुसार ४ या ६ अक्षर की भी हो सकती है इसीलिये 'यथाशोभं' का प्रयोग किया है :

> तत्र मार्गे पञ्चलघ्वक्षरोच्चारमिता मात्रानियतत्वेन कथिता। क्वचित्तु ततोऽपि न्यूनया चतुर्लघ्वक्षरोच्चारमितया कालसाम्यम्। अन्यत्र तु

---

१. वही, कल्लि, पृ. १३५ २. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ततोऽप्यधिकया षड्लघ्वक्षरोच्चारमितया। यत्र यथा शोभा भवति तामनतिक्रम्य।[1]

देशीतालों में अनेक तालों का लक्षणगत स्वरूप एकसा दिखाई देता है लेकिन उनके प्रयोगगत रूप में अन्तर रहता है और उसका कारण मात्रा का कालमान है जो ४ से ६ अक्षर तक हो सकता है। तदनुसार अनेक तालों में दिखाई देने वाली पुनरुक्ति का परिहार कल्लिनाथ ने इस प्रकार किया :

इह पुनरुक्ततया परिगणितेषु कुडुक्कादितालेषु स्थितानां लघ्वादीनां देशीगतत्वेनानियतप्रमाणत्वात्प्रमाणभेदेनापि स्वरूपभेदादर्थपौनरुक्त्याभावाददोष इति। तथाहि कुडुक्कतालस्तु गोपालनायकेन रागकदम्बे रेवगुप्तिवदप्रयुक्तः। तत्र स्थितो लघुः चतुर्लघ्वक्षरोच्चारमितो दृश्यते। तदनुसारेण तत्र स्थितो द्रुतोऽपि द्विलघ्वक्षरोच्चारमितो दृश्यते। अड्डताल्यां तु पञ्चलघ्वक्षरोच्चारमितो लघुस्तदर्धमितो द्रुतश्च दृश्यते। निःसारुभेदे वैकुन्दे तु षड्लघ्वक्षरोच्चारमितो लघुस्तदर्धमितो द्रुतश्च वर्तते। एवं सर्वत्र त्रयाणां पौनरुक्त्ये लघ्वादीनां प्रमाणभेदो द्रष्टव्यः।[2]

सार यह है कि देशीतालों में लघु का प्रमाण कहीं ४, कहीं ५ और कहीं ६ लघु अक्षर का उच्चारकाल होने से द्रुत, गुरु, प्लुत का प्रमाण भी उसी के अनुसार बदलता रहता है। इस प्रकार एक से लक्षण वाले तालों में कालप्रमाण के भेद के कारण लक्ष्य में यानी क्रियात्मक रूप में अन्तर होता है। यह भेद शोभा के अनुसार अर्थात् जहाँ जैसी आवश्यकता हो उसके अनुसार होता है—'यत्र यथा शोभा भवति तामनतिक्रम्य'।[3]

देशीतालों के संदर्भ में लघु को 'मात्रा' का पर्याय माना गया है और उसका मूल्य १ है। द्रुत उसका आधा यानी आधी मात्रा का और प्लुत तीन मात्रा का होता है। देशीतालों में यद्यपि लघु का काल लचीला था फिर भी ४ से ६ अक्षरों की सीमा में रहने के कारण लय का कुछ न कुछ निश्चित प्रमाण अवश्य था। यद्यपि वह मार्गताल जैसा नियत नहीं था फिर भी आज की तरह खुली छूट नहीं थी।

ताल लक्षणों में द्रुत, लघु, गुरु और प्लुत के अतिरिक्त 'विराम' का प्रयोग भी मिलता है। विराम वास्तव में कोई स्वतंत्र इकाई नहीं है क्योंकि उसका अपना कोई प्रमाण नहीं है। विराम का प्रयोग जिस अवयव के साथ होता है उसमें उस अवयव के मूल प्रमाण से आधे प्रमाण की वृद्धि इसके द्वारा हो जाती है अर्थात उस अवयव का मान डेढ़ गुना हो जाता है। जैसे—यदि लघु विरामान्त हो तो लघु का मान $१ + \frac{१}{२} = १\frac{१}{२}$ हो जाता है। विराम के स्वरूप के बारे में कल्लिनाथ का स्पष्टीकरण द्रष्टव्य है :

तत्र विरामः किं रूपः? इति चेत्; उच्यते—उभयत्रापि विरामो विच्छेदपर्यायः। क्रियानन्तरविश्रान्तिरूपत्वाद्भिन्नकालश्च।[4]

---

१. वही.

२. वही, पृ. १४०.

३. वही, पृ. १३५

४. वही, कल्लि, पृ. १४१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थात् 'विच्छेद' का पर्याय ही विराम है। क्रिया के बाद होने वाली विश्रान्तिरूप होने से भिन्न काल भी है। लेकिन विराम का प्रयोग केवल द्रुत और लघु के साथ ही होता है, गुरु और प्लुत के साथ नहीं। विराम में क्रिया का अभाव होने से यह जिस अवयव के साथ संयुक्त होता है उसका केवल विस्तार ही करता है। गुरु के साथ विराम होने पर वह प्लुत ही बन जायेगा और प्लुत के साथ प्रयुक्त होने पर वह ४½ माला का हो जायेगा। ऐसा अवयव लक्ष्य में किसी भी ताल में न होने के कारण प्लुत के साथ विराम का संयोग नहीं कहा गया। विरामान्त लघु का अर्थ है लघु का १½ माला तक विस्तार और विरामान्त द्रुत यानी ¾ (पौन) माला तक विस्तार।[1]

विराम को अलग अवयव न मानने के ४ हेतु कल्लिनाथ ने कहे हैं :

अक्रियात्वात्क्रियाभावरूपत्वात्पारतन्त्र्यतः।
विरूपत्वाद्विरामो न प्रस्तारादिकमर्हति ॥[2]

'अक्रियात्व' यानि इसमें कोई क्रिया नहीं होती। 'क्रिया अभावरूपत्व' का अर्थ है— इसका रूप क्रिया का अभाव है क्योंकि यह विश्रान्ति का पर्याय है। 'परतन्त्र' यानी किसी अवयव के साथ जुड़कर ही प्रयुक्त होता है, स्वतंत्र रूप से नहीं। 'विरूपत्व' का अर्थ है कि विराम का प्रयोग केवल लघु और द्रुत के साथ ही हो सकता है, गुरु और प्लुत के साथ नहीं। इसलिए लघु-द्रुत, विराम का 'वैरूप्य' है अर्थात् 'विशेषरूपता' है जो गुरु-प्लुत के साथ विराम की अनुक्ति से जानी जाती है। इन्हीं कारणों से ताल के प्रस्तार बनाने में विराम समर्थ नहीं होता और इसीलिये इसे अलग अवयव नहीं कहा। इसका चिन्ह ᶜ है जो अन्य अवयव चिन्हों के ऊपर लगाया जाता है। जैसे—ᶜ। ᶜ०

देशीतालों की क्रियाएँ

देशीतालों में किन क्रियाओं का प्रयोग किया जाता होगा इसका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। सशब्द या निःशब्द में से किसी के प्रयोग का निर्देश इनमें न होने के कारण यह तो निश्चित है कि गांधर्व की तरह इन क्रियाओं का नियत प्रयोग नहीं होता था। फिर भी कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं जिनसे अनुमान लगाया जा सकता है।

संगीत रत्नाकर में देशीतालों के नाम व लक्षण देखने से पता चलता है कि सिंह-नंदन और मण्ठ तालों में अशब्द क्रियाएँ कही गई हैं। इनके अतिरिक्त अन्य किसी ताल में अशब्द क्रिया का प्रयोग नहीं है। इससे यह संकेत मिलता है कि शेष सब क्रियाएँ सशब्द होंगी और ४ अशब्द होंगी। इनका रूप क्या होगा यह स्पष्ट नहीं है। वैसे भी सशब्द क्रिया के बिना काल का विभाजन संभव नहीं है और देशी तालों में समान आकार वाले अनेक तालों में लघु-गुरु के विभिन्न सन्निवेशों के आधार पर अन्तर होता है। यह भेद प्रमाण-विशेष से की जाने वाली क्रियाओं से ही स्पष्ट हो सकता है।

अपरान्तक नामक गीतक पर टीका करते हुए कल्लिनाथ ने देशीतालों में सशब्द क्रिया के बारे में एक संकेत दिया :

---

१. वही   २. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

षट्पितापुत्रकस्य निजाः पाताः संताशताशताः तैर्विनेति देशीतालवत् शम्ययैव प्रयोक्तव्य इत्येकः पक्ष ।[1]

उपर्युक्त वाक्य के अंतिम अंश में यह कहा गया है कि देशीतालों के समान केवल शम्या का ही प्रयोग करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि देशी तालों में केवल शम्या का ही प्रयोग होता था। शम्या में दाहिने हाथ से बायें हाथ पर ताल दी जाती है जो सशब्द क्रिया का सरलतम और मूल रूप कहा जा सकता है।

इन उल्लेखों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि देशी तालों में हर अवयव के साथ हाथ से या कांस्यताल के द्वारा ताल दी जाती होगी और कहीं - कहीं अवयव पर निःशब्द क्रिया भी रहती होगी। यह निश्चित है कि एक अवयव से दूसरे अवयव को भिन्न रखने के लिये अर्थात् एक निश्चित नाप के द्वारा काल का भंजन करने के लिये कोई सशब्द क्रिया अनिवार्य है तथा काल भंजन किसी भी क्रिया के द्वारा संभव है। देशीतालों के प्रयोजन को देखते हुए शम्या जैसी किसी भी क्रिया के द्वारा उपर्युक्त कार्य आसानी से हो सकता है। संभवतः इसीलिये किन्हीं क्रियाओं के प्रयोग का कोई निश्चित विधान देशीतालों में नहीं किया गया।

तालों के लक्षण

द्रुतादि अवयवों के विभिन्न प्रकार के संनिवेशों के आधार पर देशीताल के अनेक प्रकार हैं। संगीतरत्नाकर में दिये गये १२० देशी तालों के सम्पूर्ण लक्षण यहाँ दिये जा रहे हैं।

संख्या	ताल नाम	लक्षण
१	आदि ताल (रास)	।
२	द्वितीय	० ० ।
३	तृतीय	० ० ०̆
४	चतुर्थ	। । ०
५	पञ्चम	० ०
६	निःशङ्कलील	ऽ' ऽ' ऽ ऽ ।
७	दर्पण	० ० ऽ
८	सिंहविक्रम	ऽ ऽ ऽ । ऽ' । ऽ ऽ'
९	रतिलील	। । ऽ ऽ
१०	सिंहलील	० ० ० ।
११	कंदर्प	० ० । ऽ ऽ
१२	वीरविक्रम	। ० ० ऽ

1. वही. पृ. ४७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१३	रङ्ग	o o o o S
१४	श्रीरङ्ग	| | S | S'
१५	चच्चरी	o c/o o 0/o o 0/o o 0/o o c/o o c/o o c/o o c/o
१६	प्रत्यङ्ग	S S S | |
१७	यतिलग्न	o |
१८	गजलील	| | | c/|
१९	हंसलील	| c/|
२०	वर्णभिन्न	o o | S
२१	त्रिभिन्न	| S S'
२२	राजचूडामणि	o o | | | o o | S
२३	रङ्गोद्योत	S S S | S'
२४	रङ्गप्रदीप	S S | S S'
२५	राजताल	S S' o o S | S'
२६	त्र्यश्रवर्ण	| | o o | |
	मिश्रवर्ण	o o o c/o o o o c/o o o o c/o S' S o o S | S
	चतुरश्रवर्ण	S | o o S
२७	सिंहविक्रीडित	| S' S S' S' S | S S' | S'
२८	जय	| S | | o o S'
२९	वनमाली	o o o o | o o S
३०	हंसनाद	| S' o o S'
३१	सिंहनाद	| S S | S
३२	कुडुक्क	o o | |
३३	तुरंगलील	c/o c/o o o
३४	शरभलील	| | o o o o | |
३५	सिंहनन्दन	S S | S | S' o o S S | S' | S' S | | + + + +[1]
३६	त्रिभंगि	| | S S
३७	रङ्गाभरण	S S | | S'
३८	मण्ठ	| | S + + + +
	,,	S | | + +
	,,	S | | + + + +
	,,	| | | | S | |

१. निःशब्द क्रिया के लिये + इस चिन्ह का प्रयोग हुआ है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३९	कोकिलाप्रिय	S I S'
४०	निःसारुक	I̐ I̐
४१	राजविद्याधर	I S o o
४२	जयमङ्गल	I I S I I S
४३	मल्लिकामोद	I I o o o o
४४	विजयानन्द	I I S S S
४५	क्रीडा (चण्डनिःसारुक)	o̐ o̐
४६	जयश्री	S I S I S
४७	मकरन्द	o o I I I
४८	कीर्तिताल	I S' S I S'
४९	श्रीकीर्ति	S S I I
५०	प्रतिताल	I I o o
५१	विजय	S' S S' I
५२	बिन्दुमाली	S o o o o S
५३	सम	I I o̐ o̐
५४	नन्दन	I o o S'
५५	मण्ठिका	S o S' अथवा I I o̐ o̐
५६	दीपक	o o I I S S
५७	उदीक्षण	I I S
५८	ढेङ्की	S I S
५९	विषम	o o o o̐ o o o o̐
६०	वर्णमण्ठिका	I I o o I o o
६१	अभिनन्द	I I o o S
६२	अनङ्ग	I S' I I S
६३	नान्दी	I o o I I S S
६४	मल्लताल	I I I I o o̐
६५	कङ्काल	
	पूर्णकङ्काल	o o o o S I
	खण्ड ,,	o o S S
	सम ,,	S S I
	विषम ,,	I S S
६६	कन्दुक	I I I I S
६७	एकताली	o
६८	कुमुद	I o o I I S अथवा I o o o o S

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

६९	चतुस्ताल	ऽ ० ० ०
७०	डोम्बुली	c c । ।
७१	अभङ्ग	। ऽ'
७२	रायवङ्कोल	ऽ । ऽ ० ०
७३	वसन्त	। । । ऽ ऽ ऽ
७४	लघुशेखर	c ।
७५	प्रतापशेखर	c ० c ० ० ०
७६	झम्पाताल	c c ० ०।
७७	गजझम्प	c ऽ ० ० ०
७८	चतुर्मुख	। ऽ । ऽ'
७९	मदन	० ० ऽ
८०	प्रतिमण्ठ (कोल्लट)	। । ऽ ऽ । ।
८१	पार्वतीलोचन	ऽ ऽ ऽ । ऽ' ऽ ऽ ० ०
८२	रतिताल	। ऽ
८३	लीलाताल	० । ऽ'
८४	करणयति	० ० ० ०
८५	ललित	० ० । ऽ
८६	गारुगि	c ० ० ० ०
८७	राजनारायण	० ० । ऽ । ऽ
८८	लक्ष्मीश	c ० ० । ऽ'
८९	ललितप्रिय	। । ऽ । ऽ
९०	श्रीनन्दन	ऽ । । ऽ'
९१	जनक	। । । । ऽ ऽ । । ऽ ऽ
९२	वर्धन	० ० । ऽ'
९३	रागवर्धन	c ० ० ० ऽ'
९४	षट्ताल	० ० ० ० ० ०
९५	अन्तरक्रीडा	c ० ० ०
९६	हंस	c । ।
९७	उत्सव	। ऽ'
९८	विलोकित	ऽ ० ०ऽ'
९९	गज	। । । ।
१००	वर्णयति	। । ० ०
१०१	सिंह	। ० । । ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१०२	करण	S
१०३	सारस	I O O O I I
१०४	चण्डताल	O O O I I
१०५	चन्द्रकला	S S S S′ S′ S′ I
१०६	लय	S I S′ S′ S′ S S′ O O O
१०७	स्कन्द	S I S O O S S
१०८	अड्डताली	O I I
१०९	घत्ता	I I O O I S
११०	द्वन्द्व	I I S S S I S′
१११	मुकुन्द	I O O O O S
११२	कुविन्दक	I O O S S′
११३	कलध्वनि	I I S I S′
११४	गौरी	I I I I I
११५	सरस्वतीकण्ठाभरण	S S I I O O
		C
११६	भग्नताल	O O O O I I I
११७	राजमृगाङ्क	O O I S′
११८	राजमार्तण्ड	S I O
११९	नि:शङ्क	I S S S′ S S S I
१२०	शार्ङ्गदेव	O O S S′ S S I

संभवत: व्यक्तिगत रुचि और लक्ष्य में प्रचार के आधार पर विभिन्न ग्रंथकारों ने देशीतालों का निरूपण किया इसलिये इनकी संख्या में भेद दिखाई देता है। मार्ग परम्परा के ४ ग्रंथों—मानसोल्लास, संगीत चूडामणि, संगीत रत्नाकर और संगीतराज—में क्रमश: ३०, ९६, १२० और १३८ ताल मिलते हैं। संगीतराज के १३८ में से ११९ संगीत रत्नाकर में हैं। इनके लक्षण भी कहीं-कहीं भिन्न हैं। रत्नाकर के बाद के अन्य ग्रंथों के देशी तालों की संख्यादि के बारे में अगले परिच्छेद में विचार किया जायगा।

ताल प्रत्यय

संगीत रत्नाकर में प्रचलित १२० तालों का लक्षण निरूपण किया गया है और ग्रन्थकार ने कहा है कि इनके अतिरिक्त अनेक ताल हो सकते हैं। एक निश्चित संख्या के स्वरों के आधार पर जैसे अनेक स्वर-प्रस्तार बनते हैं उसी प्रकार ताल के निश्चित अवयवों के आधार पर भी अनेक प्रस्तार बन सकते हैं। उन प्रस्तार भेदों के निर्माण और प्रत्यय अर्थात् ज्ञान के लिये लघु उपाय खोजे गये। ताल के सम्बन्ध में १९ उपाय निकाले गये जो 'ताल प्रत्यय' कहलाये। ये प्रत्यय इस प्रकार हैं—प्रस्तार, संख्या, नष्ट, उद्दिष्ट, पाताल, द्रुतमेरु, लघुमेरु, गुरुमेरु, प्लुतमेरु, संयोग मेरु, खण्ड प्रस्तार, द्रुतमेरु का नष्ट

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और उद्दिष्ट, लघुमेरु का नष्ट और उद्दिष्ट, गुरुमेरु का नष्ट और उद्दिष्ट तथा प्लुतमेरु का नष्ट और उद्दिष्ट। इन सभी को स्पष्ट किया जायगा।

१. प्रस्तार[1]

ताल के द्रुत, लघु आदि किसी एक अथवा अधिक अवयवों के आधार पर जो अनेक भेद वनते हैं उन्हें बनाने की विधि प्रस्तार है। जैसे, एक प्लुत में ३ मात्रा होती हैं। तीन मात्रा में द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत का विभिन्न प्रकार से संयोजन करके अनेक प्रकार वन सकते हैं। उन्हें वनाने की विधि और उनकी कुल संख्या 'प्रस्तार' के अन्तर्गत आती है। प्रस्तार वनाने की विधि इस प्रकार है। जिस अवयव के प्रस्तार बनाने हों उसे लिख लें। उसमें यथासंभव वाईं ओर जो सबसे वड़ा अवयव हो वहाँ से नये प्रस्तार की क्रिया आरम्भ होगी। उस अवयव के नीचे उससे छोटा अवयव लिख लें और दाहिनी ओर वही अवयव लिख लें जो ऊपर है। फिर वाईं ओर यथासम्भव बड़ा अवयव लिखें। यदि यह संभव न हो तो छोटा लिख लें। मूल अवयव की अपेक्षा से प्रकृत प्रस्तार में मात्रा की जो कमी रह जाय उसके लिये वाईं ओर सिरे पर आवश्यक अवयव जोड़कर पूरा कर दें। इस विधि से तव तक प्रस्तार वनाते जायँ जव तक प्रस्तार में सब द्रुत अवयव न आ जायँ। उदाहरण के लिये प्लुत के प्रस्तार वनाकर दिखाये जा रहे हैं। रेखांकित अवयव अगले प्रस्तार की क्रिया के आरम्भ स्थान के सूचक हैं।

(१)	S'
(२)	I S
(३)	O O S
(४)	S I
(५)	I I I
(६)	O O I I
(७)	O I O I
(८)	I O O I
(९)	O O O O I
(१०)	O S O
(११)	O I I O

---

१. सं. र., ५/३१६-३१८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१२) $\underline{1}\ 0\ 1\ 0$

(१३) $0\ 0\ 0\ \underline{1}\ 0$

(१४) $\underline{S}\ 0\ 0$

(१५) $\underline{1}\ 1\ 0\ 0$

(१६) $0\ 0\ \underline{1}\ 0\ 0$

(१७) $0\ \underline{1}\ 0\ 0\ 0$

(१८) $\underline{1}\ 0\ 0\ 0\ 0$

(१९) $0\ 0\ 0\ 0\ 0\ 0$

इस प्रकार प्लुत में उपर्युक्त १९ प्रस्तार वन सकते हैं। इनमें दाहिनी ओर अंतिम अवयव को यथासंभव स्थिर रखकर यथासंभव बाईं ओर के सबसे वड़े अवयव से नये प्रस्तार की क्रिया आरंभ की गई है। मात्रापूर्ति के लिये जो वड़े से वड़ा अवयव संभव हो उसका प्रयोग किया गया है। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप अन्तिम अवयव स्थिर रह गया है।

इसी प्रकार द्रुत, लघु और गुरु के क्रमशः १,२ और ६ प्रस्तार वन सकते हैं। इस विधि का प्रयोग लघु, गुरु और प्लुत के व्यस्त (अकेले-अकेले रहने पर) और समस्त (किसी दूसरे अवयव के साथ) रूपों में हो सकता है लेकिन अकेले द्रुत में नहीं क्योंकि द्रुत से छोटे अवयव का प्रयोग नहीं होता और छोटे अवयव के विना मूल अवयव को खंडित करना और नया प्रकार वनाना संभव नहीं है।

२—संख्या[१]

किसी अवयव के कितने प्रस्तार वन सकते हैं ओर उनमें से कितने-कितने प्रस्तार किस-किस अवयव से अन्त होंगे इसका वोधक प्रत्यय 'संख्या' है। इसकी अंक श्रेणी (संख्या का क्रम) इस प्रकार वनाई जाती है। क्रम से १ और २ अंक बाईं ओर से दाहिनी ओर लिख कर फिर क्रम से अन्तिम-अन्तिम अंक को उससे पिछले दूसरे, चौथे और छठे अंकों से और चौथे, छठे के अभाव में तीसरे पाँचवे के साथ जोड़ कर लिख लें। इस प्रकार ६ बार करना चाहिये। जैसे—१ और २ लिख कर इनका योग ३, उसके वाद ३ के साथ दूसरा अंक २ और चौथे के अभाव में तीसरा अंक १ जोड़ कर ६ लिखें। इसी प्रकार ६ के साथ दूसरा अंक ३ और चौथा अंक १ जोड़ कर १० लिखें। १० के साथ दूसरा अंक ६, चौथा अंक २ और छठे के अभाव में पाँचवां अंक १ जोड़ कर १९ लिखें। १९ के साथ दूसरा अंक १०, चौथा ३ और छठा १ जोड़ कर ३३ लिख लें। पूरी अंक श्रेणी इस प्रकार बनी :

---

१. वही, ३१८-३२३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१	२	३	६	१०	१९	३३

ये अंक क्रमश: द्रुत, लघु, सार्ध (१½), गुरु, सार्धद्वि (२½), प्लुत और सार्धत्रि (३½) मात्राओं से बनने वाले कुल प्रस्तारों की सूचक हैं। इनमें से कोई एक अंक जिन अंकों के योग से बनता है उन अंकों में दाहिनी ओर से बाईं ओर के अंक क्रमश: उस अंक में बनने वाले प्रस्तारों में क्रम से द्रुतान्त, लघ्वन्त, गुर्वंत और प्लुतान्त के द्योतक हैं। जैसे—३३ अंक १९ + १०+ ३+ १ के योग से बनता है। यानी ३½ मात्रा के कुल ३३ प्रस्तारों में से १९ प्रस्तार द्रुतान्त (द्रुत से अंत होने वाले). १० लघ्वन्त, ३ गुर्वन्त और १ प्लुतान्त होगा।

३—नष्ट[1]

किसी प्रस्तार की संख्या के आधार पर उसका नष्ट यानी अज्ञात स्वरूप जानने की विधि 'नष्ट' है। या इतनवें भेद का क्या रूप होगा इस प्रश्न का उत्तर नष्ट से प्राप्त होता है। विधि इस प्रकार है।

उपर्युक्त संख्या में से बाईं ओर से दाहिनी ओर वहाँ तक के अंक लिख लें जिस अंक के वर्ग में प्रकृत (अर्थात् जिसका स्वरूप ज्ञात करना है) संख्या है। अंक श्रेणी की उस संख्या में से प्रकृत संख्या घटा दें। शेष (घटाने के बाद बचे हुए) अंकों में से अंक श्रेणी के बाँईं ओर के शेष अंकों को क्रम से तब तक घटाते जायें जब तक शून्य न बचे।

अंक घटने पर 'पतित', न घटने पर 'अपतित', पतित के बाद अपतित और फिर पतित हो तो दूसरा पतित 'सान्तर पतित', लगातार दो पतित हों तो 'निरन्तर पतित', अंक श्रेणी में किसी अंक से दाहिनी ओर का अंक 'उत्तर' और बाई ओर का 'पूर्व' कहलाता है। जो अपतित पतित के साथ मिल कर लघु प्राप्ति कराता है वह 'अकृतार्थ' कहलाता है।

अपतित से द्रुत, पतित से लघु, सान्तर पतित से स्वतंत्र लघु तथा निरन्तर पतित से गुरु प्राप्त होता है। गुरु हेतु पतित के बाद तीसरा पतित हो तो वह गुरु को प्लुत बना देता है। लघु प्राप्ति अकृतार्थ उत्तर अंक सहित संभव न हो तो अकृतार्थ पूर्व सहित हो सकती है। जहाँ अकृतार्थ पूर्व के साथ लघु प्राप्ति हो वहाँ अन्य लघुओं में भी अकृतार्थ पूर्व के साथ ही अवयव प्राप्ति होती है। सान्तर पतित पृथक् लघु प्राप्त कराता है। शेष अंक या पातनीय (जिसे घटाना हो) अंक न हो तो ताल पूरण (ताल की कुल मात्राओं में जो कमी हो उसकी पूर्ति) हेतु द्रुतों का ग्रहण होता है। प्राप्त अवयव दाहिनी से बाईं ओर लिखे जाते हैं। उदाहरणार्थ ऽ' के पहले, चौथे, ५वें और १५वें प्रस्तारों की नष्ट विधि इस प्रकार है।

---

१. वही, ३२४-३०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहला प्रस्तार

$$\begin{array}{r} १९ \\ १ \\ \hline १८ \\ १० \\ \hline ८ \\ ६ \\ \hline २ \\ ३ \\ २ \\ २ \\ \hline ० \end{array}$$

१९ में से प्रकृत संख्या १ घटाने पर शेषांक १८ में से अंक श्रेणी का १०, फिर शेष ८ में से ६—ये दो अंक घटने से निरन्तर पतितों से ऽ प्राप्त हुआ। उसके बाद पूर्व अंक ३ नहीं घटा किन्तु गुरु हेतु पतित से तीसरा अंक २ घट गया इसलिये उस लघु ने गुरु को प्लुत बना दिया। पातनीय अंक १ अभी शेष है लेकिन प्लुत का प्रस्तार पूरा हो जाने के कारण द्रुत का ग्रहण नहीं होगा। इस प्रकार पहले प्रस्तार का स्वरूप ऽ' ज्ञात हुआ।

चौथा प्रस्तार

$$\begin{array}{r} १९ \\ ४ \\ \hline १५ \\ १० \\ \hline ५ \\ ६ \\ ५ \\ ३ \\ \hline २ \\ २ \\ \hline ० \end{array}$$

१० घट जाने के बाद शेष अंक ५ में से ६ नहीं घटता इस लिए अकृतार्थ पूर्व अंक ६ के साथ पतित अंक १० से लघु प्राप्त हुआ। इसके बाद पूर्व अंक ३ और २ निरन्तर पतित होने से गुरु प्राप्त हुआ। पातनीय अंक होते हुए भी ताल पूरा हो जाने के कारण द्रुत का ग्रहण नहीं होगा। इस प्रकार चौथे प्रस्तार का स्वरूप ऽ। ज्ञात हुआ।

पाँचवाँ प्रस्तार

$$\begin{array}{r} १९ \\ ५ \\ \hline १४ \\ १० \\ \hline ४ \\ ६ \\ ४ \\ ३ \\ \hline १ \\ २ \\ १ \\ १ \\ \hline ० \end{array}$$

१० घटने पर पतित से लघु प्राप्त हुआ। उसके बाद ६ अंक नहीं घटा किन्तु ३ घटने पर सान्तर पतित से पृथक् लघु प्राप्त हुआ। इसी प्रकार २ न घटने और फिर १ घटने से सान्तर पतित से फिर पृथक् लघु प्राप्त होकर ५ वें प्रस्तार का स्वरूप ।।। ज्ञात हुआ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पन्द्रहवाँ प्रस्तार

१९ १५ ४ १० ४ ६ ४ ३ १ २ १ १ ०	प्रथम दो अपतितों से द्रुत प्राप्त हुए। ३ अंक पतित होने पर अकृतार्थ उत्तर अंक ६ के साथ पतित अंक ३ ने लघु प्राप्त कराया। उसके बाद पतित अंक १ ने अकृतार्थ उत्तर अंक २ के साथ मिल कर लघु प्राप्त कराया। इस प्रकार पन्द्रहवें प्रस्तार का स्वरूप ।।०० ज्ञात हुआ।

४—उद्दिष्ट[1]

प्रस्तार के ज्ञात स्वरूप के आधार पर उसकी संख्या निकालने की विधि उद्दिष्ट कहलाती है। प्रस्तार में जहाँ द्रुत होगा वहाँ कोई अंक प्राप्त नहीं होता क्योंकि द्रुत की प्राप्ति या तो अंक अपतित होने पर या ताल के पूरण के लिये होती है। उद्दिष्ट के लिये प्रस्तार जिस वर्ग के अन्तर्गत आता हो वहाँ तक के अंक लिख लें। उदाहरण के लिये ।।०० ले लें। यह प्लुत वर्ग का है इसलिये क्रमशः १ २ ३ ६ १० १९ लिख लें। प्रस्तार में अन्तिम दो द्रुत हैं इसलिये १० और ६ की प्राप्ति नहीं होगी। लघु के द्वारा ३ प्राप्त हुआ। दूसरा भी लघु है जो सान्तर पतित होना चाहिये क्योंकि यदि अपतित होता तो द्रुत प्राप्त होता और निरन्तर पतित होता तो गुरु की प्राप्ति होती। लघु सान्तर पतित है इसलिये अंक-संतति में से २ छोड़ कर १ अंक प्राप्त हुआ। इस प्रकार ३+१=४ योग हुआ। यह संख्या इसकी सूचक है कि १९ में से प्रकृत प्रस्तार की संख्या के बाद कितने प्रस्तार शेष रहते हैं। इसलिये प्रकृत संख्या निकालने के लिये १९ में से ४ घटा कर १५ प्राप्त हुआ। यही ।।०० की संख्या ज्ञात हुई।

५—पाताल[2]

किसी भी अवयव के कुल प्रस्तारों में कुल कितने द्रुत, कितने लघु, कितने गुरु आदि अवयव होंगे यह पाताल के द्वारा ज्ञात होता है। पाताल की रचना विधि इस प्रकार है।

पहले संख्या लिख लें। उसके बाद बाईं ओर से 'संख्या' के पहले अंक के नीचे १ अंक लिख लें। फिर संख्या के अगले अंक से युत पाताल के अन्तिम, उपान्त्य (अन्तिम से पिछला), चौथे और छठे अंकों का योग करके लिखते जायें। इसके अनुसार 'संख्या' के १ अंक के नीचे १ अंक लिखने के बाद 'संख्या' के १ से युत पाताल के अन्तिम अंक १ के

1. वही, ३३०-३३४

2. वही, ३३४-३३७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

योग २ को 'संख्या' के दूसरे अंक २ के नीचे लिख लें। फिर 'संख्या' के २ से युत पाताल के अन्तिम अंक २ और उपान्त्य १ को जोड़ कर ५ को 'संख्या' के अगले अंक ३ के नीचे लिखें। तब 'संख्या' के ३ से युत पाताल के अन्तिम अंक ५ और उपान्त्य २ को जोड़ कर (३+५+२=)१० को ६ के नीचे लिखें। इसके बाद 'संख्या' के ६ से युत पाताल के अन्तिम १०, उपान्त्य ५ और चौथे १ को जोड़ कर (६+१०+५+१=)२२ को १० के नीचे लिखें। 'संख्या' के १० युत पाताल के अन्तिम २२, उपान्त्य १०, चौथे २ को (१०+२२+२=)४४ अंक १९ के नीचे लिखें। इसी प्रकार 'संख्या' के १९, पाताल के अन्त्य ४४, उपान्त्य २२, चौथे ५ और ६ठे १ को जोड़ कर (१९+४४+२२+५+१=) ९१ अंक 'संख्या' के अन्तिम अंक ३३ के नीचे लिख लें। इस प्रकार पाताल का प्रस्तार यह हुआ।

१	२	३	६	१०	१९	३३
१	२	५	१०	२२	४४	९१

प्लुत का सूचक ६ठा वर्ग है। पाताल की रचना अन्त्य, उपान्त्य, चौथे और ६ठे कोष्ठकों से मिल कर होती है। तदनुसार प्लुत वर्ग के अंक ४४, २२, ५ और १ हैं इस लिये प्लुत के प्रस्तारों में कुल मिला कर ४४ द्रुत, २२ लघु, ५ गुरु और १ प्लुत अवयव होंगे, यह पाताल द्वारा ज्ञात हुआ।

६—द्रुतमेरु[1]

किसी अवयव के प्रस्तारों में कितने द्रुतहीन और कितने प्रस्तार कितने-कितने द्रुत-युक्त होंगे इसका बोधक द्रुतमेरु है। रचना विधि इस प्रकार है।

जिस ताल का द्रुतमेरु बनाना हो उस ताल में कुल जितने द्रुत हों उतने कोष्ठक बायें से दाहिनी ओर नीचे की प्रथम पंक्ति में बना लें। प्रथम पंक्ति के ऊपर द्वितीय पंक्ति में बाईं ओर का एक कोष्ठ छोड़ कर शेष कोष्ठ बना लें। द्वितीय पंक्ति के ऊपर की अन्य पंक्तियों में बाईं ओर से दो-दो कोष्ठ छोड़ कर कोष्ठ बना लें। इस मेरु में अंक भरने की विधि यह है। प्रत्येक पंक्ति में बाईं ओर से शुरू के दो-दो कोष्ठों में १ अंक भर दें। तीसरे पाँचवें, सातवें, विपम संख्यक कोष्ठों में अन्त्य, उपान्त्य, चौथे और ६ठे तथा चौथे, ६ठे के अभाव में तीसरे, पाँचवें कोष्ठों के अंकों का योग भर दें। चौथे, ६ठे आदि समकोष्ठों में उपान्त्य, चौथे, ६ठे और चौथे-६ठे के अभाव में तीसरे, ५वें अंकों का योग भर दें। जैसे—०ऽ' का द्रुतमेरु बनाने के लिये इस ताल के कुल ७ द्रुत के बराबर ७ कोष्ठ नीचे प्रथम पंक्ति में बनाकर दूसरी पंक्ति में ६, तीसरी में ४ और चौथी में २ कोष्ठ बना लें। हर पंक्ति के प्रथम दो कोष्ठों में १-१ अंक भर दें। फिर अन्त्य और उपान्त्य १+१=२ सभी पंक्तियों के तीसरे कोष्ठों में लिख दें। सभी चौथे कोष्ठों में उपान्त्य. चौथे के अभाव में तीसरे अंक १+१ का योग २ भर दें। पाँचवें कोष्ठों में अन्त्य, उपान्त्य और चौथे अंकों २+२+१

१. वही, ३३८-३४७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का योग ५ लिख दें। ६ठे कोष्ठों में उपान्त्य, चौथे और ६ठे के अभाव में ५वें अंकों २+१+१ का योग ४ लिख दें। ७वें कोष्ठ में अन्त्य, उपान्त्य, चौथे और ६ठे अंकों ४+५+२+१ का योग १२ लिख दें। मेरु इस प्रकार बना—

					१	१
			१	१	२	२
	१	१	२	२	५	४
१	१	२	२	५	४	१२

इसके बाद पंक्तियों में नीचे से ऊपर क्रिया की जाती है। सबसे नीचे बाँईं से दाहिनी ओर के विषम कोष्ठों (पहले, तीसरे, पाँचवें, सातवें) से आरंभ होने वाली पंक्ति विषम कहलाती हैं तथा दूसरे, चौथे आदि सम कोष्ठों से सम पंक्ति कही जाती हैं। नीचे से ऊपर की ओर प्रथम तीन पंक्तियों के अंकों को यथास्थान रखते हुए शेष पंक्तियों में नीचे से ऊपर दूसरे तथा तीसरे कोष्ठों के अंकों में परिवर्तन किया जाता है। इसके लिये अन्त्य, उपान्त्य चौथे और ६ठे अंकों के योग का नियम पूर्ववत् है। किन्तु सम संख्यक पंक्तियों के कोष्ठों में अन्त्य के स्थान पर अन्त्य के नीचे वाला अंक लिया जाता है। इसके अनुसार चौथी पंक्ति के मध्यकोष्ठ में अन्त्य के नीचे के अंक और प्रकृत पंक्ति के उपान्त्य का योग २+१=३ रखा जायगा। ५वीं में अन्त्य और उपान्त्य अंकों ३+१ का योग ४ रखा जायगा। ६ठी पंक्ति में ५+३+१=९ तथा सातवीं पंक्ति में ९+४+१=१४ रखा जायगा। इनके ऊपर ६ठी पंक्ति के तीसरे कोष्ठ में अन्त्य के नीचे का अंक और उपान्त्य का योग ४+१=५ तथा ७वीं विषम पंक्ति में ५+१=६ अंक लिखा जायगा। इस प्रकार द्रुत-मेरु का यह स्वरूप हुआ—

					१९	३३
			६	१०	१	१
	२	३	१	१	५	६
१	१	१	३	४	९	१४
१	१	२	२	५	४	१२
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ'	०ऽ'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्रुतमेरु से निम्न ज्ञात होता है—

(क) विषम संख्यक पंक्तियों में नीचे से ऊपर विषम संख्या युक्त द्रुत प्रस्तार—

(१) प्रथम कोष्ठक की संख्या जितने प्रस्तार एक द्रुत वाले
(२) द्वितीय ,, ,, ,, ,, ,, तीन ,, ,,
(३) तृतीय ,, ,, ,, ,, ,, पाँच ,, ,,
(४) अन्तिम ,, ,, ,, ,, ,, सर्व ,, ,,

उदाहरणार्थ — ०ऽ′ के प्रस्तारों की सूचक अन्तिम ७वीं पंक्ति में—

(१) प्रथम कोष्ठक की संख्या १२ जितने प्रस्तार १ द्रुत वाले
(२) द्वितीय ,, ,, ,, १४ ,, ,, ३ ,, ,,
(३) तृतीय ,, ,, ,, ६ ,, ,, ५ ,, ,,
(४) अन्तिम ,, ,, ,, १ ,, ,, सर्व ,, ,,

(ख) समसंख्यक पंक्तियों में नीचे से ऊपर समसंख्या युक्त द्रुत प्रस्तार—

(१) प्रथम कोष्ठक की संख्या जितने प्रस्तार द्रुत हीन
(२) द्वितीय ,, ,, ,, ,, ,, २ ,, वाले
(३) तृतीय ,, ,, ,, ,, ,, ४ ,, ,,
(४) अन्तिम ,, ,, ,, ,, ,, ६ ,, ,,

उदाहरणार्थ—६ठी समसंख्यक पंक्ति में—

(१) प्रथम कोष्ठक की संख्या ४ जितने प्रस्तार द्रुत हीन
(२) द्वितीय ,, ,, ,, ९ ,, ,, २ द्रुत वाले
(३) तृतीय ,, ,, ,, ५ ,, ,, ४ ,, ,,
(४) अन्तिम ,, ,, ,, १ ,, ,, सर्व ,, ,,

सभी पंक्तियों के अन्तिम कोष्ठक सर्वद्रुत प्रस्तार को सूचित करते हैं। किसी अवयव का सर्वद्रुत प्रस्तार एक ही होता है इसलिये सभी अन्तिम कोष्ठों में १ ही अंक है। द्रुत मेरु की पंक्तियों में नीचे से ऊपर के अंकों को जोड़ देने से 'संख्या' प्राप्त हो जाती है। द्रुत मेरु की आड़ी प्रथम पंक्ति के ७ कोष्ठक क्रम से द्रुत, लघु, सार्ध (०।), गुरु, सार्धद्वि (०ऽ), प्लुत, सार्धत्रि (०ऽ′) अवयवों के प्रस्तारों के सूचक हैं इसलिये क्रम से इन अवयवों के द्रुतों का ज्ञान द्रुत मेरु से होता है।

७—लघुमेरु[1]

लघुमेरु के द्वारा किसी अवयव के प्रस्तारों में लघुहीन और लघुयुक्त प्रस्तारों का ज्ञान होता है। इसकी रचना विधि में भी द्रुतमेरु की भांति अन्त्य, उपान्त्य, चौथे, ६ठे का योग किया जाता है। किन्तु अंक भरने में कुछ अन्तर है। कोष्ठों की पंक्ति द्रुतमेरु के समान बनाई जाती है। केवल प्रथम कोष्ठों में १ अंक भरा जाता है तथा शेष पंक्तियों में उपान्त्य के प्रतिनिधि के रूप में उसके नीचे वाले अंक को लिया जाता है। इस प्रकार प्रथम पंक्ति में अन्त्य, चौथे और (इनके अभाव में तीसरे, ५वें) तथा शेष पंक्तियों में अन्त्य,

१. वही, ३४७-३५१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपान्त्य के नीचे के, चौथे और ६ठे अंकों का योग लिखा जाता है। इन पंक्तियों में चौथे, ६ठे के अभाव में उनके प्रतिनिधि नहीं होते यानी तीसरे, ५वें का ग्रहण नहीं होता।

तदनुसार ०ऽ' का लघु मेरु इस प्रकार बनेगा। बाईं से दाहिनी ओर ७ कोष्ठों की पंक्ति बना लें। प्रथम कोष्ठ में १ लिखें। दूसरे कोष्ठ में अन्त्य अंक १, तीसरे में अन्त्य अंक १, चौथे में अन्त्य और चौथे के अभाव में तीसरे कोष्ठों के अंकों का योग (१+१=) २ लिखें। पाँचवे में अन्तिम और चौथे का योग (२+१=) ३ लिखें। ६ठे में अन्तिम, चौथे पाँचवें का योग (३+१+१=) ५ और सातवें में अन्तिम, चौथे, ६ठे का योग (५+१ +१=) ७ लिखें। इस प्रकार पहली पंक्ति में १ १,१,२,३,५,७ अंक हुए।

दूसरी पंक्ति में प्रथम कोष्ठ में १ है। दूसरे में अन्त्य और उपान्त्य के नीचे के अंक का योग (१+१=) २, तीसरे में भी अन्त्य और उपान्त्य के नीचे के अंकों का योग (२+१=) ३, तद्वत् चौथे में भी (३+१=) ४, पाँचवें में अन्त्य, उपान्त्य के नीचे के और चौथे का योग (४+२+१=) ७, ६ठे में भी इसी प्रकार (७+३+२=) १२ लिखें। इस प्रकार दूसरी पंक्ति में बाईं ओर से क्रमशः १,२,३,४ ७ और १२ अंक हुए।

तीसरी पंक्ति के दूसरे कोष्ठ में अन्त्य और उपान्त्य के नीचे के अंकों का योग (१+२=) ३, तीसरे में अन्त्य, उपान्त्य के नीचे के अंकों का योग (३+३=) ६, चौथे में भी इसी प्रकार ६+४=१० लिखा जाता है। इस पंक्ति में क्रमशः १,३,६ और १० अंक हुए।

चौथी पंक्ति के दूसरे कोष्ठ में १+३=४ लिखा जाय। लघुमेरु की इस प्रकार की रचना हुई—

					१९	३३
			६	१०	१	४
	२	३	१	३	६	१०
१	१	२	३	४	७	१२
१	१	१	२	३	५	७
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ'	०ऽ'

लघुमेरु से निम्न ज्ञात होता है—

(१) नीचे की पंक्ति के कोष्ठों से लघुहीन प्रस्तारों की संख्या
(२) द्वितीय ,, ,, ,, ,, १ लघुवाले ,, ,, ,
(३) तृतीय ,, ,, ,, ,, २ ,, ,, ,, ,,
(४) अन्तिम ,, ,, ,, ,, ३ ,, ,, ,, ,,

सभी मेरुओं में नीचे से ऊपर कोष्ठांकों का योग 'संख्या' सूचित करता है। इस प्रकार अंतिम पंक्ति के कोष्ठों में नीचे से ऊपर ०ऽ' के ३३ प्रस्तारों में से ७ भेद लघुहीन,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१२ भेद १ लघु वाले, १० भेद २ लघु वाले तथा ४ भेद ३ लघु वाले होते हैं।

८—गुरुमेरु[1]

पूर्ववत् ७ कोष्ठों की पंक्ति बना कर द्वितीय पंक्ति में ३ कोष्ठ छोड़ कर पंक्ति बना लें। प्रथम कोष्ठों में १ लिख लें। प्रथम पंक्ति के दूसरे कोष्ठक में २ लिखें तथा शेष कोष्ठों में अन्त्य, उपान्त्य और छठे (अभाव में ५वें) का योग लिखें। इसके अनुसार तीसरे में अन्त्य और उपान्त्य (२+१=) ३, चौथे में (३+२=) ५, पाँचवें में (५+३=) ८, छठे में (८+५+१=) १४ और ७वें में (१४+८+१=) २३ लिखें। इस प्रकार प्रथम पंक्ति में क्रम से १,२,३,५,८,१४,२३ अंक हुए।

दूसरी पक्ति में अन्त्य, उपान्त्य और चौथे के नीचे का योग लिखें। तदनुसार दूसरे कोष्ठ में अन्त्य १ और चौथे के नीचे (अर्थात् नीचे के चौथे) के १ का योग २, तीसरे में अन्त्य उपान्त्य और चौथे के नीचे का योग (२+१+२=) ५, चौथे में इसी प्रकार (५+२+३=) १० लिखें। इस पंक्ति में क्रम से १,२,५,१० अंक हुए। गुरुमेरु इस प्रकार है—

			६	१०	१९	३३
१	२	३	१	२	५	१०
१	२	३	५	८	१४	२३
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ'	०ऽ'

गुरुमेरु से निम्न ज्ञात होता है—

(१) नीचे से ऊपर प्रथम कोष्ठ के द्वारा गुरुहीन भेद

(२) द्वितीय कोष्ठ से १ गुरु भेद

इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। इसके अनुसार ०ऽ' के ३३ प्रस्तारों में २३ गुरु रहित भेद और १० भेद एक गुरु वाले ज्ञात होते है।

९—प्लुतमेरु[2]

प्रथम पंक्ति की अपेक्षा द्वितीय में ५ कम करके तथा शेष पंक्तियों में ६-६ कोष्ठ कम करके पंक्तियाँ बनाई जाती हैं। इस प्रकार ०ऽ' के लिये प्रथम पंक्ति में ७ और द्वितीय में २ कोष्ठ बनाये। अंक भरने की विधि यह है। प्रथम कोष्ठों में १ तथा दूसरे कोष्ठों में २ लिख दें। प्रथम पंक्ति में अन्त्य. उपान्त्य और चौथे (अभाव में तीसरे) अंकों का योग लिख दें। तदनुसार तीसरे कोष्ठ में २+१=३, चौथे में ३+२+१=६, पाँचवें में ६+३+१=१०, छठे में १०+६+२=१८ और सातवें में १८+१०+३=३१ लिख दें। तदनुसार प्लुतमेरु इस प्रकार बना—

					१	२
१	२	३	६	१०	१८	३१

१. वही, ३५१-३५४

२. वही, ३५४-३५६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्लुतमेरु में नीचे से ऊपर की ओर पहले कोष्ठों के द्वारा प्लुतहीन भेद तथा द्वितीयादि कोष्ठों से १ आदि प्लुत वाले भेदों का ज्ञान होता है। जैसे, प्रथम पंक्ति के अन्तिम कोष्ठ के अंक ३१ से ०ऽ' के ३३ प्रस्तारों में से प्लुतहीन भेदों की संख्या ३१ तथा १ प्लुतयुक्त भेदों की संख्या २ ज्ञात होती है।

१०—संयोगमेरु[1]

किसी अवयव से बनने वाले प्रस्तारों की कुल संख्या और उनमें अकेले-अकेले और दो या अधिक अवयवों से बनने वाले प्रस्तारों की संख्या का एक साथ ज्ञान संयोगमेरु के द्वारा होता है। जैसे, आगे दिये गये संयोगमेरु की ०ऽ सूचक आड़ी पंक्ति के द्वारा ०ऽ' के कुल प्रस्तारों की संख्या १+२०+४+२+६=३३ भी ज्ञात होती है और केवल द्रुत से वनने वाले प्रस्तार की संख्या १, ०। के प्रस्तारों की संख्या २०, ०ऽ की ४, ०ऽ' की २ और ०।ऽ की १२ भी ज्ञात होती है। संयुक्त रूप से ज्ञात कराने की विधि होने के कारण संयोग मेरु कहलाता है। रचना विधि इस प्रकार है।

ऊपर से नीचे १३ कोष्ठों से युक्त ४ पंक्तियाँ बाईं से दाहिनी ओर बना लें। पाँचवीं और ६ठी पंक्तियाँ अपने से पूर्ववर्ती पंक्तियों की अपेक्षा ऊपर २-२ कोष्ठ कम करके अर्थात् पाँचवीं में ११ और ६ठी में ९ कोष्ठ वना लें। ६ठी की अपेक्षा ७वीं, ८वीं में १ कोष्ठ कम करके अर्थात् दोनों में ८-८ कोष्ठ बना लें। अगली ३ पंक्तियों में ८वीं की अपेक्षा १ कोष्ठ कम कर दें अर्थात् ९वीं, १०वीं, ११वीं में ७-७ कोष्ठ बनायें। अगली २ पंक्तियों में अपने से पूर्ववर्ती की अपेक्षा २-२ कम कर दें यानी १२वीं में ५ तथा १३वीं में ३ कोष्ठ वनायें। अन्तिम २ पंक्तियों में क्रमशः १-१ कम करके अर्थात् १४वीं में २ तथा १५वीं में १ कोष्ठ वना लें। इस प्रकार १५ पंक्तियों का मेरु वना।

इनमें से प्रथम ४ पंक्तियाँ क्रमशः द्रुत, लघु गुरु, प्लुत की. ५वीं द्रुत लघु की, ६ठी द्रुत गुरु की, ७वीं द्रुत प्लुत की, ८वीं लघु गुरु की, ९वीं लघु प्लुत की, १०वीं गुरु प्लुत की, ११वीं द्रुत, लघु, गुरु की, १२वीं द्रुत, लघु, प्लुत की, १३वीं द्रुत, गुरु, प्लुत की, १४वीं लघु, गुरु, प्लुत की, और १५वीं द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत की सूचक हैं अतः उन पंक्तियों के ऊपर उनके सूचक अवयव लिख दें।

इन १५ पंक्तियां में १३ आड़ी पंक्तियाँ वनती हैं। ऊपर से नीचे प्रत्येक पंक्ति के बाईं ओर १ द्रुत से आरम्भ करके क्रम से १-१ द्रुत बढ़ा कर उनके योग से बनने वाले यथा संभव वड़े अवयवों को लिखते जायें। इसके अनुसार ऊपर से नीचे की ओर क्रम से इन पंक्तियों के बाईं ओर द्रुत, लघु, द्रुत-लघु, गुरु, द्रुत-गुरु, प्लुत, द्रुत-प्लुत, लघु-प्लुत, द्रुत-लघु-प्लुत, गुरु-प्लुत, द्रुत-गुरु-प्लुत, प्लुत-प्लुत, द्रुत-प्लुत-प्लुत लिख दें।

अंक भरने के लिये पंक्तियाँ बाईं ओर से तथा ऊपर से नीचे गिनी जायेंगी। प्रथम पंक्ति में सभी कोष्ठों में १ अंक भर दें। द्वितीय पंक्ति में विषमसंख्यक कोष्ठों में शून्य तथा समकोष्ठों में १ अंक लिखें। तीसरी पंक्ति के प्रथम तीन कोष्ठों में शून्य, चौथे में १

१. वही, ३५६-३७६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तथा इसी क्रम से शेष कोष्ठ भर दें। चौथी पंक्ति में शुरू के ५ कोष्ठों में शून्य, छठे में १ तथा शेष कोष्ठों में इसी क्रम से अंक भर दें।

पाँचवीं से १०वीं तक ६ पंक्तियों में अंक भरने की विशेष विधि है। ये पंक्तियाँ दो-दो अवयवों के योग से बनी हैं अतः जिन-जिन अवयवों के योग से बनी हैं, प्रथम ४ पंक्तियों के उन-उन अवयवों की पंक्तियों के अंकों का विशेष प्रकार से इनमें योग किया जाता है। पाँचवीं पंक्ति ०। की सूचक है यानी ० और। की सूचक प्रथम दो पंक्तियों के अंकों तथा अन्त्य, उपान्त्य के योग से इसमें अंक लिखे जायँगे। विधि इस प्रकार है।

प्रकृत पंक्ति से ऊपर की आड़ी पंक्ति के द्रुत, लघु के अंकों १+१ का योग २ प्रथम कोष्ठ में लिख दें। दूसरे कोष्ठक में अन्त्य और पूर्व पंक्ति के द्रुत और लघु अंक अर्थात् २+१=३ लिख दें क्योंकि पूर्वपंक्ति में लघु अंक नहीं है। तीसरे आदि में अन्त्य, उपान्त्य, ऊपर की पंक्ति के द्रुत, लघु अंकों का योग ३+२+१+१=७ लिख दें। इसी क्रम से चौथे में ७+३+१=११, पाँचवें में ११+७+१+१=२०, छठे में २०+११+१=३२, सातवें में ३२+२०+१+१=५४, आठवें में ५४+३२+१ =८७, नवें में ८७+५४+१+१=१४३, दसवें में १४३+८७+१=२३१, ग्यारहवें में २३१+१४३+१+१=३७६ अंक लिख दें।

द्रुत गुरु वाली छठी पंक्ति में यथासंभव अन्त्य, चौथे और ऊपर की आड़ी पंक्ति के गुरु व द्रुत कोष्ठों के अंकों का योग लिखा जाता है। इसके अनुसार छठी पंक्ति के पहले कोष्ठक में इससे ऊपर की पंक्ति के द्रुत व गुरु सूचक कोष्ठकों के अंकों का योग (१+१)=२ लिख दें। दूसरे कोष्ठक में अन्त्य और ऊपर की पंक्ति के द्रुत के अंक का योग (२+१)=३ लिख दें क्योंकि गुरु अंक नहीं है। तीसरे में ३+१=४, चौथे में ४+१=५, पाँचवें में अन्त्य, चौथे और पूर्व पंक्ति के द्रुत, गुरु सूचक अंकों (५+२+ १+१=९, छठे में भी इसी प्रकार ९+३+१=१३, सातवें में १३+४+१=१८, आठवें में १८+५+१=२४ और नवें में २४+९+१+१=३५ अंक लिख दें।

द्रुत प्लुत सूचक सातवीं पंक्ति के कोष्ठों में अंक लिखने की विधि यह है। इस पंक्ति से ऊपर की आड़ी पंक्तियों में से संनिहित (निकटतम) अथवा व्यवहित (उससे ऊपर वाली) पंक्तियों में द्रुत के होते हुए भी प्लुत का अभाव होने के कारण प्लुत योग संभव न होने से प्रथम कोष्ठ में शून्य लिखा जायगा। दूसरे में ऊपर की पंक्ति के द्रुत प्लुत कोष्ठों के अंकों का योग १+१=२ लिखें। तीसरे आदि में यथासंभव अन्त्य, छठे और यथासंभव ऊपर की पंक्ति के द्रुत, प्लुत अंकों का योग लिख दें। इस प्रकार तीसरे में अन्त्य, ऊपर की पंक्ति के द्रुत का योग २+१=३ लिख दें। चौथे, पाँचवें और छठे कोष्ठों में भी इसी प्रकार अन्त्य और द्रुत अंकों के योग क्रमशः ४, ५, ६ लिख दें। सातवें कोष्ठ में अन्त्य, छठे और द्रुत योग ६+०+१=७ लिख दें। आठवें में अन्त्य ७, छठे २, ऊपर की पंक्ति के द्रुत, लघु १+१ का योग ११ लिख दें।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लघु गुरु सूचक आठवीं पंक्ति में ऊपर की संनिहित पंक्ति में लघु गुरु अभाव के कारण व्यवहित पंक्ति के लघु गुरु अंकों का योग १+१=२ लिखें। शेष कोष्ठों में उपान्त्य, चौथे, ऊपर की पंक्ति के लघु गुरु कोष्ठों के अंकों का योग लिखें। दूसरे कोष्ठ में भरने के लिये उपान्त्य अंक नहीं है। संनिहित ऊपर पंक्ति में लघु अंक है किन्तु गुरु नहीं तथा व्यवहित ऊपर पंक्ति में लघु-गुरु दोनों ही नहीं इसलिये यहाँ लघु गुरु योग संभव न होने के कारण शून्य लिख दें। तीसरे कोष्ठ में उपान्त्य २ और संनिहित के अभाव में व्यवहित ऊपर पंक्ति के लघु अंक १ का योग ३ लिख दें। चौथे कोष्ठ के लिये ऊपर की पंक्ति में लघु गुरु अंक हैं किन्तु उपान्त्य और चौथा उपलब्ध नहीं है तथा लेख्य पंक्ति (अर्थात् जिस पंक्ति में लिखना है) के बाईं ओर लघु गुरु अंक भी नहीं है इसलिये लघु गुरु प्रस्तार संभव न होने से शून्य लिख दें। पाँचवें में उपान्त्य, चौथा और व्यवहित ऊपर की पंक्ति के लघु, गुरु अंक १+१ का योग ७ लिख दें। छठे के लिये उपान्त्य, चौथा अंक नहीं है तथा संनिहित, व्यवहित तिरछी पंक्तियों में लघु गुरु योग नहीं इसलिये शून्य लिख दें। सातवें में उपान्त्य ७, चौथे ३ और व्यवहित पंक्ति के लघु अंक १ का योग ११ लिख दें। आठवें में चौथे की भाँति शून्य लिखें।

लघु प्लुत सूचक नवीं पंक्ति में तीसरे, छठे तथा ऊपर की पंक्ति के लघु-प्लुत अंकों का योग भरा जाता है। प्रथम कोष्ठ के लिये ऊपर की पंक्ति में लघु प्लुत योग सम्भव होने पर भी उसी तिरछी पंक्ति के लघु प्लुत प्रस्तार में लघुप्लुत युक्त भेद असंभव है इसलिये शून्य लिख दें। द्वितीय कोष्ठ में व्यवहित ऊपर पंक्ति के लघु प्लुत अंकों को जोड़ कर १+१=२ लिखें। उपान्त्य और छठे अंकों के अभाव में उन-उन ताल प्रस्तारो में वे भेद असंभव होने के कारण तीसरे, पाँचवें, सातवें विषम कोष्ठों में शून्य लिखें। शेष समकोष्ठों में यथासंभव उपान्त्य, छठे तथा यथासंभव संनिहित (अभाव में विपर्यस्त) लघु प्लुत अंकों का योग लिख दें। तदनुसार चौथे कोष्ठ में २+१=३, छठे में ३+१=४ लिखें।

गुरु प्लुत सूचक दसवीं पंक्ति में पूर्ववत् गुरु प्लुत योग और प्रस्तार संभव न होने से प्रथम तीन कोष्ठों में शून्य लिखा जायगा। चौथे में ऊपर की विपर्यस्त आड़ी ऊपर की पंक्तियों के गुरु प्लुत अंकों का योग १+१=२ लिख दें। शेष में पूर्ववत् ताल प्रस्तार संभव न होने से शून्य लिख दें।

यहाँ तक दो अवयवों के योग से बनने वाली ६ पंक्तियाँ हुईं। इसके बाद तीन अवयवों के योग से ४ पंक्तियाँ बनती हैं। उनकी विधि विशेष है।

इनमें दो अवयवों के योग से बनने वाली (द्वियोगजा) पंक्तियों के अंकों का योग किया जाता है। किन्तु जिन द्वियोगजा पंक्तियों के प्रथम कोष्ठ शून्य युक्त हैं उनके शून्य अंक वाले कोष्ठकों को छोड़ कर अगले कोष्ठ से प्रथम कोष्ठ गिना जाता है। इसके बाद के शून्य वाले कोष्ठक भी दूसरे आदि गिने जाते हैं। लेख्य पंक्ति के जितनवें कोष्ठ में अंक भरने हों द्वियोगजा पंक्तियों के उतनवें कोष्ठों के अंकों का लेख्य पंक्ति के अपने कोष्ठों के साथ योग किया जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्रुत, लघु, गुरु सूचक ग्यारहवीं पंक्ति में अन्त्य, उपान्त्य, चौथे और ०, ।, ऽ अवयवों से बनने वाली ०।, ०ऽ, ।ऽ—इन तीन द्वियोगजा पंक्तियों के कोष्ठको के अंकों का योग किया जाता है। तदनुसार प्रथम कोष्ठ में द्वियोगजा के अंकों का योग(२ + २ + २ =) ६ लिखें। दूसरे कोष्ठक में अन्त्य तथा द्वियोगजाओं के दूसरे-दूसरे कोष्ठों का योग (६ + ३ + ३ =)१२ लिखें। तीसरे में अन्त्य, उपान्त्य और तीसरे-तीसरे कोष्ठों का योग (१२+६+७+४+३=)३२ लिखें। शेष कोष्ठों में भी अन्त्य, उपान्त्य, चौथे और अगले-अगले कोष्ठों का योग लिखें। तदनुसार चौथे में (३२+१२+११+५=)६० लिखें। पाँचवें में (६०+३२+६+२०+९+७=)१३४, छठे में (१३४+६०+१२ +३२+१३=)२५१, सातवें में (२५१+१३४+३२+५४+१८+११=)५०० लिख दें।

द्रुत लघु प्लुत सूचक १२वीं पंक्ति में ०।, ०ऽ' और ।ऽ'—इन तीन द्वियोगजा पंक्तियों के अंकों के साथ लेख्य पंक्ति के अन्त्य, उपान्त्य, छठे अंकों का योग किया जाता है। इनमें से ०ऽ' और ।ऽ' पंक्तियों के प्रथम कोष्ठ शून्य युक्त हैं इसलिये उनके बाद वाले कोष्ठों से प्रथम गिना जाता है। तदनुसार लेख्य पंक्ति के प्रथम कोष्ठ में तीनों पंक्तियों के प्रथम कोष्ठों के अंकों का योग (२+२+२=)६, दूसरे में अन्त्य और दूसरे-दूसरे कोष्ठों का योग (६+३+३=)१२, तीसरे में अन्त्य, उपान्त्य तीसरे-तीसरे कोष्ठों का योग (१२+६+७+४+३=)३२, चौथे में इसी प्रकार (३२+१२+११+५=) ६० और पाँचवें में (६०+३२+२०+६+४=)१२२ लिखें।

द्रुत गुरु प्लुत सूचक १३वीं पंक्ति में भी पूर्ववत् किन्तु अन्त्य, चौथे, छठे के साथ ०ऽ, ०ऽ' ऽऽ' पंक्तियों के अंकों का योग किया जायगा। इनमें से ०ऽ' के शून्य कोष्ठ के बाद तथा ऽऽ' में प्रथम तीन कोष्ठ छोड़ कर पहला कोष्ठक गिना जायगा। तदनुसार लेख्य पंक्ति में प्रथम-प्रथम कोष्ठों का योग (२+२+२=)६ लिख दें। दूसरे में (६+३+३ =) १२ तथा तीसरे में (१२+४+४=)२० लिख दें।

लघु गुरु प्लुत सूचक १४वीं पंक्ति में ।ऽ, ।ऽ', ऽऽ' पंक्तियों का योग लेख्य पंक्ति के उपान्त्य, चौथे, छठे के साथ होगा। तीनों कोष्ठों के अंक युक्त प्रथम-प्रथम कोष्ठों का योग (२+२+२=) ६ लिखें। उपान्त्य अंक न होने तथा इन तीनों पंक्तियों के दूसरे-दूसरे कोष्ठक शून्य युक्त होने से प्रस्तार संभव न होने के कारण लेख्य पंक्ति के दूसरे कोष्ठक में शून्य लिख दें।

अंतिम द्रुत लघु गुरु प्लुत की सूचक १५वीं पंक्ति में त्रियोगजा पंक्तियों के प्रथम-प्रथम कोष्ठों के अंकों का योग (६+६+६+६=) २४ लिख दें। इससे आगे यदि कोष्ठ हों तो शेष में अन्त्य, उपान्त्य, चौथे, छठे और त्रियोगजा पंक्तियों के अंकों का योग लिखा जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसके अनुसार संयोग मेरु इस प्रकार बना—

		०	।	ऽ	ऽ'	०।	०ऽ	०ऽ'	।ऽ	।ऽ'	ऽऽ'	०।ऽ	०।ऽ'	०ऽऽ'	।ऽऽ'	०।ऽऽ'
१	०	१	०	०	०											
२	।	१	१	०	०											
३	०।	१	०	०	०	२										
६	ऽ	१	१	१	०	३										
१०	०ऽ	१	०	०	०	७	२									
१९	ऽ'	१	१	०	१	११	३	०	२							
३३	०ऽ'	१	०	०	०	२०	४	२	०	०	०	६				
६०	।ऽ'	१	१	१	०	३२	५	३	३	२	०	१२				
१०६	०।ऽ'	१	०	०	०	५४	९	४	०	०	०	३२	६			
१९१	ऽऽ'	१	१	०	०	८७	१३	५	७	३	२	६०	१२			
३४०	०ऽऽ'	१	०	०	०	१४३	१८	६	०	०	०	१३४	३२	६		
६१०	ऽ'ऽ'	१	१	१	१	२३१	२४	७	११	४	०	२५१	६०	१२	६	
१०८९	०ऽ'ऽ'	१	०	०	०	३७६	३५	११	०	०	०	५००	१२२	२०	०	२४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संयोग मेरु से निम्न ज्ञात होता है :

(१) आड़ी १३ पंक्तियाँ उनके बाईं ओर लिखे अवयवों के प्रस्तारों की सूचक हैं। इस प्रकार ऊपर से आरंभ करके ये पंक्तियाँ क्रमशः ०, ।, ०।, ऽ ०ऽ, ऽ', ०ऽ', ।ऽ', ०।ऽ', ऽऽ', ०ऽऽ', ऽ'ऽ', ०ऽ'ऽ' के प्रस्तारों का बोध कराती हैं।

(२) आड़ी पंक्ति के कोष्ठकों के अंकों का योग बाईं ओर लिखे अवयव के कुल प्रस्तारों की संख्या सूचित करता है। जैसे, गुरु अवयव की सूचक चौथी आड़ी पंक्ति के अंकों का योग १+१+१+३=६ है। इसलिये गुरु अवयव के कुल प्रस्तारों की संख्या ६ का बोध होता है।

(३) ऊपर से नीचे की खड़ी पंक्तियाँ उनके ऊपर लिखे अवयवों की सूचक हैं जो आड़ी पंक्तियों के सूचक अवयवों के कुल प्रस्तारों में खड़ी पंक्तियों के अवयवों से बनने वाले प्रस्तारों की संख्या को सूचित करते हैं। जैसे—छठी आड़ी पंक्ति प्लुत प्रस्तारों की है। इस पंक्ति के जिन कोष्ठो में अंक हैं उनमें से पहला कोष्ठक खड़ी पंक्ति में द्रुत पंक्ति में, दूसरा कोष्ठक लघु पंक्ति में, चौथा प्लुत में, पाँचवाँ द्रुत लघु में, छठा द्रुत गुरु में और आठवाँ लघु गुरु पंक्ति में आता है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्लुत प्रस्तारों में एक प्रस्तार सर्वद्रुत, १ प्रस्तार सर्वलघु, १ प्रस्तार सर्वप्लुत, ११ प्रस्तार द्रुत लघु से, ३ प्रस्तार द्रुत गुरु से और २ प्रस्तार लघु गुरु अवयवों से बनते हैं। इन सबका योग ३३ प्लुत के कुल प्रस्तारों का बोधक है।

(४) खड़ी पंक्तियो में प्रथम चार पंक्तियाँ क्रम से सर्वद्रुत, सर्वलघु, सर्वगुरु, सर्वप्लुत प्रस्तारों की संख्या को सूचित करती हैं।

इस प्रकार संयोग मेरु किसी अवयव के प्रस्तारों की संख्या और उनमें एक या अधिक अवयवों से बनने वाले प्रस्तारों की संख्या—दोनों का एक साथ ज्ञान कराता है इसीलिये संयोग मेरु कहलाता है।

११—खण्ड प्रस्तार[1]

किसी एक खण्ड के आधार पर प्रस्तार बनाने की विधि खण्डप्रस्तार कहलाती है। द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत मेरुओं से जो ज्ञात होता है उसका (पूरे मेरु के आधार पर नहीं बल्कि) उनके किसी एक खंड के आधार पर उद्धार करना अर्थात् प्रस्तार बनाना खण्ड प्रस्तार है। जैसे—प्लुत प्रस्तारों की द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत मेरुओं के प्लुत प्रस्तार खंडों के आधार पर रचना करना। क्रिया सबसे छोटे अवयव से आरम्भ की जाती है इसलिये द्रुतमेरु से आरम्भ करके प्लुत के खण्ड प्रस्तार यहाँ दिखाये जा रहे हैं।

---

१. वही, ३७७–३७८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्रुतमेरु की छठी ऊर्ध्व पंक्ति प्लुत प्रस्तारों की बोधक है। नीचे से ऊपर के अंक क्रम से ४ द्रुतहीन, ९ द्विद्रुत, ५ चतुर्द्रुत और १ सर्वद्रुत प्रस्तारों के सूचक हैं। इसलिये पहले ऽ' लिख कर ऽ' से द्रुतहीन, ००ऽ से द्विद्रुत तथा ००००। से चतुर्द्रुत प्रस्तारों का आरम्भ करके प्रस्तार रचना विधि के अनुसार प्रस्तार बनायें तो निम्न प्रस्तार बनते हैं—

द्रुतहीन (४)	द्विद्रुत (९)	चतुर्द्रुत (५)	सर्वद्रुत (१)
ऽ'	० ० ऽ	० ० ० ० ।	० ० ० ० ० ०
। ऽ	० ० । ।	० ० ० । ०	
ऽ ।	० । ० ।	० ० । ० ०	
। । ।	। ० ० ।	० । ० ० ०	
	० ऽ ०	। ० ० ० ०	
	० । । ०		
	। ० । ०		
	ऽ ० ०		
	। । ० ०		= कुल १९

लघुमेरु की छठी ऊर्ध्व पंक्ति प्लुत प्रस्तारों में ५ लघुहीन, ७ एक लघु वाले, ६ दो लघु वाले और १ तीन लघु वाले प्रस्तारों की बोधक है। इसलिये ऽ' से लघुहीन, ।ऽ से एक लघु वाले, ००।। से दो लघु वाले और ०।।। से आरम्भ करके त्रिद्रुत प्रस्तार बनेंगे।

गुरुमेरु की छठी ऊर्ध्व पंक्ति के प्लुत प्रस्तारों में १४ गुरुहीन और ५ एक गुरु वाले प्रस्तार होते हैं। ऽ' से गुरुहीन और ।ऽ से एक गुरु प्रस्तार आरम्भ करके शेष बनेंगे।

प्लुत मेरु की छठी पंक्ति प्लुत प्रस्तारों में १८ प्लुतहीन और १ सर्वप्लुत प्रस्तारों की बोधक है। १९ में से प्रथम भेद को छोड़ कर ।ऽ से आरम्भ करके १८ प्लुतहीन प्रस्तार बनेंगे। प्रथम प्रस्तार सर्वप्लुत होता है।

१२—द्रुतमेरु नष्ट

(१) अधःपंक्ति समकोष्ठ नष्ट[1]

द्रुत मेरु की नीचे की पहली पंक्ति के समकोष्ठों के द्वारा सूचित किसी अवयव के द्रुतहीन भेदों का नष्ट अर्थात् स्वरूप जानने की विधि इस प्रकार है। उस कोष्ठ की संख्या में से द्रुतहीन प्रस्तारों में से जितनवें प्रस्तार का स्वरूप ज्ञात करना हो उसे घटा दें। शेष में से उस कोष्ठ से पूर्व के तीसरे और पाँचवें अंकों को घटाते जायँ। अपतित से लघु, दो पतितों से गुरु प्राप्त होता है तथा गुरु हेतु निरन्तर पतितों के बाद फिर

१. वही, ३७८-३८४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पतित होने से गुरु ही प्लुत प्राप्त कराता है। अपतित के बाद पतित गुरु प्राप्त कराता है और उसके बाद फिर पतित हो तो भी गुरु प्लुत हो जाता है। शेष अंक न हो तो पूरण हेतु लघु प्राप्ति होती है। उदाहरणार्थ—द्रुत मेरु की नीचे की पंक्ति के छठे (सम) कोष्ठ का अंक (४) ऽ' से बनने वाले १९ प्रस्तारों में ४ द्रुतहीन भेदों का सूचक है। इन ४ में से प्रथम भेद का स्वरूप क्या है इस प्रश्न का उत्तर नष्ट विधि से इस प्रकार होगा। यह अंक अपने कोष्ठ से पूर्व के तीसरे, पाँचवें, सातवें कोष्ठकों के अंकों के योग से प्राप्त हुआ इसलिये इन अंकों को घटाया जायगा।

सबसे पहले द्रुतहीन भेदों की कुल संख्या ४ में से नष्टांक १ घटा दें। शेष में से तीसरे, पाँचवें जो अपने परवर्ती अंकों के उपान्त्य हैं घटायें। यथा—

पहला भेद

$$\begin{array}{r} ४ \\ १ \\ \hline ३ \\ २ \\ \hline १ \\ १ \\ \hline ० \end{array}$$

पतित से गुरु प्राप्ति के बाद फिर पतित होने से गुरु ही प्लुत हो गया। इस प्रकार ऽ' के ४ द्रुतहीन भेदों में से पहले भेद का स्वरूप ऽ' ज्ञात हुआ।

दूसरा भेद

$$\begin{array}{r} ४ \\ २ \\ \hline २ \\ २ \\ \hline ० \end{array}$$

पतित से गुरु प्राप्त हुआ। पूरणार्थं लघु प्राप्ति हो कर दूसरे द्रुतहीन भेद का स्वरूप। ऽ ज्ञात हुआ।

तीसरा भेद

$$\begin{array}{r} ४ \\ ३ \\ \hline १ \\ २ \\ १ \\ १ \\ \hline ० \end{array}$$

अपतित से लघु, पतित से गुरु प्राप्त हुआ इसलिये ऽ। स्वरूप ज्ञात हुआ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चौथा भेद

४
४
—
०

शेषांक न होने के कारण पूरणार्थं तीन लघु प्राप्ति होकर चौथे द्रुतहीन भेद का स्वरूप ।।। ज्ञात हुआ।

(२) अध.पंक्ति—विषम कोष्ठ नष्ट[1]

द्रुत मेरु की नीचे की पंक्ति के विषम कोष्ठों की नष्ट विधि पूर्वोक्त सामान्य नष्टविधि के ही समान है किन्तु अपतित से द्रुत लाभ होने के बाद अध:पंक्ति के समकोष्ठ की विधि का अनुसरण किया जाता है अर्थात् प्रथम अपतित से द्रुत प्राप्ति के बाद तृतीय या पञ्चम से गुरु प्राप्ति आदि नियम लागू होते हैं। उदाहरणार्थ—द्रुतमेरु की नीचे की पंक्ति के ७ वें (विषम) कोष्ठ का अंक (१२) ०ऽ' से बनने वाले कुल प्रस्तारों में एक द्रुत वाले १२ प्रस्तारों की संख्या का सूचक है। इन १२ में से पहले और दसवें भेद का स्वरूप ज्ञात करने की विधि यह है। १२ में से प्रकृत संख्या १ घटाने पर शेष ११ में से (नष्टविधि की भाँति) पूर्व-पूर्व अंक ४, ५ और २ घटायें। ४ और ५ निरन्तर पतित

१२
१
—
११
४
—
७
५
—
२
२
—
०

होने से गुरु प्राप्त हुआ। गुरु हेतु पतित के बाद का (२) अंक पतित होने से गुरु प्लुत हो गया। पूरणार्थं द्रुत के साथ प्रस्तार का स्वरूप ०ऽ' ज्ञात हुआ।

१०वाँ भेद

१२
१०
—
२
४
२
२
—
०

१२ में से १० घटाने से २ प्राप्त हुआ। इसमें से पूर्व कोष्ठ का अंक ४ अपतित होने से द्रुतलाभ हुआ। द्रुत प्राप्ति के बाद समकोष्ठ विधि के अनुसार तीसरे, पाँचवें अंक घटाये जाते हैं। तदनुसार तीसरे अंक २ के पतित होने से गुरु प्राप्त हुआ। समकोष्ठ विधि के अनुसार पूरणार्थं लघु प्राप्ति होकर १०वें प्रस्तार का स्वरूप ।ऽ० ज्ञात हुआ।

(३) परपंक्ति नष्ट[2]

द्रुत मेरु की नीचे से दूसरी आड़ी पंक्ति की नष्टविधि सामान्य नष्टविधि की ही

१. वही, ३८७   २. वही, ३८९-३९२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाँति है किन्तु इसमें अपने से द्वितीय के नीचे का अंक भी घटाया जाता है। अपतित से द्रुत और पतित से लघु प्राप्त होता है। निरन्तर पतितों से अल्प ही महान् हो जाता है अर्थात् लघु गुरु हो जाता है, गुरु प्लुत हो जाता है। शेष विधि नीचे की पंक्ति के समकोष्ठ जैसी है। अंक प्राप्ति के बाद नई क्रिया जिस कोष्ठ से की जाती है वह कोष्ठ ऊर्ध्व पंक्तियों में से जिसमें हो वह पंक्ति यदि विषम हो तो विषमकोष्ठ विधि की जाती है और यदि समपंक्ति हो तो समकोष्ठ विधि की जाती है। उदाहरणार्थ—प्लुत के २ द्रुत वाले ९ भेदों में से पहले और आठवें की विधि इस प्रकार है।

पहला भेद

९
१
———
८
५
———
३
३
———
०

९ में से १ घटा कर शेषांक ८ में से द्वितीय से नीचे वाला अंक ५ घटायें। शेष अंक ३ में से तीसरा अंक ३ घट जाता है। निरन्तर पतित से लघु ही गुरु हो गया तथा पूरणार्थ दो द्रुत प्राप्त होकर पहले प्रस्तर का स्वरूप ००ऽ ज्ञात हुआ।

आठवाँ भेद

९
८
———
१
५
१
३
१
१
———
०

९ में से ८ घटाने पर शेष १ में से ५ नहीं घटा इसलिये द्रुत प्राप्त हुआ। १ में से तीसरा अंक ३ भी नहीं घटता इसलिये फिर से द्रुत प्राप्त हुआ। ५वाँ अंक १ घट गया। यह अंक समपंक्ति में है इसलिए उसकी विधि के अनुसार अपतित के बाद पतित से गुरु प्राप्त होकर प्रस्तार का स्वरूप ऽ०० ज्ञात हुआ।

१३—द्रुतमेरु उद्दिष्ट

(१) अधःपंक्ति समकोष्ठ उद्दिष्ट[१]

द्रुतमेरु के आधार पर जैसे नष्ट अर्थात् प्रस्तार का स्वरूप ज्ञात होता है उसी प्रकार उद्दिष्ट अर्थात् प्रस्तार की संख्या भी ज्ञात होती है। द्रुत मेरु की नीचे की आड़ी पंक्ति के समकोष्ठ अर्थात् बाईं ओर से दूसरे, चौथे, छठे आदि कोष्ठों के आधार पर उद्दिष्ट विधि इस प्रकार है। उद्दिष्ट भेद में यदि अन्तिम अवयव गुरु हो तो तीसरे अंक का ग्रहण किया जाता है और यदि प्लुत अन्तिम हो तो तीसरे और पाँचवें का।

---

१. वही, ३८४-३८६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लघु से कोई अंक प्राप्त नहीं होता। प्राप्त अंकों का योग करके उस कोष्ठ की संख्या में से घटाया जाता है जिस कोष्ठ की संख्या में प्रकृत प्रस्तार आता है। शेष अंक उद्दिष्ट भेद की संख्या सूचित करता है। उदाहरणार्थ— द्रुत मेरु की सबसे नीचे की पंक्ति के छठे समसंख्यक कोष्ठ का अंक ४ प्लुत के द्रुतहीन प्रस्तारों की संख्या को सूचित करता है। ऽ' के द्रुतहीन प्रस्तार ये हैं—ऽ', ।ऽ, ऽ।, ।।। इनमें से ऽ' कितनवाँ है यह ज्ञात करने की विधि यह है। द्रुत मेरु की नीचे की पंक्ति में ४ से पूर्व तीसरा अंक २ और पाँचवाँ अंक १ है। दोनों के योग २+१=३ को कुल संख्या ४ में से घटाने पर १ बचा। इस लिये प्रकृत प्रस्तार द्रुतहीन ४ भेदों में पहला है। इसी प्रकार ।ऽ में अन्तिम अवयव गुरु से तीसरा अंक २ प्राप्त हुआ। लघु से अंक प्राप्ति नहीं होती। इसलिये ४ में २ घटाने पर प्राप्त अंक २ इस भेद की दूसरी संख्या को सूचित करता है। ऽ। में अन्तिम अवयव लघु से अंकप्राप्ति नहीं हुई। गुरु से तीसरा अंक १ प्राप्त हुआ जिसे ४ में से घटाने पर प्रस्तार की संख्या ३ ज्ञात हुई। ।।। में सभी लघु हैं जिनसे कोई अंक प्राप्त नहीं हुआ। ४ में से शून्य घटाने पर प्रस्तार की संख्या ४ ज्ञात हुई। इस प्रकार ४ द्रुतहीन प्रस्तारों में से ऽ' पहला, ।ऽ दूसरा, ऽ। तीसरा और ।।। चौथा है।

(२) अधमपंक्ति विषम-कोष्ठ उद्दिष्ट[१]

उद्दिष्ट के समान ही विधि है। किन्तु विशेष यह है कि द्रुत प्राप्ति के बाद सम-कोष्ठ की उद्दिष्ट विधि का अनुसरण किया जाता है। उदाहरणार्थ—५वें विषम कोष्ठ का अंक ५ द्रुत गुरु के १ द्रुत वाले ५ प्रस्तारों का सूचक है। इनमें से ०ऽ की संख्या इस प्रकार ज्ञात होगी। ऽ निरन्तर पतितों से प्राप्त होता है इसलिये प्रकृत कोष्ठ से पूर्व के दो अंकों २+२ की प्राप्ति होगी। द्रुत से अंक प्राप्ति नहीं होती। इनके योग ४ को ५ में से घटाने पर १ बचा। इसलिये ०ऽ पहला भेद है। इसी प्रकार ऽ० कितनवाँ भेद है इसरा उत्तर यह है। द्रुत से अंक प्राप्ति नहीं होती तथा द्रुत के बाद समकोष्ठ विधि की तरह गुरु तीसरे अंक अर्थात् १ की प्राप्ति करायेगा। ५ में से एक घटाने पर प्रस्तुत भेद चौथा है, यह ज्ञात हुआ। ।०। में लघु से २ प्राप्त हुआ। द्रुत से अंक प्राप्ति नहीं हुई। द्रुत के बाद समकोष्ठ विधि के अनुसार लघु से अंक प्राप्ति नहीं होती। इसलिये ५ में से २ घटाने पर प्रकृत भेद की संख्या तीसरी ज्ञात हुई।

(३) परपंक्ति उद्दिष्ट[२]

उद्दिष्ट विधि की भाँति ही पूरी विधि है। केवल सम संख्यक कोष्ठों में आने वाले लघु से कोई अंक प्राप्त नहीं होता क्योकि समपंक्तियों में लघु की प्राप्ति अपतित से होती है।

१४—लघुमेरु नष्ट[३]

सामान्य नष्ट विधि की तरह लघुमेरु की अधःपंक्ति की नष्ट विधि है। किन्तु

१. वही, ३८८ २. वही, ३९३-३९५ ३. वही, ३९५-३९७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लघुमेरु की नीचे की पंक्ति लघुहीन भेदों की सूचक है इसलिये पतित से लघु के स्थान पर गुरु प्राप्त होता है। उसके सहित ४ अंक निवृत्त होकर फिर विधि आरम्भ होती है। निवृत्त हुए अंक फिर से नहीं गिने जाते। गुरु प्राप्ति के बाद अंक निवृत्ति होने पर उससे पूर्व अंक पतित होने पर वह गुरु को प्लुत बना देता है। लघु मेरु की नीचे की पंक्ति इस प्रकार है—

१	१	१	२	३	५	७
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ′	०ऽ′

प्लुत के लघुहीन ५ भेदों में से तीसरे की नष्ट विधि इस प्रकार है। ७ में से ३ घटा दें, शेष ४ रहा। ४ में से पूर्व अंक ५ पतित न होने से द्रुत प्राप्त हुआ। ४ में से ३ पतित होकर शेष १ रहा और चार अंक (३, २, १, १,) निवृत्त हुए। अन्तिम अंक १ घटने से गुरु प्लुत हो गया। इस प्रकार तीसरे भेद का स्वरूप ऽ′० ज्ञात हुआ।

१५—लघुमेरु उद्दिष्ट

लघु, गुरु, प्लुत मेरुओं की उद्दिष्ट विधि अलग-अलग न बता कर केवल कह दिया गया हैं कि सामान्य उद्दिष्ट विधि की भाँति होती है।[१] यहाँ तीनों को अलग-अलग संक्षेप में समझाया जा रहा है।

उद्दिष्ट विधि की भाँति लघुमेरु की उद्दिष्ट विधि है। नीचे की पंक्ति लघुहीन भेदों की सूचक है इसलिये गुरु से प्रथम अंक प्राप्त होता है और ४ अंक निवृत्त होकर फिर अगली विधि होती है। प्लुत होने पर गुरु से प्राप्त अंक और अंक निवृत्ति के बाद अगला अंक प्राप्त होता है। द्रुत से अंक प्राप्ति नहीं होती। जैसे, ०ऽ′ के भेदों में से ऽ′० के लिये द्रुत से अंक प्राप्ति नहीं होगी। प्लुत में गुरु हेतु अंक ३ और फिर प्लुत हेतु पतित चार अंक छोड़ कर (३, २, १, १) १ प्राप्त हुआ। इनके योग ३+१=४ को ७ में से घटाने पर ३ बचे। इस प्रकार यह ज्ञात हुआ कि प्रकृत भेद तीसरा है।

१६—गुरु मेरु नष्ट

लघुमेरु की नीचे की पंक्ति में जैसे पतित से गुरु प्राप्त होता है उस प्रकार गुरुमेरु में नीचे की पंक्ति में निरन्तर पतित से प्लुत लाभ होता है। जैसे ऽ′ के गुरुहीन १४ भेदों में से पहला भेद ज्ञात करने के लिये १४ में से १ घटाने पर १३ शेष रहा। इसमें से पूर्व-पूर्व अंक ८ और ५ पतित होने से प्लुत लाभ हुआ। यही पहले भेद का स्वरूप है।

१७—प्लुत मेरु नष्ट

एक उदाहरण के द्वारा इसकी विधि, जो सामान्य नष्ट के समान है, को स्पष्ट किया जा रहा है। द्रुत प्लुत के ३३ प्रस्तारों में से ३१ प्रस्तार प्लुतहीन हैं। इनमें से तीसवें

१. वही, ४०८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भेद का स्वरूप ज्ञात करने के लिये ३१ में से ३० घटाने पर १ बचा। १ में से पूर्व अंक १८, १०, ६, ३, २ अपतित होने से ५ द्रुत प्राप्त हुए। शेष १ में से अंतिम अंक १ घट जाने से लघु प्राप्त हुआ इस प्रकार तीसवें भेद का स्वरूप ।००००० ज्ञात हुआ।

१८, १९—गुरु व प्लुत मेरु उद्दिष्ट

इन दोनों के उद्दिष्ट सामान्य उद्दिष्ट की भाँति हैं इसलिये इन्हें अलग-अलग नहीं दे रहे हैं।

इन १९ प्रत्ययों को समझ लेने पर किसी भी अवयव के कुल प्रस्तारों की संख्या, उनमें द्रुतहीन, लघुहीन, गुरुहीन, प्लुतहीन भेदों की संख्या व स्वरूप तथा किसी अवयव से युक्त प्रस्तारों की संख्या तथा स्वरूप सरलता से ज्ञात किये जा सकते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिच्छेद ग

रत्नाकरोत्तरकालीन ग्रंथों में ताल-निरूपण

ग्रन्थ परिचय

संगीत रत्नाकर के बाद ऐसे अनेक ग्रंथ हैं जिनमें ताल का निरूपण किया गया है। ये ग्रन्थ दो वर्गों में रखे जा सकते हैं—१ वे ग्रन्थ जिनमें सम्भवतः संगीत के सभी पक्षों का शास्त्रीय निरूपण है और एक अंग के रूप में ताल पर भी लिखा गया है। २. केवल ताल सम्बन्धी ग्रन्थ। पहले वर्ग के ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—संगीत-समयसार, संगीतोपनिषत्सारोद्धार, संगीतसुधाकर, आनन्दसंजीवनम्, संगीत-दामोदर, रसकौमुदी, संगीत दर्पण, संगीत मकरन्द, नर्तन निर्णय, अनूप संगीत विलास, अनूप संगीत रत्नाकर, अनूप संगीतांकुश, संगीत सारामृत, संगीत सूर्योदय, संगीत पाठ, संगीत सारोद्धार, अर्जुनादिमतसार आदि। दूसरे वर्ग में उनका उल्लेख किया जा सकता है जिनके नामों से ऐसा लगता है कि वे केवल ताल से ही सम्बन्धित हैं। जैसे—ताललक्षणम्, तालदशप्राणकरणम्, नृत्तताललक्षणम्, तालचन्द्रिका, तालदीपिका, ताललक्षणम्, (भिन्न ग्रन्थ है)। इनके अतिरिक्त एक ग्रन्थ और है जो संगीत का न होकर स्थापत्यशास्त्र का ग्रन्थ है लेकिन उसमें प्रसंगवश संगीत पर भी लिखा गया है। इसमें ताल से सम्बन्धित लगभग ४१ श्लोक हैं। ग्रन्थ का नाम है 'अपराजितपृच्छा' अथवा 'सूत्रसन्तानगुणकीर्ति-प्रकाशः' अथवा 'सूत्रसन्तानः'।

उपर्युक्त वर्गों के अतिरिक्त एक वर्ग उन ग्रन्थों का भी बनाया जा सकता है जिनमें वर्तमान कर्णाटक तालपद्धति का मूल तथा सूळादि तालों का निरूपण मिलता है। ऐसे तीन ग्रन्थ प्रमुख हैं—संगीत पारिजात, चतुर्दण्डी प्रकाशिका और संगीत नारायण।

ऊपर उल्लिखित ग्रन्थों में से कुछ में ताल सम्बन्धी कुछ विशेष बातें हैं जिनका अलग-अलग उल्लेख करना आवश्यक है।

संगीतसमयसार

संगीतसमयसार रत्नाकर का लगभग समकालीन ग्रन्थ है लेकिन उससे भिन्न कुछ ऐसे उल्लेख इसमें हैं जो पहले के किसी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होते और बाद के अनेक ग्रन्थों में हैं। पूर्व ग्रन्थों में ताल के मूल अवयव लघु का मान छन्द की भाषा में यानी ह्रस्वाक्षरों के उच्चारणकाल के रूप में ही कहा जाता रहा है। लेकिन इस ग्रंथ में भिन्न प्रकार से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

माप बताये गये है। १०० कमल के पत्तों को एक के ऊपर एक रखकर सूई के द्वारा तेज़ी से भेदन करने में लगने वाला समय एक 'क्षण' है। शेष माप इस प्रकार दिये गये हैं :

८ क्षण	=	१ लव
८ लव	=	१ काष्ठा
८ काष्ठा	=	१ निमेष
८ निमेष	=	१ काल
४ काल	=	१ त्रुटि
२ त्रुटि	=	१ अर्द्धद्रुत
२ अर्द्धद्रुत	=	१ बिन्दु
२ विन्दु	=	१ लघु
२ लघु	=	१ गुरु
३ लघु	=	१ प्लुत

दो प्रकार की मानगति कही गई गई है—मनोगा, हस्तगा। उपर्युक्त मनोगा है और आवापादि या ध्रुवादि हस्तगा कही गई है।[1] 'निमेष' को माप के रूप में भरत ने भी कहा है लेकिन एक निमेष और एक ह्रस्वाक्षर का काल बराबर माना गया है। यहाँ पूरा क्रम ही भिन्न है। केवल लघु, गुरु और प्लुत भरत और शार्ङ्गदेव के प्रमाण व क्रमानुसार हैं। लघु से आरम्भ करके निमेष का कालप्रमाण निकालें तो यह लघु का २५६ वाँ अंश बनता है।

$$\text{बिन्दु} = \text{द्रुत} = \frac{१}{२}$$

$$\text{अर्धद्रुत} = \text{अणुद्रुत} = \frac{१}{४}$$

$$\text{त्रुटि} = \text{अणुअणुद्रुत} = \frac{१}{८}$$

$$\text{काल} = \frac{१}{८} \times \frac{१}{४} = \frac{१}{३२}$$

$$\text{निमेष} = \frac{१}{३२} \times \frac{१}{८} = \frac{१}{२५६}$$

मार्ग तालों में निमेष लघु का पाँचवाँ हिस्सा है। यह विचरणीय है कि ताल के अवयवों का माप देने की विधि में यह अन्तर कब, क्यों और कैसे आया ? समकालीन होते हुए भी शार्ङ्गदेव ने इनका नाम तक नहीं लिया और पार्श्वदेव ने जिस तरह दिया है उससे लगता है कि माप सैद्धान्तिक रूप में पहले से मान्य रहे होंगे।

---

१. सं. स. सा., ८/३-८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीतोपनिषत्सारोद्धार

संगीतोपनिषत्सारोद्धार ऐसा पहला ग्रन्थ है जिसमें देशी तालों के लक्षणों के साथ पाट भी दिये हैं। जैसे—

आदिताल

त	द्धि	थउ	द्रै[1]
।	।	।	।

श्रीरंगताल

धिग्डितकि	थुंग्डिदिगि	थुगुतक्किता	तत्तत	तटकुटि धिटि टें[2]
।	।	ऽ	।	ऽ'

यह ध्यान देने योग्य है कि ये पाट अवनद्ध वाद्यों के है, तालवाद्यों के नहीं। संभव है कि इस ग्रन्थ के लेखनकाल यानी १४वीं शताब्दी के मध्य तक गीत वाद्य आदि के मान के लिये भी ताल का प्रयोग अवनद्ध वाद्यों पर होने लगा हो और इसी दृष्टि से विभिन्न तालों के लिये पाटों के आधार पर बोलों की रचना (आज की भाषा में 'ठेका') निश्चित की गई हों।

दूसरी विशेषता इस ग्रन्थ के तालाध्याय में यह है कि जिन ७४ तालों के लक्षण दिये हैं उन्हें १ मात्रा से शुरु करके १० मात्राओं के वर्गों में विभक्त करके उन्हीं वर्गों के अनुसार लक्षण दिये हैं। केवल एक-एक ताल ३० और ६० मात्रा के हैं। एक मात्रा का ताल बहुत छोटा होता है इसलिये यह कहा है कि ऐसे तालों को चौगुना करके लक्षण दिये जायँगे।[3] एक मात्रा वाले वर्ग में १¾ मात्रा तक के ताल दिये हैं।

क्रमशः ३० और ६० मात्रा वाले पूर्णचन्द्रताल और पृथ्वीकुण्डलीताल को छोड़ कर शेष सभी ताल संगीत रत्नाकर में उपलब्ध हैं, यद्यपि कहीं-कहीं लक्षण भेद हैं।

आनन्दसंजीवनम्

इसमें एक ही उल्लेखनीय बात है कि गुरु और प्लुत का माप लघु में नहीं बल्कि द्रुत के रूप में दिया है—

चतुर्द्रुतो गुरुर्ज्ञेयः षट्द्रुतः प्लुत उच्यते।

अर्थात् ४ द्रुत से गुरु और ६ द्रुत से प्लुत होता है। द्रुत का माप आधी कला कहा है। इससे यह भी सूचित होता है कि कला का अर्थ १ लघु है।

रसकौमुदी

मध्ययुग के अनेक ग्रन्थों में ताल के तत्त्वों को 'दशप्राण' के रूप में निरूपित किया गया है। इन सबका मूल इसी ग्रन्थ में है। प्राप्त ग्रन्थों में से रसकौमुदी, संगीतदर्पण

---

१. सं. सारो., पृ. २५ २. वही, पृ. ४७

३. वही, पृ. २४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और नर्तननिर्णय लगभग समकालीन हैं। इनमें से प्रथम दो में दशप्राण हैं जब कि तीसरे में नहीं हैं। दस प्राण ये हैं :—

कालो मार्गक्रियाङ्गानि ग्रहो जातिः कला लयः ।
यतिः प्रस्तार इत्युक्तास्ताले प्राणा दश क्रमात् ॥[1]

काल, मार्ग, क्रिया, अंग, ग्रह, जाति, कला, लय, यति और प्रस्तार—क्रम से ये दस प्राण होते हैं। काल में क्षण से प्लुत तक के अवयवों के मानों का, मार्ग में ध्रुव आदि ४ मार्गों का, क्रिया में सशब्द निःशब्द क्रियाओं का, अंग में द्रुत गुरु आदि अवयवों का ग्रह में अतीत आदि ग्रहों का तथा जाति में चतुरश्र, त्र्यश्र आदि तालजातियों का निरुपण है। कला और लय वाला अंश लुप्त है। अन्य ग्रन्थों में कला में ध्रुवका, सर्पिणी आदि का और लय में द्रुतादि लयों का निरुपण है। यति में स्रोतोगता आदि का और अन्त में प्रस्तार का निरुपण है।

संगीतदर्पण

इसमें रत्नाकरोक्त १२० तालों के लक्षण देने के वाद मतान्तर से १०४ ताल और भी कहे हैं जिनमें से कुछ को छोड़ कर शेष संगीत रत्नाकर या अन्य किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में नहीं हैं। इनमें से कुछ के नाम ये हैं—इडावान्, कुम्भ, लक्ष्मी, कुण्डनाची, कुल्ल, रच्चा, सन्नि, महासन्नि, यतिशेखर, इन्द्रकुण्डली, स्वर्णमेरु आदि।

नर्तननिर्णय

नर्तननिर्णय में १० प्राण के स्थान पर ताल के ६ साधन कहे गये हैं— क्रिया, मार्ग, ग्रह, परिवर्त, लय और यति। ये मूलतः मार्गतालों से सम्बद्ध विषय हैं।

संगीतमकरन्द

इसमें मार्ग और देशी का भेद नहीं किया है, यद्यपि दस प्राण और देशी वर्ग के ताल इसमें हैं। ५ मार्ग तालों की उत्पत्ति सदाशिव के ५ मुखों से, उन तालों के रंग, वर्ण, यति भी कहे हैं जो अन्य ग्रंथों में प्राप्त नहीं हैं। इन ५ तालों को ५ महापातकों—ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्णस्तेय, तल्पग और सबका एक साथ संयोग—का परिहार करने में समर्थ कहा है। देशी तालों को भी पापनाशक, यज्ञफल देने वाला तथा राज्य-वृद्धि, सन्तान देने वाला, शत्रुनाशक, सौभाग्य, अतुल आरोग्य, कामशास्त्र में वृद्धि और नृपों की कीर्ति बढ़ाने वाला कहा है।[2]

अनूपसंगीतरत्नाकर, अनूपसंगीतविलास, अनूपसंगीतांकुश

भावभट्ट रचित इन तीनों ग्रंथों में ताल सम्बन्धी अनेक श्लोक रत्नाकर से ज्यों के त्यों लिये गये हैं। यह उल्लेख महत्वपूर्ण हो सकता है कि आंजनेय मत से ताल के लघु गुरु आदि का मान दिया है। ये मान ठीक उसी रूप में हैं जो संगीतसमयसार में

१. रत्न., ४/६५ २. सं. म., पृ. ३३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्षण, काष्ठा, लव आदि के अनुसार दिये गये हैं। यदि यह उल्लेख सही हो तो यह कहा जा सकता है कि दशप्राण कि धारणा संभवतः काफ़ी पहले से चली आ रही होगी।

संगीतपाठ

इसमें सशब्द क्रियाओं के लक्षण कुछ भिन्न जान पड़ते हैं। जैसे—

आवाप — आवापो दक्षिणे पार्श्वे पताकाधस्तलेन च।
निष्काम — उत्तानेन पताकेन निःक्रामको भवेत्॥
विक्षेप — ऊर्ध्वंगत पताकेन विक्षेपाधस्तलेन च।
प्रवेशक — उरे (?) देशे पताकस्याकुञ्चनेन प्रवेशकः॥

यहाँ नृत्त की हस्तमुद्रा पताका के रूप में क्रियाओं के लक्षण दिये हैं। ताल की निःशब्द क्रियाओं में यह मुद्रा कैसे प्रयुक्त होगी यह स्पष्ट नहीं है।

इसमें मार्ग तालों के भी पाट कहे हैं। यद्यपि यह अंश खण्डित है फिर भी एकाध ताल के जो पाट दिये गये हैं वे उदाहरण के लिए प्रस्तुत हैं—

ततकिण कुकुज गजग ० ड ० णङ झें। झंतरिकु।
टकु ५ किडि किडि॥ ठिं ढि तथ दिधि। न न थों।
इति ध्रुवमार्ग चच्चत्पुटः।
तगत गतक कुंदरिकु। नकथरि॥ थरि ४। कुकु। तथकेरि।
थोंगण ६। झें जगजग ७। धिमिर्थरि ८॥ ततथरि॥

तालों के पाट देने के दो कारण हो सकते हैं—१. संभवतः अवनद्ध वाद्यों का प्रयोजन मुख्यतया उपरंजन न होकर मान करना भी हो गया था। २. ताल के शिक्षण और अभ्यास के लिए पाटाक्षर दिये गये हों जैसा कि संगीतसारोद्धार में कहा है—

तालाभ्यासोपयोगित्वाद्दलपाटोऽपि लिख्यते।

अपराजितपृच्छा

इसमें अपराजित नामक शिल्पी द्वारा विश्वकर्मा से पूछे गये प्रश्न और उनके उत्तर के रूप में विषय निरूपण है। ताल के महत्व के प्रतिपादक निम्न श्लोक उद्धरणीय हैं—

यतः प्रवर्तते वाद्यं रथे वै पथिका यथा।
समस्तं वै तालवाद्यं तालहीनं न विद्यते।
तालहीनं तथा वाद्यं चक्षुर्हीनो यथा नरः॥
करहीना यथा शक्तिर्विना मन्त्रीश्च राज्यकम्।
तालहीनं तथा वाद्यमावासो दीपकैर्विना॥
ताल आद्यः समस्तेषु रूपके नृत्यशासने।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थात् तालवाद्य उसी प्रकार प्रवर्तित होता है जैसे रथ में पथिक। तालरहित कोई वाद्य नहीं है। तालहीन वाद्य वैसा ही है जैसा चक्षुरहित मनुष्य, हाथ बिना शक्ति, मन्त्री बिना राज्य और दीपक के बिना भवन। सभी रूपकों में नृत्य के शासन के लिए ताल ही सर्वप्रथम वस्तु है।

पाँच मार्गताल और उनके लक्षण तथा कलाविधि भी दी गई है लेकिन अनेक स्थलों पर लक्षण अत्यन्त अस्पष्ट हैं। इस ग्रंथ का महत्त्व इस दृष्टि से है कि स्थापत्य का ग्रंथ होते हुए भी इसमें संगीत पर भी लिखा गया है।

इस खण्ड के शुरू में गिनाये गये अधिकांश ग्रंथों में विषय का पिष्टपेषण मात्र है। मार्गतालों व उनसे सम्बद्ध तत्त्वों को पूरी तरह छोड़ देना उचित न होगा, संभवतः इसीलिये उनके नाम ले लिये हैं और अत्यन्त संक्षिप्त और कभी-कभी अपूर्ण लक्षण दिये गये हैं, यद्यपि देशी संगीत के विकास और प्रचार के कारण मार्गतालों का प्रयोग नहीं रह गया था। यदि मार्ग तालों का प्रयोग होता भी होगा तो अन्य देशी तालों की तरह ताल के प्रकारों के रूप में क्योंकि उनके प्रयोजन, फल, प्रयोगविधि का कोई महत्त्व नहीं रह गया था। सशब्द निःशब्द क्रियाएँ, यति, मार्ग, ग्रह आदि का प्रयोग से लोप हो रहा था। दूसरी ओर देशी तालों से सम्बन्धित अवयवों का निरूपण, देशी तालों की संज्ञा तथा संख्या, लक्षण, प्रस्तार, नष्टोद्दिष्ट व मेरुओं के विस्तार की ही प्रवृत्ति अधिकांश ग्रंथों में दिखाई देती है। अनेक ग्रंथों में तो केवल देशी तालों के लक्षण ही मिलते हैं। मार्गताल सम्बन्धी विषयनिरूपण में अधिकांश ग्रंथों में संगीत रत्नाकर का ही अनुसरण किया गया है और कुछ ने तो रत्नाकर के श्लोक ज्यों के त्यों ले लिये हैं। जैसे—तुलजा रचित संगीत सारामृत में।

विभिन्न ग्रन्थों में देशी तालों की संख्या

देशी तालों की संख्या में बड़ी भिन्नता है। यद्यपि लक्षण अधिकांशतः संगीत रत्नाकर से मिलते हैं फिर भी कहीं-कहीं भिन्नता है। कुछ नामों का भी भेद है। इन ग्रंथों में दिये गये देशी तालों की संख्या की एक तालिका दी जा रही है जिससे संख्या का अन्तर स्पष्ट हो सके।

क्रमांक	ग्रंथ का नाम	तालसंख्या	विशेष उल्लेख
१.	संगीतसमयसार	१०१	५ मार्ग, ९६ देशी। लक्षण खण्डित हैं।
२.	संगीतोपनिषत्सारोद्धार	९८	पाटाक्षर सहित लक्षण हैं।
३.	संगीत सुधाकर	१०९	दोनों भिन्न पाण्डुलिपि हैं।
	,, ,,	१०५	
४.	आनन्दसञ्जीवनम्	१३०	
५.	संगीतदामोदर	६०	
६.	रसकौमुदी	३७	५ मार्ग, ३२ देशीताल हैं।
७.	संगीतदर्पण	२२४	

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

८.	संगीत मकरन्द	१०१	गुरू में संख्या १०१ कही, कुल नाम ८७ हैं, लक्षण १०५ तालों के हैं जिनमें ५ मार्ग, १०० देशी ताल हैं।
९.	नर्तन निर्णय	८५	भिन्न पाण्डुलिपि हैं।
	,,	८६	
१०.	अनूपसंगीतविलास	२४४	
११.	अनूपसंगीतरत्नाकर	५०	अनूपसंगीतविलास के तालों का ही संकलन है, ५० के बाद लक्षण खण्डित।
१२.	अनूपसंगीतांकुश	१५	ध्रुव नामक सालगसूड में प्रयुक्त होने वाले १५ तालों के लक्षण हैं।
१३.	संगीतसारामृत		रत्नाकर का नाम लिए बिना उसी के श्लोक ले लिए हैं।
१४.	संगीतसूर्योदय	१२०+१२१	१२० के लक्षण देकर, उनसे भिन्न १२१ के लक्षण दिये हैं।
१५.	संगीतपाठ		खण्डित है।
१६.	संगीतसारोद्धार	३६	
१७.	अर्जुनादिमतसार		देशीताल नहीं हैं।
१८.	काललक्षणम्		,, ,,
१९.	तालदशप्राणप्रकरणम्		,, ,,
२०.	नृत्ततालक्षणम्	४	खण्डित है।
२१.	तालचन्द्रिका		केवल सूळादि तालों में अलंकार हैं, देशी ताल नहीं हैं।
२२.	तालदीपिका	२२३	
२३.	काललक्षणम्		देशी ताल नहीं हैं, केवल ताल के तत्त्वों का विश्लेषण है।

ताल की धारणा में परिवर्तन

मध्ययुगीय ग्रंथों के अध्ययन से यह पता चलता है कि ताल के मूल तत्त्वों का निरूपण इन ग्रंथों में भी अवश्य किया गया। जहाँ तक मार्गतालों का सम्बन्ध है उनमें परिवर्तन की गुंजाइश नहीं थी इसलिये जिन ग्रंथकारों ने उन पर लिखा वह रत्नाकर के ढंग पर ही लिखा गया। लेकिन कुछ तत्त्वों के निरूपण का ढंग बदल गया, कुछ के भेदों में वृद्धि हुई और कुछ के स्वरूप में अन्तर आया। इन पर चर्चा अपेक्षित है।

अवयव

देशी तालों की सबसे छोटी इकाई द्रुत थी लेकिन इन मध्ययुगीग ग्रंथों में एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लघु के २५६वें अंश तक इकाइयों की खींचतान हुई। उदाहरण के लिए संगीत दर्पण में १२ मार्गों के आश्रित कलाभेद कहे गये—

सर्वेषां मतमाश्रित्य मार्गा द्वादशधा कृताः ॥
तेषां मार्गप्रभेदानां कलाभेदान्प्रचक्ष्महे ।
तदर्धार्धप्रभेदेन शास्त्रतस्सम्प्रदायतः ॥[1]

१२ मार्गों में क्रम से कला को आधा-आधा करने पर हर मार्ग में कलाओं का मान निम्न होता है—

मार्ग	कला का मान		
दक्षिण	८	मात्रा	
वार्तिक	४	,,	
चित्र	२	,,	
चित्रतर	१	,,	
चित्रतम	$\frac{१}{२}$	,,	(द्रुत)
अतिचित्रतम	$\frac{१}{४}$	,,	(अणुद्रुत)
चतुर्भाग	$\frac{१}{८}$	,,	(कलिकाकृति)
त्रुटि	$\frac{१}{१६}$	,,	
अणुत्रुटि	$\frac{१}{३२}$	,,	
घर्षण	$\frac{१}{६४}$	,,	
अनुघर्षण	$\frac{१}{१२८}$	,,	
स्वर	$\frac{१}{२५६}$	,,	[1]

गणित की दृष्टि से ये भेद उचित हो सकते हैं लेकिन कला के इतने छोटे अंश का प्रयोग लक्ष्यसम्मत नहीं है।

मार्ग

रत्नाकर में ४ मार्ग थे, यद्यपि इसके पूर्ववर्ती संगीत चूडामणि में ६ मार्ग कहे

---

१. सं. द., ६५४-६५५.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गये। संगीत दर्पण के उपर्युक्त अंश में १२ मार्गों की चर्चा है। इसका उल्लेख अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता। रसकौमुदी और संगीतदर्पण में दस प्राणों का निरूपण लगभग समान है लेकिन १२ मार्ग और तदनुसार कलाओं के भेद रसकौमुदी में नहीं हैं। दर्पणकार ने मार्ग की धारणा को अत्यधिक खींचा है। वास्तव में 'मार्ग' का सम्बन्ध मार्गतालों से ही था, देशी में उनका कोई स्थान नहीं था।

अवयवों के मान

ताल के लघु, गुरु आदि अवयवों के मान बताने के लिये निमेष या अक्षरकाल के बजाय पद्मपत्र छेदने का उल्लेख किया जा चुका है।[1] इससे अनुमान होता है कि मार्ग-तालों का सम्बन्ध सम्भवतः छन्दों से अधिक निकट का रहा होगा और देशी में वह या तो टूट गया होगा या बहुत दूर हो गया होगा क्योंकि ह्रस्वाक्षर का उच्चारण काल छन्दःशास्त्र से सम्बन्ध रखता है जब कि दूसरे प्रकार के मान उससे बिल्कुल भिन्न हैं।

अवयव और आघात का सम्बन्ध

अणु, द्रुत, लघु, गुरु और प्लुत—इन ५ मुख्य अवयवों में हाथ का घात किस प्रकार किया जाय इसका भी निरूपण इस प्रकार मिलता है—अणु में अत्यल्प घात, द्रुत में सूक्ष्मघात, लघु में पूर्णघात, गुरु में घाताक्षेप और प्लुत में घात के बाद करभ्रम।[2] इन घातों को करने में कितना समय लगेगा यह तो बताया गया लेकिन उस समय को दृश्य रूप देने के लिये यह भी कहा गया कि आघात करते समय दोनों हाथों में कितने अंगुल की दूरी रहनी चाहिये—

सार्धत्रिषट्द्वादशाष्टादशैर्वाद्योन्तरेऽङ्गुलैः ।।[3]

अर्थात् उपर्युक्त घातों में क्रमशः डेढ़, तीन, छः, बारह और अठारह अंगुल की दूरी रहनी चाहिये।

इसमें यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि द्रुत आदि के द्वारा घात में लगने वाला समय सूचित किया और समय को घात के द्वारा व्यक्त किया; लेकिन उस युग में वर्तमान युग जैसे यन्त्र नहीं थे इसलिये समय को अधिक से अधिक सूक्ष्म रूप में व्यक्त करने और प्रमाण (standard) स्थिर करने के लिये देश और काल यानी दृश्य और श्रव्य दोनों माध्यमों से अवयओं को व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। सामान्य व्यवहार में भी दृश्य या श्रव्य में से किसी एक को पूर्णता के साथ व्यक्त करने के लिये दूसरे का सहारा लिया ही जाता है।

ग्रह

सम, अतीत और अनागत के अतिरिक्त विषम ग्रह और जोड़ा गया और उसके बारे में यह कहा गया—

१. रस., ४/९७-१००/सं. द., ६३८-६४१ २. रस., ११८/सं. द., ६८३-६८४
३. सं.द., ६८४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषमे नियमो नैव प्रान्ते चाद्ये बुधैर्मतः ।[1]

अर्थात् विषम में आदि और अन्त का कोई नियम नहीं माना गया है। लेकिन इसका औचित्य या सार्थकता स्पष्ट नहीं है क्योंकि अतीत और अनागत भी विषम के ही भेद हैं। आदि और अन्त के अनियम का क्या तात्पर्य है या इसका प्रयोग कैसे हो यह भी अस्पष्ट है। लेकिन लगभग सभी परवर्ती ग्रन्थों में विषम ग्रह का उल्लेख प्रायः मिलता है।

ग्रहों के नामान्तर भी दिये गये—ताल, विताल, अनुताल और प्रतिताल ।[2]

रसकौमुदी, संगीतदर्पण आदि में अतीत और अनागत में भी विपर्यास हुआ। प्राचीन मत से तालग्रहण पहले होने पर अतीत और बाद में होने पर अनागत ग्रह था। लेकिन यहाँ गीत का पहले ग्रहण होने पर अतीत और बाद में होने पर अनागत हो गया।[3]

जाति

मध्ययुग में जाति की धारणा में बड़ा परिवर्तन हुआ लगता है। संगीत रत्नाकर और संगीतराज तक जाति ताल की प्रकृति की सूचक थी। चतुरश्र त्र्यश्र का सम्बन्ध ताल के पादभागों की संख्या से था। संकीर्ण में चतुरश्र और त्र्यश्र का मिश्रण था तथा चतुरश्र और त्र्यश्र के भेदन से खण्ड ताल बनते थे जिसमें ५, ७, ९, १० या ११ कलाएँ होती थीं। लेकिन कला गुरुरूपा ही थी और उसका मान १० लघुअक्षर निश्चित और अपरिवर्तनीय था।

सर्वप्रथम जाति की धारणा में भेद रसकौमुदी और संगीतदर्पण में दिखाई देता है। इनमें चतुरश्र, त्र्यश्र, खण्ड, मिश्र और संकीर्ण—इन ५ जातियों में क्रम से ४, ३, ५, ७ और ९ वर्ण कहे गये हैं।[4] यहाँ वर्ण से क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट नहीं है। क्या ४, ३, ५ आदि वर्ण संख्या का सम्बन्ध ताल के विभागों से या हर विभाग में मात्रा संख्या से है? अथवा मार्गपद्धति की तरह मूल लय स्थिर करने का प्रमाण है? क्या इनमें सूळादि सप्त तालों के लघु के अक्षर-काल का मूल है? ये सब प्रश्न विचारणीय हैं। किसी भी ग्रन्थ में इन वर्ण संख्या पर कुछ नहीं कहा गया है इसलिये निश्चित रूप से कुछ कहना संभव नहीं है लेकिन सम्भव है कि आगे चल कर उपर्युक्त अक्षरसंख्या कर्णाटक ताल पद्धति में जिस प्रकार लघु के काल की द्योतक होकर ५ जातियों का आधार मानी गई वैसा ही कुछ अर्थ यहाँ भी 'वर्ण' का हो।

यति

समा, स्रोतोगता और गोपुच्छा के अतिरिक्त मृदंगा और पिपीलिका ये दो यतियाँ और जोड़ी गईं। दोनों ही अन्वर्थ हैं। इनका उल्लेख सर्वप्रथम रसकौमुदी में मिलता है—

---

१. रस., ४/१२५/ सं.द., ६९५
२. सं. द., ६९५
३. रस., ४/१२४–१२६/ सं. द., ६९३–६९४
४. रस., ४/१२७/ सं. द., ६९८–६९९

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मध्ये सूक्ष्मलया प्रान्ते स्थूला ज्ञेया पिपीलिका।
पिपीलिकाविपर्यासान्मृदङ्गा यतिरुच्यते ॥[1]

वास्तव में ये दोनों यतियाँ नई नहीं है। स्रोतोगता के बाद गोपुच्छा जोड़ देने से पिपीलिका यति बन जाती है और गोपुच्छा के बाद स्रोतोगता जोड़ने से मृदंगा। मृदंग का आकार दोनों ओर से पतला और बीच में मोटा होता है उसी प्रकार मृदंगा यति के आरम्भ और अन्त में तेज़ और बीच में मन्द लय रहती है। संगीतदर्पण में यह तीन प्रकार की कही गई है—१. आदि अन्त द्रुत तथा बीच में विलम्बित, २. आदि अन्त द्रुत तथा बीच में मध्य और ३ आदि अन्त मध्य तथा बीच में विलम्ब।[2]

पिपीलिका इसके विपरीत यानी आदि अन्त में मन्द और बीच में तेज़ लय वाली है। यह भी तीन प्रकार की कही गई— १. आदि अन्त विलम्ब और बीच में द्रुत, २. आदि अन्त मध्य और बीच में द्रुत तथा ३. आदि अन्त विलम्ब और बीच में मध्य लय से युक्त।[3]

मार्ग और देशीतालों में भेद की समाप्ति

इनके अतिरिक्त एक बड़ी घटना यह हुई प्रतीत होती है कि मार्ग और देशी तालों का भेद नहीं रहा। यद्यपि संगीत दर्पणकार ने इन दोनों वर्गों के तालों का निरूपण अलग-अलग इन्हीं वर्गों के अन्तर्गत किया है लेकिन संगीतसमयसार, संगीतोपनिषत्सारोद्धार, संगीत दामोदर. रसकौमुदी आदि तथा बाद के अनेक ग्रन्थों में मार्ग और देशी तालों के नाम व लक्षण एक साथ दिये गये हैं और तालों की संख्या भी दोनों को मिला कर दी गई है। सम्भव है कि मार्गतालों की कला, क्रियाविधि आदि का प्रयोग लुप्त होने पर भी देशी तालों की तरह ही इनका प्रयोग होता रहा होगा। लक्षणनिरूपण में भी सर्वप्रथम मार्गतालों के ही लक्षण दिये जाते रहे। इससे लगता है कि देशी तालों की अपेक्षा इनकी प्रधानता रही होगी। १८वीं सदी के ग्रंथ संगीत नारायण तक यह परम्परा रही होगी क्योंकि उसमें परम्परा के निर्वाह की अपेक्षा लक्ष्य का अंकन ही अधिक हुआ है और इसमें भी सबसे पहले मार्गतालों के ही नाम व लक्षण दिये गये हैं। इसलिये यह माना जा सकता है कि १८वीं सदी तक मार्ग तालों का प्रयोग थोड़ा बहुत भी होता रहा होगा।

नवीन मोड़

१७ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में तालों के स्वरूप में एक बड़ा मोड़ आया जिसने उत्तर से भिन्न दक्षिण भारतीय ताल पद्धति को जन्म दिया। इसका सर्वप्रथम निरूपण चतुर्दण्डी प्रकाशिका और संगीत पारिजात में मिलता है।

---

१. रस., ४/१३७
२. सं. द., ७१४-७१५
३. वही, ७१५-७१६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चतुर्दण्डी प्रकाशिका

इसमें अलंकारों का निरूपण करते हुए ८ प्रसिद्ध अलंकार कहे हैं जो तालबद्ध स्वरसमूह हैं। इनमें ८ तालों का प्रयोग होता है—झोंपट, ध्रुव, मठ्य, रूपक, झम्पा, त्रिपुट, अठताल और एकताल। इनमें से ध्रुव, मठ्य (मण्ठ), अठ (अड्ड) और एकताल (एकताली)—ये ४ नाम सालगसूडों से लिये गये हैं।[1] झोंपट को छोड़ कर शेष ७ ताल आज भी कर्णाटक संगीत में प्रचलित हैं। यही सात ताल आज दक्षिण में प्रचार में रह गये हैं शेष मार्ग और देशी ताल अपना अस्तित्व लगभग खो चुके हैं। इन सप्त तालों के स्वरूप आज लगभग वही हैं जो चतुर्दण्डी प्रकाशिका में हैं।

नीचे की तालिका में चतुर्दण्डी प्रकाशिका के अलंकारों के नाम, स्वरूप तथा ताल लक्षण आदि प्रस्तुत हैं—

---

१. सालगसूडों के विवरण के लिये देखिये प्रबन्ध-अध्याय।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संख्या	अलंकार संज्ञा	लक्षण	स्वरूप	विशेष उल्लेखनीय
१.	झोंपट	२ द्रुत, १ लघु	सरि, गम, पधनिस; सनि, धप, मगरिस	अलंकार में द्रुत=२ अक्षर, लघु=४ अक्षर
२.	ध्रुव, २ भेद	(१) नाट्यदण्डी– १लघु= ४ अक्षर, १ गुरु=१० अक्षर; (२) वीणावाद्य–२ लघु= ८ अक्षर, १ लघुशेखर=६ अक्षर	सरिगमगरि, सरिगरि, सरिगम; रिगमपमग, रिगमग, रिगमप	अलंकार का स्वरूप दोनों भेदों में से किसी के भी अनुरूप नहीं है क्योंकि दोनों में से किसी के लक्षण में आरम्भ में ६ अक्षर नहीं हैं।
३.	मठ्य	१ द्रुत, २ लघु	सरि, गरिसरि, सरिगम; रिग, मगरिग, रिगमप	
४.	रूपक	१ द्रुत, १ लघु	सरि, सरिगम; रिग, रिगमप	
५.	झम्पा, २ भेद	(१) नाट्यझम्पा– १अणुद्रुत, १ द्रुत, १ लघुशेखर=१+२+७=१० अक्षर; (२) वाग्गेयकार झम्पा— १ विरामान्त द्रुत, १ लघुशेखर =३+७ अक्षर	सरिगसरिसरि, ग, मा; रिगमरिगरिग, म, पा	अक्षर विभाजन अलंकार में ७+१+२ है जो दोनों भेदों में से किसी में नहीं है।
६.	त्रिपुट	२ द्रुत, १ विरामान्त द्रुत	सरि, गस, रिगम; रिग, मरि, गमप	
७.	अठताल	२द्रुत, २लघु=२+२+५+५=१४ अक्षर	सरि, इग, अ सारिग, अमामा; रिग, अम, अ रीगम, अ पा पा	लघु का काल ५ अक्षर है।
८.	एकताल	१ द्रुत		यह ताल अरंजक होने से इसके स्थान पर ४ अक्षर वाले आदि ताल के प्रयोग का उल्लेख ग्रन्थकार ने किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन अलंकारों के लक्षण और स्वरूप देखने से स्पष्ट होता है कि इनमें अणुद्रुत और द्रुत का काल क्रमशः १ और २ अक्षर निश्चित है लेकिन लघु और लघुशेखर का बदलता रहता है। जैसे—अठताल में लघु ४ के वजाय ५ अक्षर का है। लघुशेखर का काल ध्रुव में ६ और झम्पा में ७ अक्षर है गुरु लघु का ठीक दुगना होता है। लघु ४ अक्षर का हो तो गुरु ८ अक्षर का होना चाहिए लेकिन ध्रुव में गुरु १० अक्षर काल का है। इसका अर्थ यह है कि कुछ इकाइयों का स्वरूप नियत है और कुछ का परिवर्तनशील। ताल की ५ जातियों तथा उनके अक्षर काल का इसमें कोई उल्लेख न होने से यह कहना कठिन है कि अलंकारों में तालों के जो रूप हैं वे ताल की किस जाति के अनुसार हैं।

ध्रुव आदि ७ तालों को व्यंकटमखी ने 'सूळादि ताल' संज्ञा दी है—

एतान्ध्रुवादिकान्सप्त तालान्सूलादिसंज्ञकान् ॥[1]

इनका प्रयोग भी 'गीतों' अर्थात् सालगसूडों में करने का विधान है। सालगसूडों में इनके अतिरिक्त तालों का प्रयोग नहीं होता।[2]

इससे स्पष्ट है कि १७ वीं सदी के पूर्वार्ध में सूळादि सप्त तालों की धारणा स्थापित हो गई थी तथा प्रबन्धों में देशी तालों का प्रयोग होता था।[3]

देशीतालों में लघु का माप ४ से ६ अक्षर का उच्चारण काल० हो सकता था। इसका अर्थ यह है कि लघु के प्रमाण ४, ५ या ६ अक्षर के आधार पर लय स्थापित करके उसी के अनुपात में द्रुत, गुरु, प्लुत का प्रयोग होना चाहिए क्योंकि ये अवयव अपने-अपने में स्वतन्त्र नहीं हैं बल्कि लघु के अनुपात में क्रमशः आधे, दुगने और तिगुने हैं। सूळादि तालों की सबसे बड़ी अनियमितता यह है कि लघु के अनुपात में शेष सारी इकाइयों का प्रमाण नहीं बदलता।

संगीत पारिजात

इसमें अलंकारों के नाम भिन्न हैं, चतुर्दण्डी प्रकाशिका के झोंपट को छोड़कर शेष सूळादि तालों का ही उनमें प्रयोग है, यद्यपि दोनों में कहीं-कहीं स्वरूप भेद है। तालिका प्रस्तुत है।

---

१. चतु०, स्वर प्रकरण, श्लो० १११ २. वही, ११२-११४

३. वही, ११३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्रमांक	अलंकार संज्ञा	स्वरूप	ताल	विशेष उल्लेखनीय
१.	इन्द्रनील	सरिगमगरि, सरिगरि, सरिगम	ध्रुव	चतुर्दण्डी के ध्रुव अलंकार के सदृश
२.	महावज्र	सरि, गरिसरि, सरिगम	मण्ठ	,, ,, मठ्य ,, ,, ,,
३.	निर्दोष	सरि, सरिगम	रूपक	,, ,, रूपक ,, ,, ,,
४.	सीर	सरि, सरिग, सरिगम	झम्प	चतुर्दण्डी में अलंकार का रूप ७+१+२ के अनुसार है, यहाँ २+३+४ है।
५.	कोकिल	सरिग, सरिगम	त्रिपुट	चतुर्दण्डी में अलंकार का रूप तो नहीं है लेकिन विभाजन २+२+३ का है।
६.	आवर्त	सरिगरिसरि, सरि, सरिगम	अड्डताल	चतुर्दण्डी में अठताल है जिसमें कुल १४ अक्षर हैं, यहाँ १२ ही हैं।
७.	सदानन्द	सरिगम	लघुताल	चतुर्दण्डी में अन्तिम अलंकार आदि ताल से कहा है। उसमें भी ४ ही अक्षर कहे गये हैं यद्यपि अलंकार का रूप नहीं दिया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीत पारिजात में तालों के स्वरूप या लक्षण न होने से यह कहना कठिन है कि लघु गुरु का स्वरूप नियत माना है अथवा अनियत।

तालचन्द्रिका

इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त विरूपाक्षकृत 'ताल चन्द्रिका' में भी ध्रुव आदि ७ तालों का निरूपण है। तालों की चतुरश्रादि ५ जातियाँ हैं और तालों के लक्षण जातियों के अनुसार दिये हैं किस ताल का प्रयोग किस जाति में होता है इसका भी उल्लेख है। जैसे—रूपक, ध्रुव, मठ्य सर्वजातिज तथा झम्पा और त्रिपुट चतुरश्र जाति के हैं। लेकिन ताल के लक्षण देते समय हर ताल के पाँचों प्रकार बनाये हैं। द्रुत और अणुद्रुत का काल क्रमश: २ और १ अक्षर निश्चित है। किन्तु जाति के अनुसार लघु का और उसके अनुपात में गुरु और प्लुत का काल बदलता है। उदाहरणार्थ ध्रुवताल के स्वरूप जातियों के अनुसार दिये जा रहे हैं। ध्रुव का लक्षण है—लघु, गुरु, द्रुत।

चतुरश्र	—	४+ ८+२	=	१४
त्र्यश्र	—	६+१२+२	=	२०
मिश्र	—	७+१४+२	=	२३
खण्ड	—	५+१०+२	=	१७
संकीर्ण	—	९+१८+२	=	२९

यहाँ जाति के अनुसार लघु का और उसी के अनुसार गुरु का अक्षरकाल बदल गया है।

तालचन्द्रिका में दिये गये तालों के स्वरूप और कर्णाटक पद्धति के वर्तमान सप्ततालों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि तालचन्द्रिका चतुर्दण्डी प्रकाशिका और आधुनिक ताल पद्धति के बीच की स्थिति में है क्योंकि चतुर्दण्डी प्रकाशिका में द्रुत और अणुद्रुत के अलावा अन्य इकाइयों का माप तो बदलता है लेकिन तालों की ५ जातियों व उनके स्वरूप की उसमें चर्चा नहीं है। दूसरी ओर वर्तमान तालों में ५ जातियाँ हैं लेकिन केवल लघु का स्वरूप बदलता है, अन्य इकाइयों का नहीं। तालचन्द्रिका में लघु गुरु का स्वरूप भी बदलता है और ५ जातियाँ भी हैं जो नीचे की सारिणी से स्पष्ट होंगी। यहाँ हम ताल अलंकारों को छोड़ कर उनमें दिये पाटाक्षर दे रहे हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्रमांक	तालनाम	लक्षण	जाति	अक्षरकाल	पाटाक्षर	टिप्पणी
१.	ध्रुव	लघु गुरु द्रुत	चतुरश्र	४+८+२	न्दत्तद्धा	चतुर्दण्डी० से लक्षण भिन्न है।
			त्र्यश्र	६+१२+२	ता तै तै । न्द त्तद्धा	
			मिश्र	७+१४+२	ता तै, ता तै, ता धे न्द त्त द्धा	
			खण्ड	५+१०+२	ता तै तै । ता दै द त्ता द्धा	
			संकीर्ण	९+१८+२	ता तै तै । ता तै दै त न्द त्त द्धा	
२.	मठ्य	लघु द्रुत लघु	चतुरश्र	४+२+४		चतुर्दण्डी. में लघु द्रुत क्रम भिन्न है।
			त्र्यश्र	६+२+६		
			मिश्र	७+२+७		
			खण्ड	५+२+५		
			संकीर्ण	९+२+९		
३.	रूपक	द्रुत लघु	चतुरश्र	२+४		
			त्र्यश्र	२+६		
			मिश्र	२+७		
			खण्ड	२+५		
			संकीर्ण	२+९		

४.	झम्प	अणुद्रुत द्रुत लघु	चतुरश्र	१+२+४		चतुर्दण्डी॰ में लघु के बजाय लघु-शेखर है।
			त्र्यश्र	१+२+६	तै तै न्त धाँ	
			मिश्र	१+२+७		
			खण्ड	१+२+५		
			संकीर्ण	१+२+९	तै तै न्द त्त द्धा	
५.	त्रिपुट	३ द्रुत विरामान्त			मन्दा त्ता द्धा	लघु के अभाव में जाति नहीं होती। चतुर्दण्डी॰ में लक्षण कुछ भिन्न है।
६.	अटताल	लघु २ द्रुत लघु	चतुरश्र	४+२+२+४	तत्ता न्धै न्द त्त द्धा	चतुर्दण्डी॰ में क्रम भिन्न है।
			त्र्यश्र	६+२+२+६	ता तै तै। त्ता तै न्दा त्तद्धा	
			मिश्र	७+२+२+७	ता त्यै त्यैं। ता त्यै त्यै न्द त्तद्धा	
			खण्ड	५+२+२+५	न्त्यै न्दा त्ता द्धा	
			संकीर्ण	९+२+२+९	त्ता त्यै त्यैं। त्ता त्यै। ता त्यै। त्यै दै। न्दा त्ताद्धा	
७.	एकताल	द्रुत				लघु न होने से इसमें जातियाँ नहीं बन सकतीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीतनारायण

इस ग्रन्थ के ताल निरूपण से तत्कालीन लक्ष्य पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है और ताल सम्बन्धी कुछ तत्कालीन नई धारणाओं की जानकारी भी मिलती है।

संगीत नारायण में सैद्धान्तिक चर्चा बहुत कम है, लक्ष्य के निरूपण और उससे सम्बन्धित शब्दों की परिभाषाएँ ही दी गई हैं। इसीलिये ताल के दस प्राणों की चर्चा नहीं है। सशब्दादि क्रियाओं का स्वरूप प्राचीन स्वरूप से भिन्न है। लघु के साथ गुरु और प्लुत के अनुपात को बताते हुए कहा है कि लघु में एक घात (सशब्द क्रिया) होता है, गुरु में १ घात और फिर १ निःशब्द तथा प्लुत में १ घात और २ निःशब्द क्रियाएँ। यानी निःशब्द क्रिया सशब्द के विस्तार के रूप में प्रयुक्त होती है, उसका स्वतन्त्र स्वरूप नहीं है।

सालगसूडों में प्रयुक्त होने वाले इन नौ तालों के लक्षण और साथ-साथ गीतों के उदाहरण दिये हैं—आदि, यति, निःसारु, अड्डु, त्रिपुट, रूपक, झम्प, मण्ठ और एकताली। यद उल्लेख किया है कि उत्कल में निःसारु के ही एक भेद की संज्ञा 'सरिमान' है जिसे गीतप्रकाशकार ने 'पडिताल' कहा है।

इस ग्रन्थ में तालों के सन्निवेश यानी ताल के स्वरूप तो हैं लेकिन ताल का प्रमाण यानी लघु का अक्षरकाल क्या होगा (ताल की जाति) इसका कहीं उल्लेख नहीं है। यद्यपि १६ वीं शताब्दी में ताल की ५ जातियाँ और उनमें लघु के स्वरूप की परिवर्तनशीलता स्थिर हो चुकी थी। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि संभवतः उत्कल प्रदेश में दक्षिण भारत की भाँति जातियों के अनुसार ताल निर्माण की विधि नहीं रही होगी और लघु का प्रमाण जाति के अनुसार बदलता नहीं होगा। यद्यपि तालों के अधिकांश नाम वही हैं जो दक्षिण के ग्रन्थों (चतुर्दण्डी प्रकाशिका आदि) में हैं। आजकल उड़ीसा में जो ताल प्रचलित हैं उनके नाम भी वही हैं जो प्रस्तुत ग्रन्थ के तालों के हैं।

संगीत नारायण में 'ग्रह' और 'मान' के बारे में जो कुछ कहा गया है वह तत्कालीन और वर्तमान लक्ष्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है इसलिये इन्हें समझ लेना उपयोगी होगा।

ग्रह—सम, अतीत और अनागत ग्रहों के द्वारा मूलतः गीत और ताल के आरम्भ को व्यक्त किया गया है। लेकिन प्रस्तुत ग्रंथ में इनकी धारणा में परिवर्तन हुआ लगता है। यहाँ अतीत के द्वारा यह व्यक्त किया है कि गीत का उठान ताल की आरम्भक मात्रा से न होकर किसी अन्य मात्रा से होने पर अन्य मात्रा पहले प्रयुक्त होती है और आरम्भक मात्रा बाद में। इसलिये ताल की दृष्टि से आरम्भ बीत जाने पर गीत का उठान हुआ। अथवा यों भी कह सकते हैं कि गीत शुरू होने के बाद ताल की आरम्भक मात्रा आई इसलिये अतीत ग्रह होता है। ग्रन्थकार के शब्दों में—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कला या तु पतिष्यन्ति पश्चात् सा प्रथमे यदि ।
विन्यस्य गीयते तालस्तदातीतगृहः स्मृत ॥
लक्षणमतिक्रम्य गृह्यत इत्यत्र ग्रहः । यथा गीतगोविन्दे—'शिशिर शीतल मञ्जुवञ्जुलमृदुलविषचयसंकुलं' इत्यादि यतितालेन गीयते । तत्र हि प्रथमं लघुद्वयं, पश्चाद् द्रुतद्वयं अत्र प्रथमं द्रुतद्वयं पतति, प्रान्ते लघुद्वयमेव ।[1]

यतिताल का स्वरूप है ।।०० । ग्रन्थकार यह कहना चाहता है कि शुरू के दो लघु छोड़कर यदि ०० से आरम्भ करें तो ताल का स्वरूप ००।। हो जायगा । इस प्रकार जो कला (००) बाद में थी वह पहले प्रयुक्त हो तो अतीत ग्रह होता है । यह वर्तमान 'सम' के अधिक निकट लगता है क्योंकि यहाँ गीत और ताल के ग्रहण से उतना सम्बन्ध नहीं है जितना ताल के आरम्भक स्थल से । ताल का आरम्भक स्थल बीत जाने के बाद किसी अन्य स्थान से गीत उठता है इसलिये अतीत ग्रह कहा है ।

ग्रन्थ के अनागत ग्रह का सम्बन्ध गीत, गेयांश और ताल से है, ऐसा लगता है । अनागत ग्रह के सम्बन्ध में कहा है—

गीतारम्भाद्यदा पूर्वं समुच्चार्याक्षरद्वयम् ।
तालस्य न्यसनादुक्तस्तदैवानागतो ग्रहः ।।

अत्र गीतादौ यदक्षरमधिकं गृह्यते तदनागतम् । तालाभ्यन्तरे कदापि न प्रविष्टम् । यथा—

जय जय कमलाकुच चन्दनमण्डनवक्षःस्थल दुर्जनखण्डन षण्ढासन-दण्डन-पण्डित पुण्डरीक-लोचनु आ ।

अत्र निःसारिताले जयजयेत्यक्षरचतुष्टयं तालबाह्यमेव । कमलेत्यारभ्य तालः पठति ।[2]

इसका अर्थ यह है कि कभी-कभी पद की गेय रचना ऐसी होती है कि पद के कुछ अक्षरों को दोहराया जाय तो वे ताल में नहीं आते इसलिये उन्हें छोड़ देना पड़ता है । इसीलिये गीत और ताल के सम्बन्ध को अनागत कहा है । उपर्युक्त उदाहरण में 'जय जय' शब्द अधिक बताये हैं जो ताल से बाहर हैं और इन्हें छोड़ कर ताल उठता है । इसका अर्थ यह है —(१) ताल का आरम्भक स्थान (आज की भाषा में 'सम') कमला के 'क' पर है इसलिये 'जय जय' को 'तालबाह्य' और 'अधिक' कहा है । अथवा (२) इस गीत का गेय रूप ऐसा हो जिसमें प्रथम पंक्ति दोहराते समय 'जय जय' को छोड़ देना पड़ता है ।

ग्रहों का जो रूप ऊपर देखा उससे अनुमान होता है कि 'सम' की धारणा का ताल के आरम्भ स्थल के रूप में प्रारम्भ हो चुका होगा क्योंकि यहाँ ताल के आरम्भक

१. सं. ना., पृ. ७३   २. वही, पृ. ७२-७३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्थान यानी पहली मात्रा को ध्यान में रखकर अतीत और अनागत के लक्षण दिये गये हैं।

मान—यह शब्द ताल की समाप्ति का सूचक है। इससे पहले किसी ग्रन्थ में इस शब्द का या इस धारणा का कोई उल्लेख नहीं है। दो प्रकार का मान कहा गया है—ध्रुव की दूसरी मात्रा पर ताल समाप्त किया जाय तो 'वर्द्धमान' और अन्तिम मात्रा पर समाप्त करें तो 'हीयमान' कहलाता है। हीयमान को उत्कलभाषा में 'टाङ्कमान' कहा जाता है। ग्रंथकार के शब्दों में—

तालविश्रामकारित्वान्मानं तालसमाप्तिकृत् ॥
तच्चेद्ध्रुवे द्वितीयायां कलायां निपतेत्तदा।
आवर्तो वर्द्धमानाख्यस्ताले तालज्ञसम्मतः ॥
मानं ध्रुवे त्वन्तिमायां कलायां निपतेद्यदा।
आवर्तो हीनमानाख्यस्तदा प्रोक्तो मनीषिभिः ॥[१]

'ध्रुव' का आशय स्पष्ट नहीं है। लेकिन यदि इसका अर्थ गीत का प्रथम खण्ड (ध्रुव धातु) हो तो उस खंड की दूसरी और अन्तिम मात्रा के रूप में समझ सकते हैं। इस स्थिति में गीत की पहली मात्रा के सम्बन्ध से इन्हें देखना होगा। पहली मात्रा को गीत का सम समझें तो 'वर्द्धमान' और 'हीयमान' आज के 'सम' के दो भेदों 'अतीत' और 'अनागत' के समीप कहे जा सकते हैं। इनमें से प्रथम में ताल की दूसरी मात्रा पर और दूसरे में ताल की अन्तिम मात्रा पर ताल का 'सम' दिखाया जाता है। ताल के समापन के स्थान की दृष्टि से वर्द्धमान और हीयमान का भी लगभग यही रूप है।

१. वही, पृ. ७४-७५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिच्छेद घ

वर्तमान लक्ष्य में ताल का स्वरूप

प्रस्तुत परिच्छेद में इस पक्ष पर विचार किया जायगा कि वर्तमान लक्ष्य में ताल का क्या स्वरूप है, ताल संबंधी प्राचीनोक्त तत्त्वों का आज के लक्ष्य में कितना और कैसा प्रयोग है, कौन से प्राचीन पारिभाषिक शब्द आज भी प्रचलित हैं और उनका आज क्या अर्थ है, कौन से नये शब्द प्रयोग में आये हैं, मार्ग और देशी की कोई उपयोगिता है या नहीं, आदि।

ताल प्रयोग के आधार में परिवर्तन

परिच्छेद क में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ताल का आधार हाथ द्वारा की जाने वाली सशब्दादि क्रियाएँ थीं और वाद्यों में से घनवाद्य उपयुक्त माना गया। वर्तमान लक्ष्य में भी हाथ या पैर के द्वारा ठोके देकर ताल के आवर्तन को बनाये रखने की प्रणाली में ताल का मूलरूप तो सुरक्षित है (क्योंकि ध्रुपद गायक के लिये स्वयं हाथ से ताल देकर गाना आज भी अनिवार्य माना जाता है) लेकिन गीत वाद्य का मान करने के लिये घन वाद्य का स्थान आज अवनद्ध वाद्यों ने (उत्तर भारत में) मुख्य रूप से तबले ने ले लिया है। उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में घनवाद्य का प्रयोग बिल्कुल नहीं होता, वह केवल 'भजन कीर्तन' में प्रयुक्त होता है। हाँ, वैष्णव मन्दिरों में पदगान की जो परम्परागत शैली है उसमें घनवाद्य अब भी अनिवार्य है। इससे यही प्रकट होता है कि धार्मिक संगीत में तो अब भी घन अनिवार्य है लेकिन शास्त्रीय संगीत में वह बिल्कुल अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया गया है। फल यह हुआ कि गीत वाद्य का 'मान' और 'उपरंजन'—ये दोनों कार्य अवनद्ध वाद्य को करने पड़ते हैं। घन प्रयोग गायक वादक के प्रमाद की निवृत्ति के लिये और उसके दोषों को ढकने के लिये होता था।

कर्णाटक संगीत में भी घनवाद्य का प्रयोग प्राय: नहीं होता। यद्यपि नागस्वरम् के साथ अब भी घन अवश्य बजाया जाता है। गायक के लिये तो स्वयं ताल देकर गाना अनिवार्य है ही। लेकिन वीणादि वादक के साथ मृदंगवादक के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति ताल देने के लिये प्रायः रहता है। क्योंकि स्वयं वादक के लिये हाथ से ताल देना सम्भव नहीं (यद्यपि उत्तर भारत में वादक भी पैरों से ठोके देकर ताल का आवर्तन बनाये रखते हैं)। कभी-कभी अकेले मृदंग वादन के समय भी अन्य व्यक्ति हाथ से ताल देता है।

स्वयं हाथ से ताल न देने पर गायक अथवा वादक को अपने-अपने कर्म में पूरा अवधान बनाये रखने में सुविधा और सरलता होती है। स्वयं ताल देते समय उसमें भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्यान रखना पड़ता है। संभवत: यही कारण है कि गीतकों में मार्गतालों के प्रयोग के समय तो अदृष्ट में सहायक हाथ की क्रियाओं का प्रयोग अनिवार्य माना गया लेकिन ध्रुवाओं में या देशी प्रबन्धों में देशी तालों के प्रसंग में हाथ की क्रियाओं का उल्लेख तक नहीं किया गया। अवनद्ध वादक को मान के साथ-साथ उपरंजन भी करना पड़ता है। इस कारण उसे भी दोहरा परिश्रम और ध्यान रखना पड़ता है।

फिर भी गायक या वादक में से कोई भूल न कर बैठे इसके लिये सामान्य रूप से उत्तर में भी गायक वादक जब आलापादि विस्तार करते हैं तो सामान्यत: तबलावादक सीधा ठेका बजाते हैं और जब तबलावादक विशेष वादन करते हैं तो गायक या वादक गीत की ध्रुवपंक्ति या गत का पहला आवर्तन सीधा गाते बजाते हैं और इस प्रकार तबलावादक के लिये 'मान' करने का कार्य करते हैं।

स्वरूप में परिवर्तन

ताल के अवयव—मार्गतालों में ताल के लघु, गुरु और प्लुत तीन अवयव थे तथा देशीतालों में इनके अतिरिक्त द्रुत अधिक था। 'विराम' इनके विस्तार का वर्धक था। मात्रा लघु का पर्याय थी। आज के प्रयोग में लघु के अतिरिक्त अन्य अवयव स्वतन्त्र इकाई के रूप में पूरी तरह लुप्त हो चुके हैं। यद्यपि एक अक्षर के दो या तीन मात्रा में कर्षण में गुरु व प्लुत का तथा १ मात्रा में २, ४, ८ अक्षरों या स्वरों के प्रयोग में द्रुत, अणुद्रुत और अणु अणद्रुत का अस्तित्व अब भी है। मार्गतालों में द्विकल तथा चतुष्कल में विभिन्न अवयव समाप्त होकर सब इकाई समान माप की यानी गुरु बना दी जाती थी उसी प्रकार आज उत्तर में भी सब इकाई सम माप की हैं। अन्तर यही है कि आज सब लघु हैं, गुरु नहीं। लघु को भी 'मात्रा' कहा जाता है। इस प्रकार इन अवयवों के द्वारा ताल का लक्षण देने से ताल के स्वरूप, उसमें होने वाली क्रियाओं की संख्या, विभागों की संख्या तथा हर क्रिया के कालमान को एक साथ व्यक्त कर दिया जाता था। आज किसी ताल का लक्षण देने के लिये मात्राओं की कुल संख्या, ताल के विभागों की संख्या, हर विभाग में मात्राओं की संख्या के साथ ताली ख़ाली आदि क्रियाएँ भी बतानी पड़ती हैं। यानी लघु गुरु अवयव ही ताल का सम्पूर्ण लक्षण देने में समर्थ थे जब कि 'मात्रा' केवल १—इस अंक की सूचक है।

लघु आदि का मार्गतालों में तो निश्चित प्रमाण था ही, देशी तालों में भी किसी हद तक निश्चित था। इस कारण मूल लय का एक प्रामाणिक रूप था। आज मात्रा का कोई निश्चित माप न होने के कारण कोई प्रमाणभूत लय नहीं है।

कल्लिनाथ ने लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए यह उल्लेख किया है कि देशी तालों में लघु का अक्षरकाल ४ या ६ भी हो सकता है। लेकिन परस्पर सम्बद्ध होने के कारण लघु के अनुपात में शेष सब क्रियाओं में भी अक्षरकाल बदल जाता है—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मार्गे पञ्चलघ्वक्षरोच्चारमिता मात्रा नियतत्वेन कथिता। क्वचित्तु ततोऽपि न्यूनया चतुर्लघ्वक्षरोच्चारमितया कालसाम्यम्। अन्यत्र तु ततोऽप्यधिकया षड्लघ्वक्षरोच्चारमितया।[१]

तथाहि कुडुक्कतालस्तु गोपालनायकेन रागकदम्बै रेवगुप्तिवदप्रयुक्तः। तत्र स्थितो लघुः चतुर्लघ्वक्षरोच्चारमितो दृश्यते। तदनुसारेण तत्र स्थितो द्रुतोऽपि द्विलघ्वक्षरोच्चारमितो दृश्यते। अड्डताल्यां तु पंचलघ्वक्षरोच्चारमितो लघुस्तदर्धमितो द्रुतश्च दृश्यते। निःसारुभेदे वैकुन्दे तु षड्लघ्वक्षरोच्चारमितो लघुस्तदर्धमितो द्रुतश्च वर्तते।[२]

यहाँ तक कि किसी-किसी गीत में ताल के एक आवर्तन में और कभी-कभी आवृत्ति में भी लघु आदि कुछ अंशों में प्रमाण भेद होने लगा था जिसे देशीत्व का भूषण कह कर संगत बनाने की कोशिश की गई—

किञ्चित्क्वचिद्गीतादावेकस्यैव तालस्यावृत्तिषु प्रमाणभेदो दृश्यते। क्वचिदेकस्यामप्यावृत्तौ लघ्वादिष्वंशेषु प्रमाण-भेदो दृश्यते। एतत्सर्वं देशीत्वस्य भूषणमेव; न दूषणमिति देशीतालरहस्यमाचार्याभिमतमवगन्तव्यम्।[३]

कर्णाटक संगीत में लघु, द्रुत, अणुद्रुत शब्द तो अवश्य हैं लेकिन प्राचीन तालों की तरह वे परस्पर सम्बद्ध नहीं हैं। द्रुत और अणुद्रुत का माप नियत है लेकिन 'जाति' के अनुसार लघु का माप बदलता रहता है। साथ ही माप निश्चित न रहने के कारण वहाँ भी लय का प्रमाण नहीं है। 'लघु' शब्द का मूल अर्थ छोटा है। लेकिन कर्णाटक ताल पद्धति में उसके मौलिक अर्थ का भी हनन कर दिया गया है क्योंकि उसका स्वरूप छोटा न रह कर बहुत बड़ा हो गया है। सम्भव है इस विसंगति को उभर कर सामने आने से बचाने के लिये ही तालों में से गुरु और प्लुत को निकाल दिया गया हो ताकि इनके अनुपात में लघु का स्वरूप बड़ा दिखाई न देने लगे।

क्रियाएँ—८ प्रकार की सशब्द—निःशब्द क्रियाएँ उत्तर और कर्णाटक दोनों से लुप्त हो चुकी हैं, 'सशब्द' और 'निःशब्द' संज्ञाओं का भी लोप हो गया है। उत्तर में इनके स्थान पर 'ताली' और 'ख़ाली'—ये दो शब्द आ गये हैं। ताली के लिये 'भरी' और 'पात' का भी प्रयोग होता है। इसका स्वरूप वही है जो शम्या या ताल का था, ख़ाली इसकी विपरीत निःशब्द क्रिया है। सशब्द क्रिया को विस्तार प्रदान करने वाली एक निःशब्द क्रिया और है और वह है ताली देने के बाद उँगलियों से मात्रा गिनना। एककल आदि रूपों का कुछ अंश इनमें इस रूप में है कि ४ मात्रा के तीनताल में हर विभाग में १—१ क्रिया रहती है, ८ मात्रा वाले में द्विकल की तरह सशब्द क्रिया के

---

१. सं. र., अ. ५, कल्लि., पृ. १३५ २. वही, पृ. १४०
३. वही, पृ. १४०-१४१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साथ १—१ निःशब्द क्रिया जुड़ जाती हैं और १६ मात्रा वाले तीनताल में चतुष्कल की तरह ३-३ निःशब्द जुड़ती हैं। इन निःशब्द क्रियाओं का लक्ष्यगत रूप उँगलियों से मात्रा गिनना है।

दक्षिण में सशब्द और निःशब्द के लिये क्रमशः 'घातम्' और 'विर्सजितम्' संज्ञाएँ हैं। ताली और घातम् में हाथ से एक ताल देकर उँगलियों से शेष मात्राएँ गिनना और ख़ाली तथा विर्सजितम् में हाथ से ख़ाली दिखाना—ये क्रियाएँ होती हैं।

वास्तव में मार्गताल की क्रियाएँ अदृष्ट फल की दृष्टि से अनिवार्य मानी गईं, गान या ध्रुवा में नहीं। आज का पूरा शास्त्रीय संगीत प्रयोजन की दृष्टि से देशी ही है इसलिये इसमें क्रियाओं का सरलीकरण होना स्वभाविक है।

श्री० साम्बमूर्ति ने सशब्द और निःशब्द क्रियाओं के जो लक्षण दिये हैं उनमें 'ध्रुवा' के अतिरिक्त सभी के लक्षण रत्नाकर आदि ग्रंथों में दिये गये लक्षणों से भिन्न हैं अथवा उनमें विपर्यास दिखाई देता है।[१]

लय—आज भी लयों के तीन नाम वही हैं जो प्राचीन ताल में थे। 'लय' शब्द के मौलिक अर्थ में भी परिवर्तन नहीं आया है। क्रिया के बाद होने वाली विश्रान्ति लय कही गई। विश्रान्ति जितनी कम हो लय उतनी ही द्रुत और जितनी अधिक हो उतनी विलम्बित कही जाती थी। आज भी तीनों लयों में भेद इसी प्रकार का है। कम विश्रान्ति वाली द्रुत, अधिक वाली मध्य, अधिकतम वाली विलम्बित है।

तीनों लय प्राचीन दृष्टिकोण के अनुसार क्रमशः एक दूसरे से दुगनी-दुगनी विश्रान्ति होने पर द्रुत-मध्य-विलम्बित लय कहलाती थीं। आज उत्तर में तीनों का यह सम्बन्ध पूरी तरह मिट चुका है। विश्रान्ति के कम, मध्यम या अधिक होने में दुगना सम्बन्ध नहीं है। मनमानेपन के लिये खुली छूट है। चाहे जितनी अधिक विश्रान्ति हो अथवा अपेक्षाकृत कम हो तो भी दोनों विलम्बित कही जाती हैं। विश्रान्ति कम हो तो भी द्रुत कही जाती है और इतनी कम हो जिसे समझना ही सम्भव न हो तो भी द्रुत कहलाती है। कर्णाटक संगीत में लयों का दुगन-दुगना सम्बन्ध रखा गया है। यानी द्रुत की ठीक दुगनी मध्य और मध्य की ठींक दुगनी विलम्बित लय होती है। लेकिन 'लय' के स्थान पर उसके पर्याय के रूप में 'काल' शब्द का प्रयोग होता है।

प्राचीन पद्धति में अक्षरकाल निश्चित होने के कारण एक प्रमाण लय थी। मध्यलय भी प्रमाणभूत थी जिसमें हर क्रिया का काल १० लघु अक्षर था। इसलिये ५ लघु अक्षर-वाली द्रुत और २० लघु अक्षर वाली विलम्बित कहलाती थीं। इनसे भी आधी और दुगनी का प्रयोग हो सकता था तब अक्षरकाल २½ और ४० होता था। लेकिन आज उत्तर या दक्षिण कहीं भी प्रमाणलय नहीं है। जिस लय में सुविधा से गाया बजाया जा सके और जो साधारण रूप से मध्यम लगे उसे मध्य लय मान लिया जाता है। उत्तर में उसकी अपेक्षा तेज़ होते जाने पर द्रुत और धीमी होने पर विलम्बित मान ली जाती है।

---

१. South Indian Music, Book IV, Page 172-173

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार त्रिविध लयों के पारस्परिक सम्बन्ध का उत्तर में पूरी तरह लोप हो गया है जब कि दक्षिण में उसकी रक्षा हुई है, यद्यपि कभी-कभी पल्लवि, अनुपल्लवि गाने के बाद चरणम् में लय दुगने क्रम से न बढ़ा कर उत्तर की तरह इच्छानुसार थोड़ी सी बढ़ा दी जाती है। प्रमाण लय की दृष्टि से दोनों एकसी स्थिति में है क्योंकि कहीं भी प्रमाण लय नहीं है।

लय शब्द के प्रयोग में एक विसंगति भी उत्तर में आई है। द्रुत, मध्य और विलम्बित में तो विश्रान्ति भेद के कारण लय की धारणा प्राचीनों के अनुसार है। लेकिन जहाँ 'द्विगुणलय' का अर्थ प्राचीनों के लिये दुगनी विश्रान्ति था वहाँ आज इसका अर्थ आधी विश्रान्ति या दुगनी क्रियाएँ हो गया है। दुगन, तिगुन, चौगुन आदि लयों का जिस ढंग से प्रयोग किया जाता है उसमें हर क्रिया को पहले की अपेक्षा आधा ही समय दिया जाता है अथवा यों कह सकते हैं कि उतने ही समय में पहले की अपेक्षा दुगनी क्रियाएँ की जाती हैं।

लय में विश्रान्तिकाल और गति का वही सम्बन्ध होता है जो स्वर में 'आवृत्ति' और 'तारता' का है। यानी विश्रान्तिकाल दुगना होने के साथ गति आधी हो जाती है और विश्रान्तिकाल आधा होने से गति दुगनी हो जात' है। प्राचीनों ने इनमें से पहले प्रकार को दुगनी लय कहा, आज दूसरे प्रकार को दुगनी लय कहा जाता है। यानी पहले विश्रान्ति के बढ़ने को दुगनी लय कहा जाता था, आज गति या वेग की वृद्धि को दुगनी लय कहते हैं। इस रूप में लय का अर्थ ही बदल गया है और लय शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होने के कारण विसंगति दिखाई देती है।

मार्ग और लय के साथ तीन भावों के योग से लयों की जो विविधता मार्गतालों में थी वह देशी के आने के साथ लुप्त या कम हो गई। प्रयोजन, प्रयोग तथा धारणा—तीनों दृष्टियों से आज का ताल देशी के अन्तर्गत ही आता है। इसमें वह विविधता भी नहीं रह गई। इस प्रकार उत्तर में लय शब्द है लेकिन लयों में निश्चित सम्बन्ध नहीं है और दक्षिण में यह सम्बन्ध है लेकिन लय शब्द नहीं है।

मार्ग तालों में विलम्बित और द्रुत लय की एक सीमा थी। ४० लघु अक्षर काल विलंबित की और २½ अक्षरकाल द्रुत की सीमा थी। लेकिन आज दोनों की ही कोई सीमा नहीं है। विलंबित लय इतनी विलंबित भी हो सकती है जिसमें हर विभाग में ४-४ क्रियाओं के द्वारा भी लय स्थिर नहीं रखी जा सकती। मात्राओं के बीच काल की दूरी इतनी अधिक होती है कि वे परस्पर संबद्ध ही नहीं मालूम होतीं। दूसरी ओर द्रुत इतनी द्रुत होती है जिसमें ठोके देना या लय को समझना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य हो जाता है। मार्गताल पद्धति में इस प्रकार की लय सर्वथा अग्राह्य है।

अति विलंवित और द्रुत लयों के प्रचार के कुछ विशेष कारण हैं। मार्गतालों का मुख्य प्रयोग गांधर्व में था जिसका प्रयोजन ईशस्तुति, अभ्युदय, कल्याण या मोक्षप्राप्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

था इसलिये पदप्रधान गीतकों की रचना हुई। प्रबन्धों में भी पद की प्रधानता है। यहाँ तक कि ध्रुपद में भी पद का महत्त्व बना रहा। शब्द और अर्थ के ग्रहण की दृष्टि से अति विलंबित लय उपयुक्त नहीं होती क्योंकि अक्षरों का अधिक कर्षण होने पर पद विच्छिन्न हो जाते हैं जिससे अर्थबोध नहीं हो पाता। इसलिये ध्रुपद में विलंबित लय बहुत विलंबित नहीं हुई। ख़्याल शैली में पद का स्थान नगण्य हो गया है। स्वरांश की प्रधानता रहती है, स्वरों का कर्षण और छोटे-बड़े अलंकरण बहुत रहते हैं जिनके प्रयोग के लिये विलंबित लय ही अधिक उपयुक्त होती है। ऐसा होने पर ताल के एक आवर्तन में विस्तार की काफ़ी गुंजाइश रहती है, बीच-बीच में छोटी-छोटी १६ गुन या ३२ गुन की 'ह्रटि' की तान लगाकर वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिये अवकाश मिल जाता है। सम्भवतः इन्हीं कारणों से अति विलंबित लय के प्रयोग का प्रचलन अधिक हुआ।

लेकिन अत्यधिक द्रुत लय के प्रयोग का कारण भिन्न है। गांधर्व का मुख्य प्रयोजन धार्मिक होने के कारण 'तैयारी' के प्रदर्शन के लिये उसमें स्थान नहीं था। संगीत साधना का माध्यम था साध्य नहीं। चित्त को एकाग्र रखने के लिये विश्रान्त स्थिति आवश्यक है। यह विलंबित या मध्य लय में ही सम्भव है क्योंकि द्रुत लय में गाते समय लय में भी विशेष अवधान रखना पड़ता है इसलिये गांधर्व में १० लघुअक्षर काल वाली लय मूलभूत और प्रयोग का आधार मानी गई जो साधारणतः (वर्तमान दृष्टि में) विलम्बित कही जा सकती है।

जब 'शास्त्रीय संगीत' का प्रयोजन लोकरंजन बना और संगीत का आश्रय मन्दिर के स्थान पर दरबार बने तो उसे आश्रयदाताओं व श्रोताओं की रुचि के अनुकूल बनना पड़ा। फलतः बड़े प्रबन्धों का स्थान छोटे गीतों ने लिया। वैचित्र्य उत्पन्न करके स्तम्भित करने के लोभ ने द्रुतगति की तानों के प्रचार को प्रश्रय और बढ़ावा दिया। जीवन की विषमताओं, अभावों में अस्तित्व को बनाये रखने के लिये सतत होने वाली कशमकश में लोकोत्तर या स्थायी आनन्द प्राप्ति के बजाय लौकिक और तात्कालिक तथा ऐन्द्रिय सुख की लालसा बढ़ी। आनन्द की गहराई तक पहुँचने का समय, इच्छा और योग्यता नहीं रही। इसलिये श्रोताओं को प्रसन्न करने के लिये संगीतज्ञों ने स्वयं को ढाला। अतिद्रुत लय की तानों—के द्वारा उत्पन्न होने वाले 'अद्भुतरस' या चमत्कार में श्रोताओं को आनन्द मिलने के कारण तैयारी के प्रदर्शन की प्रवृत्ति ने कलाकारों को नया आयाम दिया। आलाप बहुत अच्छा होने पर भी द्रुत तानें बहुत तैयार न हों तो उतनी प्रशंसा नहीं मिलती जितनी आलाप बढ़िया न हो किन्तु तानें ख़ूब तैयार होने पर भी मिल जाती है। इसलिये अति द्रुत लय की ओर अधिक झुकाव हुआ।

यह उल्लेखनीय है कि अति विलंबित लय का प्रयोग गान तथा गज से बजने वाले वाद्यों में ही होता है क्योंकि ऐसी लय में जिस प्रकार के कर्षण की आवश्यकता होती है वह इन्हीं में संभव है; सितारादि आघात के द्वारा बजाये जाने वाले वाद्यों में नहीं। यही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कारण है कि सितारादि में विलंबित गत बहुत विलंबित नहीं होती। दूसरी ओर अति द्रुत का प्रयोग मुख्यतः आघात वाले वाद्यों में होता है।

मार्ग—मार्गों की धारणा कर्णाटक ताल पद्धति से बिल्कुल लुप्त हो गई है। यद्यपि सिद्धान्त रूप में दक्षिण, वार्तिक, चित्र, चित्रतर, अर्धचित्र और अतिचित्र—६ मार्ग हैं लेकिन लक्ष्य में उनका कोई प्रयोग नहीं है।

उत्तर में अब से लगभग ६० वर्ष पूर्व तक ताल के तीन रूपों का उल्लेख पुस्तकों में मिलता है। पं० विष्णु दिगम्बरजी ने गीतों के नोटेशन लय के अनुसार ताल के इन रूपों में दिये हैं। ताल के इस प्रयोग की शिक्षा आरम्भ से दी जाती थी। लेकिन पं० भातखंडे द्वारा प्रकाशित पुस्तकों में तालों का एक आकार निश्चित कर दिया गया और उस शिक्षा पद्धति में तालों की यह विविधता तथा उसके अनुसार बनने वाले ताल के विभिन्न रूपों को भुला दिया गया।

मार्गों में क्रियाओं की संख्या उतनी ही रहती है किन्तु लय दुगनी हो जाने के कारण ताल की लम्बाई दुगनी हो जाती है और एक आवर्तन को पूरा करने में क्रमशः दुगना-दुगना समय लगता है। लगभग ६० वर्ष पूर्व तक उदाहरणार्थ तीनताल के तीन रूपों की शिक्षा और प्रयोग की परम्परा थी—द्रुत लय में ४ मात्रा का, मध्यलय में ८ मात्रा का और विलंबित लय में १६ मात्रा का तीनताल। इसमें हर विभाग में मात्रा दुगनी हो जाती हैं और फलस्वरूप कुल लम्बाई भी दुगनी होती जाती है। इन तीनों रूपों को क्रमशः चित्रमार्ग में त्रिताल, वार्तिक में त्रिताल और दक्षिण में त्रिताल कहा जा सकता है। लेकिन इसमें और मार्ग की धारणा में एक बड़ा अन्तर यह है कि मार्गों में क्रिया का काल बढ़ने के कारण लय बदलती थी क्रियाओं की संख्या नहीं। त्रिताल प्रयोग में संख्या भी दुगनी हो जाती है और लय भी बदल जाती है क्योंकि क्रियाएँ द्रुत या विलम्बित गति से होती हैं। इसलिये इसे मार्ग का अवशेष ही कहा जा सकता है।

यों गायन वादन में लय बढ़ने के साथ आज भी त्रिताल के इन तीन प्रकारों का प्रयोग सुविधा के लिये किया जाता है लेकिन पं० विष्णु दिगम्बरजी के यहाँ बोधपूर्वक इस प्रकार ताल की शिक्षा भी दी जाती थी।

एककल आदि रूप—इन रूपों का तीन मार्गों से विशेष सम्बन्ध था किन्तु देशी में इनकी उपयोगिता नहीं रह गई। आज के तालों में भी मार्ग और एककल आदि का प्रयोग नहीं होता। असल में मार्ग और एककल आदि की प्रधान विशेषता आवर्तन की लम्बाई का क्रमशः दुगना-दुगना होना थी। आज तो लय ही स्थिर या प्रमाणभूत नहीं है इसलिये इनकी कोई सार्थकता नहीं है। फिर भी जैसे त्रिताल के तीन रूपों को मार्गों से जोड़ा उसी प्रकार उन रूपों को एककल आदि से भी सम्बद्ध किया जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

४ मात्रा का त्रिताल यानी एककल तीनताल, ८ मात्रा का यानी द्विकल और १६ मात्रा का यानी चतुष्कल तीनताल कह सकते हैं क्योंकि तीनताल के इन रूपों में हर विभाग में क्रम से १-१, २-२ और ४-४ मात्राएँ होती हैं।

ताल के भेद—कुल ५ भेद ताल के कहे गये—चतुरश्र, त्र्यश्र, खण्ड, मिश्र और संकीर्ण। रसकौमुदी और पारिजात में अक्षरकाल के अनुसार ये ५ जातियाँ कहलाईं। लेकिन फिर भी अक्षरसंख्या केवल लघु के कालमान की सूचक नहीं बनी थी।

कर्णाटक संगीत में चतुरश्रादि जातियाँ केवल लघु के काल की द्योतक बन गईं। द्रुत और अणुद्रुत का काल नियत हो गया और चतुरश्र, त्र्यश्र, खण्ड, मिश्र और संकीर्ण के लिये नियत ४, ३, ५, ७ और ९ अक्षरकाल पूरे ताल के स्वरूप के द्योतक न होकर केवल लघु के स्वरूप के सूचक बन गये। आज कर्णाटक संगीत में हर ताल की ५-५ जातियाँ इसी प्रकार बनाई जाती हैं। लेकिन सब जातियों का प्रयोग नहीं होता। प्राय: प्रत्येक ताल की १ या २ जातियों का ही प्रयोग होता है। ध्रुवताल, मठ्य, रूपक और एकताल का चतुरश्र जाति में, झंपा का मिश्र में, त्रिपुट का त्र्यश्र और चतुरश्र में तथा अड्डुताल का खण्ड जाति में प्रयोग होता है। चतुरश्र त्रिपुट को ही आदिताल कहा जाता है और अधिकांश गान-वादन इसी ताल में होता है।

उत्तर में 'चतस्र' और 'तिस्र' शब्द तो हैं लेकिन ये ताल के हर विभाग में मात्रा-संख्या के द्योतक हैं। जैसे—तीनताल चतस्र कहलाता है और दादरा तिस्र क्योंकि इनके हर विभाग में क्रम से ४-४ और ३-३ मात्राएँ होती हैं। मात्रा संख्या में भेद के कारण ताल की गति में भेद आता है। यह गति भेद ही आज के तालों में 'चतस्र' और 'तिस्र' का भेदक तत्त्व है। मार्गतालों में ये शब्द ताल के यथाक्षर रूपो में गुरुओं की कुल संख्या के और द्विकल चतुष्कल में पादभागों की संख्या के द्योतक थे। यथाक्षर में कुल ४ गुरु होने पर चतुरश्र और ३ या ६ होने पर त्र्यश्र ताल होता था। द्विकल और चतुष्कल में क्रमश: दुगने-दुगने गुरुओं के द्वारा चतुरश्र में ४ और त्र्यश्र में ३ या ६ पादभाग होते थे।

मार्गतालों में केवल चच्चत्पुट चतुरश्र था, शेष सभी त्र्यश्र थे। सबसे अधिक प्रयोग त्र्यश्र का होता था। आज के लक्ष्य में केवल दादरा ही त्र्यश्र है, शेष सब चतुरश्र ताल हैं। लेकिन यह सही है कि जितनी जल्दी दादरा आकर्षित कर लेता है उतनी जल्दी अन्य कोई ताल नहीं करते।

यति—यति की धारणा ने प्राचीन ताल पद्धति में विविध लयों के प्रयोग की अनेक सम्भावनाएँ प्रदान कीं। लयों के प्रयोग में जितनी प्रकार के क्रम संभव हो सकते हैं उन्हें यति के द्वारा व्यक्त किया गया। आरम्भ में तीन यतियाँ थीं। मध्ययुग में 'मृदंगा' और 'पिपीलिका' या 'डमरू' जोड़ दी गई।

उत्तर में 'यति' शब्द का प्रयोग ताल के संदर्भ में बिल्कुल नहीं रह गया है। लयों के विविध क्रमों में प्रयोग की भी कोई परम्परा या सम्भावना नहीं रह गई है। लेकिन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यति के मूल स्वरूप में परिवर्तन के साथ आज के संदर्भ में यति को तीन प्रकार से समझा जा सकता है—(१) ध्रुपद, ख़्याल, तराने आदि की बन्दिशों में लय वैविध्य के रूप में, (२) पूरे कार्यक्रम (performance) में मुक्त विस्तार में विभिन्न लयों के रूप में और (३) मुक्त विस्तार के अन्तर्गत छोटे-छोटे संनिवेशों में लय भेदों के रूप में। इन्हें अलग-अलग समझना ज़रूरी है।

(१) उत्तर भारतीय बन्दिशों के प्राप्त स्वरूप में छोटे ख़्यालों, तराने, चतुरंग आदि की अनेक बन्दिशें ऐसी हैं जिनकी स्थायी मध्यलय में होती है और अन्तरा उसकी दुगनी लय में। उल्लेखनीय है कि प्राचीन लयों का निश्चित सम्बन्ध हमारे यहाँ की बन्दिशों में इसी रूप में है। उदाहरण के लिये हिण्डोल में सरगम से उठने वाली एक बन्दिश धसागसा धसागसा[1] में अन्तरा स्थायी की दुगनी लय में है। बागेश्री का प्रसिद्ध तराना 'तनन देरे ना तदानी दीं' का स्थायी और अन्तरा का एक भाग मध्य लय में और शेष अन्तरा उसकी दुगनी लय में है। इन गीतों में लय के इतने से वैविध्य से भी जिस आनन्द की अनुभूति होती है उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन यतियों की इतनी विविधता कैसे आनन्द का सृजन करती होगी। हमारे गुरुदेव पं. ओंकारनाथ ठाकुर ध्रुपद की एक ऐसी बन्दिश सुनाया करते थे जिसका अन्तरा स्थायी की दुगनी लय में था।

बन्दिशों में प्रायः मध्य और द्रुत अर्थात् मूल और उसकी दुगनी—इसी क्रम से इन दो लयों का ही प्रयोग किया जाता है। इससे विपरीत क्रम प्रायः नहीं रहता तथा लयें ठीक दुगने अनुपात में होती हैं। ताल में लय स्थिर रख कर गीत में भिन्न लयों का प्रयोग किया जाता है।

(२) पूरे कार्यक्रम में अर्थात् एक राग के गान या वादन में विलम्बित से आरम्भ करके क्रमशः बढ़ते हुए मध्य और अन्त में द्रुत लय का प्रयोग किया जाता है। लेकिन इसमें लयें क्रमशः दुगनी-दुगनी नहीं होतीं बल्कि गायक, वादक अपनी इच्छा, रुचि, योग्यता और सुविधानुसार धीरे-धीरे लय बढ़ाते हैं और साधारणतः समाप्ति द्रुत लय में ही होती है। इसमें लय प्रयोग के दो प्रकार सामान्य रूप से प्रचलित हैं—१. विलम्बित से शुरू करके, मध्य से होकर द्रुत में समाप्ति तथा २. मध्य से शुरू करके द्रुत में समाप्ति। इनके अतिरिक्त कभी-कभी तीसरा भी दिखाई देता है—विलम्बित से शुरू करके मध्य में समाप्ति। द्रुत लय के प्रति अत्यधिक आकर्षण के कारण तीसरा प्रकार बहुत कम प्रयुक्त होता है। इन तीनों लय प्रयोगों को स्रोतोगता का अवशेष कहा जा सकता है। इसमें ताल की और गीत की लय तो एकसी रहती है लेकिन पूरे कार्यक्रम में कुछ देर विलम्बित फिर क्रमशः मध्य व द्रुत का प्रयोग होता है इसी रूप में यति को समझना होगा।

(३) मुक्त विस्तार करते समय छोटे-छोटे स्वरसंनिवेशों में भी यति का रूप देखा जा सकता है। इसमें लय का क्रम उल्टा भी रहता है तथा ठीक दुगनी या आधी लय का भी प्रयोग होता है। जैसे—मालकौंस में—

---

१. संगी., भाग २, पृ. १४८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नि़ सा ग़ म ध़ नि़ स ग़ सानि़ धनि़ धम गम गसा

नि़सागम धनिसाग़ सानि़धनि़ धमगम धमगम गसानि़सा

इसमें शुरू की ८ मात्राओं में से हर मात्रा में १-१ स्वर है। फिर ५ मात्राओं में हर मात्रा में २-२ स्वर और अन्त की ६ मात्राओं में से हरेक में ४-४ स्वर हैं। लय दृष्टि से इन्हें विलंबित, मध्य, द्रुत कहा जा सकता है। इससे उल्टे क्रम में भी प्रयोग किया जा सकता है। यथा—

ग़ग़सानि़ सासानि़ध़ नि़नि़धम धधमग़ ममगम गसानि़सा

नि़सा गम धनि साग़ –सा –नि़ –ध़ –म –ग़ –सा

यहाँ पहले द्रुत, फिर मध्य और अन्त में विलंबित लय कही जा सकती हैं। अन्तिम अंश में १-१ मात्रा में २-२ स्वर नहीं हैं बल्कि स्वर मात्रा को काटते हुए चलते हैं। इस प्रकार के प्रयोग में बन्दिश की लय विलंबित या मध्य कोई भी हो सकती है और विस्तार में भी प्रधानता किसी एक लय की हो सकती है लेकिन छोटे अवान्तर खण्डों में इस प्रकार के संनिवेशों के प्रयोग में लयभेद रहता है। इसलिये उतने अंश में ही यति का स्वरूप दिखाई देता है।

स्वर और लय पर अधिकार प्राप्त करने की दृष्टि से उत्तर और दक्षिण दोनों पद्धतियों में गायक वादक इस क्रम में अभ्यास करके साधते हैं। इसमें गोपुच्छा यति का रूप है।

सीधे क्रम से तीन लयों का प्रयोग अभ्यास और कार्यक्रम दोनों दृष्टियों से अपेक्षाकृत सरल होता है। इसका प्रयोग प्राय: सभी गायक-वादक करते हैं लेकिन उल्टे क्रम में प्रयोग करने के लिये स्वर और लय दोनों पर अधिकार चाहिये। सितार वादक उस्ताद विलायत ख़ाँ के वादन में छोटे संचारों में पहले द्रुत और फिर मध्य लय का प्रयोग दिखाई देता है।

१९ वीं सदी में प्रकाशित 'यन्त्रक्षेप दीपिका' में, जो मूलत: सितार की शिक्षा से सम्बन्धित है, यति का भिन्न अर्थ में प्रयोग हुआ है। इसके लेखक का कथन है—'लय प्रवृत्ति के नियम को यति कहते हैं अर्थात् प्रवृत्तिसूचक नियमानुयायी छन्दोगत जिस विश्राम विशेष के द्वारा किसी ताल विशेष की लय के साथ अन्य तालविशेष की लय का जो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विभेद देखा जाता है उसका नाम यति है। इसका चिन्ह (६) है।'[१] इसका आशय पूरी तरह स्पष्ट नहीं है फिर भी इतना कहा जा सकता है कि यति को किन्हीं दो तालों के परस्पर लय सम्बन्ध का सूचक कहा है।

इसी पुस्तक में 'स्वर निबन्धनी'[२] की तीन प्रकार की गति कही है—१. मन्थर, जिसमें धीरे-धीरे स्निग्ध, सुस्पष्ट भाव से, यथा-लय वादन होता है। २. मण्डूक, जैसे मेंढक उछल-उछल कर चलता है। ३. गंगास्रोत—गंगा के स्रोत की भाँति द्रुत। इनके उदाहरण भी दिये गये हैं।[३] मन्थर के उदाहरण में 'श्लथ त्रिताला' (धीमा त्रिताल) है। इससे अनुमान होता है कि संभवतः लय की गति अभिप्रेत है। मण्डूक के उदाहरण में बीच-बीच में स्वर छोड़ कर लगाये हैं अतः स्वरों में मण्डूक की गति की सम्भावना है। 'गंगास्रोत' शब्द की कुछ समानता स्रोतोगता से है।

कर्णाटक संगीत में यति शब्द तो है लेकिन प्राचीन स्वरूप खोकर उसने नया रूप ले लिया है। इस प्रयोग में मूल-लय तो स्थिर रहती है लेकिन विभिन्न लयों के प्रयोग के बजाय अक्षरों की संख्या घटाते या बढ़ाते हुए विभिन्न संनिवेश बनाकर उन्हें यति कहा जाता है। इनका प्रयोग मृदंग वादन शैली और गीत दोनों में होता है। मृदंग में होने पर गीत तथा हाथ की क्रियाओं में मूल लय स्थिर रहती है और गीत में होने पर हाथ की क्रियाओं और मृदंग में स्थिर रखी जाती है।

मुख्य रूप से ६ यतियों का प्रयोग दक्षिण में होता है—सम, विषम, मृदंग, गोपुच्छ, स्रोतोवह और वेदमध्यम जिनका स्वरूप इस प्रकार है।

सम—जिसमें सब लघु अक्षर हों और समान संख्या के क्रम से उनकी योजना हो। जैसे, तकदिमि, तकजणु, तरिकिट, ततदिमि। अथवा गान में—गंरिसंनि, रिंसंनिध, संनिधप, निधपम।

विषम—विषमसंख्या में अक्षरों की ऐसी योजना हो जिसमें अक्षर लय को काटते हुए चलें। जैसे—

त कि ट
त दिं कि ण तों
ता
त क दि मि
त क
त दिं कि ण तों

गोपुच्छ—अधिक अक्षरों से शुरू करके क्रम से १-१ अक्षर कम करना गोपुच्छ यति कहलाती है जैसे—

स र स प दे
र स प दे
स प दे
प दे

---

१. यन्त्र., पृ. २९-३० २. वही, पृ. १९७ ३. वही, पृ. १९९-२०२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्रोतोवहा—गोपुच्छा की ठीक विपरीत है जिसमें कम अक्षरों से आरम्भ करके क्रमशः अक्षर बढ़ाये जाते हैं। जैसे

प दे
स प दे
र स प दे
स र स प दे

मृदंग—मृदंग के आकार में क्रमशः चौड़ाई बढ़ती और फिर घटती है। इस यति में भी अक्षरसंख्या क्रमशः बढ़ती और फिर घटती है। जैसे—

प दे
स प दे } स्रोतोवहा
र स प दे
स र स प दे
र स प दे
स प दे } गोपुच्छा
प दे

वेदमध्यम—डमरू के सदृश आकार वाली यति वेदमध्यम कहलाती है। मध्य-युगीय ग्रन्थों में कही गई 'पिपीलिका' यति का ही अन्य नाम 'डमरू' या 'वेदमध्यम' है। पहले कहा जा चुका है कि मृदंगा और पिपीलिका वास्तव में नई यति नहीं हैं बल्कि गोपुच्छा और स्रोतोगता की ही दो प्रकार से योजना करने से बन जाती हैं। डमरू दोनों ओर से चौड़ा और बीच से सकरा होता है। मृदंग यति का दक्षिण में जो रूप है वह गोपुच्छ के बाद स्रोतोवहा को जोड़ने से उपलब्ध होता है। जैसे—

श्री त्यागराज योग वैभवं
त्यागराज योग वैभवं
राज योग वैभवं
योग वैभवं } गोपुच्छ
वैभवं
भवं
वं
भवं
वैभवं
योग वैभवं } स्रोतोवहा
राज योग वैभवं
त्यागराज योग वैभवं
श्री त्यागराज योग वैभवं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार प्राचीन यति की धारणा ही बिल्कुल बदल गई है क्योंकि (१) लयों का विभिन्न क्रमों में प्रयोग प्राचीन यति थी। आज दाक्षिणात्य यति में लय स्थिर रहती है, बदलती नहीं लेकिन अक्षरसंख्या समान रख कर या घटा-बढ़ाकर बनने वाले विभिन्न संनिवेशों को यति कहा जाता है। (२) गोपुच्छ और स्रोतोवहा में क्रम उलट गया है। प्राचीन गोपुच्छा गाय की पूँछ की तरह शुरू में संकीर्ण और बाद में विस्तृत होती थी। आज की गोपुच्छ में अधिक अक्षर से आरम्भ करके कम अक्षरों में समाप्ति की जाती है। द्रुत में संकीर्णता और विलम्बित में विस्तार का भाव है। इसके विपरीत गोपुच्छ के अधिक और कम अक्षर वाले क्रम में विस्तार से संक्षेप की ओर का क्रम है। इसी प्रकार स्रोतोगता में स्रोत की गति की तरह विलम्बित से द्रुत का क्रम है जब कि स्रोतोवहा में इससे उल्टा यानी कम से अधिक अक्षरों का क्रम दिखाई देता है।

श्री साम्बमूर्ति ने यति का इन सबसे भिन्न एक और स्वरूप दिखाया है।[1] ताल के अन्तर्गत लघु, गुरु आदि अंगों के विभिन्न क्रमायोजन को उन्होंने यति कहा है। इसके अनुसार पूर्वोक्त छहों यतियों के स्वरूप यों हैं—

समयति	—	◡ ◡ ◡ ◡ अथवा । । । ।
गोपुच्छ	—	S′ S । O ◡
स्रोतोवहा	—	◡ O । S S′
डमरू	—	S′ S । O ◡ O । S S′
मृदंग	—	◡ O । S S′ S । O ◡
विषम	—	। O S । ◡ O S′ । S ।

यह ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन यति के किसी भी प्रकार में विलंबित के बाद सीधे द्रुत या द्रुत के बाद सीधे विलंवित लय का प्रयोग नहीं होता। आज के लक्ष्य में उत्तर और दक्षिण दोनों के संगीत में भी इसका पालन किया गया है।

यति के ठीक समकक्ष दो अन्य क्रियाएँ कर्णाटक संगीत में अभी भी प्रचलित हैं— अनुलोम और प्रतिलोम। 'अनुलोम' यानी लोम (बाल) के स्वाभाविक क्रम के अनुसार। 'प्रतिलोम' का अर्थ है विपरीत क्रम के अनुसार। लय के संदर्भ में स्वाभाविक क्रम विलंबित से द्रुत का ही है इसलिये अनुलोम में विलंवित लय में शुरू करके, मध्य और अन्त में द्रुत का प्रयोग होता है। इसमें ताल की लय स्थिर रखकर केवल गीत में लयभेद किया जाता है। प्रतिलोम में द्रुत से विलंबित की ओर लय बढ़ती है। यह क्रिया गीत और ताल में से किसी में भी हो सकती है। गीत की लय स्थिर रख कर ताल में लयभेद करने की परम्परा अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन मानी जाती है।

'ग्रह' और 'सम'—ग्रह की धारणा के अनुसार उसके क्रियात्मक रूप की उलझनों की चर्चा पहले की जा चुकी है। 'पाणि' के स्थान पर 'ग्रह' का आना, 'अव' और

१. South Indian Music, Book IV, pages 176-182

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'उपरि' के अर्थ के संदर्भ में 'अतीत' और 'अनागत' के अर्थ और उनकी सार्थकता, इन दोनों ग्रहों में गीत, वाद्य तथा ताल का संबंध, इस संबंध में प्रधानता-गौणता, रत्नाकर में इन दोनों ग्रहों के लक्षणों में विसंगति का आभास, उसे दूर करने के प्रयत्न में सिंह-भूपाल और कल्लिनाथ द्वारा दिये गये अर्थों में वैपरीत्य, मध्ययुगीय ग्रंथों में अतीत और अनागत के लक्षण में विपर्यास—ये गुत्थियाँ ग्रह के साथ बनी हुई हैं। दूसरी ओर सम, अतीत और अनागत ग्रहों के नामों का दक्षिण तथा उत्तर में प्रयोग, उनका अर्थ-भेद तथा धारणा-भेद इन गुत्थियों को सुलझाने में मदद करने के बजाय उनमें और अधिक उलझनें पैदा करते हैं। इन्हें हल करने के लिए क्रम से उत्तर और दक्षिण में प्रयुक्त इन पारिभाषिक शब्दों का जो अर्थ और धारणा है उन्हें भी समझना आवश्यक है।

उत्तर में सम, अतीत और अनागत—इन तीनों शब्दों का प्रयोग होता है। 'सम' गीत-वाद्य और ताल का ऐसा स्थान है जहाँ आकर सब मिलते हैं और जहाँ सबसे अधिक बल या आघात रहता है। यह ऐसा स्थान है जहाँ गायक गीत के अक्षर पर, वादक स्वर पर, तबला-मृदंगवादक वाद्य पर आघात में विशेष बल देते हैं और जहाँ कभी-कभी श्रोता भी हाथ से आघात करके तथा मुखध्वनि से बल को दिखाते हैं। ताल के आवर्तन की पहली मात्रा और गीत-वाद्य के उस स्थान को सम कहते हैं जहाँ से ताल का वास्तविक उठान होता है। यह ऐसा स्थान है जहाँ तबलावादक स्वतन्त्रवादन करके गायक या वादक के साथ मिल जाते हैं और जहाँ गायक वादक मुक्त विस्तार करके तबलावादक के साथ मिल जाते हैं।

जब गायक वादक और तबलावादक ताल की पहली मात्रा पर आकर मिल जाते हैं तो 'सम पर आना' कहा जाता है। लेकिन कभी कभी इनमें से कोई पहली मात्रा पर न मिलकर उससे एक मात्रा या मात्रांश पहले या बाद विशेष बल देकर वहाँ सम का आभास कराते हैं। इन्हीं दोनों को क्रमशः अनागत या अनाघात सम और अतीत सम कहा जाता है। यानी वास्तव में सम आने से पहले सम दिखाया जाय तो अनागत और बीत जाने पर सम दिखाया जाय तो अतीत सम कहलाता हैं। जैसे—राग विहागड़ा के एक तराने में, जिसका सम त्रिताल की पहली मात्रा पर है, निम्न तान का अतीत सम—

निसा	गम	पनि	साग	गरे	सानि	धप	धनि्	धप	मग	रेसा,	गरे
०				१३				×			
सानि	धप	धनि्	धप	मग	रेसा,	गरे	सानि	धप	धनि्	धप	मग
५				०				१३			

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रेसा,	प	—	प
	ता	ऽ	नों[1]
×			

इस तराने का 'ता' सम पर है लेकिन तान ऐसी बनी है जिससे 'ता' ताल के सम पर न आकर दूसरी मात्रा पर आता है इसलिये अतीत सम का उदाहरण है। इसी प्रकार अनागत सम का उदाहरण—

			।	।।	।।	।।	।				
निसा	गम	पनि	निसा	गम	पम	गरे	सानि	धप	धनि्	धप	मग
×				५				०			
	।।	।।	।।	।						।।	।।
रेसा,	गम	पम	गरे	सानि	धप	धनि्	धप	मग	रेसा,	गम	पम
१३				१				५			
।।	।										
गरे	सानि	धप	धनि्	धप	मग	रेसा,	सा	—	प	—	प
							ता	ऽ	·	ऽ	नों[2]
०				१३				×			

इसमें ताल के सम से एक मात्रा पहले ही गीत का सम दिखाया गया है इसलिये अनागत है। इस प्रकार मात्रा के किसी अंश पहले या बाद में भी समाप्त किया जा सकता है।

कभी-कभी 'विषम' सम की भी चर्चा की जाती है लेकिन अतीत और अनागत से भिन्न उसका कोई निश्चित स्वरूप न होने से उसका अलग अस्तित्व नहीं कहा जा सकता ।

अतीत और अनागत का जो अर्थ और स्वरूप ऊपर बताया गया उससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन अतीत और अनागत के स्वरूप और धारणा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। प्राचीनों के अनुसार ये शब्द गीत-वाद्य तथा ताल के आरम्भ से सम्बन्धित हैं जबकि आज ये शब्द इनके समाप्ति स्थान के सूचक हैं। इतना साम्य अवश्य कहा जा सकता है कि नाम वही हैं और 'पहले' या 'पीछे' का भाव किसी न किसी रूप में है।

सम के इन दो प्रकारों के प्रचलन के बारे में यह संभव है कि कभी किसी वादक या गायक से भूलवश वास्तविक सम से पहले या बाद में सम आया हो अथवा सूझबूझ के साथ कभी किसी ने ऐसा प्रयोग किया हो। इसमें उस स्थान पर भी वैसा ही बल

---

१. संगी., भाग ५, पृ. १२, तान संख्या १४   २. वही, पृ. १४, १६वीं तान का अन्तिम अंश

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आया हो जैसा सम पर होता है। ऐसा होने पर चमत्कार उत्पन्न होना स्वाभाविक है। फलतः दोष को ढकने की दृष्टि से अथवा आगन्तुक रूप में क्वचित् हुए प्रयोग को वैशिष्ट्य मान या मनवा लिया गया हो और फिर इस प्रयोग की परंपरा बन गई। लेकिन यह प्रयोग न तो बन्दिश का अंग होता है और न ही बार-बार किया जाता है। इसका क्वचित् ही प्रयोग होता है और तब यह गान-वादन में सौंदर्य उत्पन्न करता है।

कर्णाटक में सम, अतीत और अनागत शब्द भी हैं और इन तीनों प्रकारों का प्रयोग भी होता है लेकिन अतीत और अनागत में सिंहभूपाल के अनुसार प्रचलन है। गीत और ताल साथ उठें तो समग्रह है, गीत पहले और ताल बाद में प्रवृत्त होने पर अतीत और ताल पहले तथा गीत बाद में आरम्भ हो तो अनागत ग्रह होता है। पहले उठने का अर्थ यह है कि ताल के घात से पहले गीत शुरू हो जाय और बाद में उठने का यह अर्थ है कि ताल के घात के बाद गीत शुरू हो। परम्परागत गायक वादक इसका यह अर्थ करते हैं कि ताल का कोई घात होने के तुरन्त बाद गीत उठे तो अनागत ग्रह होता है और गीत शुरू करने के तुरन्त बाद घात हो तो अतीत ग्रह होता है। यह घात जिसके सम्बन्ध से अनागत या अतीत ग्रह समझा जाता है ताल की पहली मात्रा वाला घात हो यह आवश्यक नहीं है। इस प्रकार इस हद तक प्राचीन परम्परा से इनका साम्य है कि ताल (यानी हाथ की घात क्रिया) शुरू होने से पहले या बाद गीत का ग्रहण होता है। भरत के 'पाणि' के ताल अर्थ से भी दक्षिण के ग्रहों में ताल यानी हाथ की घातक्रिया का साम्य है। लेकिन अवपाणि-उपरिपाणि के अर्थ और उनके साथ अतीत-अनागत ग्रहों के सम्बन्ध को देखते हुए क्रम उलट गया है।

किसी मात्रा के चौथे से अधिक अंश (६ठे, ८वें आदि) से गीतादि का आरम्भ हो तो उसे विषमग्रह कहा जाता है। ग्रह के संदर्भ में विषम का अर्थ आजकल कठिन अंश समझा जाता है।

दक्षिण के लक्ष्य में ताल और गीतवाद्य के मिलने का स्थान तो है और इस दृष्टि से उत्तर के 'सम' की धारणा के निकट है लेकिन उत्तर की तरह यह आवश्यक नहीं कि वह ताल की पहली मात्रा ही हो। न यही आवश्यक है कि वह स्थान गीत के शुरू में हो। गीत में वह कहीं भी हो सकता है।

प्राचीन ग्रह का अर्थ गीत, वाद्य और ताल का प्रथम ग्रहण समझा जाय तो उत्तर भारतीय संगीत में ताल और उसके साथ गीत वाद्य के उठान का जो रूप प्रचलित है उसमें ग्रह को इस रूप में समझा जा सकता है। हमारे यहाँ 'सम' की धारणा इतनी बद्धमूल हो चुकी है कि उससे अलग होकर सोचना कठिन है इसलिये ताल के आरम्भ का अर्थ आज की दृष्टि से 'सम' समझना होगा। गीत वाद्य की उठान होने के तुरन्त बाद ताल का सम आये तो अनागत ग्रह कहा जा सकता है क्योंकि ताल से पहले गीत का उठान हुआ। ताल के सम के कुछ बाद गीत का उठान हो तो अतीतग्रह कहा जायगा क्योंकि ताल का ग्रह बीत जाने पर गीत का उठान होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बड़े ख़्याल तथा विलंबित गत में हमेशा अनागत ग्रह होता है क्योंकि गीत या गत का मुखड़ा लेने के बाद ही ताल का सम आता है। छोटे ख़्यालों में मुख्य रूप से तीनताल का और उसके बाद एकताल तथा झपताल का अधिक प्रयोग होता है। एकताल और झपताल की बन्दिशें अधिकतर सम से ही उठती हैं। तीनताल में भी कभी-कभी सम से उठती हैं। इसलिये उनमें समग्रह माना जा सकता है क्योंकि उनमें हाथ से ताल और गीत की शुरूआत एक साथ होती है यद्यपि तबला वादन का आरम्भ गीत के पहले आवर्तन से न होकर दूसरे आवर्तन से ही होता है। इसका मूल भरतकालीन प्रयोग में है जहाँ यह कहा गया है कि गान के एक परिवर्त (आवर्तन) का अभाण्ड (अवनद्ध वाद्य के वादन से रहित) प्रयोग करके ताल के अन्तिम संनिपात से भाण्डवाद्य का ग्रहण (उठान) होना चाहिये।[1]

देशकार की चिरियाँ चुहचुहानी[2], कामोद की 'गोरे बदन पर'[3] झपताल की तथा विभास की 'छाँडो कृष्ण जुगल बैयाँ'[4] एकताल की प्रसिद्ध बन्दिशें समग्रह का उदाहरण कही जा सकती हैं। तीनताल के अधिक गीत ख़ाली से या १२ वीं मात्रा से उठते हैं। १२वीं मात्रा से उठने वाले गीतों में गीत शुरू होने के तुरन्त बाद ताल का आरम्भ होने से अनागत ग्रह कहा जा सकता है। ख़ाली से शुरू होने वाले गीत में यद्यपि ताल के आवर्तन में बीचों-बीच उठने के कारण स्थूल दृष्टि से न अतीत कहा जा सकता है और न अनागत फिर भी ताल का आधा आवर्तन बीत जाने के कारण दृष्टि अगले सम पर केन्द्रित होने लगती है इसलिये ऐसी अनुभूति होती है कि गीत उठने के बाद सम आया। ऐसे गीतों में भी अनागत ग्रह कहा जा सकता है। सम के बाद उठने वाले गीतों का प्रचलन कम है फिर भी चौथी, ५ वीं और ७ वीं मात्रा से उठने वाले भी अनेक गीत प्राप्त होते हैं। ये सम के तुरन्त बाद उठते हैं इसलिये अतीत ग्रह में रखे जा सकते हैं। छायानट की 'भरी गगरी मोरी ढुरकाई'[5], हिंडोल का 'कोयलिया बोले डार-डार'[6] ७ वीं मात्रा से उठने वाले वाले, तिलंग का 'ननदिया कैसे नीर भरौं'[7], काफ़ी का 'रंग जिन डारो'[8] चौथी मात्रा से उठने वाले, बिहाग का 'मेरो मन अटक्यो'[9], दुर्गा का 'लागी साँवरिया सन प्रीत'[10] ५ वीं मात्रा से उठने वाले गीत अतीत ग्रह के दृष्टान्त कहे जा सकते हैं।

एक ही गीत के अन्तर्गत विभिन्न स्थानों पर गीत के बलस्थान और ताल के घातस्थानों में पहले-पीछे सम्बन्ध के आधार पर विभिन्न ग्रहों के वर्तमान लक्ष्य में प्रयोग पर इसी अध्याय में आभोगी के तराने में उदाहरण सहित प्रकाश डाला जा चुका है।

---

१. ना. शा. ३४/१८०
२. संगी. भाग ५, पृ. ९३
३. वही, पृ. ५८
४. वही, पृ. ११७
५. वही, पृ. ४१
६. वही, भाग २, पृ. १४१
७. वही, भाग १, पृ. ५२
८. वही, पृ. १०८
९. वही, भाग २, पृ. ६
१०. वही, भाग १, पृ. ३६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

घन से अवनद्ध की ओर

उत्तर में ताल का आधार हाथ की क्रियाओं और घनवाद्य के स्थान पर तबला हो गया है। घन का स्थान अवनद्ध ने कब और क्यों ले लिया इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान है कि अन्य अनेक परिवर्तनों की तरह इस परिवर्तन में भी राजनैतिक और धार्मिक कारण रहे होंगे। भारतीय संगीत और उसके शास्त्र से परिचित व्यक्ति जानते हैं कि धार्मिक और लौकिक—दोनों प्रकार के संगीत में घनवाद्य का विशिष्ट स्थान रहा है। धार्मिक संगीत में काल के खण्ड बनाने, उसे नापने और उसमें मधुरता भरने तथा अनुरणन लाने की दृष्टि से करताल, ताल, मँजीरा आदि घनवाद्यों का अनिवार्य स्थान था। आज भी इनके बिना मंदिर में पूजा नहीं होती और मन्दिर से बाहर भी मँजीरे के बिना भजन-कीर्तन की कल्पना नहीं की जा सकती। शास्त्रीय संगीत में भी गीत, वाद्य को प्रतिष्ठा देने वाले ताल का प्रयोग घनवाद्य पर ही होता था। इसलिये एक ओर धर्म व संस्कृति की दृष्टि से और दूसरी ओर परम्परा व शास्त्र की दृष्टि से घनवाद्य संगीत का अविभाज्य अंग था।

सम्भव है कि मुग़ल शासन काल में करताल, मँजीरे जैसे घनवाद्यों को हिन्दू धर्म से सम्बद्ध मान कर दरबारी शास्त्रीय संगीत में से उसे हटाने का प्रयत्न हुआ हो। साथ ही घन के स्थान पर अवनद्ध वाद्य को मान करने वाले वाद्य के रूप में ग्रहण किया हो जिसमें घन की अपेक्षा वादन के लिये विशाल क्षेत्र था, चमत्कार उत्पन्न करने के लिये अधिक गुंजाइश थी और तैयारी के प्रदर्शन के लिए बहुत मौक़ा था।

अवनद्ध वाद्यों पर ताल और 'ठेका'

भरत ने चतुर्विध वाद्यों के पाटाक्षर कहे हैं। वादन की शिक्षा की सुविधा और नाट्य में प्रयुक्त भाषा के शब्दों और अक्षरों के साथ साम्य स्थापित करने की दृष्टि से पाटाक्षरों की उपयोगिता थी। अवनद्ध वाद्यों के पाटों का व उनकी वादन विधि का भी भरत ने विशेष निरूपण किया है। संगीतरत्नाकर में तो 'प्रबन्ध' संज्ञा से उनकी विशेष रचनाएँ भी दी गई हैं। लेकिन अवनद्ध वाद्य का प्रयोजन गीत-वाद्य का उपरंजन करना, उसके सौंदर्य में वृद्धि करना, ध्वनि में गंभीरता लाना, वातावरण में भराव लाना आदि ही था, गीत-वाद्य को प्रतिष्ठा देना या उसका मान करना नहीं। इसलिये तालों के बोल निश्चित नहीं किये गये। किन्तु जब घन का स्थान अवनद्ध ने लिया अथवा घन के साथ-साथ ताल का प्रयोग अवनद्ध पर भी किया जाने लगा तब तालों के शिक्षण, अभ्यास और वादन में विविधता के स्पष्ट बोध के लिए बोल निश्चित करने की आवश्यकता हुई होगी। साथ ही एक से आकार या स्वरूप वाले तालों में भेद दिखाने के लिये अलग बोल रखने की दृष्टि से भी हर ताल के बोल निश्चित करना आवश्यक हुआ होगा। संभव है कि इसी संदर्भ में तालों के निश्चित बोल और उनके लिये 'ठेका' शब्द प्रयोग में आया हो। मध्ययुगीय ग्रंथों में कहीं-कहीं तालों के पाटों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। लेकिन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'ठेका' शब्द या प्रत्येक ताल के निश्चित ठेकों का उल्लेख प्राप्त न होने से कम से कम १९ वीं शताब्दी के आरम्भ तक क्या स्थिति रही होगी इस बारे में प्रमाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

उत्तर में आज स्थिति यह है कि हर ताल का ठेका निश्चित है। विद्यार्थी को ताल का ठेका न मालूम हो तो ताल का ज्ञान ही अधूरा माना जाता है। तबला-पखावज वादक के लिये भी ठेके का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि उन बोलों के अनुसार विस्तार किया जाता है।

कर्णाटक संगीत में अवनद्ध का प्रधान प्रयोजन अब भी उपरंजन ही है इसलिये उत्तर की तरह ठेके के विना ताल का ज्ञान असंभव तो नहीं माना जाता फिर भी अभ्यास के लिये तालों के कुछ बोल नियत अवश्य हैं। बोलों में तत्, दित्, तों, नं प्रमुख हैं। प्रत्येक ताल की पहली मात्रा में 'तत्' का ही प्रयोग होता है। इन चारों बोलों को प्रधानता देने की दृष्टि से प्रत्येक ताल के चार आवर्तन इन बोलों के आधार पर इस तरह बनाये जाते हैं जिससे उनमें से प्रत्येक बोल क्रम से चार आवर्तनों की पहली मात्रा में आता है। नीचे कुछ तालों के उदाहरण दिये जा रहे हैं और स्पष्टता के लिये तत्, दित्, तों, नं को रेखांकित किया है—

आदिताल चतस्र जाति

१	२	३	४	५	६	७	८
तत्	दित्	तों	नं	तत्	दित्	तों	नं

आदिताल में केवल इन्हीं पाटों का प्रयोग होता है।

रूपक

१	२	३	४	५	६
त	त्	त	रि	कि	ट
दि	त्	त	रि	कि	ट
तों	ऽ	त	रि	कि	ट
नं	ऽ	त	रि	कि	ट

मिश्र चापु[1]

१	२	३	४	५	६	७
तत्	तरि	किट	तत्	तरि	तरि	किट
दित्	तरि	किट	दित्	तरि	तरि	किट
तों	तरि	किट	तों	तरि	तरि	किट
नं	तरि	किट	नं	तरि	तरि	किट

---

१. यह परिचय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित संगीत संकाय में भूतपूर्व मृदंगम् प्राध्यापक श्री टी. एस्. राघवन् से प्राप्त हुआ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दक्षिण में जिस प्रकार अभ्यास के लिये निश्चित तानें बनी हुई हैं उसी प्रकार तालों के अभ्यास के लिये भी निश्चित 'पाठ' बने हुए हैं जो विभिन्न संप्रदायों के अनुसार अलग-अलग हैं। बोल बजाने के ढंग में भी संप्रदायों के अनुसार भेद होता है।

ताल के वर्तमान स्वरूप का अध्ययन करने पर यह दिखाई देता है कि ताल के मूल सिद्धान्त और मूल स्वरूप आज भी प्राचीन पद्धति से संबद्ध हैं किन्तु उसके आकार में परिवर्तन हुए हैं, पारिभाषिक शब्द और उनके अर्थ बदले हैं, उर्दू फ़ारसी भाषाओं के अनेक शब्द आ गये हैं। संभव है ताल पद्धति पर इनका प्रभाव पड़ा हो। इस दृष्टि से इन भाषाओं के संगीत सम्बन्धी ग्रंथों का अध्ययन अपेक्षित है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अध्याय–२

गीतक

सामान्य परिचय

यों तो ताल, छन्द और प्रवन्ध की परिधि में गीतक नहीं आते लेकिन प्रबन्ध के रूप में जिन गीतों का अध्ययन हमें आगे चलकर विशेष रूप से करना है उनके प्रमुख तत्त्व भी स्वर, ताल और पद ही हैं। गीतकों में भी ये तीन ही तत्त्व हैं इसलिये इनके साथ प्रवन्धों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध अवश्य कहा जा सकता है। सामगान से विकसित किन्तु सामभिन्न जिस संगीत का प्रयोग नाट्य में धार्मिक प्रयोजन से होता था, जिसे 'गांधर्व' कहा गया, उसका प्राचीनतम उपलब्ध रूप ये गीतक ही हैं।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त एक और बड़ा कारण यह है कि जिन तालों का और पूरी ताल पद्धति का निरूपण भरत ने किया, उनकी सार्थकता या उनके स्वरूप की सिद्धि भी इन गीतकों में ही होती है। इन सभी दृष्टियों से गीतकों का संक्षेप में अध्ययन उपयोगी होगा।

गीतकों की विभिन्न संज्ञाएँ

भरत और अभिनवगुप्त ने इन्हें 'गीत' या 'गीतक' कहा। लेकिन नाट्यशास्त्र के २८ वें अध्याय में तालगत विषयसंग्रह देते समय 'प्रकरण'[१] संज्ञा का प्रयोग किया। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी 'प्रकरण' नाम आया है— प्रकरणं द्विविधं कुलकं छेद्यकं च'।[२] ध्रुवाध्याय के दूसरे श्लोक में भरत ने गीतकों के लिये 'सप्तरूप' शब्द का प्रयोग भी किया है। ३१ वें अध्याय में तो इस शब्द का बार-बार प्रयोग हुआ है। दत्तिल ने भी प्रकरण संज्ञा का प्रयोग किया है और मद्रकादि को प्रकरण माना है—'अथ प्रकरणं नाम मद्रकाद्यभिधीयते'।[३]

याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षर टीका में भी मद्रकादि सप्त गीतों के लिये प्रकरण संज्ञा मिलती है—

अपरान्तकोल्लोप्यकमद्रकप्रकर्यैविणकानि सरोबिन्दुसहितं
चोत्तरमित्येतानि प्रकारणाख्यानि सप्त गीतकानि।[४]

---

१. ना. शा., २८/१९
२. वि. धर्मो., तृतीय खंड, अ. १९, पृ. ४५
३. दत्ति. श्लो. १५५
४. मिता., ३, ११३-११४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नान्यदेव ने भरतभाष्य में 'गीत' संज्ञा का प्रयोग किया है और भरत के अनुकरण पर सप्तगीत ही कहे हैं, चतुर्दश प्रकरणगीत नहीं।[१]

संगीतरत्नाकर में 'गीत', 'गीतक' और 'प्रकरणगीत' तीनों का प्रयोग है लेकिन इनमें थोड़ा-थोड़ा अन्तर किया है। १४ गीतों की साधारण संज्ञा 'प्रकरणगीत'[२] है। मद्रक, अपरान्तक, उल्लोप्यक, प्रकरी, ओवेणक, रोविन्दक और उत्तर—इन ७ को 'गीतक'[३] तथा छन्दक, आसारित, वर्धमान, पाणिका, ऋक्, गाथा और साम को 'गीत'[४] कहा। प्रकरण शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की गई है—

(मार्गतालैः) प्रक्रियन्ते प्रस्तूयन्ते मद्रकादीनि इति प्रकरणानि।[५]

अर्थात् मार्गतालों के द्वारा जो विशेष रूप से किये जाते हैं वे मद्रकादि 'प्रकरण' हैं। दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—

बहुधा वस्तुतालाङ्गैः प्रकर्षेण स्थितैर्यतः॥[६]

अर्थात् वस्तु और तालाङ्गों के प्रकर्ष से स्थित होने के कारण 'प्रकरण' कहलाते हैं।

कुम्भा ने गीत और गीतक—ये दो वर्ग नहीं बनाये लेकिन भरत का अनुसरण करते हुए केवल मद्रकादि ७ गीतों को 'गीतक' और सबको मिला कर 'प्रकरण' कहा।[७] कुम्भा ने गांधर्व को 'शुद्ध'[८] संज्ञा देकर इन गीतकों का सम्बन्ध गांधर्व से होने के कारण इन्हें भी 'शुद्धगीत'[९] कहा। विष्णुधर्मोत्तरपुराण और याज्ञवल्क्य स्मृति में भी गीतकों को 'चोक्ष' (शुद्ध) कहा गया—

गीतमेतत्तदभ्यासः कारणाच्चोक्षसंज्ञकः।[१०]
गेयमेतत्तदभ्यासकरणाच्चोक्षसंज्ञितम्।[११]

गीतकों की संख्या और उनका वर्गीकरण

अनेक बार 'सप्तरूप' शब्द के प्रयोग से ऐसा लगता है कि भरत को ७ ही गीतक अभिप्रेत थे। भरत ने मद्रक, अपरान्तक, उल्लोप्यक, प्रकरी, ओवेणक, रोविन्दक और उत्तर—इन ७ को ही 'सप्तगीतानि' कह कर गिनाया है—

मद्रकोल्लोप्यके चैव तथा चैवापरान्तकम्॥
प्रकर्यौवेणकं चैव रोविन्दकमथोत्तरम्।[१२]

---

१. भरत., ८/१
२. सं. र. ५/५३
३. वही, ५४
४. वही, ५५
५. वही, सिंह., पृ. ३०
६. सं. रा., प्रथम खंड, २/४/१/१२
७. वही, २/४/१/१०-११
८. वही, २/४/१/३
९. वही, २/४/१/६
१०. विष्णु. तृतीय खण्ड, १८/५
११. याज्ञ., ३/४/११४
१२. ना. शा., ३१/२००-२०१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लेकिन भरत ने मुख्य रूप से आसारित के और उसी के सम्बन्ध से वर्धमान के लक्षण अत्यन्त विस्तारपूर्वक दिये हैं। इसका कारण यह है कि सब गीतकों में आसारित ही प्रधान है क्योंकि उसी के ज्येष्ठ, मध्य, कनिष्ठ—ये तीनों भेद बनते हैं। पूर्वरंग में इसी का प्रयोग मुख्य है। इसी में तीनों मार्गों और दोनों प्रकार के तालों (चतुरश्र और त्र्यश्र) का विस्तार से प्रयोग होता है। इसी के विशेष प्रकार के संयोग से वर्धमान बनता है जो ताण्डव नृत्त का आधार है।[1] यों वर्धमान और आसारित का स्वतन्त्र रूप या आकार भी है और दोनों का एक दूसरे में भी प्रयोग होता है। किन्तु ये दोनों एक दूसरे के साथ इतने घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं और एक का प्रयोग दूसरे के साथ इतना साम्य स्थापित करता है कि एक के निरूपण में दूसरे की चर्चा अनिवार्य है। आसारित और वर्धमान को सभी गीतकों में प्रमुख मान कर भरत ने इनके विस्तृत लक्षण दिये। शेष गीतकों के लक्षणों का बहुत अधिक विस्तार नहीं है।

गीतकों के लक्षण देखने से यह स्पष्ट होता है कि मद्रकादि ७ गीतों के लक्षणों में साम्य है तथा इन ७ का एक समूह या निश्चित वर्ग परम्परा से मान्य रहा है। संगीत के शास्त्र ग्रन्थों तथा स्मृति-पुराणादि में भी इन सात को एकसाथ गिनाया गया है किन्तु छन्दकादि ७ में उस प्रकार का लक्षण साम्य नहीं है इसलिये इनका कोई सम्बद्ध समूह नहीं है। वास्तव में परस्पर ये बहुत भिन्न हैं। इनमें से केवल आसारित और वर्धमान परस्पर अभिन्न रूप से जुड़े हैं और नृत्य से इनका सम्बन्ध है। छन्दक और पाणिका ऐसे गीत हैं जिनका नृत्य के साथ प्रयोग हो सकता है लेकिन इनका स्वरूप आसारितादि जैसा गंभीर नहीं है। इन चारों गीतों में मुख, प्रतिमुख, शरीर और संहरण नामक अंगों के प्रयोग के कारण कुछ समानता है। यद्यपि स्वतन्त्र वर्धमान में अंग विभाजन स्पष्टतः नहीं है फिर भी आसारितादि से संबन्ध होने पर अंग दिखाई देते हैं। ऋक्, गाथा और साम पूर्वोक्त चारों गीतों से तथा अन्य सभी से बिलकुल भिन्न हैं क्योंकि ये अन्य गीतों की तरह मुख्यतः तालप्रधान नहीं हैं बल्कि छंदों पर आधारित हैं। इनके अंग अन्य गीतों से भिन्न तथा सामगान के अंगों से साम्य रखते हैं। यह उल्लेखनीय है कि सर्वप्रथम शार्ङ्गदेव ने छन्दकादि ७ गीतों का भी एक समूह बनाया।

उपर्युक्त आधार पर इन्हें एक संवद्ध समूह नहीं बल्कि प्रथम वर्ग से भिन्न फुटकर गीतों का वर्ग कहा जा सकता है।

रत्नाकरकार के लिये नाट्य से संबद्ध रूप में गीतकों का स्थान नहीं था। संभवतः तब तक १४ गीतकों का स्वरूप निश्चित हो चुका था। लेकिन भरतोक्त सप्तगीतों, जो परम्परागत रूप से एक समूह के रूप में मान्य थे, में शेष ७ को सम्मिलित कर देना उचित न लगा हो इसलिये अलग से वर्ग बनाकर उसमें शेष ७ को रखा। इस वर्ग के गीतों—छन्दक. आसारित, वर्धमान, पाणिका, ऋक्, गाथा और साम में से छन्दक को

---

१. वही, अभि, पृ १८१-१८२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भरत ने स्वतन्त्र गीत नहीं माना और कहा—'सर्वेषामपि गीतानामन्ते छन्दकमिष्यते'।[१] इस छन्दक का निश्चित आकार तो है लेकिन उसका स्वतन्त्र प्रयोग न होकर किसी अन्य गीत के अंत में संयुक्त रूप से ही प्रयोग होता है।

ऋक् और गाथा का भी भरत ने यत्र-तत्र उल्लेख किया है लेकिन इनका स्वरूप या आकार नहीं बताया। साम का उल्लेख प्रायः नहीं हुआ है। इनका विशेष निरूपण भरत द्वारा न किये जाने का कारण संभवतः यह है कि अन्य गीतों की तरह इनका तालाधारित रूप नहीं था। यह भी संभव है कि मद्रकादि गीतों की तरह इनका स्थापित स्वरूप न रहा हो।

गीतकों में ताल की प्रधानता

गीतक में स्वर, ताल और पद—इन तीनों तत्त्वों का समावेश है किन्तु ताल की ही प्रधानता है। नाट्यशास्त्र में २८ वें अध्याय में तालगत विधि का संग्रह करते समय उसी के अंतर्गत 'प्रकरण' को गिनाया है तथा गीतकों का निरूपण तालाध्याय के अन्तर्गत ही किया है। अभिनवगुप्त ने स्पष्टतः गीतकों में ताल की प्रधानता कही—'गीतकादौ तालभागस्यैव प्राधान्यम्'।[२] नान्यदेव ने गीतों के लिये अलग अध्याय बनाया फिर भी इनमें ताल की ही मुख्यता कही—

सर्वेषामेव गीतानां तालस्यैव हि मुख्यता।[३]

शार्ङ्गदेव ने भी भरत का ही अनुसरण किया और तालाध्याय में गीतकों के निरूपण के आरम्भ में कहा—

एतैः प्रकरणाख्यानि तालैर्यानि जगुर्बुधाः।
तानि गीतानि वक्ष्यामः..................॥[४]

कुंभा ने गीत होने के कारण इन्हें 'प्रबन्धोल्लास' के अंतर्गत तो रखा लेकिन सर्वप्रथम उनके तालाधारित लक्षण ही दिये।

गीतकों के लक्षण देते समय सभी ने सर्वप्रथम उनका तालाधारित ढांचा दिया जो अपरिवर्तनीय हैं। यानी ताल के आवर्तनों की संख्या या लघुगुरु के आधार पर गीतकों के विभिन्न खंडों या कुल लम्बाई, उनके विभिन्न अंगों का चच्चत्पुटादि तालों के आवर्तनों के आधार पर निरूपण, ताल की सशब्द—निःशब्द क्रियाओं की संख्या व निश्चित क्रम, एककलादि भेद, दक्षिणादि मार्ग आदि के द्वारा ही गीतकों का आकार बताया गया है। स्वरांश और पदांश न तो निश्चित हैं और न उनका कोई विशेष उल्लेख है अर्थात् निश्चित राग या जातियों का उल्लेख नहीं है और न निश्चित पद रचना ही दी गई है। वर्णांगों के अन्तर्गत स्वरसंचारों के आरम्भक (ग्रह) और समापक (न्यास) तथा प्रधान स्वर

१. बृहं।., ३१/३२६
२. वही, २८/९५–९७, अभि., पृ. ५४
३. भरत., ८/२
४. सं. र., ५/५३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(अंश) या स्वरसंचारों की संख्या का सामान्य उल्लेख अवश्य हुआ है किन्तु इनके अनुसार स्वरसन्निवेश वनाने के लिए मूलढाँचा गीतक की तालाधारित रचना ही है। यद्यपि नाट्यशास्त्र में आसारित गीतक में उदाहरणस्वरूप पद भी दिये हैं फिर भी प्रयोक्ता को स्वेच्छा से पदयोजना की छूट थी। किन्तु पद शिवस्तुति सम्बन्धी होना अनिवार्य था और यह नियम अपरिवर्तनीय था।

गीतकों का प्रयोग स्थल

गीतकों का प्रयोग मूलतः नाट्य के सन्दर्भ में था। नाट्य की पूर्वरंग विधि (रंगदेवता की पूजाविधि) में इनका विशेष प्रकार से प्रयोग होता था। इसलिये पूर्वरंग के अन्यतम अंग के रूप में भरत ने गीतकों की प्रयोगविधि का विस्तार से ५ वें और ३१ वें अध्यायों में निरूपण किया। पूर्वरंग के दो भाग हैं—१ अन्तर्यवनिकागत[1] (पर्दे के भीतर होने वाला) और २. वहिर्यवनिकागत[2] (पर्दा खुलने के वाद होने वाला) गीतकों का प्रयोग दूसरे भाग में होता था।[3]

भरत ने यह विधान भी किया कि पूर्वरंग में मद्रकादि में से किसी एक की योजना अवश्य करनी चाहिये और उसके बाद ताण्डवसहित वर्धमान का प्रयोग होना चाहिये—

> गीतानां मद्रकादीनां योज्यमेकं तु गीतकम्।
> वर्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र युज्यते ॥[4]

पूर्वरंग चार प्रकार का था—शुद्ध, चित्र, त्र्यश्र और चतुरश्र।[5] इनमें से शुद्ध और चित्र से गीतकों का सम्बन्ध है। जिसमें गीतकों के साथ नृत्त न हो वह 'शुद्ध' है और नृत्तसहित हो तो 'चित्र' पूर्वरंग होता है—

> तेन नाट्याद्यङ्गानि नृत्तशून्यान्यपि भवन्तीति दर्शयतीति तदैव च शुद्धत्व-व्यवहारः।[6]

गीतकों के विभिन्न अंगों मे से मुख, प्रतिमुख, शरीर और संहरण – ये ४ प्रमुख हैं, यद्यपि इन सभी अंगों का सभी गीतकों में प्रयोग नहीं होता वल्कि अलग-अलग गीतों में इनमें से अलग-अलग अंगों की योजना की जाती है। संगीत रत्नाकर में मद्रक, ऋक्, गाथा और साम को छोड़ कर शेष १० गीतकों में इनका प्रयोग दिखाया गया है। इनके लिये अभिनव ने कहा—

> वर्धमानान्तर्गततया नृत्ताश्रयत्वे एतान्यङ्गानि न तु स्वातंत्र्येण प्रयोगः।[7]

अर्थ यह है कि इन अंगों का प्रयोग नृत्त के साथ होता है, स्वतंत्र रूप से नहीं। किन्तु संगीतरत्नाकर में गीतकों का प्रयोग नृत्त से सम्बद्ध होकर नहीं बल्कि स्वतंत्र ही है। हाँ, नर्तनाध्याय में ताण्डव के सम्बन्ध में अवश्य यह कहा गया है—

---

१. ना, शा., ५/६-११
२. वही, १२-१६
३. वही
४. वही, १३
५. वही, १६०
६. वही, अभि. पृ. २११
७. वही, अ. ३१, अभि., पृ. १९९

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्धमानासारिताद्यैर्गीतैस्तत्तद्ध्रुवायुतम् ।[1]

अर्थात् वर्धमान, आसारित गीतों और उन-उन ध्रुवाओं से युक्त ताण्डव का प्रयोग होगा। नृत्त के कुछ विशेष अंगहारों के निरूपण के प्रसंग में पूर्वरंग में वर्धमान, आसारित, पाणिका आदि गीतों का उल्लेख नर्तनाध्याय में हुआ है। इससे यह समझा जा सकता है कि रत्नाकर-कार ने ऐसे संगीत का निरूपण किया जो नाट्य से स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होता था इसलिये गीतकों के साथ नृत्त को सीधे नहीं जोड़ा। लेकिन भरतोक्त ताण्डव तो वर्धमान, आसारित के बिना हो ही नहीं सकता था इसलिये वहाँ रत्नाकर में गीतकों के साथ ताण्डव का प्रयोग कहा। गीतकों का नाट्य से स्वतन्त्र प्रयोग भी होता था इस कारण तथा रत्नाकर के नाट्य सम्बन्धी नहीं बल्कि संगीतशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ होने के कारण नाट्य से स्वतन्त्र रूप में गीतकों का निरूपण किया गया।

स्मृति और पुराणों में भी गीतकों के फुटकर उल्लेख इसका प्रमाण हैं कि नाट्य से स्वतन्त्र भी गीतकों का प्रयोग होता था क्योंकि इन में गीतकों के सन्दर्भ में नाट्य का कोई प्रसंग नहीं है बल्कि देवाराधना के प्रसंग में गीतों के प्रयोग का उल्लेख है—

अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं प्रकरीं तथा।
ओवेणकं सरोविन्दमुत्तरं गीतकानि च ॥
ऋग्गाथापाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका।
गेयमेतत्तदभ्यासकरणाच्चोक्षसंज्ञितम् ॥[2]

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में ये दोनों श्लोक ज्यों के त्यों हैं। इसके बाद का अंश इस प्रकार है—

संक्षेपेण मया प्रोक्तं सुराराधनकारणात्।
गीतज्ञो यदि गीतेन नाप्नोति परमं पदम्।
देवस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥[3]

वायुपुराण में भी गीतकों का उल्लेख है। इसका पाठ अत्यन्त अशुद्ध है इसलिये कुछ नामों का ही ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु इसमें इन गीतकों के स्वरांश का भी कुछ संकेत है जो अन्यत्र नहीं है—

गान्धारांशेन गीयन्ते चत्वारि मद्रकाणि च ॥
द्वे चापरान्तिके विद्याद्द्वयमुल्लोप्यकस्य तु।
प्राकृते वैणकस्यैव गांधारांशे प्रयुज्यते ॥
उत्तरे च प्रकृत्येवं मात्रा तल्लीयते तथा।
....
पूर्वमष्टतृतीये तु द्वितीयं चापरान्तके ॥[4]

---

१. सं. र., ७/२६-३०
२. याज्ञ., ३/४/११३-११४
३. विष्णु., तृतीय खण्ड. १८/४-६
४. वायु, अध्याय ८७, पृ. ३१४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्भवतः ७ गीतकों के रूप में गीतों का ऐसा समूह था जिसका सामगान काल के बाद विकास हुआ या स्वरूप स्थिर हुआ और जिसका प्रयोग देवाराधना या अदृष्ट फल की प्राप्ति के लिये किया जाता था। इसी प्रयोजन से भरत द्वारा पूर्वरंग में इसका प्रयोग विहित हुआ।

नृत्त व गीतकों के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि अभिनव ने नृत्त के साथ प्रयुक्त होने वाले तथा तत्कालीन लक्ष्य पर प्रकाश डालने वाले अनेक काव्यभेदों की चर्चा की है—डोम्बिका, भाणक, भाणिका, प्रस्थान, षिद्गक, प्रेरणा, हल्लीषक, रामक्रीड, रासक आदि।

भरत के लिये गीतकों का प्रयोग पूर्वरंग में था। दत्तिल ने नृत्त अथवा पूर्वरंग के साथ गीतकों के प्रयोग का कोई संकेत न देते हुए 'सप्तरूप' अर्थात् गीतकों को सामवेद से उत्पन्न मान कर ऋषियों द्वारा इनके प्रयोग का उल्लेख किया—

इत्येवं ऋषिभिर्गीतं सामवेदसमुद्भवम् ।
सप्तरूपमतो जातं गीतजातं पुरा किल ॥[1]

अभिनव ने भी विभिन्न गीतों की उत्पत्ति का सम्बन्ध अनेक प्राचीन ऋषियों से जोड़ते हुए जो श्लोक दिये हैं[2] वे भी इस तथ्य के सूचक है कि विभिन्न गीतकों के प्रयोग की लम्बी परम्परा रही है। आगे चल कर इनमें से विशेष गीतों का पूर्वरंग में समावेश हुआ।

उपलब्ध ग्रन्थों से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि इनका प्रयोग शिवस्तुति में करने की ही परम्परा रही है। नाट्यशास्त्र में गीतकों के जो पद दिये गये हैं वे सभी शिवस्तुति सम्बन्धी ही हैं। भरत ने कहा भी है कि वर्धमान प्रयोग से रुद्र तुष्ट होते हैं।[3] स्मृति, पुराणों के जो उद्धरण ऊपर दिये गये हैं उनसे भी इसकी पुष्टि होती है। अभिनव का यह अंश भी यही सूचित करता है—

'वर्धमानप्रयोक्तारो यास्यन्ति शिवकेतनम्'।[4] संगीतरत्नाकर में भी कहा गया है—

शिवस्तुतौ प्रयोज्यानि मोक्षाय विदधे विधिः।[5]

कुंभा ने भी यह उल्लेख किया है—'रुद्रस्तुतौ योजितैः'।[6]

गीतकों का नृत्त, वाद्य और अभिनय से सम्बन्ध

नृत्त, वाद्य और अभिनय से गीतकों का क्या और कैसा सम्बन्ध है इसे समझ लेना गीतकों के स्वरूप को समझने के लिये उपादेय होगा।

---

१. दत्ति., २२२
२. ना. शा., २८/५३, अभि.
३. वही, ५/४८
४. वही, २८/६५-६७, अभि.
५. वही, ५/५६
६. सं. रा., २/४/१/३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस बारे में प्रमुख बात यह है कि गीतकों के साथ नृत्त और अभिनय का योग केवल छन्दक, आसारित, वर्धमान और पाणिका में ही होता है, अन्यों में नहीं। इस सम्बन्ध में अभिनव के निम्न अंश द्रष्टव्य हैं—

एवं गीतकादेरन्ते च्छन्दकं पाणिकायास्तु लास्यगानस्वीकारिणी चतुष्पदा प्रयोज्या।[1]

अथ सुकुमारप्रायाल्लास्यद्वारेण पूर्वरङ्गोपयोगिनी पाणिकां लक्षयति।[2]

तत्र गीतकासारितादीनां छन्दकरूपमनुयायि। पाणिकायास्तु चतुष्कललास्याङ्गगानम्।[3]

गीतकों के आरम्भ में उपोहन, प्रत्युपोहन आदि अंग होते हैं जिनमें सार्थक पद के स्थान पर शुष्काक्षर रहते हैं। उनके साथ अभिनयरहित शुद्ध नृत्त होता है यानी केवल आंगिक चेष्टाएँ होती हैं। इस रूप में नृत्त गीत का अंग नहीं होता बल्कि गीत का अवतरण कराने वाला होता है। गीतकों के साथ जहाँ अभिनययुक्त नृत्त होता है वहाँ भी गीत के हर पद का अभिनय नहीं होता बल्कि पूरे पद के भावार्थ का सामान्य अभिनय होता है। वहाँ गीतक की लय और ताल के अनुसार अंगसंचालन होता है, अर्थ के अनुसार नहीं। इसलिये नृत्त में वैसा साक्षात्कारकल्प नहीं होता जैसा नाट्य में होता है। गीतक और नृत्त में अंगांगिभाव नहीं होता बल्कि वही सम्बन्ध होता है जो एक common शत्रु के विरुद्ध लड़ने वाले दो स्वतन्त्र राजाओं के मिल जाने पर उन दोनों में होता है। दोनों में प्रधान-गौण भाव न होते हुए भी कभी कोई प्रधान हो जाता है कभी कोई।

नृत्त के शुरू में जब नर्तकी आसारित गीतक के भावार्थ का अभिनय करती है तब भाण्डवाद्यों का प्रयोग नहीं होता। अन्त में अंगहारों के प्रयोग के समय भाण्डवाद्य बजाये जाते हैं और उस समय उनकी प्रधानता होती है। इस प्रकार यह विशुद्ध नृत्त है जिसमें नर्तकी के प्रवेश के समय नृत्त की प्रधानता रहती है, फिर प्रणाम व अभिनय के समय गीत प्रधान रहता है, अंगहारों के समय वाद्य प्रधान होता है।

नृत्त के साथ वर्धमानासारित गीतकों का प्रयोग होता है। आसारित के चारों भेदों का प्रयोग हो तो १ नर्तकी से शुरू करके क्रमशः एक-एक नर्तकी की वृद्धि होती जाती है और अन्तिम में ४ नर्तकी होती हैं। यदि एक ही आसारित का प्रयोग हो तो उसके चार खंडों में इसी प्रकार क्रमशः नर्तकियों की संख्या में वृद्धि होती है। देवस्तुति में उद्धत नृत्त का और शृंगार के प्रसंग में सुकुमार लास्य का प्रयोग होता है।

इस गीत, नृत्त, वाद्य, अभिनययुक्त प्रयोग के दो प्रयोजन हैं—१. ईशस्तुति के द्वारा देवता परितोष यानी अदृष्ट फल की प्राप्ति और २. विभिन्न परिस्थितियों में से आये हुए बाल, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सबके चित्त को नाट्य में अवहित करते हुए उनका रंजन

१. ना. शा., अ. ३१, अभि., पृ. २६९ २. वही, पृ. २६८

३. वही, पृ. २६९

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करना अर्थात् दृष्ट फल की प्राप्ति। इस प्रकार दृष्ट और अदृष्ट दोनों फलों का संयोग होने के कारण एक ओर गीतक प्रयोग में रंजकता अपेक्षित है और दूसरी ओर वेदपाठ के विधिविधान की तरह तालों की विशिष्ट क्रियाओं का नियत और विशुद्ध रूप में प्रयोग भी अनिवार्य है। यही कारण है कि गीत होते हुए भी भरत ने इनका निरूपण तालाध्याय में किया है। इस प्रकार ताल और गीतक परस्पर एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, एक दूसरे के स्वरूप के व्यंजक हैं, एक दूसरे के पूरक हैं।

गीतक का पदांश

पहले कहा जा चुका है कि गीतक तालप्रधान हैं। गेय होने के कारण इनमें स्वर की अनिवार्यता है तथा स्वरताल को प्रस्तुत करने का माध्यम है पद। इसलिये यह उन दोनों का सहायक है इसीलिए भरत ने गीतकों के पदांश का निरूपण ताल और स्वर के वाद किया है। किन्तु दत्तिल ने और उसका अनुसरण करते हुए शार्ङ्गदेव ने पदांश से ही गीतकों का आरम्भ किया है।

भरत और दत्तिल ने विस्तारपूर्वक और सूक्ष्म ब्योरों के साथ गीतकों का निरूपण किया है तथा अभिनव ने उन्हें अधिक स्पष्ट किया है। शार्ङ्गदेव ने पूरी सामग्री का उपयोग करके बहुत स्पष्ट भाषा में और संक्षिप्त रूप से निरूपण किया। विषय की स्पष्टता की दृष्टि से गीतक के पूरे विषय के निरूपण में हमने शार्ङ्गदेव को मुख्य आधार माना है।

गीतक की प्रकृति व उसके भेद

गीतक की प्रकृति दो प्रकार की होती है—

द्विविधा प्रकृतिश्चास्य कुलकं छेद्यकं तथा।
एकार्थं कुलकं तत्र पृथक् छेद्यकमिष्यते ॥[1]

अर्थात् 'सप्तरूप' की द्विविधा प्रकृति है—कुलक और छेद्यक। एक अर्थ वाली 'कुलक' और भिन्न अर्थ वाली छेद्यक। (यहाँ भरत के मूल पाठ में 'छेद्यकं' है किन्तु अभिनव ने 'भेद्यक' पाठ दिया हैं यद्यपि अन्यत्र (३२/२७ की टीका में) अभिनव ने भी 'छेद्य' शब्द का प्रयोग किया है। दत्तिल, शार्ङ्गदेव भी 'छेद्यक' ही कहते हैं। इस आधार पर हमने 'छेद्यकं' को सही मान कर यही पाठ रखा है।)

कुलक और छेद्यक भेद शब्द के अर्थ पर आधारित हैं इसलिये सामान्य रूप से इन्हें गीतक के पदांश से सम्बन्धित कहा जा सकता है। एकार्थ पर अभिनव कहते हैं—

एकार्थं परस्परान्वितार्थवस्त्वङ्गयुक्तं कुलकं विपरीतं भेद्यकम्।[2]

अर्थात् जिसमें वस्तु और अंग 'एकार्थ' यानी परस्पर अन्वित अर्थ वाले हों वह 'कुलक' है और इसके विपरीत (जिसमें वस्तु और अंग एकार्थ न हों) भेद्यक (छेद्यक) है।

---

१. वही, ३१/३२१   २. वही, अभि., पृ. २६८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभिनव का अभिप्राय यह है कि यदि किसी 'वस्तु' या 'अंग' में पदों की योजना इस प्रकार हो जिससे उस वस्तु या अंग के पूरे पद मिलकर एक अर्थ का बोध करायें तो वह एकार्थ होने से 'कुलक' होता है। इसके विपरीत यदि पद भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध करायें तो छेद्यक होता है।

शार्ङ्गदेव ने 'एकार्थ' के स्थान पर 'एकवाक्यत्व' कह कर कुलक को अधिक स्पष्ट किया है—

वस्तूनामेकवाक्यत्वे कुलकं संप्रचक्षते।
वस्तूनां भिन्नवाक्यत्वे छेद्यकं............ ॥[1]

अर्थात् वस्तुओं में एकवाक्यत्व होने पर कुलक और भिन्नवाक्यत्व होने पर छेद्यक होता है। इस पर कल्लिनाथ की टीका का अंश—

वस्तूनां वक्ष्यमाणानामेककलादीनां गीतावयवानामेकवाक्यत्व एकक्रियान्वये सति कुलकम्। वस्तूनां भिन्नवाक्यत्वे प्रतिवस्तु, क्रियाभेदे सति छेद्यकम्।[2]

अर्थात् 'वस्तुओं का' यानी आगे कहे जाने वाले गीतक के एककल आदि अवयवों का 'एकवाक्यत्व' यानी एक क्रिया में अन्वय होने पर कुलक और वस्तुओं में 'भिन्नवाक्यत्व' यानी हर वस्तु में भिन्न क्रिया होने से छेद्यक होता है।

भरत और शार्ङ्गदेव द्वारा कुलक और छेद्यक के निरूपण में शब्दभेद होते हुए भी इनके साथ इनके टीकाकारों—अभिनव और कल्लिनाथ—की टीकाओं को मिला कर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों का अभिप्राय एक ही है।

वाक्य का अर्थ मुख्य रूप से क्रियापद में ही रहता है। इसलिये अनेक वाक्यों या पदसमूहों में यदि एक ही क्रिया हो तो वे सब एक ही अर्थ का बोध कराते हैं। गीतकों में भी जब सभी वस्तुओं या अंगों में एक ही क्रियापद हो तो पूरा गीत एक अर्थ प्रेषित करता है। उस स्थिति में वह कुलक प्रकार का होता है। किन्तु जब अनेक वस्तुओं या अंगों में से हरेक में अलग-अलग क्रियापद होने के कारण भिन्न अर्थ का बोध हो तो उसे छेद्यक कहा गया है।

साहित्यशास्त्र में भी काव्य का एक विशेष प्रकार कुलक कहा गया है जिसमें ३, ४ अथवा ५ पदों का एक ही क्रिया व संज्ञापद में अन्वय होता है।[3]

निर्युक्त, अनिर्युक्त, पदनिर्युक्त

उपर्युक्त दोनों प्रकार के गीतकों के भरत ने ३-३ भेद किये—

निर्युक्तं पदनिर्युक्तमनिर्युक्तं तथैव च।

---

१. सं. र., ५/५६-५७ २. वही, कल्लि., पृ. ३०

३. Sanskrit English Dictionary, M. Monier Williams, p. 295

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

त्रिविधं चापि विज्ञेयं सप्तरूपं प्रयोक्तृभिः ॥
वहिर्गीताङ्गशाखाभिर्युक्तं निर्युक्तमिष्यते ।
बहिर्गीताङ्गहीनं चाप्यनिर्युक्तमिति स्मृतम् ॥
वहिर्गीतविहीनं तु पदनिर्युक्तमिष्यते ।
इत्येतत् सप्तरूपस्य प्रक्तं त्रिविधं स्मृतम् ॥[1]

तीन भेद ये हैं—(१) निर्युक्त—वहिर्गीत, अंग और शाखाओं से युक्त, (२) अनिर्युक्त—वहिर्गीत और अंग से रहित तथा (३) पदनिर्युक्त—वहिर्गीतविहीन। दत्तिल[2] और शाङ्गदेव[3] ने भी यही तीन भेद कहे हैं। यहाँ बहिर्गीत, अंग और शाखा को संक्षेप में समझ लेना आवश्यक है।

वहिर्गीत—अभिनव के अनुसार वहिर्गीत उपोहन और प्रत्युपोहन रूप है। गीतक के प्रारम्भ में किये जाने वाले स्वर प्रयोग को भरत ने उपोहन कहा है जो शुष्काक्षरों से युक्त होता है—

उपोह्यन्ते स्वरा येन तेन गीतं प्रवर्तते ।
तस्मादुपोहनं ज्ञेयं शुष्काक्षरसमन्वितम् ॥[4]

उसके अनुसार झण्टुं, जगतिय, वलितक, तितिचा आदि निश्चित और निरर्थक वर्णसमूह शुष्काक्षर या वाक्करण हैं।[5]

उपोहन शब्द निर्गीत का पर्याय है और यहाँ लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है। वहिर्गीत में उपोहन प्रत्युपोहन की तरह शुष्काक्षरों का ही प्रयोग होता है इसलिये यहाँ बहिर्गीत उपोहन-प्रत्युपोहन का पर्याय है।

अंग—गीतक के विभिन्न अवयवों से सम्बन्धित दो संज्ञाओं का प्रयोग भरत ने किया है—अंग और शाखा। भरत, दत्तिल, अभिनवगुप्त, शाङ्गदेव के द्वारा इनके बारे में जो कुछ कहा गया है, उसके आधार पर सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि गीतकों के ऐसे छोटे खंडों को अंग कहा गया है जो स्वर अथवा ताल से सम्बन्धित हैं।

शाखा—अंगों के विपरीत शाखा गीतक का बहुत वड़ा अवयव है। भरत के अनुसार वस्तु ही शाखा है। दत्तिल और शाङ्गदेव ५, ६ या ७ वस्तुओं के समूह को एक शाखा कहते हैं। वस्तुओं के एक समूह के पूर्वार्ध को भी शाखा कहा गया है। शाखा के आकार या वस्तु के साथ उसके सम्बन्ध के बारे में कुछ अन्तर दिखाई देने के बावजूद यह स्पष्ट है कि शाखा और वस्तु परस्पर सम्बद्ध हैं तथा वस्तुओं से शाखा बनती है। किन्तु निर्युक्त, अनिर्युक्तादि भेदों में वस्तु के स्थान पर शाखा को लिया गया। इस प्रकार गीतक के अवयवों में दो समूह बन सकते हैं। पहले समूह में वस्तु और शाखा-प्रतिशाखा

---

१. ना. शा., ३१/३२२-३२४
२ दत्ति., १५७-१५९
३. सं. र., ५/५८-५९
४. ना. शा., ३१/१३८
५. वही, १३५-१३७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आते हैं। इनमें एक वस्तु में जैसा तालरूप हो वैसा ही अन्य सब वस्तुओं में भी होता है इसलिये इन्हें तालाधारित भी कह सकते हैं। दूसरे समूह में छोटे अंग हैं जिनमें भिन्न-भिन्न अंगों का तालरूप भिन्न-भिन्न हो सकता है। अंग स्वराधारित भी हो सकते हैं और तालाधारित भी। उल्लेखनीय है कि भरत ने गीतकों के दो वर्ग 'वस्तुनिबद्ध' और 'अंगकृत्' बनाये हैं।[1]

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि गीतक के तीनों तत्त्वों—स्वर, ताल और पद में से किसी को भी गीतकों में छोड़ा नहीं गया है बल्कि इनके विभिन्न अवयवों में से एक या अधिक का निषेध ही अनिर्युक्तादि भेदों में किया गया है। भरत ने निर्युक्त में सार्थक पद, निरर्थक पद, ताल तथा स्वर पर आधारित छोटे अंग और तालाधारित बड़े अवयव के द्वारा स्वर, ताल, पद—तीनों से सम्बन्धित सभी पक्षों का समन्वय सूचित किया। 'पद' के अन्तर्गत सार्थक-निरर्थक सभी प्रकार के शब्द आ जाते हैं किन्तु विशेष रूप से झण्टुं आदि निरर्थक शब्दों का निषेध करने के लिये पदनिर्युक्त को बहिर्गीतहीन कहा। इस प्रकार पदनिर्युक्त गीतक सार्थक शब्द और बड़े अवयवों से युक्त है। अनिर्युक्त में बहिर्गीत और अंग दोनों का निषेध है। अंगों में तालांग और वर्णांग दोनों आते हैं किन्तु ये छोटे हैं इसलिये अंगों का निषेध करने का आशय छोटे खंडों का निषेध है, स्वर या ताल का नहीं। इसी प्रकार बहिर्गीत निषेध गीतक के पदांश में वाक्करणों का त्याग और सार्थक पद का ग्रहण कराता है। इसलिये अनिर्युक्त गीतक वस्तु, शाखा जैसे बड़े अवयव और सार्थक शब्द से युक्त होते हैं।

भरत के श्लोकों पर टिप्पणी करते हुए अभिनव कहते हैं—

बहिर्गीतिनोपोहनप्रत्युपोहनात्मनाङ्गैः शाखाप्रतिशाखाभ्यां च युक्तं निर्युक्तम्। निःशेषस्वरूपयोगात्।[2]

यहाँ 'बहिर्गीत' को उपोहन-प्रत्युपोहन रूप कहा तथा 'शाखा' के द्वारा प्रतिशाखा का भी ग्रहण किया, 'अंग' पर व्याख्या नहीं की। निर्युक्त में गीतक के सभी अवयव हैं, कोई तत्त्व छूटा नहीं है इसलिये इसे 'निःशेषस्वरूप' वाला कहा। शार्ङ्गदेव ने भी 'सर्वाङ्गयुक्तं निर्युक्तम्'[3] कह कर सभी अवयवों का ग्रहण किया। कल्लिनाथ ने इस पर 'विविधाभिरङ्गैः अन्यूनतयायुक्तं' कहा। सम्भवतः उसे यह अभिप्रेत है कि विविध अंगों में से किसी को भी छोड़े बिना निर्युक्त होता है। यहाँ 'अंगों की अन्यूनता' में अर्थ को कुछ अधिक खींचा गया लगता है। दत्तिल ने निर्युक्त को 'सर्वैस्तु नियमैर्युक्तं'[4] कहा। यह लक्षण अपूर्ण और अस्पष्ट है क्योंकि गीतकों के कोई नियम उसने विशेष रूप से नहीं कहे।

अनिर्युक्त को अभिनव ने इस प्रकार स्पष्ट किया—

वस्तुशाखामात्ररूपमुपोहनान्तैरङ्गैश्च हीनमनिर्युक्तम्।[5]

---

१. वही, ४/२९२–२९३, २९६-२९७

२. वही, ३१/३२३, अभि., पृ. २६८

३. सं. र., ५/५८

४. दत्ति., १५८

५. ना. शा., ३१/३२३, अभि.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थात् जो केवल वस्तु-शाखारूप है और उपोहन तथा 'अन्त' आदि अंगों से हीन है वह अनिर्युक्त है। भरत द्वारा बहिर्गीत और अंगहीन कहने का अभिप्राय झण्टुं आदि वाक्करण और अन्त आदि छोटे खंडों का निषेध तो है किन्तु वस्तुशाखा जैसे बड़े खण्डों का ग्रहण भी है क्योंकि निषेधात्मक लक्षण में जिसका निषेध किया जाता है उसका त्याग व अन्य का ग्रहण किया जाता है। अभिनव ने शाखा के साथ वस्तु को सम्मिलित करके यह भी इंगित किया कि ये दोनों एक समूह के हैं। इसलिये अंग और बहिर्गीतहीनता का यह अर्थ नहीं है कि उसमें स्वर और पद नहीं होते बल्कि निरर्थक पद नहीं रहते केवल सार्थक पद होते हैं और ताल तथा स्वराधारित छोटे और नियत आकार नहीं होते किन्तु गेय होने के कारण अनिर्युक्त स्वरयुक्त अवश्य होते हैं। अभिप्राय यह है कि अनिर्युक्त के स्वरूपबोधक तत्त्व सार्थक पद और बड़े तालाधारित खंड हैं। दत्तिल और शार्ङ्गदेव केवल वस्तुओं से अनिर्युक्त कहते हैं। शार्ङ्गदेव के अनिर्युक्त की व्याख्या करते हुए सिंहभूपाल और कल्लिनाथ दोनों ने 'त्यक्तोपोहनप्रत्युपोहनम्' को अनिर्युक्त का लक्षण मानने की भूल की है—

उपोहनप्रत्युपोहनशून्यत्वमनिर्युक्तम्।[1]

त्यक्तोपोहनप्रत्युपोहनमित्यनिर्युक्तस्य विशेषणम्।[2]

पदनिर्युक्त में भरत ने 'बहिर्गीतविहीनं तु' में 'तु' का प्रयोग करके पूर्वोक्त भेदों से यह अन्तर किया है कि पदनिर्युक्त में केवल बहिर्गीत यानी वाक्करण नहीं होते। अभिनव की व्याख्या के द्वारा इसकी पुष्टि होती है—

उपोहनैरेव हीनं पदनिर्युक्तम्। अर्थप्रतीतिनिवन्धनपरिश्लेषतायोगात्।[3]

'उपोहनैः' यह बहुवचनान्त प्रयोग और निश्चयबोधात्मक अव्यय 'एव' यह सूचित करते हैं कि पदनिर्युक्त गीतक केवल वाक्करणों से रहित हैं। अर्थप्रतीति की अनिवार्यता के कारण निरर्थक शब्दों का निषेध किया है। इसमें यह अन्वित है कि अंग अथवा शाखादि के यथेच्छ प्रयोग की छूट है।

शार्ङ्गदेव का लक्षण यह है—

बद्धं स्तुतिपदैस्त्यक्तोपोहनप्रत्युपोहनम्।[4]

गीतक शिवस्तुति के पदों से बद्ध रहते ही हैं फिर पदनिर्युक्त को विशेष रूप से स्तुतिपदों से बद्ध कहने का विशेष प्रयोजन निरर्थक पदों का निषेध ही है और इसके साथ ही उपोहन प्रत्युपोहन का भी निषेध किया है—

दत्तिल ने इसका कुछ भिन्न लक्षण दिया है—

छन्दःपादादिनिर्योगात्पदनिर्युक्त संज्ञितम्।[5]

---

१. सं. र., ५/५६, सिंह.
२. वही, कल्लि.
३. ना. शा., ३१/३२४, अभि., पृ. २६८
४. सं. र., ५/५६
५. दत्ति., १५८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पदनिर्युक्त का यह लक्षण गीतक के स्वर ताल सम्बन्धी प्रमुख अवयवों से सम्बन्धित न होकर पद के केवल एक पक्ष—छन्द—से सम्बद्ध है।

'वस्तुनिबद्ध' तथा 'अंगकृत्' गीतक

भरत ने गीतकों के दो अन्य भेद भी कहे—वस्तुनिबद्ध तथा अंगकृत्—

> यानि वस्तुनिवद्धानि यानि चाङ्गकृतानि तु ॥
> गीतानि तेषां वक्ष्यामि प्रयोगं नृत्तवाद्ययोः ।[1]

अभिनव के अनुसार वस्तुनिबद्ध गीतक तीन हैं—मद्रक, अपरान्तक और प्रकरी। अंगकृत् ४ हैं—उल्लोप्यक, रोविन्दक, ओवेणक और उत्तर—

> तत्र वस्तुनिवन्धानि त्रीणि गीतकानि—मद्रकापरान्तकं प्रकरी च।
> अन्यानि चत्वार्यङ्ग [निबन्धा] न्युल्लोप्यकं रोविन्दकोवेणकमुत्तरं च।[2]

भरत ने आगे चल कर भी इन भेदों की चर्चा की है—

> एवं वस्तुनिबन्धानां गीतकानां विधिः स्मृतः ॥
> श्रृणुताङ्गनिबद्धानां गीतानामपि लक्षणम् ।[3]

३१ वें अध्याय में अभिनव ने इन भेदों का पुनः स्मरण कराया।[4]

आगे की जाने वाली चर्चा से यह स्पष्ट हो जाएगा कि वस्तुनिबद्ध गीतक वे हैं जो मुख्यतः वस्तुओं से बद्ध और महती विदारियों से युक्त होते हैं तथा जिनमें कुछ अंग भी रहते हैं। अंगकृत् वे हैं जिनमें छोटे अंगों की योजना तथा छोटी विदारियाँ होती हैं। वस्तु बड़ी होती हैं और अंग छोटे, अतः वस्तुनिबद्ध गीतक बड़े होते हैं और अंगकृत् उनकी अपेक्षा छोटे। महती विदारी होने पर विदारियों की संख्या कम से कम ३ (मद्रक में) और अधिकतम ११ (अपरान्तक में) होती है। छोटी विदारी होने पर अधिकतम संख्या २४ कही गई है।

शार्ङ्गदेव ने यद्यपि ये दो भेद स्पष्टतः नहीं कहे किन्तु गीतकों की रचना से यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

वस्तु

भरत ने 'वस्तु' अथवा 'वस्तुक' का प्रयोग मुख्यतः तीन प्रकार से किया है—

> अतः परं प्रवक्ष्यामि गीतानां वस्तुकल्पनम् ।[5]
>
> आसारितानामित्येवं गदितं लक्षणं मया ।
> गीतानां वस्तुकानां च प्रयोग परिकल्पनम् ॥

---

१. ना. शा., ४/२६२-२६३
२. वही, अभि.
३. वही, ४/२६६-२६७
४. वही, ३१/२०१, अभि.
५. वही, ३१/२२६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अतः परं प्रवक्ष्यामि गीतानां वस्तुकेष्वपि ।
विविधैककवृत्तानि त्रीण्यङ्गानि समासतः ।।
सर्वेषामेव गीतानां वस्तुष्ववयवेष्वपि ।
विविधैककवृत्तानि त्रीण्यङ्गानि भवन्ति ही ।।[१]

इन सभी श्लोकों में वस्तु अंगी है जिसमें विभिन्न अंग रहते हैं। 'गीतों और वस्तुओं के प्रयोग परिकल्पन' के अनुसार वस्तु गीत की तरह अंगी है जिसमें अंग होते हैं। लेकिन 'गीतानां वस्तुष्ववयवेषु' में गीत अंगी और वस्तु अंग है क्योंकि गीत में वस्तु रहती हैं। जब वस्तु को इस रूप में देखा जाय कि वह गीत में रहता है तो 'अंग' है। जब इस रूप में देखा जाय कि उसमें अंग रहते हैं तो वही अंगी कहलाता है।

वस्तु का एक रूप यह है—

गान्धर्वं यन्मया प्रोक्तं स्वरतालपदान्वितम् ।
पदं तस्य भवेद् वस्तु स्वरतालानुभावकम् ।।[२]

यहाँ वस्तु का अर्थ आधार है। स्वर और ताल का निराधार प्रयोग भरत को अभिप्रेत नहीं है इसलिये इनके आधार रूप में वस्तु यानी पद का ग्रहण हुआ है। गीतकों में वस्तु का कार्य तालांगों या वर्णांगों को आधार प्रदान करना है। यहाँ अनेक अंग मिल कर गीत की वस्तु को बनाते हैं। पद तो वहाँ भी है लेकिन प्रधानता स्वर ताल की होने के कारण वस्तु का स्वरूप इनके द्वारा ही प्रकट होता है इसीलिये गीतकों के निरूपण में वस्तु की कल्पना तालांगों और वर्णांगों के रूप में ही की गई है, पद के रूप में नहीं। शार्ङ्गदेव ने गीतकों का स्वरूप केवल ताल क्रियाओं के रूप में ही दिया है (कुम्भा ने अवश्य पद भी दिये हैं)। इसका कारण यह है कि वस्तु के आकार को क्रियाओं की संख्या और पातकलाविधि के रूप में बताया गया जो अपरिवर्तनीय और निश्चित था। शिवस्तुति के पद इसमें स्वेच्छा से लगाये जा सकते थे। 'अंगकृत्' में 'अंग' शब्द मूलतः ताल सम्बन्धी अंग का ही सूचक है जो अभिनव के निम्न अंश में स्पष्ट है—

अत्र च कानिचिद् वस्तुनिवद्धानि। अपराण्यङ्गैरिति ताण्डवाध्याये सूचितम्। तत्र तालाङ्गमेवाङ्गम्।[३]

वस्तु और अंग

गीतकों के लक्षण निरूपण में गीतक के तीनों तत्त्वों—स्वर, ताल, पद—से संबंधित लक्षण दिये गये हैं किन्तु गीतक का आकार खण्डों की संख्या के द्वारा बताया गया है। उन खण्डों में ताल क्रियाएँ निर्धारित हैं इसलिये गीतक के स्वरूप का मुख्य अथवा निर्णायक तत्व ताल है। वस्तु और अंग दोनों ही तालाधारित खण्ड हैं। स्वर तथा पद

१. वही, १८९-१९१
२. वही, ३२/२७
३. वही, ३१/२०१, अभि., पृ. २३६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्बन्धी लक्षण भी वस्तु या अंग के अन्तर्गत यानी एक वस्तु अथवा एक अंग में किस प्रकार स्वर योजना अथवा शब्दादि होंगे—इसी रूप में निरूपण हुआ है। इसीलिये अभिनव ने कहा—

वसतो वर्णाङ्गतालाङ्गे यस्मिन्निति वस्तु।[1]

अर्थात् तालांग और वर्णांग इस (वस्तु) में 'वसते' हैं इसीलिये इसकी संज्ञा 'वस्तु' है। इन दोनों का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया—

भूयांसिखण्डकलादिवस्तूनि। स्वल्पानि त्वङ्गानि।[2]

वस्तुओं में अनेक और अंगों में कम खण्ड होते हैं। अन्य प्रकार से भी इस भेद को व्यक्त किया है—

तत्र महाशरीरत्वे वस्त्विति व्यवह्रियते। अल्पायां (विदार्यां) त्वङ्गमिति।

बड़ा आकार होने के कारण 'वस्तु' और छोटी विदारियों के होने से 'अंग' कहा जाता है।

गीतकों की विदारियों के प्रसंग में भी यह संकेत दिया कि वस्तुएँ बड़ी होती हैं इसलिये उनमें महती (बड़ी) विदारी होती हैं और अंग छोटे होते हैं इसलिये उनमें अवान्तरा (बीच में होने वाली छोटी) विदारी होती हैं—

अवान्तराविदारी स्वरूपं तावदुक्तम्। अधुना महाविदारीस्वरूपं वस्तुनिबद्धे ष्वर्धश्लोकेनाह। त्र्यवरैकादशपरा इति। अत्र वस्तुन्येका महाविदारी तत्र त्रिवस्तुत्वं गीतकानां ....।[3]

मद्रक, अपरान्तक और प्रकरी—इन तीन वस्तुनिबद्ध गीतकों की वस्तु-आधारित विदारियों या खण्डों को देखने से उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए मद्रक के सबसे छोटे रूप एककल मद्रक की एक वस्तु ८ गुरु और ८ लघु की होती है, द्विकल मद्रक में कुल २४ गुरु की वस्तु होती है जिसमें तीन खण्ड होते हैं और चतुष्कल मद्रक में तीन खण्डों से युक्त ४८ गुरु की एक वस्तु होती है। प्रकरी आदि इन तीनों गीतकों का पूरा आकार अनेक वस्तुओं से मिल कर बनता है। प्रकरी में, जो सबसे बड़ा वस्तु-निबद्ध गीतक है, ४ अथवा ३½ वस्तुएँ होती हैं। इसके अनुसार ९६ × ४ = ३८४ गुरु से युक्त महत् आकार का गीतक है।

इसके विपरीत अंगकृत् गीतकों की रचना अंगों के आधार पर होती है जो ताल-सम्बन्धी अथवा स्वर-सम्बन्धी हो सकते हैं। तालसम्बन्धी अंगों को 'तालांग' और स्वरसम्बन्धी अंगों को 'गीतांग' कहा गया। भरत ने ध्रुवाध्याय में भी गीतांग संज्ञा का प्रयोग किया—

---

१. वही, २२९, अभि., पृ. २४२ २. वही, ४/२९२-२९३, अभि., पृ. १९३
३. वही, ३१/१९७, अभि., पृ. २३३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्रुवासंज्ञानि यानि स्युर्नारदप्रमुखैर्द्विजैः ।
गीताङ्गानीह सर्वाणि विनियुक्तान्यनेकशः ।।[१]

इसकी व्याख्या करते हुए अभिनव ने गीतांग को ही 'वर्णांग' कहा—'यानि गीताङ्गानि वर्णाङ्गानि ।' गीतांग और तालांग का भेद इस प्रकार स्पष्ट किया—

एवं च वर्णानुवृत्तित्वादेव वर्णाङ्गकमिति तालाङ्गेभ्यः पृथगेव गीतिवैचित्र्यात्मनाभिधानेन प्राधान्यतयोक्तम् ।[२]

वर्णों की अनुवृत्ति अर्थात् स्वरसंचारों की विविधता के कारण ही वर्णांग कहलाते हैं जो तालांगों से पृथक् हैं। गीति में यही विचित्रता लाते हैं इसलिये प्रधान कहे गये हैं। यहाँ आशय यह है कि जब अंग का वैचित्र्य स्वर के द्वारा व्यक्त हो तो वर्णांग होता है।

शार्ङ्गदेव ने भी तालांग और गीतांग का उल्लेख किया—

......................तालाङ्गनिचयस्तथा ।
गीताङ्गानि च वक्ष्यन्ते.................... ।।[३]

गीतांग के लिए वर्णांग संज्ञा का प्रयोग भी संगीतरत्नाकर में किया गया है—

सप्ताङ्गद्वादशाङ्गत्वे वर्णाङ्गैः केचिदूचिरे ।।[४]
प्रवृत्तं चैककं वर्णाङ्गमत्राथ ब्रुवे ध्रुवाम् ।।[५]

तालांग और गीतांग गीतक में ताने-बाने के समान हैं क्योंकि दोनों मिल कर ही गीतक के क्रियात्मक स्वरूप का निर्माण करते हैं। किन्तु एक निश्चित लम्बाई में स्वरों का फैलाव बताये जाने के कारण ताल की प्रधानता कही जाती है।

गीतकों के विभिन्न अंग और उनके लक्षण

गान्धर्व के 'स्वरतालपदात्मकं' लक्षण के अनुसार भरत ने मद्रकादि सप्तगीतकों के लक्षण देते समय भी स्वर, ताल और पद—यही क्रम रखा है। तदनुसार सर्वप्रथम स्वरांश में एकक, विविध आदि गीतांगों का, उसके बाद तालांश में वस्तुनिबद्ध गीतकों की वस्तुओं और अंगकृत् गीतकों के अंगों की तालरचना का और अन्त में पदांश में पद सम्बन्धी सामान्य निरूपण किया। तालरचना में वस्तु तथा अंगों के आकार और फिर उनमें की जाने वाली क्रियाओं का निर्देश है।

शार्ङ्गदेव ने इससे भिन्न क्रम रखा है। लक्षण निरूपण में क्रम से मद्रक, अपरान्तक, उल्लोप्यक, प्रकरी, ओवेणक, रोविन्दक और उत्तर के सीधे लक्षण दिये हैं जिनमें पहले तालाधारित रचना यानी वस्तु अथवा अंग, उसके बाद गीतांग और अंत में पदरचना सम्बन्धी उल्लेख किया है।

---

१. वही, ३२/१
२. वही. ३१/१६०-१६१, अभि., पृ. २३०
३. सं र, १/१/४७
४. वही, ५/१५२
५. वही, ६/२११

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शाङ्र्गदेव ने सभी पूर्वाचार्यों के मतों का सार निकाल कर बहुत स्पष्ट रूप से प्रत्येक गीतक का निरूपण किया है। शाङ्र्गदेव को आधार मानकर उसी के अनुसार पहले ताल, फिर स्वर और अन्त में पदसम्बन्धी अवयवों का विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है किन्तु 'गीतक' प्रस्तुत ग्रंथ के विषय का मूल अंग नहीं है इसलिये तत्सम्बन्धी निरूपण संक्षिप्त रूप में ही किया जायगा।

तालांग

पाद, प्रतिपाद—ओवेणक और रोविंदक में प्रयुक्त होने वाले तालांग हैं जिनकी स्वर तथा तालरचना एक सी होती है किन्तु 'प्रतिपाद' में 'पाद' से पद भिन्न होते हैं। भरत ने इन दोनों में अन्तर न करके 'पादौ द्वौ समवर्णौ'[1]—इस प्रकार दो पाद कहे हैं। शाङ्र्गदेव ने उपर्युक्त दोनों गीतों के लक्षणों में पाद और प्रतिपाद में स्पष्ट अन्तर किया है। इनकी रचना गुरुओं की संख्या के आधार पर ही बताई गई है इसलिये ये तालांग हैं यद्यपि परस्पर अन्तर पदभेद के कारण है। ओवेणक में पाद और प्रतिपाद २४-२४ गुरुओं के आकार के तथा रोविंदक में ९६-९६ गुरुओं के होते हैं।

शीर्षक—मद्रक, अपरान्तक, रोविंदक और उत्तर गीतकों में वस्तु या मुख्य अंग के अन्त में प्रयुक्त होने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रधान तालांग है। शीर्षक का अर्थ शिर है। शरीर में शिर के समान ही गीतकों में यह प्रधान अंग होता है, जैसा अभिनव ने कहा—'शीर्षकं शिर इव प्रधानम्'[2]। इसे 'शीर्ष' और 'शिर' भी कहा गया है। एक वस्तु (अथवा एक अंग) दूसरी से मिल न जाय इसलिये इसका प्रयोग होता है अथवा जो एक को दूसरे से असंकीर्ण रूप से दिखाये या संकीर्ण होने से बचाये वह अंग शीर्षक है—

> शीर्षको यद्वदसंकीर्णरूपज्ञप्तिहेतुस्तद्वत् पञ्चपाणिः। असंकीर्णं त्र्यश्रकत्वं मद्रस्यावेदयत इति शीर्षकत्वेनोक्तम्।[3]

शीर्षक प्रायः यथाक्षर पञ्चपाणि ताल से होता है इसलिये बहुत छोटा तालांग है। किन्तु कभी-कभी द्विकल अथवा चतुष्कल पञ्चपाणि से भी हो सकता है जैसे—द्विकल या चतुष्कल मद्रक में।

संहरण—सामान्यतः गीतक की समाप्ति कराने वाला अंग संहरण कहलाता है। इसे 'संहार' भी कहा गया है। जैसे—आसारित में 'संहार' की टीका में कल्लिनाथ ने स्पष्ट किया—'संहारः संहरणं नामाङ्ग'[4]। कुछ गीतकों में शीर्षक अन्तिम अंग होता है। प्रकरी में भी विशेष प्रकार का अंग अन्त में है। उल्लोप्यक तथा ओवेणक की समाप्ति 'अन्ताहरण' और 'अन्त' नामक अंगों से (विकल्प से) होती है। उस स्थिति में अन्तिम

---

१. ना. शा., ३१/२०४
२. वही, २०६, अभि.
३. वही, ३१/२०४, अभि.
४. सं. र., ५/१८६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंग ही संहरण कहलाता है। जैसे—उल्लोप्यक में अन्ताहरण को ही संहरण कहा गया है—

ततोऽन्ताहरणं प्रोक्तं पञ्चपाणौ यथाक्षरे ॥
एतत्संहरणं प्रोक्तं गीतकस्य समाप्तिकृत् ।[1]

इसे स्पष्ट करते हुए कल्लिनाथ ने कहा—

एतदन्ताहरणमेव संहरणमिति संज्ञान्तरेणापि प्रोक्तम् ।[2]

'अन्ताहरण' का अर्थ है अन्त का आहरण (सूचन) कराने वाला—'अन्तस्याहरणं सूचकमिति यावत्'[3]। गीतक का अन्तिम अंग 'अन्त' है। उससे पूर्ववर्ती अंग 'अन्त' का आहरण कराने के कारण अन्ताहरण कहलाता है। ये दोनों मिल कर संहरण कहा जाता है और यथाक्षर पंचपाणि से ही होता है।

अन्त—'अन्त' नामक अंग उल्लोप्यक, ओवेणक और उत्तर गीतकों का अन्तिम अंग है जो तीन छोटे अंगों से मिल कर बनता है। अंगों की संख्या के अनुसार यह तीन प्रकार का होता है—१. त्र्यङ्ग—स्थित, प्रवृत्त और महाजनिक—इसी क्रम में इन तीनों अंगों से युक्त। २ द्व्यङ्ग—स्थित और प्रवृत्त से युक्त। ३. एकाङ्ग—केवल महाजनिक से युक्त।[4] अन्त फिर तीन प्रकार का होता है—१. चतुरश्र अथवा युग्म—इसमें स्थित आदि तीनों अंग चतुरश्र होते हैं। २. त्र्यश्र अथवा अयुग्म—इसमें तीनों अंगों की रचना त्र्यश्र होती है। ३. मिश्र—इसमें चतुरश्र और त्र्यश्र का मिश्रण होता है। मिश्रण कई प्रकार से होने के कारण इसके कई भेद होते हैं।

त्र्यङ्ग और द्व्यङ्ग अंत चतुरश्र, त्र्यश्र और मिश्र में से किसी भी प्रकार के हो सकते हैं किन्तु एकांग अन्त मिश्र नहीं होता। युग्म में द्विकल चच्चत्पुट, अयुग्म में द्विकल चाचपुट या यथाक्षर पञ्चपाणि और मिश्र में दोनों का प्रयोग हो सकता है। अभिनव ने स्थित संज्ञा की सार्थकता उसमें स्थायिवर्ण की प्रधानता के कारण कही है—

स्थितमिति नामबलात् स्थायिवर्णप्रधानमेतत् ।[5]

शार्ङ्गदेव ने भी स्थित में स्थायिवर्ण कहा है—'स्थितं स्थायिगतं मतम्'[6]। वर्णांग के योग से प्रवृत्त होने के कारण प्रवृत्त कहलाता है—'प्रवृत्तवर्णयोगाच्च प्रवृत्तम्'।[7]

---

१ सं. र., आनन्दाश्रम संस्क, ५/११९-१२०/ इस श्लोक का 'पञ्चपाणौ यथाक्षरे, एतत्संहरणं प्रोक्तं' —इतना अंश आड्यार संस्करण में नहीं है जिस पर कल्लिनाथ की टीका दोनों संस्करणों में है।

२. वही

३. ना. शा., ३१/२५८, अभि.

४. वही, ३१/२१२–२१४

५. ना. शा., ३१/२६१, अभि.। मुद्रित पाठ 'स्थिरमिति' है किन्तु ग० ओ० मै० ला० पाण्डुलिपि में 'स्थितमिति' है जो सही है क्योंकि 'स्थित' नामक अंग के सन्दर्भ में यह टीका है। यह पाठ हमें डॉ. एन्० रामनाथन् के अप्रकाशित शोधप्रबन्ध से मिला है।

६. सं.र., ५/१२०

७. ना. शा., ३१/२६२, अभि.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वेणी, प्रवेणी—द्वादशांग ओवेणक में प्रयुक्त होने वाले तालांग हैं। भरत और दत्तिल ने दो भिन्न संज्ञाओं का प्रयोग न करके दो प्रवेणी कहीं। किन्तु अभिनव ने ध्रुवाध्याय की टीका में भरत द्वारा प्रयुक्त 'प्रवेणी' की व्याख्या में 'वेणीप्रवेणीभ्यां'—इस प्रकार दो भिन्न संज्ञाओं का प्रयोग किया। अभिनव ने ओवेणक के लक्षणों में इस अंग की प्रधानता कही—

प्रकृष्टा वेणीति प्रवेणी। वेण्या शिरो लक्ष्यते। अनेन प्रधानमिदमङ्गम्।[1]

इनकी तालरचना के बारे में शार्ङ्गदेव ने चार विकल्प दिये हैं—(१) दोनों में यथाक्षर पंचपाणि, (२) दोनों में द्विकल पंचपाणि (३) दोनों में पहले यथाक्षर चच्चत्पुट और उसके बाद द्विकल चच्चत्पुट तथा (४) वेणी में यथाक्षर पंचपाणि तथा प्रवेणी में द्विकल पंचपाणि। केवल अन्तिम विकल्प में वेणी और प्रवेणी की ताल-रचना भिन्न है, शेष तीन में दोनों की तालरचना समान है। अभिनव ने इस समानता को ध्यान में रख कर दोनों में यह भेद कहा कि पहली प्रवेणी में 'विविध' और दूसरी में 'वृत्त' नामक गीतांग का प्रयोग होता है—

ननु यदि द्वयोरपि तालस्तुल्यस्तर्हि को विशेष इत्याह। प्रयोगोऽङ्गवशानुग इति। आद्यायां विवधोऽन्यस्यां च वृत्तमित्यङ्गभेदाद्भेद इति यावत्।[2]

माषघात—ओवेणक में प्रयुक्त तालांग है जिसकी १२ कलाओं में कुछ परिवर्तन के साथ द्विकल उत्तर की क्रियाएं होती हैं। 'माष' अर्थात् १२वें भाग (माशा) से 'घात' अर्थात् गुणा होने के कारण अभिनव ने 'माषघात' की अन्वर्थता कही है—

माषेण द्वादशभागात्मना हननं गुणनं यास्य(यस्ये)ति स माषघातः।[3]

सन्धि—ओवेणक में यथाक्षर उत्तर से प्रयुक्त होने वाला तालांग है। अभिनव ने सन्धि संज्ञा की सार्थकता बताते हुए कहा—'त्र्यश्ररूपे भाविन्यङ्गद्वये वा सन्धायत्वेन सन्धिः'।[4] सन्धायत्व के कारण सन्धि है अर्थात् दो अंगों को जोड़ने के कारण सन्धि कहलाती है—मुख्य अभिप्राय यह है।

चतुरश्र—अन्त नामक तालांग के एक भेद—युग्म प्रवृत्त—की तालविधि का अनुसरण करने वाला तालांग है जो ओवेणक में प्रयुक्त होता है। युग्म प्रवृत्त में द्विकल चच्चत्पुट का प्रयोग कुछ क्रियाभेद से होता है। चतुरश्र में भी उन्हीं क्रियाओं का प्रयोग होता है।

वज्र—सन्धि जैसा ही तालांग है जिसका प्रयोग ओवेणक में चतुरश्र के बाद होता है। संभवतः एक ही गीतक में विभिन्न स्थानों पर प्रयुक्त होने वाले एक से तालांगों को पृथक् करने के लिये अलग-अलग नाम दिये गये हैं अन्यथा सन्धि और वज्र में ताल की दृष्टि से कोई भेद नहीं है।

१. वही, २९३, अभि.
२. वही
३. वही, ३१/२०७, अभि.
४. वही, २८९, अभि.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वज्र की व्याख्या करते हुए अभिनव कहते हैं कि अभञ्जनीयत्व के कारण वज्र है अथवा चतुरश्र अंग बीच में आ जाने से त्र्यश्ररूप तालबुद्धि के बाधित होने के बाद वज्र के प्रयोग के द्वारा फिर से वज्रलेप की भाँति स्थापित हो जाने के कारण वज्र कहलाता है—

अत्र वज्रस्यान्तेनैककलैकक मात्राङ्गम्। तत एवाभञ्जनीयत्वाद्वज्रत्वम्। चतुरश्रव्यवहिता त्र्यश्रधीः पुनर्वज्रलेपेनेवानेन वृद्धिकृतेऽपि वज्रम्।[1]

सम्पिष्टक—ओवेणक और पाणिका में प्रयुक्त होने वाला तालांग है। सप्तांग ओवेणक में १२ कलाओं में तथा द्वादशांग ओवेणक में १० कलाओं में इसका प्रयोग होता है। पाणिका के अन्तिम अंग शीर्षक में एककयुक्त सम्पिष्टक का प्रयोग कहा गया है। यहाँ सम्पिष्टक से अभिप्राय उनकी कलासंख्या और कलाविधि से है। पाणिका में सम्पिष्टक द्वादशकल होता है।

उपपात—ओवेणक में प्रयुक्त तालांग है। भरत ने इसे 'अवपात' भी कहा है तथा द्वितीय पाद के ताल से युक्त बताया है—'द्वितीयपादतालेन ह्यवपातश्च कीर्त्यते'।[2] प्रथम पाद चतुष्कल उत्तर से अर्थात् २४ कलाओं में होता है अतः द्वितीय पाद की १२ कलाओं से उपपात की रचना होती है। शार्ङ्गदेव ने पाद के उत्तरार्ध के ताल से अथवा द्विकल उत्तर से उपपात कहा है—'पादोत्तरार्धतालेन द्विकलेनोत्तरेण वा। उपपातः..........'[3]।

वैहायस—उल्लोप्यक में प्रयुक्त होने वाला तालांग है जो १२ कलाओं में होता है। एक अन्य मत के अनुसार इसकी शुरू की ४ कलाओं का तालरहित प्रयोग करने के बाद पूरी कलाओं का कलाविधि सहित प्रयोग होता है। इस प्रकार कुल १६ कलाएँ होने से इसका आकार चतुरश्र हो जाता है। ४ कलाओं का प्रयोग तालशून्य होने के कारण अभिनव ने इस संज्ञा की सार्थकता कही है—

अतएव विहायसि शून्ये भवमिति वैहायसमिति लक्ष्यं चेत्थं वक्तव्यम्।[4]

शरीर—रोविन्दक, उत्तर, छन्दक, आसारित और पाणिका में प्रयुक्त तालांग है किन्तु सभी में इसका आकार और क्रियाएँ भिन्न हैं। रोविन्दक में प्रतिपाद की अन्तिम १२ कलाओं में द्विकल उत्तर से, छन्दक में चतुरश्र शरीर यथाक्षर चच्चत्पुट से और त्र्यश्र होने पर यथाक्षर चाचपुट से तथा पाणिका में चार यथाक्षर पंचपाणि से होता है। उत्तर में इसे अलग न कह कर शाखा-प्रतिशाखा में 'शरीरवत्' अंगयोजना के विधान के रूप में कहा गया है। आसारित के सभी भेदों में अंग विभाजन दो प्रकार से कहा गया है—१. वस्तु आधारित और २. अंगों के अनुसार। इनमें से दूसरे में तीसरा अंग शरीर है जो सर्वत्र पंचपाणि ताल से कहा गया है। किन्तु इन भेदों में कलाविधि शरीर की कलासंख्या तथा यथाक्षरादि भेदों के अनुसार होती है।

---

१. वही, २८८, अभि.
२. वही, ३१/२६५
३. सं. र., ५/१५६
४. वही, ३१/२२२-२२३, अभि., पृ. २४१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मात्रा—इस तालांग की रचना एककल की ४ कलाओं से होती है। उल्लोप्यक में मात्रा प्रथम और प्रमुख अंग है और ४ कलाओं से ही प्रयुक्त होती है। उत्तर नामक गीतक में भी मात्रा प्रमुख अंग है।

तालिका—केवल अपरान्तक में ६ कलाओं में प्रयुक्त तालांग है। भरत ने शाखा और प्रतिशाखा की अन्तिम ६ कलाओं में तालिका का प्रयोग कहा है। शार्ङ्गदेव ने इसके प्रयोग सम्बन्धी तीन मत दिये हैं जिनमें से एक के अनुसार केवल शाखा के अन्त में, दूसरे के अनुसार शाखा और प्रतिशाखा—दोनों के अन्त में और तीसरे में वस्तु के बाद अलग से तालिका का प्रयोग होता है। तालिका में पदों की आवृत्ति होती है। जब शाखा प्रतिशाखा के अन्त में इसका प्रयोग होता है तो क्रियाएँ दो प्रकार से हो सकती हैं—१. यथाक्षर पंचपाणि की क्रियाओं के बिना। इसमें वस्तु की मूल रचना परिवर्तित होकर यथाक्षर पंचपाणि के अनुरूप (ऽ' । ऽ ऽ । ऽ') हो जाती हैं किन्तु क्रियाएँ मूल वस्तु की ही रहती हैं। २. यथाक्षर पंचपाणि की क्रियाओं के द्वारा—इस स्थिति में मूल रचना वैसी ही रहती है किन्तु क्रियाएँ पंचपाणि की होती हैं। जब वस्तु से अलग तालिका हो तो यथाक्षर पंचपाणि के अनुसार ही उसकी रचना और क्रियाएँ होती हैं।

उपवर्तन—अपरान्तक, ओवेणक और रोविन्दक में प्रयुक्त होता है जिसका सम्बन्ध पदों की आवृत्ति से है किन्तु रचना तालाधारित है। अपरान्तक के द्विकल और चतुष्कल रूपों में, द्वादशांग ओवेणक में माषघात के बाद अथवा सम्पिष्टक के बाद अथवा प्रवेणी के बाद तथा रोविन्दक में शरीर के बाद उपवर्तन होता है। इसमें १२ कला के पदों को फिर से ६ कलाओं में गाया जाता है अर्थात् पदों की आवृत्ति इस प्रकार की जाती है कि हर पद अथवा अक्षर को मूल की अपेक्षा आधा समय मिलता है। भरत ने सामान्य रूप से किसी भी प्रकार की आवृत्ति के लिये इस शब्द प्रयोग किया है।

मुख, प्रतिमुख—मुख्यतः उल्लोप्यक और उत्तर में तथा पाणिका में प्रयुक्त तालांग है। शार्ङ्गदेव ने निर्गीतों के प्रसंग में इन्हें स्पष्ट रूप से तालांग कहा—'मुखप्रतिमुखे स्यातां तालांगे द्वे'[1]। इन गीतकों में मुख्य तालांग मात्रा है जिसका पूर्वार्ध मुख और उत्तरार्ध प्रतिमुख कहलाता है। मुख में विविध नामक गीतांग और प्रतिमुख में विविध तथा वृत्त नामक गीतांगों का प्रयोग होता है। इसलिये दोनों में अन्तर उनकी भिन्न प्रकार की स्वरयोजना के आधार पर होता है।

गीताङ्ग अथवा वर्णाङ्ग

तालांगों के मूल आकार के अन्तर्गत स्वर रचना के आधार पर जो खण्ड बनते हैं वे वर्णांग हैं। वास्तव में वर्णांग स्वरसमूह हैं जो छोटे बड़े हो सकते हैं। कोई वर्णांग एक अकेले स्वरसमूह से अथवा अनेक स्वरसमूहों से बन सकता है। किन्तु किसी तालांग की सीमा में कितने स्वरसमूह हैं इस आधार पर यह निर्णय होता है कि कौनसा वर्णांग है।

---

१. सं. र., ६/२११

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तालांगों की हर क्रिया पूर्वनिर्धारित होती है किन्तु वर्णांग में स्वरयोजना की पूरी छूट प्रयोक्ता को होती है क्योंकि गीतकों के लक्षणों में तालक्रियाओं का तो विस्तृत निरूपण किया गया है, स्वररचना का नहीं। गीत में स्वररचना के आधार पर जितने खण्ड बनते हैं उतने ही वर्णांग उस गीत में होते हैं। तालांगों की अपेक्षा गीतकों में प्रयुक्त होने वाले वर्णांगों की कुल संख्या बहुत कम है।

विदारी—स्वरखण्ड की मूल इकाई विदारी है। 'विदारी' शब्द का अर्थ है टुकड़ा, भाग या खण्ड। शार्ङ्गदेव ने गीतखण्ड को विदारी कहा है—'विदारी तु गीतखण्डं'[१]। अभिनव ने स्थायी आदि के द्वारा निष्पन्न होने वाले ऐसे गीत को गीतक कहा है जिसमें वर्णों के अनुसार खण्ड बनते हैं—

स्थाय्यादयो ये वर्णास्तन्निष्पाद्यमानं गीतं गीतकमिति तदनुवर्ती विच्छेदः कर्तव्यः।[२]

लेकिन तालाधारित खण्डों के भीतर उनके साथ साम्य रखते हुए ही रचना के खण्ड बनते हैं इसलिये ताल द्वारा ही उनका आकार भी निर्दिष्ट होता है—

परिच्छेदस्य परिच्छेदतनुत्वाद्विदार्याश्च साम्यात्मतया परिच्छेदनरूपत्वम् अत एवेयं तालगीतै(गते)र्निर्दिष्टा।[३]

इसका अर्थ यह है कि तालखंड की समाप्ति के साथ ही गीतांग भी समाप्त होना चाहिये। वर्तमान लक्ष्य में भी स्थायी अन्तरा आदि खंड (जिन्हें गीतांग कह सकते हैं) तालाधारित न होते हुए भी तालसमाप्ति के साथ समाप्त हो जाते हैं। जैसे, यदि कोई गीत तीनताल की १२ वीं मात्रा से आरम्भ हो तो स्थायी की समाप्ति प्रायः ११ वीं मात्रा पर होती है और १२ वीं मात्रा से फिर प्रथम पंक्ति उठा ली जाती है। अभिनवगुप्त के उपर्युक्त अंश का भी यही आशय है।

किन्तु स्वरखंड की पूर्णता अथवा समाप्ति कहाँ मानी जाय इसके लिये तालांग आधार नहीं बनता। शार्ङ्गदेव के अनुसार गीत के राग की मूलयोनि रूप राग अथवा जाति के न्यास, अपन्यास, सन्यास अथवा अंश में समाप्ति होनी चाहिये—

स्वरागयोनिजातेस्तु न्यासेऽपन्यासनेऽथवा ॥
संन्यासेंऽशेऽथवा न्यासः सर्वगीतस्थवस्तुनः।[४]

वास्तव में गीत के पद, स्वर और ताल—इन तीनों अंगों की एक साथ समाप्ति होने पर ही खण्ड पूर्ण होने की अनुभूति होती है। इसीलिये ध्रुवाध्याय में भरत ने कहा—

पदवर्णसमाप्तिस्तु विदारीत्यभिसंज्ञिता ॥[५]

तालखंडों के साथ पद और स्वर योजना की समाप्ति ही विदारी है। वस्तु बड़ी होती है

---

१. वही, ५/७२
२. ना. शा., ३१/१६०-१६१, अभि., पृ. २३०
३. वही
४. सं. र., ५/६१-६२
५. ना. शा., ३२/१७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसलिये उसे व्याप्त करने वाली बड़ी विदारी होती है। यहाँ वस्तु की रचना के साथ ही पद (अर्थ) और वर्ण (स्वर रचना) भी समाप्त होते हैं—

.....................महती व्याप्तवस्तुका ॥
समाप्ता पदवर्णान्ते ....।[1]

किन्तु वस्तु के भीतर छोटे तालांगों के अनुसार होने वाली छोटी विदारी अवान्तरा विदारी कहलाती है—'अवान्तरा त्वन्तरा मता'।[2] विदारियों की संख्या प्रत्येक गीतक में निश्चित होती है। शार्ङ्गदेव ने भरत के अनुसार महती विदारियों की न्यूनतम संख्या ३ और अधिकतम ११ तथा अवान्तरा विदारियों की संख्या २४ कही है।[3]

वस्तु के अन्तर्गत किसी तालांग में अवान्तरा विदारियों की संख्या के आधार पर समूह की संख्या का निर्णय होता है। अवान्तरा विदारियों का प्रयोग ६ तक के समूह में हो सकता है।

एकक—एक विदारी वाला गीतांग एकक है जो न्यास अथवा अंश स्वर पर समाप्त होता है—

न्यासान्तमथवांशान्तं विदार्येकैककं मतम्।[4]

एक विदारी का अर्थ यह है कि स्वरसमूह की केवल एक इकाई से अंग निर्मित होता है। मद्रक, प्रकरी और रोविन्दक में नियत रूप से प्रयुक्त होता है।

विविध—भरत ने 'विवध' और शार्ङ्गदेव ने 'विविध' कहा है। विविध दो विदारियों से युक्त होता है—'विविधो द्विविदारीकः'[5]। अर्थात् दो स्वरसमूहों की इकाई है। विवध की व्याख्या अभिनव ने इस प्रकार की है—

द्वौ विवधं विशिष्टो वधो हननं विभक्ततापादनमिति यावत्।[6]

अर्थात् विशेष रूप से दो में विभक्त करना 'विविध' है।

नान्यदेव ने 'एकक' और 'विविध' का भिन्न अर्थ किया है जैसा कि निम्न उद्धरण से पता चलता है—

तत्रैकएव परिच्छेद एककमुच्यते। यथा गुर्वक्षरेषु। व० न्दे० दे० वं० स० वं० ई० शं०। एकैकं तु विदार्येका ते च द्वे द्विविधः स्मृतः। विश्लिष्टं हननं विविध उच्यते। स चायं द्विविदारको यथा—व०० न्दे०० दे०० वं०० स०० वं०० ई०० शम्।[7]

---

१. सं. र., ५/७२-७३
२. वही, ७३
३. वही, ७५-७६
४. वही, ७७
५. वही, ६८
६. ना. शा., अ. ३१. अभि., पृ. २३१
७. भरत., ७वाँ अध्याय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इससे ऐसा लगता है कि हर अक्षर का एक मात्रा अथवा अंश अधिक कर्षण करना 'एकक' है और दो मात्रा या अंश अधिक कर्षण करना 'विवध' है। ऐसा अर्थ अन्य किसी ग्रंथकार ने नहीं किया है।

रत्नाकर में यह तीन प्रकार का कहा गया है—१. सामुद्ग, २. अर्धसामुद्ग और ३. विवृत्त। पूरी विदारी के पद और वर्ण की आवृत्ति होने पर सामुद्ग होता है—'विदार्योः पदवर्णादिसाम्यात्सामुद्गको मतः'[1]। विदारी के एक भाग के पद और वर्ण की आवृत्ति होने पर अर्धसामुद्ग नामक विविध होता है—

विदारीभागयोः साम्यात्त्वर्धसामुद्गको मतः।
पूर्वस्या वा परस्या वा द्वयोर्वेति त्रिधा च सः॥[2]

इसमें विदारी के पूर्वभाग की अथवा परभाग की अथवा पूर्व और पर दोनों की आवृत्ति हो सकती है।

दो विदारी होने पर एक विविध है या दो एकक—यह शंका हो सकती है। इसका निराकरण अभिनव ने इस प्रकार किया—

अङ्गसंस्था विदारी तद्विविध एवेति निश्चयात्।[3]

अर्थात् अंग के आधार पर विदारी संख्या का निश्चय होता है। किसी अंग में दो विदारियाँ होने पर वह विविध ही होता है और एक विदारी होने पर एक एकक।

मद्रक में प्रयुक्त होने वाला विविध का ही एक भेद द्वैगेयक है। यद्यपि इसे विविध के अन्य भेदों के साथ कहा नहीं गया किन्तु शार्ङ्गदेव ने विविध का समापक स्वर बताते समय इसे विविध का भेद कहा—

न्यासान्तो विविधः कार्यः सर्वो द्वैगेयकं विना।[4]

अर्थात् द्वैगेयक को छोड़ कर सभी विविध न्यास से समाप्त करने चाहियें। इसका प्रयोग केवल मद्रक की अन्तिम वस्तु के अन्त में होता है। पदों की आवृत्तियुक्त गीतांग है जिसका आरम्भ और अन्त अंश स्वर से होता है—

असावंशादिरंशान्तपदावृत्तियुतो मतः।[5]

वृत्त—गीतक का तीसरा अंग है जिसमें ३ से ६ तक विदारी हो सकती हैं। ६ विदारी वाला श्रेष्ठ होता है। इसका प्रयोग रोविन्दक, उत्तर, उल्लोप्यक, पाणिका, बहिर्गीत और लास्य में होता है। यह दो प्रकार का है—प्रवृत्त और अवगाढ। आरोह से अवगाढ और अवरोह से प्रवृत्त होता है। आरोह में ध्वनिउत्पादक कण्ठ यन्त्र का संकोच होने के कारण गाढता होती है इसलिये 'अवगाढ' संज्ञा और अवरोह में सुखपूर्वक प्रवृत्ति

१. सं. र, ५/६६
२. वही, ७०
३. ना. शा., ३१/१६०-१६१, अभि., पृ. २३१
४. सं. र., ५/७१
५. वही, ८५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होने से 'प्रवृत्त' संज्ञा सार्थक हैं।[१] दत्तिल ने आरोही वर्ण से प्रवृत्त और अवरोही से अवगाढ कहा है।[२]

वृत्त की समाप्ति (१) न्यास, अपन्यास, सन्यास अथवा विन्यास स्वर पर[३] अथवा (२) अंश अथवा उसके संवादी अथवा अनुवादी स्वर पर अथवा[४] (३) अंश से आगे दूसरे अथवा तीसरे स्वर पर[५] हो सकती है। वृत्त का आरम्भ न्यास, अपन्यास, अंश अथवा उसके संवादी से हो सकता है।[६]

प्रस्तार—रोविन्दक में तथा अभिनव के अनुसार उत्तर में प्रयुक्त होने वाला गीतांग है। भरत ने 'प्रस्वार' और शार्ङ्गदेव ने 'प्रस्तार' कहा है। एक खण्ड के अन्तिम भाग की गीति (स्वरयोजना) की दूसरे खण्ड के आरम्भ में आवृत्ति ही प्रस्तार नामक गीतांग है। अभिनव ने प्रस्वार की यह व्याख्या की है—

प्राच्यवर्णानुकर्षात् प्रस्वारक्रिया क्रियते।[७]

अर्थात् पिछले वर्ण के अनुकर्ष (आवृत्ति) से प्रस्वार क्रिया होती है। शार्ङ्गदेव ने रोविन्दक में प्रस्तार का स्वरूप स्पष्ट रूप से बताया—

..............................पादस्यान्ते कलाष्टके ॥
प्रतिपादादिमे चैका गीतिः प्रस्तारसंज्ञका।[८]

पाद की अन्तिम ८ कलाओं में तथा प्रतिपाद के आरम्भ की गीति समान होती है जो प्रस्तार कहलाती है।

पदांग

गीतकों में तालांग और गीतांग की तरह अलग से 'पदांग' का उल्लेख भरत, दत्तिल, अभिनव और शार्ङ्गदेव में से किसी ने नहीं किया है। किन्तु पद से सम्बन्धित कुछ अंग गीतकों में अवश्य हैं जिन्हें पदांग कहा जा सकता है। तालांगों की प्रत्येक क्रिया और लम्बाई जैसे निश्चित है उस तरह गीतांगों की स्वरयोजना या पदांगों की पद रचना निश्चित नहीं। गीतांगों की तरह पदांगों की संख्या भी बहुत कम है। पदांगों में केवल उपोहन-प्रत्युपोहन और शाखा-प्रतिशाखा हैं।

उपोहन-प्रत्युपोहन—पद सम्बन्धी ऐसे अंग हैं जिनमें केवल शुष्काक्षर अर्थात् निरर्थक अक्षर होते हैं—झण्टुमाद्याक्षरैरेव रचना स्यात्तयोर्द्वयोः।[९] भरत ने इस प्रकार व्याख्या की है—

---

१. ना. शा., अ. ३१, अभि., पृ. २३२
२. दत्ति., १४५-१४६
३. सं. र., ५/१०६-११०
४. वही, ११०
५. वही, ११०-१११
६. वही, १११-११२
७. ना. शा., ३१/३०२, अभि.
८. सं. र., ५/१६५-१६६
९. वही, ५/१६६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपोह्यन्ते स्वरा येन तेन गीतं प्रवर्तते ।
तस्मादुपोहनं ज्ञेयं शुष्काक्षरसमन्वितम् ॥
अथवोपोह्यते यस्मात्प्रयोगः सूचनादिभिः ।
तस्मादुपोहनं ह्येतद्गानभाण्डसमाश्रयम् ॥[१]

अभिनव की व्याख्या के अनुसार आशय यह है कि जिसमें शुष्काक्षर आगे होने वाले स्वर-प्रयोग का 'ऊहन' अर्थात् अनुमान करायें अथवा 'उप' (निकट) 'वहन' करें (ले जायें) अथवा जिससे गीत प्रवृत्त हो अथवा नृत्तप्रयोग में जिसके द्वारा नृत्याभिनय की सूचना दी जाय वह उपोहन है।

उपोहन गीतकों के अंगों के आरम्भ में प्रयुक्त होने वाला प्रमुख अंग है। भरत ने इन्हें क्षेप, प्रतिक्षेप भी कहा है। अभिनव के अनुसार प्रत्युपोहन का प्रयोग प्रथम वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं में होता है—

प्रत्युपोहनं नाम प्रथमवस्तुव्यतिरिक्ते वस्त्वन्तरे प्रसिद्धम् ।[२]

कल्लिनाथ ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा कि गीत की प्रथम वस्तु के आरम्भ में उपोहन का और दूसरी तथा अन्य वस्तुओं के आरम्भ में प्रत्युपोहन का प्रयोग होता है। अथवा एक वस्तु में पहले किया गया उपोहन तथा उसके बाद किया गया प्रत्युपोहन कहलाता है।

प्रथमवस्त्वादौ कृतमुपोहनमित्युच्यते । द्वितीयादिवस्त्वादौ कृतं तु प्रत्युपोहन-मित्युच्यते । अथवा एकवस्तुनि प्रथमं कृतमुपोहनम् । तदनन्तरं कृतं प्रत्युपोहन-मित्युच्यते ।[३]

दत्तिल और शार्ङ्गदेव ने इनमें कलापात का निषेध किया है।

शाखा, प्रतिशाखा—अपरान्तक, उल्लोप्यक और उत्तर में होने वाली ऐसी विशेष प्रकार की आवृत्ति को शाखा-प्रतिशाखा सूचित करती हैं जिनकी स्वरतालयोजना बिल्कुल एकसी होती है तथा पद भिन्न होते हैं अर्थात् शाखा की स्वरयोजना और तालरचना की आवृत्ति हो तथा पद नये हों तो मूल को शाखा और उसकी आवृत्ति को प्रतिशाखा कहा जाता है। ये दोनों नियत या निश्चित आकार वाले स्वतन्त्र अंग नहीं हैं बल्कि गीतक के किसी अंग में जब उपर्युक्त रीति से आवृत्ति होती है तो इस प्रयोग को शाखा-प्रतिशाखा संज्ञा दी जाती है। जैसे—उल्लोप्यक में जब अन्य पद के साथ वैहायस की आवृत्ति होती है तो ये शाखा-प्रतिशाखा कहलाती हैं।[४]

गीतकों के मार्ग

गीतकों में दो मार्ग कहे गये हैं—शंख और छत्रक—

---

१. ना. शा., ३१/१३८-१३९
२. वही. २३०, अभि., पृ. ३४२
३. सं. र., ५/५७-६०, कल्लि., पृ. ३१
४. वही, ११६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्वौ मार्गौ गीतकेषूक्तौ शङ्खच्छत्रकसंज्ञकौ ॥[१]

मार्ग से तात्पर्य है ढंग यानी अंगों की संख्या में संकोच का विस्तार। शंखमार्ग में गीत के अंगों का संकोच होता है यानी कम अंगों का प्रयोग होता है और छत्रमार्ग में विस्तार अर्थात् अधिक अंग प्रयुक्त होते हैं। दोनों संज्ञाएं सार्थक हैं। शंख के आकार में क्रमशः संकोच दिखाई देता है तथा छत्र में फैलाव। इसीलिये शाङ्‌र्गदेव ने कहा—'शङ्खमार्गोऽङ्ग-संक्षेपश्छत्रकस्त्वङ्गविस्तरः।[२]

भरत ने इन मार्गों का उल्लेख नहीं किया है। दत्तिलम् में एक संज्ञा 'शम' है तथा दूसरी लुप्त है।[३] संगीतराज में पहला प्रकार 'शठ' और दूसरा 'छत्रक' है।[४]

गीतकों के लक्षण

गीतकों के लक्षण देने के लिये हमने शाङ्‌र्गदेव का क्रम स्वीकार किया है क्योंकि उसके समय तक १४ गीत पूरी तरह स्थिर हो चुके थे और दो वर्गों के अन्तर्गत ७-७ का विभाजन भी उसने किया। साथ ही उसने हर गीत के पूरे लक्षण एक साथ दिये हैं। जहाँ भरत से कोई अन्तर दिखाई देता है वहाँ हमने उल्लेख किया है। केवल कुछ गीतकों में उदाहरण के रूप में उनके प्रस्तार दिये हैं, शेष में नहीं।

(१) मद्रक[५]

सामान्य लक्षण और स्वरूप भरत और शाङ्‌र्गदेव के एकसे हैं, अंगों का विस्तार शाङ्‌र्गदेव ने अधिक किया है।

मद्रक तीन प्रकार का होता है—एककल, द्विकल, चतुष्कल। सभी फिर दो प्रकार के हो सकते हैं—चतुर्वस्तु अथवा त्रिवस्तु। शीर्षक का प्रयोग केवल त्रिवस्तु में होता है। चतुर्वस्तु मद्रक में चौथी वस्तु ही शीर्षक बन जाती है। सभी मद्रकों में प्रयोज्य राग की मूल जाति (षाड्जी आदि) के न्यास, अपन्यास, सन्यास अथवा अंश में ही सब वस्तुओं का न्यास होता है।

एककल मद्रक—एक वस्तु में ८ गुरु और ८ लघु कलाएँ होती हैं। गुरु की ३ कलाएँ ध्रुव नामक सशब्द क्रिया से अथवा सशब्द क्रिया के बिना होती हैं। भरत ने २ कलाओं में उपोहन और तीसरी में प्रत्युपोहन कहा है। शाङ्‌र्गदेव ने प्रथम वस्तु में २ गुरु में उपोहन और शेष दो वस्तुओं में १-१ गुरु से प्रत्युपोहन कहा है। इनमें झण्टुं आदि का प्रयोग होता है। शेष १३ कलाओं में क्रम से श श ता ता श श ता ता श ता श ता सं क्रियाएँ होती हैं। ऐसी तीन वस्तुओं के बाद शीर्षक होता है।

८ गुरु में 'विविध' और ८ लघु में 'एकक' गीतांग होते हैं अर्थात् इनमें क्रमशः दो और एक खण्ड होते हैं। विविध में सामुद्ग, अर्धसामुद्ग या विवृत्त का प्रयोग हो सकता

---

१. वही, १७८
२. वही, १७९
३. दत्ति., २२३
४. सं. रा., २/४/१/२७८
५. ना. शा., ३१/२२९–२४०, सं. र., ५/५९–८७, सं. रा., ४/१/६२-१००

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। प्रथम दो वस्तुओं का ग्रह और अंश स्वर मंद्र में होता है। एककल मद्रक का प्रस्तार इस प्रकार है—

त्रिवस्तुक

प्रथम वस्तु

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । । । ।

|उपो. ______ | |______|

विविध एकक

द्वितीय वस्तु

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । । । ।

|प्रत्यु. ______ | |______|

विविध एकक

तृतीय वस्तु

द्वितीय वस्तु जैसी

शीर्षक

ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'

सं ता श ता श ता (यथाक्षर पंचपाणि से)

अथवा

ऽ ऽ

आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं

(चतुष्कल पंचपाणि से)

चतुर्वस्तुक

प्रथम तीन वस्तुएँ त्रिवस्तु मद्रक जैसी

चतुर्थ वस्तु

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । । । ।

| श श ता ता श | |श ता ता श ता श ता सं |

विविध एकक

एककल, द्विकल तथा चतुष्कल चतुर्वस्तु मद्रक में त्रिवस्तु मद्रक जैसी ही ४ वस्तुएँ रहती हैं।

द्विकल मद्रक—इसकी एक वस्तु में २४ गुरु कलाएँ होती हैं। १२ पादभाग यानी ३ 'मात्रा' होती हैं। ऐसी तीन वस्तुओं के बाद यथाक्षर या द्विकल पंचपाणि से शीर्षक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है। शुरू की ३ कलाओं में उपोहन होता है। एक या दो कलाओं में विकल्प से प्रत्युपोहन होता है। प्रथम दो 'मात्राओं' का एक खण्ड होता है जिसमें विविध और अन्तिम यानी तीसरी 'मात्रा' में एकक होता है। इसका प्रस्तार इस प्रकार है—

त्रिवस्तुक

प्रथम वस्तु

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि प्र नि श   मात्रा १
|_____|
उपो०
ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता नि ता नि श   मात्रा २

(मात्रा १–२) विविध

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श ता ता श ता श ता सं   मात्रा ३

(मात्रा ३) एकक

द्वितीय वस्तु

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
|__|
प्रत्यु०
अथवा
|____|
प्रत्यु०
अथवा
प्रत्यु० रहित
ताल प्रथम वस्तु जैसा

(उपर्युक्त) मात्रा १

शेष मात्राएँ प्रथम वस्तु जैसी

तृतीय वस्तु

द्वितीय वस्तु जैसी

शीर्षक

ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
सं ता श ता श ता   (यथाक्षर पंचपाणि से)

अथवा

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं   (द्विकल पंचपाणि से)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चतुष्कल मद्रक—द्विकल जैसा ही होता है लेकिन पादभाग चतुष्कल होते हैं। तीन मात्राओं में से प्रत्येक में १६ कलाएँ फलतः एक वस्तु में ४८ गुरु कलाएँ होती हैं। प्रथम वस्तु की शुरू की ८ कलाओं में उपोहन होता है। अन्य वस्तुओं में विकल्प से १, २ अथवा ४ कलाओं में प्रत्युपोहन हो सकता है अथवा नहीं भी हो सकता है—

कलैका द्वे चतस्रो वा न वा स्यात्प्रत्युपोहनम् ।[1]

द्विकल की ही भाँति विविध तथा एकक की योजना रहती है। किन्तु चतुष्कल मद्रक में द्वैगेयक नामक विविध का प्रयोग होता है जो तृतीय वस्तु के अन्त में होता है। इसका आरम्भ और अन्त प्रयोज्य जाति के अंश स्वर से ही होता है। त्रिवस्तु मद्रक में शीर्षक के लिए चार विकल्प दिये गये हैं—१. केवल चतुष्कल उत्तर से, २. एककल तथा चतुष्कल उत्तर से, ३ द्विकल और चतुष्कल उत्तर से, ४. दो चतुष्कल उत्तर से। चतुर्वस्तु में उपोहन नहीं होता। इसका प्रस्तार निम्नोक्त है—

त्रिवस्तुक

प्रथम वस्तु

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श मात्रा १
|________________|
उपो०

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ नि वि ता आ नि वि श मात्रा २ — विविध

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ श वि ता आ ता वि श आ ता वि श ता नि वि सं मात्रा ३ — एकक

द्वितीय वस्तु

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
|__|
प्रत्यु०
या — ताल प्रथम वस्तु की
|____|
प्रत्यु० — मात्र जैसा — मात्रा १
या
|________|
प्रत्यु०
या
प्रत्यु० रहित

---

1. संगीत रत्नाकर के मुद्रित पाठ में यह श्लोकार्ध नहीं है किन्तु सिंह० और कल्लि० की टीकाओं में इस पर टीका प्राप्त है। यह अंश ग० ओ० मै० ला० की पांडुलिपि में है जो हमें डॉ० एन्० रामनाथन् द्वारा प्राप्त हुआ है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शेष मात्राएँ प्रथम वस्तु जैसी

तृतीय वस्तु

सभी मात्राएँ द्वितीय वस्तु जैसी

किन्तु तीसरी मात्रा में एकक के स्थान पर द्वैगेयक विविध

शीर्षक

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता
ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं (चतुष्कल उत्तर से)

अथवा

[ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
सं ता श ता श ता] (एककल तथा

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता
ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं] चतुष्कल उत्तर से)

अथवा

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं] (द्विकल तथा

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता
ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं] चतुष्कल उत्तर से)

अथवा

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता
ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं] (दो चतुष्कल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	उत्तर
आ	नि	वि	प्र	आ	ता	वि	श	आ	नि	वि	ता	से)
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	नि	वि	श	आ	ता	वि	प्र	आ	नि	वि	सं	

(२) अपरान्तक[1]

एककल, द्विकल और चतुष्कल भेदों से तीन प्रकार का अपरान्तक होता है।

एककल अपरान्तक—वस्तु में ४ गुरु, ४ लघु होते हैं, कुल ६ कलाएँ हैं। इसमें १, ५, ६ या ७ वस्तुओं की शाखा और पदान्तर से प्रतिशाखा होती है। दत्तिल और शार्ङ्गदेव पूरी वस्तुओं को मिला कर शाखा और फिर पदान्तर के साथ पूरी वस्तुओं की आवृत्ति को प्रतिशाखा कहते हैं। विशाखिल पूरी वस्तुओं को शाखा और फिर शाखा के उत्तरार्ध की पदभेद से आवृत्ति होने पर उसे प्रतिशाखा मानते हैं। यद्यपि शाखा के आकार के बारे में मतान्तर है किन्तु सभी ने शाखा के उत्तरार्ध की पदान्तर से आवृत्ति को प्रतिशाखा कहा है।

१ कला का उपोहन है और दूसरी कला में विकल्प से प्रत्युपोहन है। इन दो कलाओं में कोई क्रिया नहीं है, ध्रुवपात का प्रयोग होता है। शाखा के अन्त में एककल पंचपाणि से शीर्षक होता है। मतान्तर से प्रतिशाखा के अन्त में भी शीर्षक रहता है। यथाक्षर पंचपाणि से तालिका नामक अंग होता है। एकक, विविध आदि अंगों का कोई निश्चित नियम नहीं है। प्रस्तार इस प्रकार है—

एकवस्तुक

शाखा

वस्तु	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।
			श	ता	ता	श	ता	सं
—	उ.	प्र.	शिवस्तुति के पद					
तालिका	ऽ'	।	ऽ	ऽ	।	ऽ'		
(पदावृत्ति युक्त)	सं	ता	श	ता	श	ता		
शीर्षक	ऽ'	।	ऽ	ऽ	।	ऽ'		
	सं	ता	श	ता	श	ता		

प्रतिशाखा

वस्तु	।	।	।	।
(शाखा का उत्तरार्ध,	ता	श	ता	सं
स्वर वही, पद भिन्न)				

1. ना. शा., ३१/२४१-२५१ ; सं. र., ५/८८-१०४ ; सं. रा., ४/१/१०१-१३५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शीर्षक	ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
(शाखा से भिन्न	सं ता श ता श ता

पद, स्वर वही

द्विकल अपरान्तक—एककल जैसा ही है। इसकी वस्तु में १२ गुरु कलाएँ हैं। उपोहन १ या २ कलाओं से तथा प्रत्युपोहन (अन्य वस्तुओं में) १ कला से होता है। चौथी वस्तु के बाद उपवर्तन होता है जिसमें चौथी वस्तु के पद और गीति का प्रयोग मूल लय से आधी लय में यथाक्षर उत्तर से होता है। उपवर्तन वार्तिक और दक्षिण मार्ग में होता है। एक अन्य मत से चौथी वस्तु की १२ कलाओं के पद और गीति पाँचवीं वस्तु के आरम्भ में ६ कलाओं में प्रयुक्त होते हैं जिसे दत्तिल ने स्रोतोगता यति कहा है।[1] विविध आदि अंगों का निश्चित नियम नहीं है। एकंकल अपरान्तक की भाँति तालिका और शीर्षक हैं। इसका प्रस्तार इस प्रकार है—

एकवस्तुक

वस्तु—शाखा

वस्तु	ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
	नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं
	उ प्र.
अथवा	उ. प्र. शिवस्तुति के पद
तालिका	ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
(पदावृत्ति युक्त)	सं ता श ता श ता
शीर्षक	ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
	सं ता श ता श ता

वस्तु — प्रतिशाखा

वस्तु (शाखा की	ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
वस्तु का उत्तरार्ध,	नि ता ता श ता सं
स्वर वही, पद भिन्न)	
तालिका	ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
(पदावृत्ति युक्त)	सं ता श ता श ता
शीर्षक	ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
	सं ता श ता श ता

१. दत्ति., १७५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पंचवस्तुक

शाखा

वस्तु १ — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
(एकवस्तुक जैसी) — नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं
|__||__|
उ. प्र.
|_____||__|
अथवा उ. प्र.

वस्तु २ — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
(प्रथम वस्तु जैसी — नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं
|__|
प्र.

वस्तु ३ (द्वितीय वस्तु जैसी)
वस्तु ४ (,, ,, ,,)

उपवर्तन (स्वर और पद चतुर्थ वस्तु जैसे, लय आधी) — ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
सं ता श ता श ता

वस्तु ५ (द्वितीय वस्तु जैसी)

तालिका (पदों की आवृत्ति युक्त) — ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
सं ता श ता श ता

शीर्षक — ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
सं ता श ता श ता

प्रतिशाखा

वस्तु १, २, ३, ४ — शाखा जैसी, पद भिन्न

उपवर्तन (स्वर और पद चतुर्थ वस्तु जैसे, लय आधी) — ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
सं ता श ता श ता

वस्तु ५ — शाखा जैसी, पद भिन्न

तालिका (पदावृत्ति युक्त) — ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
सं ता श ता श ता

शीर्षक (शाखा जैसा, पद भिन्न) — ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
सं ता श ता श ता

इसी प्रकार ६ और ७ वस्तुक के प्रस्तार तथा अन्य मतों से सभी के प्रस्तार बनाये जा सकते हैं।

चतुष्कल अपरान्तक—द्विकल से दुगुना होता है अर्थात् हर वस्तु में २४ कलाएँ होती हैं। आधी वस्तु यानी १२ गुरुओं से उपोहन और दक्षिण मार्ग में २ कलाओं का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तथा वार्तिक मार्ग में २ या ४ कलाओं का प्रत्युपोहन होता है। प्रत्युपोहन विकल्प से होता है। चौथी वस्तु के उत्तरार्ध यानी १२ कलाओं का द्विकलवत् उपवर्तन होता है जो तीनों मार्गों में प्रयुक्त हो सकता हैं। वस्तु में कलाओं का क्रम इस प्रकार है—आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं। शेष सब द्विकल अपरान्तक के समान होता है। प्रस्तार निम्नोक्त है—

एकवस्तुक

शाखा

वस्तु	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
	आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	श
	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
	आ	नि	वि	ता	आ	ता	वि	श	ता	नि	वि	सं

तालिका (एककल)	ऽ'	।	ऽ	ऽ	।	ऽ'
	सं	ता	श	ता	श	ता
शीर्षक (एककल जैसा)	ऽ'	।	ऽ	ऽ	।	ऽ'
	सं	ता	श	ता	श	ता

प्रतिशाखा

वस्तु (शाखा का उत्तरार्ध)	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
(स्वर शाखा जैसे, पद भिन्न)	आ	नि	वि	ता	आ	ता	वि	श	ता	नि	वि	सं

तालिका (पदावृत्ति युक्त)	ऽ'	।	ऽ	ऽ	।	ऽ'
	सं	ता	श	ता	श	ता
शीर्षक (स्वर शाखा	ऽ'	।	ऽ	ऽ	।	ऽ'
जैसे, पद भिन्न)	सं	ता	श	ता	श	ता

पञ्चवस्तुक का प्रस्तार द्विकल पञ्चवस्तुक के आधार पर बनाया जा सकता है।

(३) उल्लोप्यक[1]

एककल आदि भेदों से यह तीन प्रकार का होता है—एककल, द्विकल और चतुष्कल उल्लोप्यक। एककल में एक 'मात्रा' में २ गुरु, २ लघु और अन्त में १ गुरु होता है। द्विकल की मात्रा में कुल ८ गुरु और चतुष्कल में १६ गुरु होते हैं। मात्रा के पूर्वार्ध को मुख और उत्तरार्ध को प्रतिमुख कहा जाता है। मुख में विविध वर्णांग का और प्रतिमुख में वृत्तयुत विविध का प्रयोग होता है। चतुष्कल उल्लोप्यक में मात्रा के बाद १२ कलाओं में वैहायस होता है। वैहायस न हो तो मात्रा के बाद कलापातरहित ४ कलाओं में तीन एककों का प्रयोग होता है।

---

१. ना. शा., ३१/२५२-२७४ ; सं. र., ५/१०५-१३३ ; भं. रा., ४/१/१३६-२०२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वैहायस में १, ६ अथवा १२ तक अंग हो सकते हैं। १२ अंगों वाला श्रेष्ठ माना गया है। भरत ने ६ से २० अंगों वाला उल्लोप्यक कहा है।[1] कुंभा ने मतान्तर से २० अंगों वाले उल्लोप्यक का उल्लेख किया है।[2] उल्लोप्यक में मात्रा, वैहायस, अन्ताहरण और अन्त होते हैं। मात्रा के दो भागों की संज्ञा मुख-प्रतिमुख होती है। वैहायस का प्रयोग शाखा-प्रतिशाखा के रूप में होता है। 'अन्त' के तीन खंड स्थित, प्रवृत्त, महाजनिक होते हैं।

प्रवृत्त नामक अंग में उद्घट्ट ताल का प्रयोग कहा गया है। चतुष्कल मात्रा में कलाओं को डेढ़गुना या ढाईगुना करके ताल की आवृत्ति और स्वरों का कर्षण करके अधिक अंगों की योजना की जाती है।

गीतक के अन्तिम अंग के आधार पर उल्लोप्यक चार प्रकार का हो सकता है—१. मात्रान्त—मात्रा से समाप्त होने वाला, २. वैहायसान्त—वैहायस से अंत होने वाला, ३. अन्ताहरणान्त—अन्ताहरण से अन्त होने वाला और ४. अन्तान्त—'अन्त' नामक अंग से अंत होने वाला। 'अन्त' युग्म, अयुग्म, मिश्र और ये तीनों स्थित, प्रवृत्त, महाजनिक भेद युक्त हो सकते हैं।

(४) प्रकरी[3]

प्रकरी केवल चतुष्कल होती है, एककल और द्विकल नहीं। यह चार अथवा ३½ वस्तु की हो सकती है। एक वस्तु में ६ 'मात्रा' होती हैं। ३½ वस्तु वाली प्रकरी में ६ मात्रा वाली वस्तु की अन्तिम तीन मात्राओं से निर्मित आधी वस्तु पहले गाई जाती है जिसमें उपोहन होता है। चतुर्वस्तु में १ वस्तु का उपोहन होता है, प्रत्युपोहन विकल्प से होता है। इसके बाद कनिष्ठासारित की कलाओं से युक्त संहरण है जिसमें १७ कलाएँ होती हैं। संहरण में ३ विदारी वाले वृत्त का प्रयोग होता है। कनिष्ठासारित में एक चच्चत्पुट और दो उत्तर के आवर्तन होते हैं इसलिये ३ खण्ड बनते हैं। यही तीन विदारी कहलाती हैं।

प्रकरी की ६ मात्राओं में कुछ स्थानों पर विशेष क्रियाएँ हैं, शेष सर्वत्र आनिविप्र रहती हैं। पहली मात्रा की अन्तिम क्रिया 'श', दूसरी की अन्तिम 'ता', तीसरी की अन्तिम 'श', चौथी की १२वीं ता' और अन्तिम 'श', पाँचवीं की ८ वीं और १६ वीं 'श' हैं। अन्य ग्रंथों में पाँचवीं की ८ वीं 'ता' है। छठी मात्रा में निशनिता नितानिश शताताश ताशतास क्रियाएँ है। इसी प्रकार की ४ या ३½ वस्तु होती हैं। इनके बाद या तो कनिष्ठासारित की कला वाला संहरण होता है अथवा उसकी १६ कलाओं से युक्त संहरण अंतिम वस्तु की छठी मात्रा में अथवा सातवीं मात्रा में प्रयुक्त किया जाता है।

---

१. ना. शा., ३१/२२१ २. सं. रा., ४/१/१५२

३. ना. शा., ३१/२७५-२८०;
सं. र., ५/१३४-१४२;
सं. रा., ४/१/ २०२-२१६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(५) ओवेणक [1]

ओवेणक दो प्रकार का होता है—सप्तांग और द्वादशांग। इनमें से दूसरा श्रेष्ठ माना जाता है। इन दो प्रकारों के बारे में शार्ङ्गदेव ने कहा है कि एक मत से इनमें अंगों की संख्या वर्णांगों से संबन्धित है यानी ७ वर्णांगों अथवा १२ वर्णांगों से युक्त। [2] द्वादशांग के १२ अंग ये हैं— पाद, प्रतिपाद, माषघात, उपवर्तन, सन्धि, चतुरश्र, वज्र, सम्पिष्टक, वेणी, प्रवेणी, उपपात और अन्ताहरण। सप्तांग में उपवर्तन, संपिष्टक, वेणी, प्रवेणी और उपपात नहीं होते। ओवेणक केवल चतुष्कल होता है।

इसमें चतुष्कल अपरान्तक की वस्तु के समान अर्थात् २४ गुरु कलाओं से युक्त 'पाद' और पदान्तर से वैसा ही 'प्रतिपाद' होता है। दोनों में विविध वर्णांग होते हैं तथा धातु एक सी होती है। प्रतिपाद के बाद विकल्प से यथाक्षर उत्तर से शीर्षक, द्विकल उत्तर की क्रियाओं में कुछ परिवर्तन के साथ माषघात, विकल्प से यथाक्षर उत्तर से माषघात का उपवर्तन, उसी से सन्धि, युग्मप्रवृत्त की तरह चतुरश्र, सन्धिवत् वज्र, द्वादशकल संपिष्टक तथा विकल्प से संपिष्टक का उपवर्तन, वेणी और प्रवेणी यथाक्षर उत्तर से अथवा द्विकल उत्तर से अथवा पहले यथाक्षर और फिर द्विकल चच्चत्पुट से अथवा यथाक्षर उत्तर से वेणी और द्विकल उत्तर से प्रवेणी, विकल्प से प्रवेणी का उपवर्तन यथाक्षर उत्तर से, पाद के उत्तरार्ध के ताल से अथवा द्विकल उत्तर से उपपात, यथाक्षर उत्तर से अन्ताहरण तथा विकल्प से 'अन्त' होता है। सप्तांग ओवेणक में 'अन्त' में पद और गीति दोनों की आवृत्ति होती है। द्वादशांग में मातु भिन्न होती है, गीति वही रहती है। उपवर्तन माषघात के बाद अथवा सम्पिष्टक के बाद अथवा दोनों के बाद अथवा प्रवेणी के बाद हो सकता है। अगर न हो तो कहीं नहीं होता।

(६) रोविन्दक [3]

केवल चतुष्कल होता है। कम से कम सप्तांग और अधिकतम षोडशांग (वर्णांग) युक्त होता है। प्रथम अंग पाद में ६ 'मात्रा' होती हैं। शुरू की ८ कलाओं में उपोहन होता है। मद्रक की भाँति पूर्वार्ध की तीन मात्राओं में से दो मात्राओं में विविध और एक में एकक होता है। उसी प्रकार उत्तरार्ध की तीन मात्राओं में पाद जैसा ही प्रतिपाद पदान्तर से होता है। प्रतिपाद में भी उपोहन होता है। प्रथम पाद की अन्तिम ८ कलाओं की गीति ही प्रतिपाद की शुरू की ८ कलाओं में भी होती है जो प्रस्तार [4] कहलाती है। शुरू की

---

१. ना. शा., ३१/२८१-२९५; सं. र., ५/१४३-१६३; सं. रा., ४/१/२२०-२५६

२. सं. र, ५/१५२

३. ना. शा., ३१/२९६-३०६; सं. र., ५/१६३-१७४; सं. रा., ४/१/२५७-२७१

४. भरत ने 'प्रस्वार' कहा है। अभिनव की टीका के अनुसार भी प्रस्वार ही उपयुक्त मालूम होता है। ना. शा., ३१/३०० तथा अभि,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

५ मात्राओं में आनिविप्र आनिविता आनिविप्र आनिविश क्रियाएँ और छठी मात्रा में आशविता आताविश आताविश तानिविसं हैं। इस प्रकार ६ मात्रा वाले पाद के बाद ऐसा ही प्रतिपाद होता है जिसमें पद भिन्न किन्तु गीति पाद जैसी ही होती है। प्रतिपाद के बाद द्विकल उत्तर से शरीर होता है जिसकी शुरू की ६ कला उपोहनयुक्त होती हैं अथवा १२ गुरुओं में से शुरू की तीन कलाओं में ओवेणक के अंग माषघात की प्रथम तीन कलाएँ होती हैं।

शरीर के लिये शार्ङ्गदेव ने कहा है कि प्रतिपाद की अन्तिम १२ कलाओं की गीति से ही 'शरीर' गाया जाता है। शरीर की शुरु की ६ कलाओं में उपोहन भी कहा है। इसके अतिरिक्त शरीर में बीच-बीच में तीन चार प्लुत आकार होते हैं[1] जिनमें वृत्त का प्रयोग होता है। आकार के पहले और बाद में स्वेच्छा से अंगों की योजना की जा सकती है।[2] शरीर के बाद उपवर्तन होता है। अन्त में यथाक्षर पंचपाणि से शीर्षक होता है जिसमें गीति अथवा पद अथवा दोनों की आवृत्ति हो सकती है।

(७) उत्तर[3]

यह भी केवल चतुष्कल होता है। इसकी मात्रा १६ कलाओं की होती है जिसमें आधे में मुख और आधे में प्रतिमुख होता है। इसके बाद १२ कलाओं की शाखा होती है जिसमें द्विकल उत्तर का प्रयोग किया जाता है। इसके बाद यथाक्षर उत्तर से शीर्षक होता है। शाखा जैसी ही पदान्तर से प्रतिशाखा होती है। प्रतिशाखा के बाद शीर्षक होने पर पहले शीर्षक से धातु भिन्न होती है। शाखा में कम से कम ६ और अधिकतम १२ गीतांगों का प्रयोग हो सकता है। दूसरे शीर्षक के बाद त्रिविध 'अन्तों' में से कोई भी हो सकता है। 'अन्त' विकल्प से होता है। शाखा में 'आकार' का प्रयोग नहीं होता और रोविंदक के शरीर के समान गीतांगों का प्रयोग होता है।

उपर्युक्त ७ गीतक प्रथम वर्ग के अन्तर्गत आते हैं जिन्हें भरत ने सप्तरूप, सप्तगीत कहा और जिन्हें शार्ङ्गदेव ने सप्तगीतक कहा। अब दूसरे वर्ग के ७ गीतकों का लक्षण निरुपण किया जायगा जिन्हें शार्ङ्गदेव ने सप्तगीत कहा है।

(१) छन्दक

भरत ने छन्दक का उल्लेख दो स्थानों पर किया है—चौथे और ३१वेंअध्यायों में। चौथे अध्याय में अभिनव ने गीतकगत वस्तु और अंगों तथा छन्दकादि का सम्बन्ध बताया है जो बहुत स्पष्ट नहीं है। सम्बन्धित अंश इस प्रकार है—

तेन प्रधानतया तावद्गीतकादिविशेषाणां विधिस्तत्प्रयोगे न तु स्वतन्त्राणाम्।
गीतकगतवस्त्वङ्गादि यत्र स्वेच्छया समाश्रित्यैकद्वित्र्याद्यनियमेन

---

१. सं. र., ५/१६६-१६७ २. ना. शा., ३१/३०१-३०४

३. वही, ३०६-३१२; सं. र., ५/१७५-१७८; सं. रा., ४/१/२७२/-२७७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रयुज्यते तानि च्छन्दकानि। यान्यद्यत्वे नृत्ततालात्मना(काव्या)त्मना डोम्बिकानर्तकीलयचरणादिरूपेण प्रसिद्धानि।[1]

३१वें अध्याय में भरत का निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

सर्वेषामपि गीतानामन्ते छन्दकमिष्यते।
चतुरङ्गस्ततस्त्र्यङ्गो नवाङ्गो युग्म एव च॥[2]

इस पर टीका करते हुए अभिनव ने कहा—

सर्वेषामिति। आसारितवर्धमानगीतानामित्यर्थः। आसारितवर्धमानयोरपि हि वर्णाङ्गकृतो योगोऽस्त्येव। गीतत्वं केवलमासारणवृद्धिभ्यां व्यपदेशः प्रयोगे प्राधान्यम्। अत एतन्नृत्तप्रयोगे छन्दत इच्छातः प्रवर्तितत्वाच्छन्दकम्। जातावेकवचनम्। तस्य च यदा यदा त्र्यंशं शरीरं क्रियते तदा तालाङ्गानां वर्णाङ्गानां चान्यतमानि चत्वार्यङ्गानि।[3]

अर्थात् 'सर्वेषां' का अर्थ आसारितवर्धमान गीतक है। इनमें भी वर्णांगों का योग होता है। उनमें 'गीतत्व' आसारण और वृद्धि के कारण कहा जाता है। इसलिये उनमें नृत्तप्रयोग में 'छन्दतः' अर्थात् इच्छा से प्रवृत्त होने के कारण 'छन्दक' कहलाता है। छन्दक का शरीर नामक अंग त्र्यंश हो तो तालागों और वर्णांगों में से किसी एक वर्ग के ही ४ अंगों का प्रयोग होता है।

इसमें तीन बातें महत्त्व की हैं—१. छन्दक का प्रयोग आसारित वर्धमान के अन्त में होता है २. नृत्तप्रयोग में स्वेच्छानुसार अंग-योजना होने के कारण छन्दक संज्ञा की सार्थकता और ३. त्र्यश्र छन्दक में तालांगों और गीतांगों में से किसी एक ही वर्ग के ४. अंगों का प्रयोग। अभिनवगुप्त के उपर्युक्त अंश का आशय भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं है।

रत्नाकर में इनमें से कुछ बातों की पुष्टि की गई है—

अन्ते गेयं गीतकानां छन्दकं, तस्य च द्विधा।
शरीरं, चतुरश्रं वा त्र्यश्रं वा, चतुरश्रकम्॥
यैः कैश्चिदङ्गैर्नवभिश्चतुर्भिस्त्र्यश्रमुच्यते।[4]

अर्थात् गीतकों के अन्त में छन्दक होता है जिसका शरीर नामक प्रमुख अंग दो प्रकार का होता है—किन्हीं ९ अंगों से चतुरश्र और ४ अंगों से त्र्यश्र। सिंहभूपाल ने चतुरश्र और

---

१. ना. शा. अ. ४, अभि., पृ. १६३

२. वही, ३१/३२६. मुद्रित पाठ 'चतुरश्रस्तु स त्र्यश्रो नवाङ्गो युक्त एव च' है। एशियाटिक सोसायटी संस्क. (३१/३७१) में उपर्युक्त पाठ है और यही अभिनव ने चौथे अध्याय में २९१-२९४ की टीका में उद्धृत किया है। यही पाठ सही है।

३. वही, अभि., पृ २६९ ४. सं. र., ५/१८०-१८१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

त्र्यश्र—शरीर के इन दो भेदों का कारण चतुरश्र (चच्चत्पुट) और त्र्यश्र (चाचपुट) ताल का प्रयोग कहा ।[१]

कल्लिनाथ ने टीका में कहा कि छन्दक का अलग से नाम गिनाया है इससे यह सूचित होता है कि इसका स्वतन्त्र रूप से भी प्रयोग होता है—'पृथगुद्दिष्टत्वात् पृथक्-प्रयोगोऽपि द्रष्टव्यः' ।[२] छन्दक के स्वतन्त्र प्रयोग का संकेत अभिनव ने भी दिया है—'तथा सर्वशेषभूतेषु स्वतन्त्रेषु छन्दकेष्वपि' ।[३]

छन्दक में पूर्वगीतों के मुख जैसा 'मुख' होता है और ओवेणक के पाद के प्रमाण का अथवा मुख जैसा प्रतिमुख होता है ।

'छन्दक' का 'छन्द' से साम्य दिखाई देने के कारण आधुनिक युग के छन्दःशास्त्र-कारों ने छन्दक को छन्द ही समझ लिया । इस बारे में छन्द-अध्याय में 'सम्पद्' के अन्तर्गत चर्चा की जाएगी ।

(२) आसारित

आसारित के लक्षणों में भरत और शार्ङ्गदेव में अन्तर नहीं है, लेकिन भरत ने इसका निरूपण नृत्त के संदर्भ में किया है और शार्ङ्गदेव ने स्वतन्त्र गीत के रूप में । इसलिये निरूपण के ढंग में थोड़ा अन्तर दिखाई देता है ।

'आसारित' संज्ञा की सार्थकता अभिनवगुप्त ने इस प्रकार समझाई है—

> कलात्मक्रियासारितेष्वासारकृत्यं स्थानेऽन्यस्य सञ्चारणं चतुष्कले चच्चत्पुटे षोडश-कलभूते एककलतालसञ्चारणरूपमासारणमात्रमिति सकलतालानुप्रवेशसहिष्णुचतु-ष्कलचच्चत्पुटमात्ररूपस्त्वप्रधानमेतदिति ।[४]

इसका सार यह है कि आसारित में मूलतः १६ कलाएँ होती हैं जो चतुष्कल चच्चत्पुट का रूप है । लेकिन इसके स्थान पर अन्य का यानी एककल ताल का संचारण रूप आसारण होने से आसारित कहलाता है । ऐसा होने पर १६ कला वाले मूल (कनिष्ठासारित) रूप से आगे बढ़ने के कारण आसारित कहलाता है ।

भरत ने आसारित के ३ भेद कहे हैं—कनिष्ठ या बाल, मध्य और ज्येष्ठ । 'बाल' संज्ञा का प्रयोग आसारित के निरूपण में नहीं बल्कि वर्धमान के प्रसंग में हुआ है जिसकी चर्चा वर्धमान गीतक के अन्तर्गत की जायगी । लयान्तर का भरत ने नामोल्लेख भी नहीं किया है । अभिनव ने इसका कारण यह बताया कि उसके पृथक् स्वरूप का अस्तित्व नहीं है—

> लयान्तरं तु लयप्रयोगवैचित्र्यमात्रसम्भवम् । तच्च प्रयोगवैचित्र्यं तात्कालिकप्रयोगा-न्तरापेक्षया समाश्रयितुं युक्तम्|अन्यथा द्विगुणत्वमक्षरलया|दोनामवश्यं ध्रुवापेक्षया चित्र इत्यादिना लघ्वपेक्षया गुरोरित्यादिना च न्यायेन सर्वमस्तीति सर्वं लयान्तरं भवेत् ।[५]

---

१. वही, सिंह., पृ. १०५
२. वही, कल्लि., पृ. १०५
३. ना. शा., ४/२६७, अभि.
४. वही, अ. ३१, अभि., पृ. १८२
५. वही, अभि., पृ. १८५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थात् तात्कालिक लयप्रयोग के वैचित्र्य के कारण ही लयान्तर सम्भव होता है उसका अलग अस्तित्व नहीं है। यह केवल कनिष्ठ में ही होता है।

इन सभी आसारितों में कुछ बातें सामान्य हैं। सभी में तीन-तीन वस्तुएँ हैं। प्रत्येक वस्तु की समाप्ति सन्निपात से होती है। इन सभी के शुरू में क्रम से ५, ६, ७ और ८ कलाओं के उपोहन हैं। चारों में ४ अंग हैं—मुख, प्रतिमुख, शरीर और संहरण।[1] उपोहन ही मुख कहलाता है जो गीत की वस्तुओं से पहले अर्थात् अलग से रहता है। कनिष्ठ और लयान्तर में चच्चत्पुट ताल से, मध्यम में शुरू की ८ कलाओं से और ज्येष्ठ में १६ कलाओं से प्रतिमुख होता है। त्र्यश्रताल के दो आवर्तनों में क्रम से शरीर और संहरण होता है। भरत के इन अंगों पर टीका करते हुए अभिनव ने कहा—

वर्धमानान्तर्गततया नृत्ताश्रयत्वे एतान्यङ्गानि न तु स्वातंत्र्येण प्रयोगः।[2]

अर्थात् वर्धमान में नृत्ताश्रित होने पर ही इन अंगों का प्रयोग होता है स्वतन्त्र रूप से नहीं। लेकिन शार्ङ्गदेव ने तो गीतकों का निरूपण नृत्त के प्रसंग में नहीं किया है, फिर भी इन अंगों का प्रयोग कहा है। इसका अर्थ यह है कि नाट्य, पूर्वरंग और नृत्त से स्वतंत्र रूप में भी गीतकों का प्रयोग होता था।

उपोहनों में शुरू और अन्त तक के दो-दो अक्षर गुरु और बीच में चारों आसारितों में क्रम से ८, १२, १६ और २० लघु अक्षर होते हैं। आसारितों में प्रयुक्त होने वाले अक्षरों की योजना चतुर्मात्रिक गणों के अनुसार होती है यानी हर कला में प्रयुक्त अक्षरों में ४-४ मात्राओं के गण बनते हैं। यह आगे दिये जाने वाले संगीतराज के उदाहरण को देखने से स्पष्ट हो जायगा।

कनिष्ठासारित—इसमें कुल १७ कलाएँ होती हैं। शुरू की ४ कलाओं में शम्या से शुरू होने वाला यथाक्षर चच्चत्पुट, उसके बाद की १२ कलाओं में यथाक्षर पंचपाणि के दो आवर्तन और अन्त में संनिपात होता है।[3] किन्तु ३ वस्तुओं में कलाविभाजन कुछ भिन्न है अर्थात् प्रत्येक संनिपात से वस्तुएँ समाप्त होती हैं। यथा—

ऽ	ऽ	।	ऽ'	ऽ'	।	ऽ	ऽ	।	ऽ'	ऽ'	।	ऽ	ऽ	।	ऽ'	ऽ
श	ता	श	ता	सं	ता	श	ता	श	ता	सं	ता	श	ता	श	ता	सं
वस्तु १					वस्तु २						वस्तु ३					

इसमें अंग विभाजन इस प्रकार है। पहली वस्तु से पहले ५ कलाओं के मुख में उपोहन होता है। इसके बाद वस्तुओं में प्रथम ४ कलाओं में यथाक्षर चच्चत्पुट से प्रतिमुख, ६ कलाओं में यथाक्षर पंचपाणि से शरीर और उसके बाद ६ कलाओं में यथाक्षर पंचपाणि से ही संहरण होता है। यथा—

---

१. सं. र., ५/१८८-१८९; ना. शा. ३१/८८-९० में भरत ने ये अंग वर्धमानासारित में कहे हैं, स्वतन्त्र आसारितों में नहीं।

२. ना. शा., ३१/८७-८९, अभि.

३. सं. र., ५/१८३-१८४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऽऽऽऽऽ ऽ ऽ । ऽ' ऽ' । ऽ ऽ । ऽ' ऽ' । ऽ ऽ । ऽ' ऽ
ध्रुवपात श ता श ता सं ता श ता श ता सं ता श ता श ता सं
|______| |__________| |__________| |__________|
मुख प्रतिमुख शरीर संहरण

लयान्तरासारित—कनिष्ठासारित की ही तरह है लेकिन मार्ग और लय दुगनी होती है । इस कारण लयान्तरासारित का प्रयोग चित्र और वार्तिक मार्ग में ही सम्भव है, दक्षिण में नहीं । लय दुगनी होने का अर्थ है प्रत्येक क्रिया के काल का दुगना होना । उपोहन ६ कलाओं में होता है । इसका प्रस्तार कनिष्ठासारित जैसा ही कहा गया है । इसी को कुछ आचार्य वर्धमानाङ्ग कहते हैं ।[1] रत्नाकर के लयान्तरासारित और लयान्तराभास वर्धमान में कलाओं के प्रमाण में अन्तर दिखाई देता है क्योंकि प्रथम में प्लुत-लघु कलाएँ भी हैं जब कि दूसरे में केवल गुरु । भरत के लयान्तराभास वर्धमान में नर्तकियों की उपस्थिति से रूप भिन्न है, रत्नाकर में नृत्त की बात नहीं है ।

मध्यमासारित—कनिष्ठासारित का दुगना अर्थात् ३३ कलाओं का होता है जिसमें द्विकल उत्तर के तीन आवर्तन होते हैं । केवल पहले आवर्तन में शुरू की तीन कलाएँ अर्थात् 'निप्रता' छोड़ दी जाती हैं तथा संनिपात से अन्त होने वाली ३ वस्तुएँ बन जाती हैं । इसके अनुसार प्रस्तार इस प्रकार होता है—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श नि ता नि श ता प्र नि सं — वस्तु १

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं — वस्तु २

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं — वस्तु ३

भरत ने आद्य ३ कलाएँ छोड़ने की बात सीधे नहीं कही लेकिन अभिनव के मध्यमासारित के प्रस्तार से ऐसा लगता है कि उसमें ३ कलाएँ छोड़ने की बात है । प्रस्तार में पाठशुद्धि करने पर वही रूप बनता है जो संगीत रत्नाकर में है । प्रथम वस्तु से पहले ७ कलाओं में मुखसंज्ञक उपोहन होता है ।

ज्येष्ठासारित—मध्यमासारित की दुगनी कला संख्या से युक्त अर्थात् ६५ कलाओं से होता है । इसमें चतुष्कल उत्तर के तीन आवर्तन होते हैं लेकिन आरम्भ की ७ कलाएँ छोड़ दी जाती हैं—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं

---
१. वही., १८४-१८५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं

भरत ने यहाँ भी ७ कला छोड़ने के लिये नहीं कहा है। वस्तु और अंग विभाजन मध्यमासारित जैसा ही रहता है। उपोहन ८ कलाओं में होता है।

भरतभाष्य में गीतकों के केवल पद दिये हैं। उदाहरणार्थ—

देवं भुवनत्रितयाधिपतिं त्रिदशैरपि वक्तुमचिन्त्यगतिम्। (८ गण)

त्रिविष्टप-सृष्टि-विनाशकरं विशेषायुधभूषितमध्यकरं त्रिपुरासुरदेह-विनाशकरम्। (१२ गण)

नयन-विनयार्दितकामतनुं वेदत्रयसूचितमूर्तिमयं शम्भुं त्र्यक्षं शरणमहमुपगतः। (१२½ गण)

यह द्विकल मध्यमासारित का पद है। इसमें गण-व्यवस्था तो ठीक नहीं है लेकिन गणों की संख्या पूरी है।

संगीतराज का मध्यमासारित का उदाहरण इस प्रकार है—

सा मग रिग सा ऽ मग मा मा मा | धा नी गा री ऽऽ गा मा मा मा |
झं .. .. टुं . .. . . . | ज . ग ति य . . .
श निता

धा धा नी मा ऽऽ धा नी सा सा | धा सा धा नी ऽऽ धा मा मा मा |
व • लि • त • क • | दि • गि • नि • गि • |
निश ताप्र

धा सा धा सा ऽऽ सा सा मा मा | धा सा सा नी ऽऽ मा मा मा मा |
कु • च • झ • ल • | झं • • • टुं • • • |
निसं निप्र

इत्युपोहनम्

सा मा गा मगरि ऽऽ सा मगध गा मा | धा धा नी नी ऽऽ मम मा सा सा |
भू • ता ... धि प.. तिं • | भ ग ने • त्र • ह रं • |
ताश निता

सा सा गा मग ऽऽ री मनि सा सा | मा गा सा सा ऽऽ धा नी धा सा |
भ ग ने • त्र ह रं • • • | दे • वं • • • • • |
निश (ताप्र)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धध निनि मा धा ऽऽ सा सा सा सा | सा सा धनि सा ऽऽ धनि धप मा मा |

ग· ज· च · मं ध रं · | रौ · द्रं · श र· णं· · · |

निसं ताप्र (निप्र)

धा पा पध पा ऽऽ धध निस सा सा | सा सा सा सा ऽऽ म्रा मा मा मा |

रौ द्रा भय दं गज चर्मं ध रं | ज्व ल न नि भ ज टं · |

ताश निता

सा सा गम मग ऽऽ रिस मग सा सा | मा नी धा नीं ऽऽ सा सा सा सा |

भु ज ग· प· चि· कु· रं · | रु · द्रं · श र ण · |

निश ताप्र

धा धा नी नी ऽऽ सा सा सा सा | इति मध्यमासारितम् [1]

म हु मु प ग· तः · · |

निसं

इस उदाहरण के सम्वन्ध में दो वातें विशेष रूप से कथनीय हैं—१. ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है कि तीन वस्तुओं से पृथक् उपोहन होते हैं लेकिन उपर्युक्त गीत में पहली वस्तु की शनिता आदि क्रियाओं में ही उपोहन का प्रयोग किया है। २. सर्वत्र चतुर्मात्रिक गण हैं। जैसे—भूता धिपतिं भगने त्रहरं देवं, गजच मंध्ररं आदि। यही गीत नाट्यशास्त्र में भी है लेकिन संगीतराज में कुछ पद छोड़ दिये गये हैं जैसा आगे दिये हुए भरत के पद को देखने से मालूम होगा।

आसारित दो प्रकार के होते हैं—विभक्तांग और अविभक्तांग। ये भेद सम्भवत: अंगों के दो प्रकार के विभाजन के आधार पर किये गये हैं। सन्निपात के आधार पर अंग विभक्त होने पर विभक्तांग होता है। कनिष्ठासारित में दिये गये प्रस्तारों में से प्रथम प्रस्तार को देखने से यह स्पष्ट होगा जहाँ प्रत्येक वस्तु सन्निपात से समाप्त होती है। इसमें प्रथम कला शम्या प्रतिमुख से वाहर रहती है। अविभक्तांग वह है जिसमें अंग विभाजन चच्चत्पुटादि तालों के आधार पर होता है। इसमें अन्तिम सन्निपात अंगों से वाहर हो जाता है। कनिष्ठासारित के दूसरे प्रस्तार से यह स्पष्ट होगा।

---

१. सं. रा., २/४/१, पृ. ५४१-५४२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आसारित में पदसम्बन्धी गणरचना चतुर्मात्रिक होती है। अन्तिम सन्निपात में अर्धगण अर्थात् द्विमात्रिक पद होता है। किन्तु विभक्तांग के बीच में आने वाले सन्निपात में भी आधा गण ही होता है।

अभिनवगुप्त ने भी इस ओर संकेत किया है—

आसारिते प्रथमार्धपञ्चपाणावाद्यस्य यदा समाप्ता भवेत् मुख्याङ्गविभागपरिकल्पने तदा चासा....... ....सन्निपात कलान्तरसमाप्त ....
गतावितिमात्र इव भवति। अन्यथा विभक्ताङ्गस्य विभक्ताङ्गविशेषो दुरुपलक्ष एव स्यात्। मुनिना तूदाहरणं देवं देवैरित्यादि यदुक्तं तदविभक्ताङ्गमाङ्गमाद्यम्।[1]

इसका पाठ अशुद्ध और अस्पष्ट होने से यह सार ही निकाला जा सकता है कि मुनि ने 'देवं देवैः' आदि जो उदाहरण दिया है वह अविभक्तांग का है जिसके अन्त में अर्धगणयुक्त सन्निपात है। भरत का यह उदाहरण इस प्रकार है—

देवं देवैः संस्तुतनमितम्।
दैत्यैर्यक्षैर्नागैः पितृभिः प्रणमितचरणम्।
त्रैलोक्यहेतुमीशं रुद्रं शरणमहमुपगतः ॥[2]

इसमें अन्तिम अक्षर 'तः' चतुर्मात्रिक गण से अतिरिक्त अर्थात् अर्धगण है। इसी का संकेत अभिनवगुप्त ने किया है। यही गीत कुंभा ने भी दिया है। केवल एक दो स्थानों पर पाठभेद है और एक दो शब्द छोड़ दिये गये हैं।[3] यह कनिष्ठासारित का पद है। इसी प्रकार भरत ने मध्यमासारित और ज्येष्ठासारित के पद भी दिये हैं।[4]

अक्षरों की आवृत्ति के आधार पर सभी आसारित तीन-तीन प्रकार के हो सकते हैं—यथाक्षर, द्विसंख्यात और त्रिसंख्यात। आवृत्तिरहित यथाक्षर होता है। दो बार आवृत्ति होने पर द्विसंख्यात और तीन बार आवृत्त होने पर त्रिसंख्यात होता है। द्विसंख्यात और त्रिसंख्यात में आवृत्तियों में मूल की अपेक्षा लय क्रमशः आधी-आधी (विश्रान्ति काल की दृष्टि से) होती जाती है। यथाक्षर में विलंबित, द्विसंख्यात में मध्य और त्रिसंख्यात में द्रुत लय का प्रयोग होता है। यथाक्षर का प्रयोग सभी मार्गों में, द्विसंख्यात का वार्तिक और दक्षिण में तथा त्रिसंख्यात का केवल दक्षिण मार्ग में प्रयोग होता है। इन तीन प्रकारों से गाने पर चारों आसारित १२ प्रकार के होते हैं।

ध्रुवासारित—इनके अतिरिक्त अभिनव ने ध्रुवासारित का उल्लेख भी किया है, यद्यपि भरत ने इसका स्पष्टतः नाम नहीं लिया है—

---

१. ना. शा., अ ३१, अभि., पृ. २२३
२. वही, ३१/१०७
३. सं. रा., २/४/१, पृ. ५४१
४. ना० शा०, ३१/११०, ११२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अथेदानीं ध्रुवकासारितलक्षणं वक्तुं ध्रुवकस्य सकलमार्गभूतस्य स्वरूपे तालतत्त्व-मार्गान्तरस्वरूपं च सुज्ञातं भवति ।[1]

तेनाऽयं ध्रुवासारितविधिः स्वतन्त्रोऽप्युपदेश्य एव । सकलमार्गमूलभूतत्वा-(स्य)चाऽस्याभिधानार्हता ।[2]

भरत के मूल श्लोकों या टीका के अंशों से ध्रुवासारित का स्वरूप पूरी तरह स्पष्ट नहीं होता । फिर भी इतना समझा जा सकता है कि सब कलाएँ समान—'एकरस-गुरुप्रस्ताररूपा'[3] अर्थात् गुरु होती हैं, किन्तु गुरु का काल ५ लघु अक्षर होने से लय चित्रमार्ग से आधी तथा यथाक्षर चच्चत्पुटादि की ही क्रियाओं का प्रयोग होता है । शार्ङ्ग-देव ने ध्रुवासारित के लिये अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार किया है—

ध्रुवासारितमावृत्तिविधुरं ध्रुवमार्गतः ।[4]

इससे इतना ही अर्थ निकाला जा सकता है कि आवृत्तिरहित ध्रुवमार्ग से प्रयोग होने पर ध्रुवासारित होता है ।

इस प्रकार पूर्वोक्त १२ और ध्रुवासारित को मिला कर संगीतरत्नाकर में आसा-रित के कुल १३ भेद कहे गये हैं ।

नाट्यशास्त्र में आसारित का उपयोग पूर्वरंग में नृत्त के साथ कहा गया है जिसका विस्तृत निरूपण चौथे अध्याय में हुआ है । वहाँ आसारित को वर्धमान से अभिन्न माना गया है और नृत्त की चर्चा जिस रूप में हुई है उसमें वे दोनों अभिन्न ही हैं इसलिये आसारित के साथ होने वाले नृत्त के बारे में हम वर्धमान के अन्तर्गत कहेंगे ।

(३) वर्धमान

नाट्यशास्त्र में गीतकों में वर्धमान को सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । यह इसी से सिद्ध है कि तालाध्याय के कुल ३७८ श्लोकों में से केवल वर्धमान का निरूपण १२२ श्लोकों में हुआ है । इसकी प्रमुखता का सबसे बड़ा कारण यह है कि पूर्वरंग में, जो नाट्यप्रयोग की निर्विघ्न और सफल समाप्ति के लिये अनिवार्य है, ताण्डव नृत्त का प्रमुख स्थान है । ताण्डव प्रयोग वर्धमान के आधार पर ही होता है ।

इसका महत्त्व इसमें भी है कि विभिन्न परिवर्तों (इनके बारे में आगे कहा जायगा) के वैचित्र्य से तथा गीत के साथ नर्तकियों के योग से गीत को 'पर्यालोच्यमान' बनाना अर्थात् श्रव्य को दृश्य बनाना इसका मुख्य प्रयोजन है जैसा अभिनव ने कहा—

तत्र वैचित्र्योत्प्रेक्षणेऽङ्गपरिवर्तादिवैचित्र्यमेव पर्यालोच्यमाने हेतुरिति भगवता वस्तुतो वर्धमानमुत्पादितम् ।[5]

---

१. वही, अभि. पृ. २२३
२. वही
३. वही, ३१/१६०, अभि.
४. सं० र०, ५/१६८
५. ना० शा०, अ० ३१, अभि०, पृ. १६१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस गीतक की वर्धमान संज्ञा सार्थक है। भरत के शब्दों में—

कलानां वृद्धिमासाद्य ह्यक्षराणां च वर्धनात् ॥
लयस्य वर्धनाच्चापि वर्धमानकमुच्यते ।[१]

तथा— वर्णताललयनृत्तवाद्याभिनयवर्धनात् ।
पात्राणां वृद्धियोगाच्च वर्धमानकमुच्यते ॥[२]

अर्थात् वर्ण, ताल, लय, नृत्त, वाद्य, अभिनय, पात्र, कलाओं और अक्षरों की संख्या में क्रमशः वृद्धि होने के कारण इसे वर्धमान कहा जाता है। आगे दिये जाने वाले वर्धमान के लक्षणों से यह स्पष्ट हो जायगा। कलाओं में वृद्धि होने के साथ-साथ गीत के अक्षरों और उपोहन के शुष्काक्षरों में भी वृद्धि होती है। क्रमशः कनिष्ठ, लयान्तर, मध्य और ज्येष्ठासारित का प्रयोग होने पर लय में भी वृद्धि होती है। वर्धमान नृत्त में नर्तकियों की संख्या भी बढ़ जाती है। 'वर्धमान' शब्द 'वृध्' धातु में 'शानच्' प्रत्यय लगा कर बनता है जिसका अर्थ है 'बढ़ने वाला'। इस प्रकार 'वर्धमान' की सार्थकता सिद्ध होती है।

भरत ने आसारितों के 'संयोग' को वर्धमान कहा है—

आसारितानां संयोगो वर्धमानकमुच्यते ।[३]

संयोग का अर्थ आसारितों का जोड़ नहीं बल्कि वैचित्र्यपूर्ण संगति है—

सम्यग् विचित्रेण प्रयोगेण योगः परस्परसङ्गतिः ।[४]

वर्धमान तीन प्रकार का होता है—१ कण्डिकावर्धमान, २ आसारिताभास वर्धमान और ३. वर्धमानासारित। ये संज्ञाएं संगीतरत्नाकर में स्पष्ट रूप से दी गई हैं। भरत ने कण्डिकावर्धमान के अतिरिक्त अन्य नामों से वर्धमान के भेद नहीं कहे लेकिन वर्धमान का जिस ढंग से निरूपण भरत ने किया है उसमें इन संज्ञाओं का मूल विद्यमान है। अभिनवगुप्त की टीका में भी इन भेदों का संकेत अवश्य मिलता है।

१. **कण्डिकावर्धमान**—कण्डिका का अर्थ है छोटा खंड और वह 'नियतविभागात्मिका' है। कण्डिकाओं के योग से बनने वाला कण्डिकावर्धमान कहलाता है। कण्डिका ४ हैं— विशाला, संगता, सुनन्दा और सुमुखी जिनमें क्रम से ९, ८, १६ और ३२ कलाएँ होती हैं। इनमें क्रम से ५, ६, ७, और ८ कला वाले उपोहन होते हैं। उपोहनों में शुरू में २ और अन्त में १ गुरु अक्षर होता है और बीच में चारों में क्रम से १४, १८, २२, और २६ लघु अक्षर होते हैं।[५] नाट्यशास्त्र के शुष्काक्षर इस प्रकार हैं—

विशाला—झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिगि तिति चा।
संगता—झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिग तितिझल तिति चा।

---

१. वही, ४/२७०-२७१
२. वही, ३१/६१
३. वही, ६६
४. वही, अभि०, पृ. १६०
५. सं० र०, ५/२००-२०३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सुनन्दा—झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिगितितिझल कुचझल तिति चा।

सुमुखी—झण्टुं जगतिय बलितक दिगिनिगि तितिझल कुचझल तिति (झलतिति) चा।[1]

शार्ङ्गदेव द्वारा उद्धृत भरत के शुष्काक्षर—

कनिष्ठ—झण्टुं झण्टुं दिगिदिगिदिगिदिगिदिगि कुचझल झण्टुम्।

लयान्तर—झण्टुं झण्टुं दिगिदिगिदिगिदिगिदिगि कुचझल तितिझल झण्टुम्।

मध्यम—झण्टुं झण्टुं दिगिदिगिदिगिदिगिदिगि कुचझल तितिझल कुचझल झण्टुम्।

ज्येष्ठ—झण्टुं झण्टुं दिगिदिगिदिगिदिगिदिगि कुचझल तितिझल कुचझल तितिकुच झण्टुम्।[2]

भरत ने वर्धमान के इस प्रकार को कण्डिकावर्धमान संज्ञा ही प्रदान की है—'कलाभिरेवं निर्दिष्टाः कण्डिका वर्धमानके।'[3] विशाला में मध्यमासारित की तरह ताल प्रयोग होता है यानी द्विकल उत्तर की शुरू की ३ कलाएँ छोड़कर शेष क्रियाएं की जाती हैं। संगता में द्विकल चच्चत्पुट, सुनन्दा में चतुष्कल चच्चत्पुट और सुमुखी में दो बार चतुष्कल चच्चत्पुट। विशाला के उपोहन में शताशतासं, संगता के उपोहन में द्विकल चाचपुट, सुनन्दा में उद्घट्ट और यथाक्षर चच्चत्पुट तथा सुमुखी में द्विकल चच्चत्पुट का प्रयोग होता है। इन चारों कण्डिकाओं का इसी क्रम में प्रयोग होने पर कण्डिका वर्धमान की रचना होती है।

चारों कण्डिकाओं का विशेष क्रम से १० बार प्रयोग होता है जो परिवंत कहलाते हैं। किन्तु यह कण्डिका वर्धमान का अंगभूत प्रयोग नहीं है। इस प्रयोग में पहली कण्डिका से शुरू करके प्रत्येक बार अगली-अगली कण्डिका जोड़ कर १० परिवर्त इस प्रकार बनते हैं— विशाला, संगता-विशाला, सुनन्दा-संगता-विशाला, सुमुखी- सुनन्दा-संगता- विशाला। कण्डिकावर्धमान में इस क्रम से कण्डिकाओं का प्रयोग करने पर क्रम से चारों आसारितों की रचना होने से वर्धमान में आसारितों का आभास होता है। इस प्रकार इसमें ९+८+९+१६+८+९+३२+१६+८+९=कुल १२४ कलाओं से रचना होती है। इसी को भरत ने 'आसारितानां संयोगः'[4] कहा है। इसे स्पष्ट करते हुए अभिनव ने कहा कि इसमें हर आसारित में वर्धमानरूपता नहीं है, न सबके संयोग में है क्योंकि आसारित केवल तीन हैं (यह कहा जा चुका है कि भरत ने लयान्तरासारित नहीं कहा) जिनमें अलग-अलग १७, ३३, ६५ कलाएँ हैं। सबका जोड़ कर दें तो ११५ ही कलाएँ होती हैं। वहाँ कण्डिकाओं का विभाजन भी नहीं रहता लेकिन कण्डिका वर्धमान में कण्डिकाओं का स्पष्ट विभाजन भी दिखाई देता है; क्रमशः कलाओं, मात्राओं की वृद्धि भी होती है और उनका विशिष्ट क्रम से

---

१. ना. शा., ३१/१३५-१३८

२. सं. र., अ. ५, पृ. ११६

३. ना. शा., ३१/७९

४. वही, ६९

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संयोग भी होता है तभी कण्डिकावर्धमान का रूप बनता है।[1] परिवर्तों के अनुसार इसका प्रस्तार यह है—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श ता श ता सं । विशाला का उपोहन

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श नि ता नि श ता प्र नि सं ॥ विशाला कण्डिका

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श ता श नि सं । संगता का उपोहन

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता श प्र नि सं । संगता कण्डिका

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श नि ता नि श ता प्र नि सं ॥ विशाला कण्डिका

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श श ता श ता श । सुनन्दा का उपोहन

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि प्र आ नि वि सं । सुनन्दा कण्डिका

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता श प्र नि सं । संगता कण्डिका

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श नि ता नि श ता प्र नि सं ॥ विशाला कण्डिका

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता श प्र नि सं । सुमुखी का उपोहन

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि प्र आ नि वि सं

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि प्र आ नि वि सं । सुमुखी कण्डिका

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि प्र आ नि वि सं । सुनन्दा कण्डिका

---

१. वही, अभि., पृ. १६०, इह न प्रत्येकं······वर्धमानाश्रयत्वं स्यात्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता श प्र नि सं । संगता कण्डिका
ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श नि ता नि श ता प्र नि सं ।। विशाला कण्डिका

२. आसारिताभास वर्धमान—भरत के इस संज्ञा का प्रयोग नहीं किया। शार्ङ्ग-देव ने इसके बारे में यह कहा है—

आसारितानामुत्पत्तिर्वर्धमानाद्भवत्यतः ।
तदासारितवद्भाति विधया वक्ष्यमाणया ।।[1]

अर्थात् आसारितों की उत्पत्ति वर्धमान से होती है इसलिये वह (वर्धमान) आसारितवत् भासित होता है। इसका मूल भरत के इस श्लोक में है—

एकद्वित्रिचतुर्योगात्ताभिरासारितानि तु ।
वर्धमाने प्रसूयन्ते मार्गतालाङ्गयोगतः ।।[2]

अर्थ यह है कि १, २, ३ और ४ कण्डिकाओं से युक्त आसारित मार्ग, ताल और अंग अथवा तालाङ्गों के योग से वर्धमान में उत्पन्न होते हैं। इसलिये वर्धमानों में आसारित का आभास होता है वास्तव में आसारित नहीं होते। यह आभास लक्षणों में नहीं वल्कि लक्ष्य में होता है जब वर्धमान की तालरचना में आसारित की क्रियाओं का योग होता है जैसे गगन में घूमते हुए मेघखण्डों में वास्तव में सिंह आदि नहीं होते लेकिन उनकी कल्पना कर ली जाती है।[3]

चार आसारितों के कारण इसके भी चार भेद होते हैं—

(१) कनिष्ठासारिताभास वर्धमान—भरत ने इसका यह लक्षण दिया है—

प्रथमां कण्डिकां कृत्वा वालतालप्रयोजिताम् ।
अन्तिमार्धकलाहीनं कुर्यादेवं कनिष्ठकम् ।।[4]

अर्थात् प्रथम कण्डिका में वालासारित (कनिष्ठासारित) की तालयोजना और अन्तिम आधी कला के विना प्रयोग करने पर कनिष्ठासारिताभास वर्धमान होता है। इसे रत्नाकर ने स्पष्ट करके लक्षण दिया है—

विशाला चेन्नवकला भित्वाष्टादशधा कृता ।
त्यक्त्वा चान्त्यां कलां तत्तु तदा भाति कनिष्ठवत् ।।[5]

९ कला वाली विशाला को दुगनी यानी १८ कला वाली करके अन्तिम कला छोड़ देने से अर्थात् १७ कलाओं से वह कनिष्ठासारित के समान भासित होती है तव वर्धमान का यह प्रकार बनता है। इसकी क्रियाएँ कनिष्ठासारित जैसी ही हैं।

---

१. सं. र., ५/२१०
२. ना. शा., ३१/८०
३. वही, अ. ३१, अभि., पृ. १६४
४. वही, ३१/८१
५. सं. र., ५/२११

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(२) लयान्तराभास वर्धमान—इसमें पहले दूसरी (संगता) और फिर पहली कण्डिका (विशाला) का प्रयोग होता है। षट्कल मुख (उपोहन) का प्रयोग भी होता है। संगता में ८ और विशाला में ९ कलाएँ होती हैं। इस प्रकार कुल १७ कलाएँ हैं जिनमें कनिष्ठासारित की कलाओं का प्रयोग होता है। किन्तु क्रियाओं के प्रयोग की विधि ऐसी है जिसमें लयान्तर होने का आभास होता है इसीलिये इसे लयान्तराभास वर्धमान कहा गया। इसमें सब कलाएँ गुरुरूपा ही होती हैं।

कनिष्ठ और लयान्तराभास में भरत के अनुसार यह अन्तर है—

द्विगुणाक्षरसंयोगादन्यमार्गनियोजनात्।
नृत्तकालविशेषाच्च बालादन्यल्लयान्तरम्॥[1]

दुगने अक्षरों के संयोग से, अन्य मार्ग की योजना से और नृत्त काल की विशेषता से बाल (कनिष्ठ) की अपेक्षा लयान्तराभास भिन्न होता है। कनिष्ठ की अपेक्षा लयान्तर में दुगने अक्षर यानी पद होते हैं।

(३) मध्यमासारिताभास वर्धमान—सुनन्दा, संगता और विशाला—इस क्रम में कण्डिकाओं का प्रयोग होने पर १६+८+९=कुल ३३ कलाएँ होने के कारण तथा मध्यमासारित की क्रियाओं का प्रयोग होने से उसमें मध्यमासारित का आभास होता है।

(४) ज्येष्ठासारिताभास वर्धमान—सुमुखी, सुनन्दा, संगता और विशाला कण्डिकाओं का प्रयोग होने पर ३२+१६+८+९=कुल ६५ कलाएँ होने और उनमें ज्येष्ठासारित की क्रियाओं का प्रयोग होने के कारण इसमें ज्येष्ठासारित का आभास होता है।

इन सभी में मुख, प्रतिमुख, देह और संहरण का प्रयोग आसारितों की भाँति होता है।

३. वर्धमानासारित—जब आसारितों से वर्धमान की उत्पत्ति होती है तब वर्धमानासारित कहलाता है। वस्तुतः आसारिताभास और वर्धमानासारित में कोई विशेष भेद नहीं है, केवल विवक्षा का ही भेद है। यदि दृष्टि आसारित पर केन्द्रित हो तो आसारिताभास होता है और यदि वर्धमानता पर केन्द्रित हो तो वर्धमानासारित होता है। इसे कल्लिनाथ ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

पूर्वमासारिताभास आसारितानामुत्पत्तिर्वर्धमानादिति दर्शितम्। इदानीं तद्विपर्यय उच्यते। यदा वर्धमानासारितेभ्य उत्पन्नमिति विवक्ष्यते; तदा तद्वर्धमानासारितमित्युदाहरन्नाचार्याः। तेनात्र विवक्षयैव भेदो द्रष्टव्यः। स्वरूपतस्तु नातीव भेदोऽस्तीति।[2]

भरत ने इस संबंध को कार्यकारण के रूप में समझाया है—

---

१. ना. शा., ३१/८४

२. सं. र., अ. ५, कल्लि., पृ. १२४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्धमानशरीरस्य भवेदासारितस्य च ।
कार्यकारणभावेन परस्परविकल्पनम् ।।
यथा वृक्षो भवेद् बीजाद् वृक्षाद् बीजस्य सम्भवः ।
अन्योन्यहेतुसंयोगात्प्रत्येतव्यस्तथेह तु ।।[1]

वर्धमान और आसारितों की कल्पना परस्पर कार्यकारण भाव से होती है। जैसे वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार वर्धमान से आसारित और आसारित से वर्धमान उत्पन्न होता है।

विभिन्न आसारित गीतकों को वर्धमान की कण्डिकाओं और उन्हीं की क्रियाओं के सहित प्रयोग करने से आसारितों में वर्धमानों का आभास होता है; इसलिये ये वर्धमानाभास—आसारित हैं जिन्हें वर्धमानासारित संज्ञा दी गई है। इसके चारों भेदों का स्वरूप देखने से वर्धमान की कण्डिकाओं के १० परिवर्त इनमें इस रूप में दिखाई देते हैं। वर्धमानाभास कनिष्ठासारित में प्रथम परिवर्त (विशाला), लयान्तर में द्वितीय और तृतीय (संगता, विशाला), मध्य में चतुर्थ, पचम और षष्ठ (सुनंदा, सगता, विशाला) तथा ज्येष्ठ में सप्तम से दशम (सुमुखी, सुनंदा, संगता, विशाला)। यद्यपि कनिष्ठासारितादि में कलासंख्या वर्धमानों के समान होते हुए भी कण्डिका विभाजन और क्रियाएं उनके जैसी नहीं हैं, जैसे—ज्येष्ठासारित और वर्धमानाभास ज्येष्ठासारित में ६५ कलाएँ हैं किन्तु पहले में ३२, १६, ८, ९ का विभाजन नहीं है, न उन कण्डिकाओं की क्रिया हैं।

शार्ङ्गदेव के वर्धमानासारित के लक्षण बहुत संक्षिप्त हैं, इसलिये उनके आधार पर प्रस्तार बनाना संभव नहीं है। उसके दिये हुए प्रस्तार भरतोक्त लक्षणों के अनुसार नहीं हैं, इसलिये यहाँ भरत और अभिनव के आधार पर लक्षण और प्रस्तार दिये जा रहे हैं।

चारों आसारितों से वर्धमान की उत्पत्ति मानें तो चार प्रकार का वर्धमानासारित होता है—

(१) वर्धमानाभास कनिष्ठासारित—कनिष्ठासारित की १७ कला वाली ताल रचना में वर्धमान की विशाला कण्डिका की ९ कलाओं को १८ में विभक्त करके अन्तिम कला छोड़ कर विशेष प्रकार से आधी लय में विशाला और संगता की क्रियाओं का प्रयोग करने से इसका स्वरूप व्यक्त होता है किन्तु सब कलाएँ गुरुरूपा होती हैं। कण्डिका से पहले कनिष्ठासारित की भाँति ५ कलाओं में उपोहन होता है। प्रस्तार—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं	नि	श	नि	ता	श	प्र	नि	सं

भरत ने ९ कला वाले कनिष्ठासारित के लिये 'बाल' संज्ञा का प्रयोग वर्धमान में किया है—'बालं नवकलं ज्ञेयं दशसप्तलयान्तरम्'।[2] अन्यत्र भी 'बालतालप्रयोजितम्'[3]

---

१. ना. शा., ३१/९२-९३ २. वही, ३१/१५५
३. वही, ८१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तथा 'वालादन्यल्लयान्तरम्'[१]—इस प्रकार कनिष्ठ को वाल कहा है। शार्ङ्गदेव ने केवल भरत के उद्धरण में ही बाल संज्ञा का प्रयोग किया है—'एतद्‌वाले ज्ञेयम्'।[२]

(२) वर्धमानाभास लयान्तरासारित—वर्धमानाभास कनिष्ठासारित की क्रियाओं का दुगनी लय और दुगने मार्ग में प्रयोग करने से वर्धमानाभास लयान्तरासारित व्यक्त होता है। क्रियाएँ संगता और विशाला की ही रहती हैं और सब गुरु होती हैं। प्रस्तार—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
नि	श	नि	ता	श	प्र	नि	सं	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं

(३) वर्धमानाभास मध्यासारित—मध्यासारित की ३३ कलाओं वाली तालरचना में वर्धमान की सुनंदा (१६), संगता (८) और विशाला (९) की क्रियाओं का प्रयोग होने से इसकी रचना होती है। मध्यासारित की तरह आरंभ में ७ कलाओं का उपोहन होता है। प्रस्तार—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	नि	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	श	वि	प्र	आ	नि	वि	सं	
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
नि	श	नि	ता	श	प्र	नि	सं	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं

(४) वर्धमानाभास ज्येष्ठासारित—ज्येष्ठासारित की ६५ कलाओं वाली तालरचना में वर्धमान की सुमुखी, सुनन्दा, संगता, विशाला, कण्डिकाओं का उनकी क्रियाओं सहित प्रयोग होने पर वर्धमानाभास ज्येष्ठासारित व्यक्त होता है। ज्येष्ठासारित की भाँति ८ कलाओं का उपोहन भी आरम्भ में होता है। प्रस्तार—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	नि	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	श	वि	प्र	आ	नि	वि	सं	
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	नि	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	श	वि	प्र	आ	नि	वि	सं	
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	नि	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	श	वि	प्र	आ	नि	वि	स	
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
नि	श	नि	ता	श	प्र	नि	सं	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं

वर्धमान और आसारित की नृत्तविधि

पूर्वरंग में एक आसारित के साथ भी नृत्त किया जा सकता था और चारों आसारितों अर्थात् वर्धमान के साथ भी। नर्तकी के प्रवेश के साथ ही भाण्डवाद्य (अवनद्ध) बजते थे और विशुद्ध करणों के प्रयोग से नृत्त होता था। वाद्यों के अनुसार नर्तकी की

१. वही, ८४ २. सं. र., ५/२०३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गति होती थी और गति के अनुसार चारी (पद संचालन)। नृत्त के शुरू में पुष्पांजलि प्रदान व देवता प्रणाम के बाद आसारित के पद के भाव का अभिनय किया जाता था। उस समय भाण्डवाद्य नहीं बजते थे। अन्त में अंगहारों के समय सम, रक्त, स्फुट वाद्य बजते थे। आसारित के साथ होने वाले इस नृत्त में प्रवेश के समय नृत्त की प्रधानता होती थी, फिर अभिनय के साथ गीत प्रधान और अन्त में अंगहारों के समय वाद्य प्रधान रहता था।

चारों आसारितों का प्रयोग होने पर पहले आसारित में एक नर्तकी, दूसरे में दो, तीसरे में तीन और चौथे में ४ नर्तकियाँ नृत्त करती थीं। अगर एक ही आसारित का प्रयोग हो तो उसके चार खंडों—मुख, प्रतिमुख, शरीर और संहरण—में क्रम से १, २, ३ और ४ नर्तकियाँ नृत्त करती थीं।

आसारित और वर्धमान का प्रयोग तभी होता था जब नृत्त किया जाता था अन्यथा मद्रकादि सप्तगीतकों में से कोई एक गीत गाया जाता था।

(४) पाणिका

जैसा शुरू में कहा जा चुका है, भरत ने पाणिका से साम तक ४ गीतकों का स्वतन्त्र गीतकों के रूप में निरूपण नहीं किया। पाणिका का यत्र तत्र फुटकर उल्लेख मिलता है और केवल एक श्लोक पाणिका पर भरत ने लिखा है—

अष्टाङ्गा षोडशाङ्गा च युग्मौजा वा प्रमाणतः।
स्तुतियुक्ता तु कर्तव्या मात्रायुक्ता तु पणिका ॥[1]

संगीत रत्नाकर और संगीत राज में पाणिका का स्पष्ट निरूपण हुआ है। भरतभाष्य में संक्षिप्त लक्षणों के बाद इसके १८ भेदों में १३ के पदसहित स्वरप्रस्तार भी दिये हैं।

भरत ने पाणिका को मात्रायुक्त, स्तुतिपदों से युक्त, अष्टांग और षोडशांग तथा युग्म-ओज प्रमाण वाली कहा है। लक्षण बहुत संक्षिप्त हैं और अभिनवगुप्त की टीका बहुत स्पष्ट नहीं है; फिर भी शार्ङ्गदेव की पणिका का आधार उसमें तथा भरतभाष्य में है। अभिनव ने इसे सुकुमार पूर्वरंग में लास्य में उपयोगी कहा है और इसी कारण पाणिका की प्रधानता कही।[2]

शार्ङ्गदेव के अनुसार इसमें रोविन्दक की पहली मात्रा की तरह १६ कलाओं में उसी की क्रियाओं से मुख होता है। इसकी शुरू की ८ कलाओं में उपोहन होता है। मुख के बाद मुख जैसा ही प्रतिमुख, जिसमें पद भिन्न और गीति वही होती है। फिर ४ यथाक्षर उत्तर से शरीर और अन्त में १२ कला वाले संपिष्टक की कलाओं के द्वारा एकक-युक्त शीर्षक, मतांतर से अन्तयुक्त अन्ताहरण से शीर्षक होता है।

१. ना. शा., ३१/३२५   २. वही, अभि.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाणिका में कम से कम ८ और अधिकतम १६ अंगों की योजना उल्लोप्यक की भाँति होती है। पदयोजना में आकारान्तरित स्तुतिपदों से (अर्थात् स्तुतिपदों के बीच-बीच में आकार) अथवा निरन्तर स्तुतिपदों से (अर्थात् केवल स्तुतिपदों से) अथवा निरन्तर आकारों से (अर्थात् केवल आकारों से) विदारियाँ होती हैं।

उल्लोप्यक में वैहायस की १२ कलाओं में अधिक गीतांगों की योजना करने के लिये अभिनव ने ताल की आवृत्ति तथा स्वर के कर्षण की जो विधि बताई थी संभवतः उसी विधि से पाणिका की १६ कलाओं में भी अंगों की योजना की जाती है।

नान्यदेव ने 'ध्रुवक' नामक एक अतिरिक्त अंग पाणिका में कहा है और पाणिका के प्रस्तारों में कहीं-कहीं दिया भी है। लेकिन इसकी रचना के बारे में लक्षणों में कुछ नहीं कहा। प्रस्तार से भी इस पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। शार्ङ्गदेव ने उपोहन का प्रयोग कहा है जो नान्यदेव के प्रस्तारों में नहीं है, यद्यपि स्तुतिपदों के बीच शुष्काक्षर हैं। इन प्रस्तारों में कला, क्रिया या पादभागादि का विभाजन या संकेत न होने से प्रस्तारों का रूप स्पष्ट नहीं है।

संगीत रत्नाकर के लक्षण के अनुसार इसका प्रस्तार यह होगा—

मुख ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि ता आ नि वि प्र आ नि वि श

(आ नि वि प्र आ नि वि ता — उपोहन)

प्रतिमुख मुख जैसा

शरीर ऽ' । ऽ ऽ । ऽ' ऽ' । ऽ ऽ । ऽ' ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
सं ता श ता श ता सं ता श ता श ता सं ता श ता श ता
ऽ' । ऽ ऽ । ऽ'
सं ता श ता श ता

शीर्षक ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श श श ता ता ता श ता श ता सं

(५) ऋक्[1]

अष्टाक्षर अनुष्टुप् से लेकर द्वादशाक्षर जगती तक के वैदिक अथवा लौकिक छंदों अथवा वृत्तों तथा पादों से जिस गीत की पदरचना होती है, वह ऋक् है। इसमें हर कला में एक-एक अक्षर होता है। कुल ४८ कलाएँ होती हैं। इनमें कहीं कहीं आवश्यकतानुसार स्तोभाक्षरों के द्वारा मात्रापूरण किया जाता है। ओंकार और हकार का प्रयोग ३ अथवा ६ कलाओं में हो सकता है।

---

१. सं. र., ५/२२३-२२७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामगान के इन ७ अंगों का ऋक् में प्रयोग होता है—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधन, हिंकार और हुंकार। रुचि और शोभा के अनुसार विदारियों और स्थायी आदि वर्णों की योजना की जा सकती है।

(६) गाथा[1]

गाथा की रचना १२८ कलाओं से होती है और कलापूर्ति के लिये स्तोभाक्षरों का प्रयोग होता है। चतुरक्षरा कला होती है और मात्रा वृत्तों का प्रयोग होता है। एकक का बाहुल्य और विविध आदि की अल्पता होती है। वर्ण, अलंकार, गीतियों के प्रयोग का बाहुल्य रहता है। साम के प्रस्तावादि अंगों का प्रयोग होता है।

वैदिक अनुष्ठान में सामगान के साथ गाथा गान भी होता था जो देवता व राजा की स्तुतिपरक होने से लौकिक संगीत के वर्ग का था। अश्वमेध यज्ञ के समय ब्राह्मण गायक यजमान के दान व यज्ञ की प्रशंसा में तीन स्वररचित गाथाओं का गान करता था और यह उत्तरमन्द्रा वाली वीणा के साथ होता था।[2] तैत्तिरीयोपनिषद् में नाराशंसी संबंधी एक उल्लेख है जिसके अनुसार देवताओं द्वारा दूर किया हुआ वेदों का मलिन भाग 'नाराशसी' और अन्न का मलिन भाग 'सुरा' कहलाया। इसीलिये ऐसे गाथागायक और मदिरामत्तपुरुष से किसी वस्तु को ग्रहण करने वाला भी मलिन हो जाता है।[3] संभवत: नाराशंसी निकृष्ट और गाथा उच्च श्रेणी की मानी जाती थीं।[4] मनुस्मृति में कहा गया है कि अध्ययन के समय सामगान की ध्वनि कान में पड़े तो अध्ययन बंद कर दे और प्रायश्चित करे। इसमें संभवत: नाराशंसी अथा इसी प्रकार के संगीत की ओर संकेत होगा।

(७) साम[5]

वैदिक साम की तरह ही इसमें स्तोभों का प्रयोग होता है। साम के प्रस्तावादि अंग ही यहाँ उद्ग्राह आदि नाम से प्रयुक्त होते हैं। कलापूरण के लिये हिंकार, ओंकार जोड़े जा सकते हैं। गायत्री (षडक्षर) से संकृति (२४ अक्षर) तक के छंद हो सकते हैं। साम ऋक् से ही निर्मित है। इसमें ९६ कलाएँ होती हैं जो एकाक्षर होती हैं। मतान्तर से सामगीत में कलाएँ आधी होती हैं। मंत्र स्तोभ (ओंकारादि) त्रिकल या षट्कल होते हैं।

अन्तिम तीन गीतकों—ऋक्, गाथा, साम—में कुछ ऐसी बातें हैं जो इन्हें अन्य गीतकों से भिन्न करती हैं। सर्वप्रथम तो इनमें तालक्रियाओं का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। कलाओं की निश्चित संख्या बताई गई है किन्तु उनका विभाजन नहीं है, न इनमें गीतकों की वस्तु और अंगविभाजन है। प्रस्तावादि जो अंग कहे गये हैं वे सामगान के हैं यद्यपि शार्ङ्गदेव ने संगीत में प्रयुक्त उनके समकक्ष नाम दिये हैं—

प्रस्ताव	उद्ग्राह
उद्गीथ	अनुद्ग्राह

---

१. वही, २२८-२३०
२. भा. सं. का. इ., पृ. ३५
३. वही, पृ. ३७
४. वही, पृ. ३८
५. सं. र., २३०-२३५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रतिहार	संबोध
उपद्रव	ध्रुवक
निधन	आभोग[1]

ऋक् आदि की पदरचना में छन्द निर्देश किया गया है जो अन्य गीतकों में नहीं है। आसारितों में केवल चतुर्मात्रिक गण की व्यवस्था है किन्तु बड़ा अन्तर यह है कि ऋक् और साम में एक कला में १ अक्षर और गाथा में ४ अक्षरों का ही प्रयोग होता है। इसका अर्थ यह है कि इनकी रचना निश्चित रूप से छन्दाधारित इकाई पर आश्रित है जब कि गीतकों में एक चतुर्मात्रिक गण एक कला (१० ह्रस्वाक्षर वाली) में बद्ध होता है।

इन तीनों का स्वरूप और साम संगीत से इनका संबंध यह सूचित करता है कि संभवतः सामगान से ऋक् आदि का विकास पहले हुआ और बाद में अन्य गीतकों का। किन्तु साम के प्रस्तावादि अंगों का गांधर्व वर्ग के इन गीतकों में प्रयोग और आगे चल कर प्रबंधों में भी इनका संज्ञाभेद से प्रयोग तथा ऋक् आदि की भाँति ध्रुवाओं और प्रबंधों में विभिन्न छंदों का विशेष प्रयोग—इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साम से छन्दाधारित ऋक् आदि तथा अन्य तालाधारित गीतकों का विकास हुआ। इनके तत्त्वों को लेकर छन्दाधारित ध्रुवाओं का और इन सबके तत्त्वों के साथ देशीतालों पर आधारित प्रबंधों का विकास हुआ।

ऋक्, गाथा, साम तीनों नाम वैदिक हैं। लौकिक संगीत की उत्पत्ति सामगान से मानी गई है और इस प्रकार लौकिक संगीत को वैदिक संगीत से जोड़ने का प्रयत्न किया जाता रहा है, यद्यपि गेय रूप उपलब्ध न होने से इसे प्रमाणित करना कठिन है। किन्तु इन गीतों का संबंध तो सीधे वेदों से है ही। इनमें मुख्य बात यह है कि नाम, स्तोभाक्षर, गीति वेदों से ली गई हैं; छन्द और पद लौकिक वैदिक दोनों में से कोई भी हो सकते हैं इसलिये ये गीतक लौकिक संगीत में ही आते हैं। इनमें से किसी में भी ताल का निरूपण नहीं किया गया है, यद्यपि तालप्रधान गीतकों के अंतर्गत निरूपण हुआ है, इसलिये अदृष्टप्रधान 'मार्ग' का अंग होने के कारण वैदिक न होते हुए भी लौकिक किन्तु धार्मिक संगीत में इनका स्थान है।

अभिनवगुप्त ने इनमें ताल के बारे में कहा कि 'सप्तरूप' अर्थात् सप्तगीतों जैसा ही ताल होगा क्योंकि त्र्यश्र या चतुरश्र से बाहर तो ताल का और कोई रूप है नहीं और सप्तगीतकों में ताल यही है—

> ऋगादीनां यद्रूपं तत् सप्तैव। गीतकसप्तरूपानतिरिक्तमेवेति यावत्। त्र्यश्रचतुरश्रतालप्रकारातिरिक्तं हि ऋगादिः।[2]

---

१. सं. र., ५/२३२-२३३   २. ना. शा., अ. ३१, अभि., पृ. २८२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साम के प्रस्तावादि अंगों का विवरण इस प्रकार है—(१) प्रस्ताव—साम का प्रारम्भिक भाग जो 'हुम्' (हिंकार का स्वरूप) से आरम्भ होता है। इसे सब ऋत्विज् मिल कर गाते हैं। (२) उद्गीथ—यह सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है और इसे प्रधान ऋत्विज् (उद्गाता) गाता है। इसमें प्रारम्भ में 'ओम्' गाया जाता है। (३) प्रतिहार—दो विभागों को जोड़ने वाला। इसका गायक प्रतिहर्ता कहलाता है। (४) उपद्रव—प्रतिहार का अन्यतम विभाग जिसे उद्गाता गाता है। मुख्य प्रतिहार का गान प्रतिहर्ता द्वारा होने पर उद्गाता खंडशः उसी का गान करता है। यही खंड उपद्रव है। (५) निधन—प्रतिहार का शेष अंश 'ओम्' जोड़ कर विभिन्न विभागों के रूप में गाये जाने पर 'निधन' कहलाता है। इसे प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता मिल कर गाते हैं।[१]

गीतकों के बारे में यह उल्लेखनीय है कि इनमें वर्णवृत्तों का प्रयोग कहीं नहीं है, केवल चतुर्मात्रिक गण हैं जिन्हें गात्रिक छंद भी इस रूप में नहीं कहा जा सकता कि मात्रा संख्या या चरणों की लम्बाई एकसी नहीं हैं। लेकिन सर्वत्र चतुर्मात्रिक गणव्यवस्था होने से लयसौंदर्य है, इसलिये छन्द का मूल लक्षण—लयबद्धता—इनमें अवश्य है। भरत ने 'गण' शब्द का प्रयोग गीतकों के संदर्भ में इस चतुर्मात्रिक व्यवस्था के लिये ही किया है। यथा—

चत्वारस्तु गणा युग्मे ओजे षट् परिकीर्तिताः।
द्वितीये पञ्चपाणौ तु सार्धाः षट् परिकीर्तिताः॥[२]

छन्दःशास्त्र की दृष्टि से गीतक न सम छन्द हैं, न विषम और न अर्द्धसम क्योंकि सब चरणों में मात्रासंख्या न सम है, न विषम की तरह युग्म ओज चरणों में क्रमशः सम और विषम है। चरणों की संख्या भी कनिष्ठ में तीन है।

वेदों में, सामगान में भी छन्द तो हैं लेकिन ताल नहीं। केवल हाथ से दिखाई जाने वाली स्वरविधि होती है। वहाँ छन्दों में कसाव भी नहीं है। लौकिक संस्कृत में छन्द का भिन्न विकास हुआ। संगीत में ताल का विकास हुआ। दोनों को मिला कर गीतकों की रचना हुई इसलिये छन्द और ताल का प्रारम्भिक रूप इनमें दिखाई देता है। छन्द के रूप में केवल मूल और सहज चतुर्मात्रिक गण हैं और ताल के रूप में केवल हाथ की क्रियाएँ। लेकिन गान में कर्षण के बिना शोभा नहीं होती। कर्षण के लिये शब्द कम और समय अधिक चाहिये। तस दृष्टि से १ कला का काल १० लघु अक्षरों के उच्चारण काल के बराबर रखा और उसमें केवल चतुर्मात्रिक पद रखे यानी ४ लघु अक्षरों को गाने के लिये १० लघु अक्षरों का समय रखा जिससे कर्षण किया जा सके।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि चतुर्मात्रिक के स्थान पर या चतुर्मात्रिक के अतिरिक्त त्रिमात्रिक गण क्यों नहीं रखे? उत्तर यह है कि त्रिमात्रिक गण में वैसा प्रवाह नहीं है जैसा चतुर्मात्रिक गण में है। त्रिमात्रिक में अपूर्णता का भाव बना रहता है जो

१. भा. सं. का. इ., पृ. ७५-७७ २. ना. शा., ३१/६८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चतुर्मात्रिक में नहीं होता। साथ ही चतुर्मात्रिक गण में 'समता' है जब कि त्रिमात्रिक में विषमता। संभवत: यही कारण है कि छन्द:शास्त्र में एक त्रिकल गण आने पर उसके तुरन्त बाद दूसरा त्रिकल गण जोड़ कर उसे सम बना लेने का नियम रखा गया।

गीतकों में प्रयुक्त तालों पर दृष्टिपात करने पर मालूम होता है कि इन गीतकों में छन्द और ताल का विशेष ढंग से सामंजस्य स्थापित किया गया है। छन्द के रूप में पद में चतुर्मात्रिक गण हैं और ताल योजना इस प्रकार है कि एक गुरु कला में एक गण का ही प्रयोग होता है अथवा यों भी कह सकते हैं कि ताल के एक गुरु में ४ मात्रासंख्या वाले पदों का प्रयोग है, अक्षर संख्या कुछ भी हो सकती है।

मार्ग तालों का प्रयोग गीतकों के अतिरिक्त 'निर्गीत' अथवा 'शुष्कवाद्य' में और 'ध्रुवाओं' में होता है। ध्रुवाओं में ताल योजना का उल्लेख तो है लेकिन तालक्रियाओं का उल्लेख नहीं है। निर्गीतों में तालों का प्रयोग है और कलाविधि भी बताई गई है। कुछ निर्गीतों की कलाविधि यहाँ दी जा रही है—[१]

आश्रावणा

S S I I I I I I I I I S I I S S I I I I I I I S

श श श ता ता ता श श ता ता श ता, सं ता श ता श ता, सं श ता श

|___________| |_______|

यथाक्षर उत्तर यथा. चच्चत्पुट

आरम्भ

S S S S S S S S S I I I I I I I I I I I I S

ता ता ता श ता ता श श ता ता सं सं, सं ता श ता श ता, सं श ता

|___________| |_____|

यथाक्षर उत्तर यथा. चच्चत्पुट

वक्त्रपाणि

S S S S S I I I I I I S S S S |

श ता ता श ता श ता सं, सं ता श ता श ता, सं |

|_______________|

यथा. पंचपाणि

S S I S S S S I I I I S S S ||

ता श ता श ता, सं ता श ता श ता, सं ता श ||

|___________| |______________| |_______

यथा. पंचपाणि यथा. पंचपाणि यथा.

I I I I I I I I S ||

ता श ता ||

_______|

पंचपाणि

१. ना. शा., २६/८७-१०४ ; सं. र., ६/१८६-२२०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सङ्खोटना

ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	।	।	।	।
सं	ता	श	ता	श	ता,	नि	प्र	ता	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं
यथा. पंचपाणि						द्विकल पंचपाणि											

गीतकों और निर्गीतों की कलाविधि और तालप्रयोग के बारे में निम्न बातें विचारणीय हैं—

१. चच्चत्पुट के बाद चाचपुट की प्रधानता होते हुए भी गीतकों में चाचपुट के बजाय षट्पितापुत्रक का प्रयोग अधिक है।

२. गीतकों में मुख्यतः तीन ही मार्गों का प्रयोग हुआ, चौथे—ध्रुव—का नहीं।

३. ध्रुवपात के प्रयोग का निषेध किया गया और केवल उपोहन में ही इसके प्रयोग की छूट दी गई।

४. गीतकों में (चतुर्मात्रिक गणरूप) छन्द और ताल का सामंजस्य विशेष रीति से किया गया।

५ गीतक तालप्रधान कहे गये फिर भी ऋक्, गाथा और साम में तालयोजना नहीं बताई गई।

६. ताल की मूल इकाई लघु का मान ५ लघु अक्षर काल है। ताल की उन्हीं क्रियाओं का प्रयोग निर्गीतों में भी हैं। वहाँ वीणा वादन में लघु इकाई छन्द के लघु के बराबर यानी १ अक्षर की ही है। ताल की दृष्टि से दोनों की इकाइयों में समानता नहीं है, न ताल के यथाक्षर मान को रखा गया है फिर भी मार्गतालों के प्रयोग का विधान किया गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रबन्ध

परिच्छेद क

प्रबन्ध का विश्लेषण

प्रबंध की व्युत्पत्ति और विभिन्न अर्थ

प्र+बन्ध्+घञ् से प्रबन्ध शब्द बनता है जिसका अर्थ है प्रकृष्ट रूप से बन्ध या बद्ध। 'बन्ध' का प्रयोग सामान्य भाषा में अनेक रूपों में होता है। जैसे—गठरी बाँधना, सूत्र में बाँधना, मन बाँधना, खूँटे से बाँधना आदि। गठरी बाँधने में बिखरी वस्तुओं को एक के ऊपर दूसरी एकत्रित करने का भाव है। सूत्र में बाँधने में बिखरी वस्तुओं को एक स्तर पर एक दूसरे के समीप ले आने का भाव है। मन बाँधना में मन को आकर्षित करके विशेष समीपता का अनुभव करना या कराना है। पशु को खूँटे के इर्द गिर्द एक निश्चित दायरे में सीमित कर देना खूँटे से बाँधना में अन्वित है। साहित्य में भी निबन्ध, प्रबन्ध, प्रबन्ध-काव्य आदि कई प्रकार से 'बन्ध' का प्रयोग किया जाता है। किसी एक विषय के कुछ पहलुओं को सीमित आकार में इकट्ठा करना 'निबन्ध' है। अपेक्षाकृत अधिक विचार विस्तार के साथ एकत्र करने पर 'प्रबन्ध' कहलाता है। अनेक भावों, अनेक परिस्थितियों, अनेक चरित्रों को इस प्रकार विशेष रूप से एकत्र करके काव्यबद्ध करना जिसके द्वारा आनन्द की प्राप्ति हो 'प्रबन्धकाव्य' कहलाता है। उपर्युक्त सभी प्रयोगों में अलग-अलग या बिखरी हुई वस्तुओं को इकट्ठा करना अथवा सीमा में बाँध देना—यह अर्थ अवश्य है। संगीत में प्रयुक्त होने वाले 'प्रबन्ध' शब्द में भी यह अर्थ अन्वित है क्योंकि यहाँ भी 'धातु' और 'अंगों' की सीमा में बँध कर जो रूप बनता है वह 'प्रबन्ध' कहलाता है। प्रबन्ध के लिये आज जो शब्द प्रचलित है—बन्दिश—उसमें भी 'बन्ध्' धातु का आभास मिलता है।

'प्रबन्ध' की विभिन्न संज्ञाएँ

प्रबंध के लिये प्रबन्ध के अलावा अन्य कई नामों का प्रयोग विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है। बृहद्देशी में इन्हें प्रबन्ध ही कहा गया है। नान्यदेव ने भरतभाष्य में प्रबन्धों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का निरूपण 'देशी-गीतकाध्याय' कह कर किया है। भरतोक्त गीतकों को मार्गाश्रित गीत और प्रवन्धों को देशी गीत कहा है। मानसोल्लास में फिर से प्रवन्ध संज्ञा का प्रयोग हुआ है। संगीतरत्नाकर में प्रवन्ध, वस्तु और रूपक तीन संज्ञाएँ हैं लेकिन सर्वत्र प्रवन्ध संज्ञा का ही प्रयोग हुआ है। किन्तु पार्श्वदेव के संगीतसमयसार में सर्वप्रथम इन तीन संज्ञाओं में अन्तर मिलता है—

> चतुर्भिर्धातुभिः षड्भिश्चाङ्गैर्यस्मात् प्रवध्यते ।
> तस्मात् प्रवन्धः कथितो गीतलक्षणकोविदैः ॥
> रागाद्यारोपणे हेतुः स्यादस्मिन् रूपकाभिधा ।
> उद्ग्राहाद्यास्तु चत्वारः स्वरादीनि च षट् तथा ॥
> वसन्ति यत्र स ज्ञेयः प्रवन्धो वस्तुसंज्ञया ।[१]

अर्थात् ४ धातुओं और ६ अंगों से बँधा होने के कारण 'प्रवन्ध', राग आदि के आरोपण में हेतु होने के कारण 'रूपक' और उद्ग्राह आदि चार धातु और स्वर आदि ६ अंग 'वसने' के कारण 'वस्तु' संज्ञा होती है, यद्यपि पार्श्वदेव ने प्रबन्ध संज्ञा का ही प्रयोग सर्वत्र किया है।

संगीतनारायण में धातु और अंगों की संख्या के अनुसार इन तीन संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है :—

> चतुर्भिर्धातुभिर्वद्धस्त्वङ्गैः षड्भिश्च कल्पितः ।
> प्रकृष्टो यश्च वन्धः स्यात् स प्रवन्धो निगद्यते ॥
> त्यादिभिर्धातुभिश्चाङ्गैः पञ्चभिर्वस्तु कथ्यते ।
> द्विधातुकं तथा द्व्यङ्गं रूपकं परिकीर्तितम् ॥[२]

चार धातु, ६ अंगों से वद्ध 'प्रवन्ध'; ३ धातु, ५ अंगों से 'वस्तु' और २ धातु, २ अंगों से 'रूपक' कहा गया है।

संगीतराज में वस्तु के साथ 'कानिचित्' विशेषण लगा कर यह अन्तर किया है कि जब कोई-कोई धातु या अंग रहें, सभी न रहें तब उसे वस्तु कहा जाता है।[३] जब चारों धातु और छहों अंग हों तो प्रबन्ध कहलाता है।

इनके वाद संगीत दर्पण में मुख्य संज्ञा प्रवन्ध है। लेकिन वस्तु, रूपक और गीत के अलावा गेय[४] और जुड़ गई है। इस प्रकार प्रबन्ध, वस्तु, रूपक, गीत और गेय—ये ५ संज्ञाएँ हैं।

अहोवल ने प्रवन्ध, वस्तु, रूपक, गेय के अलावा, 'रूप'[५] का प्रयोग किया है।

---

१. सं. स. सा., ५/२-४

२. सं. ना., १/३०५-३०६

३. सं. रा., प्रथम खण्ड, पृ. ५५१, श्लो. ४-६

४. सं. द., श्लो. ३५६

५. संगीत पारिजात का संगीत कार्यालय, हाथरस से भिन्न संस्करण, श्लो. ५०५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मुख्य रूप से प्रबंध और गीत संज्ञाओं का प्रयोग अहोवल ने किया है और दोनों में अन्तर स्थापित करने का सर्वप्रथम प्रयत्न भी इन्होंने ही किया है :—

वर्णैरेतेषु स्वल्पत्वं स्वरैरत्र समीरणा ।[१]

यानी (अन्त में बिन्दु, दरु, अष्टपदी और ध्रुवपद—ये जो चार गीत कहे) इनमें वर्णों की अल्पता और स्वरों का कर्षण अधिक होता है। भेद यह हुआ कि प्रबंध में अक्षर ज्यादा और गीत में स्वरों का फैलाव अधिक होता है। ध्यान देने योग्य है कि उपर्युक्त वर्गीकरण में ध्रुवपद अधिक कर्षण वाले वर्ग में है। संभवतः प्रबंध में कर्षण बहुत कम होगा इसलिये उसकी अपेक्षा ध्रुवपद में कर्षण अधिक लगता होगा। आज ख़्याल शैली में कर्षण बहुत ज्यादा होने के कारण ध्रुपद का कर्षण कम लगता है।

नाट्यचूडामणि में प्रबंध और गीत संज्ञाएँ हैं लेकिन बिल्कुल भिन्न अर्थ में। आठ भाषा के पदों व शब्द झंकार से संयुत, स्वर और राग से गाने पर 'गीत' होता है :—

अष्टभाषापदैर्युक्तं शब्दझङ्कारसंयुतम् ।
स्वररागैः प्रगायन्ते गीतमित्यभिधीयते ॥[२]

चार, पाँच या छह रागों से प्रयुक्त होने पर प्रबंध कहे गये हैं :—

चतुर्भिः पञ्चभिः षड्भिः रागैर्यस्तु प्रयुज्यते ।
तस्मात्प्रबंधः कथितः ....॥[३]

भावभट्ट ने अनूपसंगीतरत्नाकर में प्रबंध के लिए नौ संज्ञाओं का प्रयोग किया है—प्रबंध, वस्तु, रूपक, गीत, गेय, काव्य, कवित्त्व, कविता, गीति।[४] अन्तिम चार का प्रयोग अन्य किसी ग्रंथकार ने नहीं किया है। इनमें से काव्य, कवित्त्व, कविता का संबंध शब्दरचना से और गीति का गेयांश से है।

बृहच्छाङ्र्गधरपद्धति में (जो विभिन्न शास्त्रग्रंथों के चुने हुए श्लोकों का संग्रह ग्रंथ है) गांधर्वशास्त्र के श्लोकों में (पृष्ठ ३४४-३५३) रूपक का उल्लेख इस रूप में है :—

उद्ग्राहश्चान्यधातुः स्याद्ध्रुवकश्चान्यधातुकः ।
मेलापकोन्यधातुः स्यादाभोगश्चान्यधातुकः ॥
चतुर्द्धातुकमेतद्धि रूपकं कीर्त्यते बुधैः ।

अर्थात् उद्ग्राह, ध्रुव, मेलापक और आभोग—ये चारों धातुएँ भिन्नधातुक हों अर्थात् चारों की स्वर योजना भिन्न हो तो 'रूपक' कहलाता है।

प्रबन्ध और गीत में भेद

गीत शब्द गै+क्त से बनता है जिसका अर्थ है 'गाया गया'। प्रबन्ध में 'विशेष

---

१. वही, पृ. ५६८
२. ग. ओ. मै. ला., मद्रास की सं. शा. वि. की विभागीय प्रति के आधार पर।
३. वही
४. अ. सं. ला., बीकानेर की पाण्डुलिपि के आधार पर।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूप से बँधना' अर्थ है। कोई भी शब्द रचना—सार्थक अथवा निरर्थक—प्रबन्ध कहला सकती है अगर वह धातु और अंगों से बद्ध हो। लेकिन गीत तब तक नहीं कही जा सकती जब तक उसे गा न लिया जाय। अर्थात् कोई भी रचना पहले प्रबन्ध और फिर गीत होती है।

संगीतरत्नाकर में गीत शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। 'रञ्जक-स्वर-संदर्भ' में गीत अथवा वाद्य के स्वरांश को गीत कहा गया है।[1] इससे कुछ संकुचित अर्थ है 'जो कण्ठ से गाया जाय'। इस अर्थ में गीत के गुण-दोष कहे गये हैं क्योंकि वहाँ कहे गये गुण-दोष कण्ठ से सम्बन्धित हैं।[2] गाता (गायक) के व्यापार (क्रिया) का विषय ही गीत है। उसी की रचना वाग्गेयकार करता है। वह पूर्वरचित रचना (composition) ही है। इस सन्दर्भ में गीत शब्द का प्रयोग तो नहीं किया लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से गीत का रूढ़ अर्थ स्वीकार किया गया है। वाग्गेयकार के लक्षणों में 'द्रुतगीतविनिर्माण'[3] में प्रबन्ध के अर्थ में गीत शब्द का प्रयोग हुआ ही है।

गीत शब्द की सर्वप्रथम व्याख्या कश्यप की प्राप्त होती है जिसका उल्लेख कल्लिनाथ ने इस प्रकार किया है :—

ग्रहांशादिदशलक्षणलक्षितस्वरमात्रसंनिवेशविशेषो रागः। तैः स्वरैः पदैस्तालैर्मार्गैरेवं चतुर्भिरङ्गैरुपेतं ध्रुवादिसंज्ञकं गीतमिति।[4]

अर्थात् दस लक्षणों से युक्त केवल स्वरों का विशेष सन्निवेश राग है और उन स्वरों तथा पद, ताल और मार्ग—इन चार अंगों से युक्त ध्रुव (अथवा ध्रुवा) आदि संज्ञा वाले गीत हैं। इसके अनुसार गीत के चार अवयव हैं—स्वर, पद, ताल और मार्ग। स्वर का संबंध गीत के गेयांश से, पद का पदांश से और ताल तथा मार्ग का कालांश (ताल) से है। इस प्रकार गीत में तीन तत्त्व रहते हैं—स्वर, पद और ताल। यहाँ गीत का सम्बन्ध गान से ही है।

अहोवल ने भी गीत और प्रबंध में भेद बताने का प्रयत्न किया। उसके अनुसार अक्षरों के अल्पत्व और स्वरकर्षण के आधिक्य से गीत और इससे भिन्न होने पर प्रबन्ध होता है। यहाँ भेद बहुत स्पष्ट नहीं है लेकिन गेयता के कारण ही गीत संज्ञा की ओर संकेत अवश्य है।

प्रबंध और गीत में भेद का निरूपण करने का सबोध प्रयत्न सर्वप्रथम व्यंकटमखी ने किया है। 'प्रबध्यते' (बांधा जाता है)—इस व्युत्पत्ति के अनुसार गीत और प्रबंध में भिन्नता न होने पर भी दोनों का अलग-अलग निरूपण क्यों किया—यह शंका उठा कर उसका यह समाधान किया कि धातु और अंगों से बद्ध स्वरसमूह को लोक व्यवहार में

१. सं. र., ४/१ २. वही. ४/३७४-३७६
३. वही, ३/८ ४. वही, २/२/३०-३२, पृ. ३३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रबन्ध नाम दिया जाने के कारण प्रबन्ध शब्द इसी अर्थ में रूढ़ हो गया। लेकिन अगर दोनों में भेद न किया जाय तो 'चतुर्दण्डी' कैसे सिद्ध हो और गोपाल नायक कैसे सिद्ध हो। इसलिए दोनों को अलग-अलग रखाः—

ननु प्रबध्यत इति व्युत्पत्त्या नास्ति भिन्नता।
गीतप्रबन्धयोस्तस्मात्पृथक्प्रकरणं वृथा॥

गीतप्रबन्धयोरेवं भेदो यदि न कल्प्यते।
कुतः सिद्ध्येच्चतुर्दण्डी कुतो गोपालनायकः॥

प्रयुक्तं तु चतुर्दण्डीत्यतो गीतप्रबन्धयोः।
भेदात्पृथक्प्रकरणं प्रबन्धार्थं प्रवर्तते॥[1]

इसी प्रकार 'गीयते' (गाया जाता है)—इस व्युत्पत्ति के अनुसार तो आलाप, ठाय, प्रबन्ध और गीत—सभी गीत हैं फिर प्रथम तीन से भिन्न 'गीत' क्यों कहा, यह शंका उठा कर यह उत्तर दिया कि यद्यपि ये सभी गीत हैं लेकिन रूढ़ि से सालगसूड नामक गीतों को ही गीत कहा जाता है इसलिये गीत-प्रकरण में केवल सालगसूडों का ही निरूपण किया जा रहा हैः—

ननु गीयत इत्येवं व्युत्पत्त्याऽऽलापठाययोः।
प्रबन्धानां च गीतत्वमस्ति तत्किं निरूप्यते॥
इति चेदुच्यते गीतशब्दोऽयं योगतः पुनः।
प्रबन्धालापठायानां वाचकः स्यात्तथाऽप्यसौ।
रूढ्या सालगसूडाख्यगीतभेदैकवाचकः।
अत सालगसूडाख्यं गीतमत्र निरूप्यते॥
....
सूड इत्येष देशीयशब्दो गीतकवाचकः॥[2]

व्यंकटमखी ने इन दोनों में जो अन्तर किया है वह तात्त्विक दृष्टि से सही नहीं है क्योंकि, जैसा पहले कहा गया, मूलतः प्रबन्ध का संबंध रचना से और गीत का उस रचना के गेय स्वरूप से है। व्यंकटमखी के प्रबन्ध और गीत दोनों ही प्रबन्ध भी हैं और गीत भी; क्योंकि दोनों विशेष अंग आदि से बद्ध पूर्वरचित रचनाएँ हैं और दोनों गेय भी हैं। ऐसा लगता है कि प्रबन्धों में से जिनका लक्ष्य में प्रयोग कम रह गया उन्हें प्रबन्ध ही कहा जाता रहा और प्रबन्धों में से ही जो अधिक और विशेष ढंग से विकसित रूप में चल पड़े होंगे या जो बहुत प्रचलित हो गये होंगे उन्हें गीत कह दिया। सालगसूड रत्नाकर में भी हैं लेकिन व्यंकटमखी के समय तक वे इतनी प्रमुखता प्राप्त कर चुके होंगे कि उनके लिये अलग वर्ग बनाना जरूरी हो गया इसलिये उन्हें गीत कहा गया।

१. चतु., ६/२-६　　　　२. चतु., ८/२-५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दूसरी ओर प्रवन्धों की अपेक्षा जो सरल रूप प्रचलित हुए उन्हें उत्तर भारत में गीत कहा, जैसा अहोबल ने किया है। उसने दरु, ध्रुवपद आदि को गीत कहा। संभव है कि बहुत से राग और बहुत से तालों से युक्त गीतों को उसने प्रवन्ध में ही रहने दिया हो। आज भी एक ही गीत में एक से ज्यादा तालों का प्रयोग एक के वाद एक करके गाये जाने वाले गीतों को ध्रुपद गायक 'प्रबंध' कहते हैं।[1]

शार्ङ्गदेव ने प्रबन्ध के लिए गीत शब्द का प्रयोग प्रायः कहीं भी नहीं किया है, यद्यपि जिन प्रबन्धों का निरूपण किया वे सभी गाये जाते थे। इसका कारण यह है कि शास्त्र में किसी वस्तु का लक्षण तो दिया जा सकता है लेकिन उसे क्रियात्मक रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। जैसे स्थापत्य शास्त्र में विशेष प्रकार के भवन के लक्षण तो दिये जा सकते हैं लेकिन भवन खड़ा नहीं किया जा सकता। प्रवन्ध के लक्षण तो दिये जा सकते हैं लेकिन उसे जब तक गाया न जाय वह गीत नहीं कहला सकता। संगीतरत्नाकर शास्त्र ग्रंथ है इसलिए शार्ङ्गदेव ने गीत न कहकर प्रवन्ध कहा। गीत शब्द का प्रयोग सामान्यतः व्यापक अर्थ में ही क्रिया है।

प्रवन्ध का पूरे विस्तार के साथ और सुसंबद्ध ढंग से निरूपण सर्वप्रथम संगीतरत्नाकर में ही प्राप्त होता है इसलिये विश्लेषण के आधार के रूप में हमने उसी को रखा है और मतभेद या ऐतिहासिक परिवर्तनों के लिए पूर्ववर्ती और परवर्ती सभी प्राप्य ग्रंथों की चर्चा की है।

प्रबंध और गीत का संबंध

व्यापक रूप से किसी भी रञ्जक स्वरसंदर्भ को गीत कहा गया है। प्रश्न यह हो सकता है कि प्रवन्ध को जब तक गा न लिया जाय, वह गीत नहीं कहा जा सकता फिर स्वरसंदर्भ को जब तक गाया न जाय वह कैसे गीत बन सकता है? इसका उत्तर यह है कि प्रवन्ध को प्रवन्ध कहने के लिए केवल 'धातु' और 'अंगों' का होना जरूरी है और वह गेय होता है इसलिए उसके लक्षण में गेयांश का संकेत हो तो और अच्छा है। लेकिन उन्हें गाने पर ही वे गीत बनते हैं इसीलिए प्रबंधों के नाम गिनाने के बाद मतंग ने यह कहना जरूरी समझा कि गीतकोविदों को नियम के अनुसार इन्हें रागों में गाना चाहिये :—

यथोक्तं चात्र नियमै........................।
रागैर्यथावदुक्तैस्तु गातव्या गीतकोविदैः ॥[2]

किसी शब्दरचना को गाये बिना प्रबंध कहने से उसका प्रबंधत्व नष्ट नहीं होता। दूसरी ओर स्वरसंदर्भ के लिये किसी अन्य लक्षण की जरूरत नहीं है। स्वरों के वाचक स, रि, ग आदि अक्षरों को बोलने मात्र से उन्हें स्वर-संज्ञा प्राप्त नहीं होती। ये वर्ण जिन ध्वनियों के वाचक हैं उन ध्वनियों को जब तक गाया न जाय उन्हें स्वर नहीं कहा जा सकता।

---

१. ध्रुपदगायक श्री. टी. एँल. राणा ने ऐसे प्रबन्ध गाकर सुनाये थे।
२. बृह., श्लो. ३९६, पृ. १४२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वरसंदर्भ कहने में उसका गेय रूप अन्वित है और स्वरसंदर्भ के वर्णों का उच्चारण होते ही मन में उन ध्वनियों का स्वरूप सुनाई देता है तभी स्वर-संदर्भ का अपने स्वरूप में ग्रहण होता है। इसीलिये स्वर संदर्भ को गीत कहा। हाँ, उसका रंजक होना जरूरी है। यों तो 'स्वतः रञ्जयति श्रोतृचित्त' के अनुसार रंजकता स्वर का लक्षण ही है लेकिन यह संभव है कि कोई स्वरसंदर्भ रंजक न हो इसीलिए यहाँ 'रंजक' विशेषण लगाया गया है।[1]

गीत के दो भेद गांधर्व और गान होते हैं।[2] गांधर्व अनादिसंप्रदाय, नियत रूप से श्रेयस् का देने वाला और गन्धर्वों द्वारा प्रयुक्त कहा गया है। जो वाग्गेयकार के द्वारा रचित हो, लक्षणों से युक्त हो, देशीरागादि में बद्ध हो और हृदय का रजन करने वाला हो वह गान कहा गया।[3]

निबद्ध और अनिबद्ध—गान के ये दो भेद कहे गये। धातु और अंगों से बद्ध भेद निबद्ध और इनसे रहित आलप्ति अनिबद्ध है। मदनपालकृत 'आनन्दसञ्जीवनम्' में इन्हें इस रूप में कहा गया है:—

निबद्धं छन्दसा बद्धं तालबद्धं तथैव च ॥
तद्वन्मात्रा निबद्धं च पद्यबद्धं च कथ्यते ।
अनिबद्धं च गद्यं च छन्दोहीनं वितालकम् ॥
मात्रानियमहीनं च मुक्तकं च निगद्यते ।
बद्धं च द्विविधं प्रोक्तं वर्णमात्रानियन्त्रितम् ॥
अनिबद्धं द्वितीयं स्यात् विना मात्रादि(नि)यंत्रणात् ।
आलप्तिस्त्वनिबद्धा स्यात् गीतभङ्ग्या च तालयुक् ॥[4]

छन्द, ताल, मात्रा और पद्यबद्ध निबद्ध है और इनसे रहित अनिबद्ध।

प्रबंध का लक्षण तथा धातु और अंग का विश्लेषण

धातु और अंगों से बद्ध जो निबद्ध गान कहा गया उसी की संज्ञा 'प्रबन्ध' है:—

बद्धं धातुभिरङ्गैश्च निबद्धमभिधीयते ।[5]
संज्ञात्रयं निबद्धस्य प्रबन्धो वस्तु रूपकम् ॥[6]

ध्यान देने योग्य है कि अन्य ग्रंथकारों की तरह पहले प्रबन्ध या गीत कह कर फिर उसके तीन नाम नहीं दिये हैं। शुरू में ही तीन संज्ञाओं का उल्लेख करके उनमें से प्रबन्ध का ग्रहण किया है।

---

१. सं. र., ४/१
२. वही
३. वही, ४/२-३
४. सं. शा. वि. प्रति से उद्धृत।
५. सं. र., ४/५
६. वही, ४/६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धातु

प्रबंध का अवयव धातु है—'प्रबन्धावयवो धातुः ।'[१] यह लक्षण बहुत संक्षिप्त है। उधर वाग्गेयकार के लक्षण में भी धातु है—

वाङ् मातुरुच्यते गेयं धातुरित्यभिधीयते ।
वाचं गेयं च कुरुते यः स वाग्गेयकारकः ॥[२]

यहाँ गेय को धातु कहा है जो पूरे प्रबन्ध में रहने वाला धर्म है। प्रबंध का अवयव रूप धातु एक स्थान पर रहने वाला धर्म है इसलिये दोनों में अन्तर है। इस ओर कल्लिनाथ ने ध्यान दिलाया है :—

पूर्वं धातुशब्देन गेयमुक्तम् । अत्र प्रबन्धावयवो विवक्षितः । गेयं नाम सकलप्रबन्धानुगतो धर्मः । प्रबन्धावयवस्तु धर्मैकदेश इति तयोर्भेदो द्रष्टव्यः ।[३]

संगीत में प्रथम और मूल तत्त्व स्वर ही है इसलिये यों तो वाग्गेयकार और प्रबंध के संदर्भ में धातु का सम्बन्ध स्वर पक्ष से ही मुख्यतः है; लेकिन वाग्गेयकार के संदर्भ में संपूर्ण स्वर रचना और प्रबन्ध में स्वर रचना के आधार पर बनने वाले खण्ड विवक्षित हैं। ये दोनों ही प्रबन्ध के शरीर को धारण करते हैं इसीलिये दोनों जगह धातु संज्ञा का प्रयोग हुआ है। उल्लेखनीय है कि वीणा की वादनविधि में भी 'धातु' है जिनमें उन तत्त्वों का समावेश है जो किसी वाद्य के वाज' को 'धारण' करते हैं।

धातु शब्द आयुर्वेद शास्त्र से लिया गया है। इस शास्त्र के अनुसार शरीर में तीन धातु मानी गई हैं—वात, पित्त और कफ। जिस प्रकार ये धातुएँ शरीर को धारण करती हैं उसी प्रकार प्रवन्धरूपी शरीर को धारण करने वाले तत्त्वों को भी धातु कहा गया :—

वातपित्तकफा देहधारणाद्धातवो यथा ॥
एवमेते प्रवन्धस्य धातवो देहधारणात् ।[४]

प्रवन्ध की ४ धातुएँ हैं—उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग। इनके अतिरिक्त ध्रुव और आभोग के बीच 'अन्तरा' नामक एक धातु और है जो केवल सालगसूडों में ही होती है अन्य प्रवन्धों में नहीं :—

ध्रुवाभोगान्तरे जातो धातुरन्योऽन्तराभिधः ॥
स तु सालगसूडस्थरूपकेष्वेव दृश्यते ।[५]

संगीतराज में अन्तरा को मिला कर ५ धातु कही हैं जब कि अन्य सभी परवर्ती ग्रंथकारों ने ४ ही धातुएं कही हैं और अन्तरा को अलग से कहा है। इस सम्बन्ध में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मानसोल्लास में प्रवन्धों के लक्षणों में उद्ग्राह आदि

१. वही, ४/७
२. वही, ३/२
३. वही, अ. ४, कल्लि., पृ. २०४
४. वही, ४/१०–११
५. वही, ६-१०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का प्रयोग नहीं हुआ है। आवश्यकतानुसार प्रथम, द्वितीय आदि खंड ही कहे हैं। लेकिन एला, दण्डकिका (ढेङ्किका), झोम्वड, लम्व (लम्भ) और एकताली (जो बाद में शुद्ध सूड कहे गये हैं) के लक्षण देते समय इन संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है।

धातुओं के लक्षण—मानसोल्लास में लक्षण इस प्रकार हैं :—

गीतमुद्ग्राह्यते तेन समुद्ग्राहः प्रकीर्तितः।
उद्ग्राहध्रुवयोः सन्धिः श्लेषान्मेलापको भवेत्॥
पौनःपुन्याद् ध्रुवत्वाच्च ध्रुवकः परिकीर्तितः।
ध्रुवस्याभोगकरणादाभोग इति संज्ञितः॥[1]

अर्थात् गीत का ग्रहण कराने के कारण 'उद्ग्राह', उद्ग्राह और ध्रुव को जोड़ने वाला 'मेलापक', बार-बार प्रयुक्त होने और ध्रुव होने के कारण 'ध्रुव' और ध्रुव के आभोग का कारण होने अर्थात् ध्रुव का अच्छी तरह भोग कराने के कारण 'आभोग' संज्ञाएँ सार्थक हैं।

किसी-किसी प्रवन्ध में इन चार में से मेलापक और आभोग नहीं होते :—

तत्र मेलापकाभोगो न भवेतां क्वचित्क्वचित्॥[2]

कल्लिनाथ ने इसकी टीका में स्पष्ट किया कि जब केवल एक को छोड़ना हो तो वह मेलापक ही हो सकता है, आभोग नहीं :—

प्रवन्धलक्षणेषु यत्र कुत्राप्याभोगाभावेन त्रिधातुत्वस्यादृष्टत्वादनुषङ्गेऽपि वचन-विपरिणामं कृत्वा क्वचिन्मेलापको न भवेदिति वाक्यमुन्नेयम्।[3]

कर्णाटक संगीत में आज गीत में प्रायः तीन खण्ड होते हैं—पल्लवि, अनुपल्लवि और चरणम्। 'पल्लव' नामक पद का उल्लेख संगीतरत्नाकर के एला प्रवन्ध में मिलता है :—

ततः प्रयागस्तदनु पल्लवाख्यं पदत्रयम्।[4]

संभव है कि इसी से 'पल्लवि' शब्द बना लिया गया हो। पल्लवि के 'अनु' अर्थात् बाद में होने वाला 'अनुपल्लवि' हो गया। 'चरणम्' गीत का अन्तिम भाग है जैसे शरीर का अन्तिम भाग चरण होते हैं। कर्णाटक संगीत में वर्तमान लक्ष्य में रत्नाकरोक्त उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव, आभोग, अन्तरा आदि कोई भी नाम नहीं हैं। पल्लवि पूरे गीत की एक पंक्ति है जो ध्रुवपंक्ति की तरह बार-बार प्रयुक्त होती है। इस दृष्टि से इसे 'ध्रुव' के समकक्ष रखा जा सकता है। पल्लवि और चरणम् के बीच में होने से अनुपल्लवि को अन्तरा के समकक्ष माना जा सकता है, यद्यपि कभी-कभी अनुपल्लवि नहीं होती। चरणम्

१. मान., १६/४/४४१-४४२
२. सं. र., ४/११
३. वही, कल्लि., पृ. २०६
४. वही, ४/३४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गीत का अन्तिम भाग है और वाग्गेयकार के नाम से अंकित होता है। इस दृष्टि से इसे आभोग के समकक्ष समझ सकते हैं, यद्यपि इसमें पूरे राग के स्वरूप का संचार होने से इसे उत्तर के 'संचारी' के सदृश भी माना जाता है।

आज के लक्ष्य में उत्तर और दक्षिण दोनों में उद्ग्राह और मेलापक बिल्कुल लुप्त हो चुके हैं। उत्तर में स्थायी की पहली पंक्ति को 'पौनःपुन्य' और 'ध्रुवत्व' के कारण ध्रुव के सदृश समझा जा सकता है यद्यपि अपेक्षाकृत् ज्यादा लम्बा होने के कारण ध्रुव में अर्थ, भाव, ताल आदि की पूर्णता रहती है जो स्थायी की पहली पंक्ति में नहीं। आज का 'अन्तरा' तो अन्वर्थ है ही नहीं क्योंकि ख़्यालों और अधिकांश ध्रुपदों में अन्तरा के बाद ही गीत समाप्त हो जाता है जबकि ध्रुव और आभोग के अन्तर में यानी बीच में होने के कारण ही वह धातु 'अन्तरा' कही जाती थी। वास्तव में आज का अन्तरा आभोग का स्थान ले चुका है। जिन ध्रुपदों में संचारी और आभोग होते हैं उनमें भी इनका भेद स्पष्ट नहीं दिखता क्योंकि बीच में ध्रुव यानी स्थायी की पहली पंक्ति का प्रयोग नहीं होता। यद्यपि संचारी और आभोग में गेय की दृष्टि से खण्ड भेद रहता है। संचारी नामक कोई धातु किसी भी शास्त्रकार ने नहीं कही है।

धातुओं की संख्या के आधार पर प्रबन्ध के तीन भेद किये गये हैं—दो धातु होने पर 'द्विधातु', तीन धातुओं से 'त्रिधातु' और चारों धातुओं के रहने पर 'चतुर्धातु'।[१] द्विधातु में मेलापक और आभोग को ही छोड़ा जाता है। प्रबन्ध में कम से कम दो धातु होना आवश्यक है।

ख़्याल के स्थायी, अंतरा को ध्रुव और आभोग के समकक्ष मान लें तो इसे द्विधातुक कहा जा सकता है। इसी प्रकार सचारी-आभोग सहित ध्रुपद में इन दोनों को एक धातु मानें तो ध्रुपद को त्रिधातुक कहा जा सकता है और दोनों को अलग-अलग धातु मानें तो चतुर्धातुक कहा जा सकता है। कुछ गायक बड़े ख़्याल में केवल स्थायी ही गाते थे जिसे 'अस्थायी' कहते थे। इसे एकधातुक कहा जा सकता है यद्यपि प्रबन्ध परम्परा में यह सम्भव नहीं।

सामगीतों के अंगों से धातुओं का सादृश्य

भरतभाष्य में सामगीतों के प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निवंधन के समकक्ष उद्ग्राहादि धातुओं का उल्लेख है। प्रस्ताव को एलादि में उद्ग्राह और शेष को यथाक्रम अनुद्ग्राहादि कहा है तथा 'प्रयोग' को हिंकार, ओंकार के समकक्ष कहा गया है।[२] इनका उल्लेख संगीतरत्नाकर में इस प्रकार हुआ है :—

स्तोभभङ्गी विजानीयात्साम्नो वैदिकसामवत् ॥
ब्रह्मणा च पुरा गीतं प्रस्तावोद्गीथकौ तथा।

---

१. वही, ४/१२

२. भरत., अ. ११, ३३२-३३४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रतिहारोपद्रवौ च निधनं पञ्चमं मतम् ॥

....

उद्ग्राहः स्यादनुद्ग्राहः संबोधो ध्रुवकस्तथा ॥
आभोगश्चेति पञ्चानामाद्यानामभिधाः क्रमात् ।[1]

अर्थात् साम के प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन गीत में क्रमशः उद्ग्राह, अनुद्ग्राह, संबोधन, ध्रुव और आभोग कहलाते हैं। इन शब्दों के अर्थ की दृष्टि से प्रस्ताव उद्ग्राह के और निधन आभोग के समकक्ष हैं।

अवनद्ध वाद्यप्रबन्धों के अंगों का धातुओं से सादृश्य

इन धातुओं का प्रयोग अवनद्ध वाद्यों के प्रबन्धों में भी होता है जिसका संकेत संगीतरत्नाकर में है :—

उद्ग्राहादिनिवद्धाः स्युरत्र गीतप्रबन्धवत् ॥
वाद्यप्रबन्धास्तद्भेदलक्ष्माण्यभिदधेऽधुना ।[2]

इनका लक्ष्य के अनुसार कल्लिनाथ ने स्पष्ट उल्लेख किया है :—

वाद्यप्रबन्धगतानामुद्ग्राहादीनां भाण्डिकलोककृताः संज्ञास्तु लहरीत्युद्ग्राहस्य, येड्डपु इति मेलापकस्य, अन्तरिति ध्रुवस्य, उपान्तरिति वैकल्पिकस्यान्तरस्य, मुक्तायीत्याभोगस्य च संज्ञा द्रष्टव्याः ।[3]

चतुर्दण्डीप्रकाशिका में भी 'यडुप' और 'मुक्तायी' शब्दों का प्रयोग आलाप और ठाय के संदर्भ में हुआ है। ये दोनों तमिल शब्द हैं जिनका अर्थ क्रमशः आरम्भ और समाप्ति है। आलाप के एक प्रकार—रागवर्धनी—को लोक में यडुप[4] और यडुप का विशेष ढंग से प्रयोग होने पर उसी को मुक्तायि[5] कहा जाता है।

अंग

प्रबंध पुरुष के ६ अंग कहे गये हैं— स्वर, विरुद, पद, तेन, पाट और ताल। इन अंगो में २-२ के जोड़े वनाये गये हैं—तेन और पद, पाट और विरुद तथा स्वर और ताल। ये तीनों जोड़े क्रमशः नेत्र, हाथ और पादस्थानीय हैं। जैसे नेत्र स्वरूप को प्रकाशित करने वाले हैं उसी प्रकार प्रवन्ध के स्वरूप के प्रकाशक तेन और पद हैं। हाथों से उद्भव और दान क्रिया होती है उसी प्रकार पाटों का उद्भव हाथ से होता है। विरुद में यशदान क्रिया को लक्षणा से हाथों से सम्पन्न मानकर प्रबन्ध में इन्हें हाथ कहा। जैसे शरीर को गति प्रदान करने वाले पैर हैं ठीक उसी प्रकार प्रबन्ध को गति प्रदान करने वाले अंग स्वर और ताल हैं।

---

१. सं. र., ५/२३०-२३३
२. वही, ६/६४४-६४५
३. वही, अ. ६, कल्लि., पृ. ४२८
४. चतु., ६/४
५. वही, ७/६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हाथ-पैर आदि अंगों के समूह को शरीर नहीं कहा जाता बल्कि इन अंगों को धारण करने वाला जो एक स्वरूप है अर्थात् जो अंगी है वह शरीर है। अंगी से अलग अंग तो रह सकते हैं लेकिन अंगों से भिन्न अंगी की सत्ता नहीं है। उसी प्रकार स्वर, पद, ताल आदि अंग तो अलग-अलग रह सकते हैं। लेकिन इनके बिना प्रबन्ध की कोई सत्ता नहीं है। इसीलिये प्रबन्ध पुरुष के इन अंगों को 'अंगवत्' कहा है। संगीतरत्नाकर में अंगों के बारे में इस प्रकार कहा गया है:—

प्रबन्धोऽङ्गानि षट् तस्य स्वरश्च विरुदं।
तेनकः पाटतालौ च प्रबन्धपुरुषस्य ते।
भवन्त्यङ्गवदङ्गानि मङ्गलार्थप्रकाशके ॥
तत्र तेनपदे नेत्रो स्तः पाटविरुदे करौ ॥
कराभ्यामुद्भवात् कार्यं कारणत्वोपचारतः ॥
प्रबन्धगतिहेतुत्वात् पादौ तालस्वरौ मतौ।[1]

इन्हें इस प्रकार समझाया गया है—

स्वर—षड्जादि स्वरों की अभिव्यक्ति से युक्त उनके वाचक स, रि, ग आदि वर्ण (अक्षर) स्वर कहलाते हैं :—

स्वराः षड्जादयस्तेषां वाचकाः सरिगादयः ॥
स्वराभिव्यक्तिसंयुक्ताः स्वरशब्देन कीर्तिताः।[2]

'स्वर' नामक अंग के द्वारा षड्जादि ध्वनियाँ और उनके वाचक स, रि, ग आदि स्वराक्षर दोनों का ग्रहण किया है।

विरुद—गुणनाम अर्थात् विशेषण पदों को विरुद कहा गया है—'विरुदं गुणनाम स्यात्।[3] विशेषण के द्वारा किसी व्यक्ति को यशोदान किया जाता है जिसमें दान-क्रिया है। दान में हाथ से देना अन्वित होने के कारण लक्षणा से विरुद में देने की क्रिया मान कर विरुद को हाथ कहा गया है। संगीतसमयसार में विरुद के लिये कहा गया है :—

विरुशब्दो विरुद्धार्थो महाराष्ट्रे प्रसिद्धितः।
परेभ्यस्तत्प्रदानेन विरुदं सूरिभिः स्मृतम् ॥
तद्वीररससंयुक्तं द्विषामुद्वेगदायकम्।
रसान्तरेण यद् युक्तं तत्पदं विरुदं स्मृतम् ॥[4]

---

१. सं. र., ४/१२-१५ २. वही, १५-१६

३. वही, १६/संगीतरत्नाकर के प्रकाशित संस्करण में सब जगह 'विरुद' पाठ है। यह अशुद्ध पाठ है, सही पाठ 'विरुद' है इसलिये हमने सर्वत्र विरुद ही रखा है। इसके लिये द्रष्टव्य—Sanskrit English Dictionary—M. Monier Williams, First Indian Ed., 1976, pages 731 and 983.

४. सं. स. सा., ५/१८-१९

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थात् महाराष्ट्र में 'विरु' शब्द विरुद्ध अर्थ में प्रसिद्ध है। शत्रुओं को तत् (विरोध) प्रदान करने के कारण 'विरुद' कहलाता है। वह वीर रस में संयुक्त होने पर शत्रुओं को उद्वेग देता है। अन्य रस से युक्त पद भी विरुद कहलाता है।

विरुद शब्द 'वि' उपसर्ग युक्त 'रुद' धातु से बनता है। यह विशेषण या प्रशंसा-सूचक पद है। साहित्यदर्पण के अनुसार—'गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते'।[1]

पद—विरुदों से भिन्न वाचक शब्द 'पद' के अन्तर्गत आते हैं—'ततोऽन्यद्वाचकं पदम्'।[2] पद, विरुद, तेन और पाट—ये सभी पद हैं लेकिन विरुद, तेन और पाट विशेष प्रकार के पदों के वाचक हैं इसलिये इन सबके अतिरिक्त जो पद होते हैं वे पदसंज्ञक अंग में आते हैं।

तेन—'तत्' शब्द ब्रह्म का वाचक माना गया है। तत् का तृतीया विभक्ति में एक वचन रूप 'तेन' है जिसका अर्थ है 'उस कारण से'। इसी तेन से प्रबन्ध में 'तेन' या 'तेनक' का ग्रहण किया गया है जिसका अर्थ है—मंगल अर्थ का प्रकाशक। जैसे, 'ओं तत्सत्' या 'तत्त्वमसि' आदि में 'तत्' ब्रह्म के वाचक हैं। उसी प्रकार इस 'तत्' के तृतीया रूप 'तेन' में प्रबन्ध के उन सभी शब्दों का ग्रहण हो जाता है जो मंगल अर्थ के वाचक हैं। संगीत-रत्नाकर में इस अंग को इस प्रकार कहा गया है :—

> तेनेतिशब्दस्तेन: स्यान्मङ्गलार्थप्रकाशक:।
> ओं तत्सदिति निर्देशात्तत्त्वमस्यादिवाक्यत:॥
> तदिति ब्रह्म तेनायं ब्रह्मणा मङ्गलात्मना।
> लक्षितस्तेन तेनेति.. ....॥[3]

पार्श्वदेव ने इसके साथ 'तेन्न' के दो अक्षर 'त' और 'न' का भी ग्रहण किया है। इस प्रकार प्रबन्ध में त, न आदि निरर्थक वर्णों के रूप में तेन्न प्रयोग भी ग्राह्य माना है। यथा :—

> तेन्नतेन्नेति यो वर्णो गीतेऽसौ तेन्नको मत:॥[4]

पाट—वाद्यों के अक्षरों के समूह को पाट कहा गया है—'पाटो वाद्याक्षरोत्कर:'।[5] जैसे—धिगिधिगि आदि।

ताल—चच्चत्पुटादि अथवा मंठ, कंकाल आदि ताल हैं। पार्श्वदेव ने काल और क्रिया के मान को ताल कहा है—'ताल: कालक्रियामानं'।[6]

इन ६ अंगों में से स्वर और ताल पूरे प्रबंध में व्याप्त रहते हैं फिर भी दोनों को

---

१. सा. द., ५७०
२. सं. र., ४/१६
३. वही, १७-१८
४. सं. स. सा., ५/२०
५. सं. र., ४/१८
६. सं. स. सा., ५/२१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अलग अंगों के रूप में स्थान दिया है। इसे कल्लिनाथ ने दो उदाहरणों के द्वारा बड़े रोचक ढंग से समझाया है :—

> तालस्य तु सकलप्रबन्धगतत्वेऽप्यङ्गत्वं भवति; स्पर्शनस्य सकलशरीरगतत्वेऽपीन्द्रियत्ववत्। स्वरस्य च सकलप्रबन्धगतत्वेऽपि षड्जादिवाचकानां सरिगादीनामेव स्वराभिव्यक्तिहेतुत्वादसाधारण्येनाङ्गत्वव्यपदेशः; यथाकाशस्य सकलशरीरच्छिद्रगतत्वेऽपि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नस्यैव शब्दग्राहकत्वेन श्रोत्रत्वव्यपदेशः।[1]

इसका सार यह है कि ताल पूरे प्रबंध में रहता है फिर भी एक अंग के रूप में कहा है। जैसे स्पर्शनेन्द्रिय पूरे शरीर में व्याप्त है शरीर के किसी एक भाग में नहीं; फिर भी उसे अलग इन्द्रिय माना गया है। इसी प्रकार स्वर भी पूरे प्रबंध में रहता है लेकिन षड्जादि स्वरों की अभिव्यक्ति के हेतु स, रि, ग आदि हैं इसलिये इन्हें भी उसी प्रकार अंग कहा जैसे पूरे शरीर में सभी छिद्रों में आकाश के रहने पर भी कान में अवच्छिन्न आकाश के द्वारा ही शब्द का ग्रहण होने के कारण कान को ही श्रोत्र कहा जाता है।

अंग के रूप में स्वर और ताल का जो अर्थ है, 'सकलप्रबंधगत' स्वर ताल में उससे भिन्न अर्थ है। अंग के रूप में स्वर का अर्थ स, रि, ग आदि स्वराक्षर और ताल का अर्थ एकताली आदि ताल है। लेकिन प्रवन्ध की स्वरयोजना जो उसे गेय स्वरूप प्रदान करती है वह पूरे प्रवन्ध में व्याप्त है। इसी प्रकार हर स्वर का जो काल (duration) है वह पूरे प्रवन्ध में व्याप्त व्यापक अर्थ में ताल है। अंग के रूप में स्वर और ताल वहीं रहेंगे जहाँ उनका प्रयोग होगा। तालबद्ध प्रवन्ध होने पर ताल पूरे प्रवन्ध में अंग के रूप में भी रह सकता है लेकिन स, रि, ग आदि वाचक वर्ण तो एक अवयव के रूप में ही रह सकते हैं अथवा स्वरार्थ जैसे प्रबन्ध में पूरे में भी हो सकते हैं।

किसी बद्ध रचना में तीन तत्त्व होते हैं—स्वर, ताल और पद। प्रबंध की 'धातु' में स्वर पक्ष को और 'अंग' में (मुख्यतः) पद पक्ष को तथा ताल को समेटा गया है। स्वर, पाट, तेन, विरुद और पद—ये सभी प्रवन्ध की शब्द-रचना से संबंधित हैं, केवल ताल अक्षरसंबंधी नहीं है। वाग्गेयकार के लक्षण में कही गई 'मातु' का विश्लेषण ही मुख्य रूप से प्रबन्ध के 'अंग' में हुआ है।

संगीतसमयसार एकमात्र ऐसा ग्रंथ है जिसमें प्रवन्धों के लक्षण देने के लिये अंगों के स्वर आदि शब्दों के पहले-पहले अक्षरों का संकेताक्षर के रूप में प्रयोग हुआ है। जैसे—स्वर=स्व, स, पद=प, पाट=पा, ताल=ता, तेन=ते, विरुद=वि। त्रिभंगि का लक्षण 'पपातास्व'[2] पद, पाट, ताल, स्वर का सूचक है।

वर्तमान संगीत में अंगों के बारे में उत्तर और दक्षिण में लगभग समान स्थिति है। स्वर, ताल और पाट का प्रयोग गीत में आज भी किया जाता है और उन्हें इन्हीं संज्ञाओं

---

१. सं. र., अ. ४, कल्लि., पृ. २०७ २. सं. स. सा., ५/५४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से जाना भी जाता है। लेकिन सार्थक पद के रूप में तेन, विरुद और पद का भेद नहीं रहता, पद में ही सब अन्तर्भूत हो गये हैं। यद्यपि गीतों में ये अलग-अलग रहते हैं लेकिन इन संज्ञाओं के अनुसार अन्तर करने का कोई प्रचलन नहीं है। त, न आदि अक्षरों का तराने में प्रयोग उत्तर में होता है लेकिन इन्हें 'तेन' नहीं कहा जाता। दक्षिण में 'तानम्' में 'त' और 'न'—इन वर्णों का प्रयोग होता है और इन्हें तेन कहा जाता है।

प्रबन्ध-जाति

उपर्युक्त अंगों में से ६, ५, ४, ३ अथवा २ अंगों के रहने से प्रबन्ध की ५ जातियाँ बनती हैं। संगीतरत्नाकर में इनके नाम क्रम से मेदिनी, आनन्दिनी, दीपनी, भावनी और तारावली हैं।[१]

पार्श्वदेव ने प्रबन्ध जातियों के भिन्न नाम दिये हैं जो इस प्रकार हैं—श्रुति, नीति, सेना, कविता और चम्पू। 'श्रुति' (वेद) ६ अंगों से युक्त होने के कारण ६ संख्या की सूचक है। नीति ५ अंगों से युक्त होती है इसलिये उसे ५ का सूचक कहा। चतुरंगिणी सेना प्रसिद्ध ही है, इसलिये ४ अंगों से युक्त जाति को 'सेना' संज्ञा दी। कविता तीन अंग वाली मानी गई है इसलिये ३ अगों वाली जाति को 'कविता' कहा। चम्पू गद्य और पद्य से युक्त होता है इसलिये दो अंग वाली जाति का नाम 'चम्पू' रख दिया।[२]

प्रबन्ध-भेद

मुख्य रूप से प्रबन्ध के दो भेद कहे गये हैं—निर्युक्त और अनिर्युक्त। जिन प्रबन्धों में विशेष छन्द अथवा विशेष ताल का नियम हो वे निर्युक्त कहलाते हैं और जिनमें नियम न हो वे अनिर्युक्त :—

छन्दस्तालाद्यनियमादाद्यः स्यान्नियमात् परः।[३]

इसकी टीका में कल्लिनाथ ने यह स्पष्ट किया कि छन्द और ताल के साथ 'आदि' के प्रयोग से धातु, अंग, राग, रस, भाषा का भी ग्रहण होता है :—

आदिशब्देनाङ्गधातुरागरसभाषादयो गृह्यन्ते।[४]

लेकिन प्रबन्धों में विशेष छन्द और ताल के नियम से युक्त प्रबन्धों को ही निर्युक्त कहा है। पार्श्वदेव ने इनके अलावा उभयात्मक प्रबन्ध भी कहे। जिनमें कभी अंग और कभी छन्द हों वे उभयात्मक हैं। उसके अनुसार केवल अंगयुक्त प्रबन्ध अनिर्युक्त और छन्द तथा ताल आदि के नियम से युक्त निर्युक्त होते हैं :—

अङ्गमात्रेण विहिता अनिर्युक्ता इतीरिताः।
छन्दस्तालादि नियमान्निर्युक्तास्ते निरूपिताः॥

---

१. सं. र., ४/१६
२. सं. स. सा., ५/२१ तथा गद्यखण्ड
३. सं. र., ४/२२
४. वही, पृ. २१३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्वचिदङ्गं क्वचिच्छन्दो गीते यस्मिन् विराजते।
उभयात्मकमित्याहुर्गीतं गीतविशारदाः ॥[१]

भाषाओं के अनुसार भी प्रवन्ध के तीन भेद किये गये—दिव्य भाषा से 'दिव्य', मानुषी भाषाओं से 'मानुष' और भाषावैचित्र्य से 'दिव्यमानुष'।[२] संस्कृत को दिव्य, देशी भाषाओं को मानुषी और दोनों के मिश्रण को अर्थात् कभी संस्कृत कभी देशी के प्रयोग को दिव्यमानुषी भाषा कहा जाता है।

संगीतपारिजात में भी इससे मिलता-जुलता निरूपण है—दैवतगीत—मार्गताल व संस्कृत भाषा से, देवमानुषगीत—संस्कृत भाषा और देशीताल से अथवा देशीभाषा और मार्गताल से तथा मानुष—देशीताल और देशी भाषाओं से।[३] ध्यान देने योग्य है कि भाषा के साथ-साथ मार्ग देशी तालों के आधार पर ही भेद किया है, मार्ग-देशी रागों के आधार पर नहीं।

गीतक अध्याय में गीतकों के भी निर्युक्त-अनिर्युक्त भेद कहे जा चुके हैं। वहां इनका भिन्न अर्थ है किन्तु इतनी समानता कही जा सकती है कि निर्युक्त में विशेष तत्त्वों का विधान करके अनिर्युक्त में उनमें से कुछ का अथवा सबका निषेध किया गया है।

प्रबन्धों का वर्गीकरण—

प्रवन्धों के तीन वर्ग बनाये गये हैं—सूड, आलि और विप्रकीर्ण :—

पुनः प्रवन्धास्त्रिविधाः सूडस्था आलिसंश्रयाः ॥
विप्रकीर्णाश्च ....।[३]

अर्थात् प्रवंध तीन प्रकार के होते हैं—सूडस्थित, आलिसंश्रित और विप्रकीर्ण। सूडप्रवंध गिनाते हुए शार्ङ्गदेव ने कहा :—

एलाकरणढेङ्कीभिर्वर्तन्या झोम्बडेन च ॥
लम्भरासैकतालीभिरष्टभिः सूड उच्यते।[४]

अर्थात् इन आठ से सूड कहा जाता है। 'से' के द्वारा यह कहा गया है कि इन सवका समूह सूड है। इसकी पुष्टि रत्नाकर के नर्तनाध्याय में कल्लिनाथ की टीका से भी होती है। नृत्य की 'शुद्ध पद्धति' (जिसकी चर्चा इस अध्याय के परिच्छेद ग में की जायगी) में ग्रंथकार ने कहा :—

ततः शुद्धप्रवन्धैश्च गीयमानैर्निजेच्छया।[५]

'निजेच्छया' को कल्लिनाथ ने 'सूडक्रमं विहाय चेत्यर्थः'[६] कह कर स्पष्ट किया, जिसका आशय यह है कि सूडक्रम का त्याग करके स्वेच्छा से किसी भी शुद्ध सूड का प्रयोग

१. सं. स. सा., ५/२४-२६
२. रस., ३/३६
३. सं. पा., ५३३-५३४
४. सं. र., ४/२२-२३
५. वही, ४/२३-२४
६. वही, ७/१२६८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हो सकता है। स्पष्ट है कि सूडों का एक नियत क्रम है जिसके त्याग की छूट यहाँ दी गई है।

कल्लिनाथ ने प्रबंधाध्याय में भी सूड का यह अर्थ किया :—

सूड इति गीतविशेषसमूहवाची देशीशब्द:। अत्रोद्दिष्टानामेलादिशब्दानां मध्ये केषांचिद्रूढत्वं, केषांचिदन्वर्थत्वं चेत्यवगन्तव्यम्।[1]

अर्थात् 'सूड' विशेष प्रकार के गीतों के समूह का वाचक देशीभाषा का शब्द है। यहाँ गिनाये गये एलादि शब्दों में से कुछ रूढ़ हैं और कुछ अन्वर्थ हैं, ऐसा समझना चाहिये।

रत्नाकर के उपर्युक्त कथन की पुष्टि संगीतराज के निम्नलिखित श्लोकों से भी होती है :—

यद्यालादिप्रबन्धस्थ: कश्चनैषु प्रगीयते।
तदालिक्रमग: सोऽपि गीयते तद्विवेचकै:॥
अथैकैकत्वगानार्हान् प्रकीर्णान् कतिचिद् ब्रुवे।[2]

'एकैकत्वगानार्हान्' (अकेले-अकेले गाये जाने के योग्य) से इसकी पुष्टि भी होती है कि सूडों का क्रम है। प्रकीर्णक प्रबंध अलग-अलग गाये जा सकते हैं, लेकिन आलिक्रमों को संभवत: स्वतंत्र रूप से यानी अलग-अलग नहीं गाया जाता।

मानसोल्लास में भी यह संकेत मिलता है कि एला, करण आदि सूड निश्चित या विशेष क्रम से गाये जाते हैं और उनमें कन्द, वृत्त आदि में से कोई प्रबन्ध भी गाये जाते हैं। विप्रकीर्ण वर्ग के प्रबंध लौकिक हैं जो विशेष कार्यों या अवसरों पर गाये जाते हैं लेकिन सूडों में नहीं। यानी ये स्फुट रूप से अकेले-अकेले गाये जा सकते हैं।[3]

पार्श्वदेव ने प्रबंध के ३ भेद कहे—सूडक्रमगत, आलिक्रमस्थित और विप्रकीर्ण। सूडक्रम ५ प्रकार का कहा—अतिजघन्य, जघन्य, मध्यम, उत्तम, अत्युत्तम या उत्तमोत्तम।[4] झोंबड आदि सूड प्रबन्धों में एक प्रबंध को अनेक तालों में गाने से उसके अनेक प्रकारों का निरूपण ग्रंथकारों ने किया है। पार्श्वदेव ने विशिष्ट तालों के प्रयोग के आधार पर इन सूडों का उत्तमादि वर्गों में विस्तार के साथ उल्लेख किया है। आगे चलकर इनमें से प्रत्येक वर्ग के अंतर्गत स्थायी रूप से रहने वाले तथा स्वेच्छा से प्रयुक्त होने वाले प्रबंध भी कहे हैं। विषय की स्पष्टता के लिये उसे यहां संक्षेप में दिया जा रहा है। उत्तमोत्तम सूड में सबसे पहले मातृका अथवा पञ्चतालेश्वर या गद्य प्रबंध गाया जाता है (ये तीनों आलि प्रबंध हैं)। इस वर्ग में एला, ढेंकी, गारुगि, फिर द्वितीय, प्रतिमट्ट और नि:सारु ताल में से प्रत्येक से अलग-अलग झोंबड और लंभ, रासक तथा एकताली ये नौ स्थायी सूड हैं, शेष ६ इच्छानुसार प्रयुक्त हो सकते हैं।[5] उत्तम में स्वरार्थ, स्वरांक, घट, करण, त्रिभंगी, क्रौंचपद,

---

१. वही, अ. ४, पृ. २१३-२१४
२. सं. रा., ४/१६/२/३५-३६
३. मान., ४/१६/५४७–५५०
४. सं. स. सा., ५/६१-६२
५. वही, ८०-८३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शरभलील, पंचभंगी में से कोई (संभवत: पाँच स्वेच्छा से) तथा एला, ढेंकी, गारुगि—द्वितीय—नि:सारु तालों से झोंवड, लंभ, रास और एकताली—ये आठ स्थायी हैं।[१] मध्यम में ढेंकी, गारुगि—द्वितीय से झोंबड, नि:सारु, लंभ, रासक और एकताली—ये ७ स्थायी और ४ संचारी प्रवंध हैं।[२] जघन्य में ढेंकी, द्वितीय और नि:सारु से झोंवड, लंभ, रासक और एकताली—ये ६ स्थायी और अन्य ३ यथारुचि हो सकते हैं।[३] अतिजघन्य में मट्ठ और नि:सारु से झोंवड, लंभ, रासक और एकताली—ये ५ स्थायी और अन्य २ रुचि के अनुसार रहते हैं।[४] यदि विविध अर्थ वाला प्रवंध मूलरूप से एक ही ताल में गाया जाय तो वह विप्रकीर्ण सूड कहलाता है।[५]

शार्ङ्गदेव ने सूडों का नियत क्रम अथवा उनमें प्रयुक्त होने वाले आलि प्रबंधों के नाम अथवा संख्या आदि के बारे में कुछ नहीं कहा। लक्षण भी उसने एला, करण, ढेंकी, वर्तनी, झोंवड, लंभ, रासक और एकताली—इस क्रम से दिये हैं। किन्तु पार्श्वदेव ने उत्तमोत्तम आदि के अनुसार सूड निरूपण करने के बाद लक्षण-निरूपण यह कह कर आरम्भ किया—'अथ सूडक्रमाश्रितप्रवन्धलक्षणं वक्ष्ये'।[६] इसमें 'सूडक्रम के आश्रित प्रवंधों के लक्षण' ध्यान देने योग्य है। लक्षण-निरूपण में ढेंकी, झोंवड, एला, करण, वर्तनी, स्वरार्थ, गद्य, लंभ, रासक, एकताली—यह क्रम रखा है जिनमें से स्वरार्थ और गद्य—ये दो आलि वर्ग के हैं।

'आलि' का अर्थ है पंक्ति। आलि के साथ 'क्रम' लगा कर वनाये गये 'आलिक्रम' शब्द से ऐसा लगता है कि कुछ आलि प्रवंधों का इस क्रम से एक साथ प्रयोग होता था जिससे एक प्रवन्ध जैसी अनुभूति हो। रत्नाकर में सूड और आलि प्रवंधों के नाम देते समय 'सूडप्रवन्ध:' और 'आलिप्रवन्ध:'[७]—यों एकवचनान्त प्रयोग हुआ है जब कि विप्रकीर्ण के लिये 'विप्रकीर्णप्रवन्धा:'[८] का वहुवचनान्त प्रयोग है। इससे भी यह सूचित होता है कि सूड और आलि प्रवन्धों का विशेष प्रकार से क्रमबद्ध अर्थात् अनेक गीतों से मिल कर एक प्रबन्ध के रूप में तथा विप्रकीर्णों का अलग-अलग प्रयोग होता था।

पार्श्वदेव ने सूड, आलि और विप्रकीर्ण—इन तीन भेदों का उल्लेख तो किया लेकिन आलि और विप्रकीर्ण शीर्षक से प्रबन्धों के नाम या लक्षण नहीं दिये यद्यपि निर्युक्त और अनिर्युक्त के अंतर्गत उन प्रवन्धों के लक्षण हैं जो रत्नाकर के आलि और विप्रकीर्ण में आते हैं।

सूड और आलि प्रबंधों के संदर्भ में संगीतरत्नाकर का निम्न अंश विचारणीय है:—

.... इत्येषु कश्चन।

---

१. वही, ८४-८७
२. वही, ८७-८९
३. वही, ९०-९१
४. वही, ९१-९२
५. वही, ९४-९५
६. वही, पृ. १०९
७. सं. र., अ. ४, पृ. २१३
८. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सूडक्रमस्य मध्ये चेदसावालिक्रमो भवेत् ॥
सूडालिक्रमसम्वन्धाद् द्वात्रिंशदिति कीर्तिताः ।[1]

इस पर सिंहभूपाल की टीका इस प्रकार है:—

तेषु मध्ये एलादीनां मध्यस्थो यः कश्चन प्रवन्धो भवति चेत्, तदा सोऽप्यालिक्रमस्थ इत्युच्यते ।[2]

अर्थात् उन (आलि प्रवन्धों) के वीच में (जब) एलादि के मध्यस्थित कोई प्रवन्ध होता है तव यह भी आलिक्रमस्थ कहा जाता है। सिंहभूपाल का आशय यह प्रतीत होता है कि सूडों में से कोई प्रवन्ध जव आलिक्रम के वीच में गाया जाता है तो वह सूड भी आलिक्रमस्थ कहलाता है।

पार्श्वदेव और शार्ङ्गदेव के आधार पर सिंहभूपाल की यह व्याख्या सही प्रतीत नहीं होती। उपर्युक्त श्लोकों में 'इति' तक आलिप्रवन्धों के नाम गिनाये गये हैं और 'असौ आलिक्रमो भवेत्' में एकवचन प्रयोग द्वारा इन प्रवन्धों का एक क्रम के रूप में यानी एक के वाद एक—इस क्रम में प्रयोग के रूप में एक प्रवन्धत्व सूचित किया गया है। 'एषु कश्चन सूडक्रमस्य मध्ये चेत्' स्वतंत्र वाक्य है जिसका अर्थ है—इन आलि प्रवन्धों में से कोई सूडक्रम के मध्य में भी प्रयुक्त होता है। पार्श्वदेव के सूडक्रम निरूपण से भी इसकी पुष्टि होती है। आलि प्रवन्धों के वीच सूड प्रयोग (जैसा सिंहभूपाल ने समझा है) की अन्य शास्त्रकारों द्वारा पुष्टि नहीं होती। सूड और आलि प्रवन्धों की परस्पर संवद्धता का एक संकेत इसमें भी है कि उपर्युक्त श्लोक में अन्त में कहा गया कि सूड और आलिक्रम के सम्वन्ध से ३२ प्रवन्ध होते हैं।

विप्रकीर्ण प्रबन्ध फुटकर हैं यानी ये परस्पर या अन्य किसी वर्ग से संबद्ध नहीं हैं। विशेष अवसरों, प्रसंगों या कार्यों में उनके अलग-अलग प्रयोग का स्पष्ट उल्लेख मानसोल्लास में किया गया है—

त्रिपदी कण्डने चैव श्रृंगारे विप्रलम्भके ।
प्रायः शस्त्रिभिरेवैषा गेया नानार्थभूषिता ॥
कथासु षट्पदी योज्या विवाहे धवलस्तथा ।
उत्सवे मङ्गलो गेयश्चर्या योगिजनैस्तथा ॥
महाराष्ट्रेषु योषिद्भिरोवी गेया तु कण्डने ।
होलाके चच्चरी गेया राहडी वीरवर्णने ॥
दन्ती गोपालकैर्वादे गातव्या निजभाषया ।
एवं विषयभेदेन प्रवन्धाः परिकीर्तिताः ॥[3]

---

१. वही, २७-२८ २. वही, सिंह., पृ. २१५
३. मान., ४/१६/५५१-५५४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कुछ अन्य प्रवन्धों के बारे में संगीत पारिजात में भी इसी प्रकार का उल्लेख है:—

गीते यस्मिन्मुखं वर्ण्यं वदनं तत्प्रकीर्तितम् ।
यस्मिन्गीते मुनिर्वर्ण्यो ज्ञेया सा पद्धडी पुनः ॥
प्रातःकाले तु यो गेयो धवलः स प्रकीर्तितः ।
....
पद्यं शिशुसुखार्थाय लोली ज्ञेया विचक्षणैः ।[1]

प्रबन्ध भेदों में सूड, आलि, विप्रकीर्ण के साथ शुद्ध सूड, सालगसूड और संकीर्णसूड भी कहे गये ।[2] छहों अंगों से युक्त गीत को शुद्ध कहा गया तथा गीत के पर्याय के रूप में 'सूड' का प्रयोग हुआ ।[3]

संगीतनारायण में शुद्ध, छायालग और क्षुद्र अथवा संकीर्ण—निबद्ध के ये तीन भेद कहे । शुद्ध ही प्रवन्ध है जो छहों अंग और चारों धातुओं से युक्त होता है ।[4]

सालगसूड

सूड के दो भेद हैं—शुद्ध सूड और सालगसूड । एला, करण आदि ८ शुद्ध सूड हैं और ध्रुव, मण्ठ, प्रतिमण्ठ, निःसारु, अड्ड, रास और एकताली—ये ७ सालगसूड कहलाते हैं ।

संगीतरत्नाकर से पहले के चार ऐसे ग्रंथ प्राप्य हैं जिनमें प्रवन्धों का निरूपण है—बृहद्देशी, भरतभाष्य, मानसोल्लास और संगीतचूडामणि इनमें से किसी में भी सूड संज्ञा या ७ सालगसूड प्रबन्धों के नाम नहीं मिलते । एलादि प्रवंध इन सभी में हैं लेकिन शुद्ध सूड के रूप में या अन्य प्रकार से इनका अलग वर्ग नहीं बनाया गया है । मानसोल्लास को छोड़ कर शेष तीनों तो इतने खण्डित हैं कि यदि उनमें सूड शब्द रहा भी हो तो कहना कठिन है । मानसोल्लास राजकुमारों की शिक्षा का ग्रंथ है संगीत का शास्त्र-ग्रंथ नहीं । इसलिये वहाँ वर्गीकरण की विशेष आवश्यकता भी नहीं है । इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रवन्धों का वर्गीकरण तथा सूड, आलि, विप्रकीर्ण और सालग— ये नाम सर्व-प्रथम रत्नाकरकार ने ही दिये हैं ।

'सालग' शब्द छायालग का अपभ्रंश रूप है । एलादि शुद्ध सूडों की 'छाया' ध्रुव आदि में 'लगती' है इसलिये ये छायालग कहे जाते हैं । यद्यपि जाति से अन्तर भाषा तक ग्राम वर्ग के रागों से अन्वित प्रकरण गीत (गीतक) ही शुद्ध होते हैं जो मार्गाश्रित हैं । लोक में उनके सादृश्य पर या उनकी छाया से युक्त एलादि सूड बने हैं जो देशी गान में शुद्ध कहलाते हैं क्योंकि शुद्ध गीतों से उनका सादृश्य है । इन शुद्ध सूडों की छाया होने के कारण ध्रुवादि सालगसूड कहलाते हैं:—

१. सं. पा., ५६०-५६२
२. सं. दा., पृ. १७
३. वही
४. सं. ना., १/३०५ का गद्यखण्ड

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शुद्धश्छायालगश्चेति द्विविधः सूड उच्यते ।
एलादिः शुद्ध इत्युक्तो ध्रुवादिः सालगो मतः ॥
छायालगत्वमेलादेर्यद्यप्याचार्यसंमतम् ।
लोके तथापि शुद्धोऽसौ शुद्धसादृश्यतो मतः ॥
जात्याद्यन्तरभाषान्तं शुद्धं प्रकरणान्वितम् ।[1]

सालगसूडों में शुद्ध सूडों की कहाँ, कितनी और कैसी छाया लगती है इसका कोई स्पष्ट संकेत किसी भी शास्त्रकार ने नहीं दिया है। संगीतरत्नाकर और उसके दोनों टीकाकार भी इस पर मौन हैं। दूसरी ओर प्रबन्धों के गेय स्वरूप अथवा लिपिबद्ध रूप भी प्राप्त नहीं हैं इसलिये क्रियात्मक रूप में किन प्रबन्धों पर किनकी, कहाँ और कितनी छाया होगी यह कहना संभव नहीं है। इतना निश्चित है कि यह छाया अवश्य ही प्रबन्धों के गेय अंश में दिखाई देती होगी। फिर भी इनके जो लक्षण दिये गये हैं उनके आधार पर छाया ढ़ूँढने का कुछ प्रयत्न किया जा सकता है लेकिन गेय के अभाव में इसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

दोनों प्रकार के सूडों का आलि और विप्रकीर्ण प्रबन्धों से एक स्पष्ट अन्तर यह दिखाई देता है कि सूडों में गेय संबंधी लक्षण प्रमुख रूप से कहे गये हैं और साथ में रचना संबंधी लक्षण भी हैं, जब कि अन्यों में केवल धातु और अंगों के यानी प्रबन्ध की रचना संबंधी लक्षण दिये हैं।

यहाँ शुद्ध और सालग सूडों का सादृश्य दिखाया जा रहा है, विशेष विवरण अगले परिच्छेद में दिया जायगा। इन दोनों को मिलाकर देखने से विषय अधिक स्पष्ट होगा।

(१) शुद्ध सूडों में उद्ग्राहादि धातुओं की रचना, उनके गाने की विधि, आवृत्ति, 'प्रयोग' (इसे आगे स्पष्ट किया जाने वाला है) आदि नियम कहे हैं अर्थात् गेय की रचना और क्रिया—दोनों के लक्षण विस्तार से दिये हैं। जैसे—उद्ग्राहादि में खण्डों की संख्या, उनमें अवान्तर खण्ड, उनमें किन खण्डों की स्वर योजना एकसी और किनमें भिन्न हो, किस धातु के बाद किस धातु का प्रयोग हो, समाप्ति किस धातु में की जाय, कहाँ स्वर योजना नीची ध्वनि में और कहाँ ऊँची हो, गाता और वर्ण्य का नाम किस धातु में रहे, आलाप की प्रधानता-गौणता या समूचा अभाव आदि।

(२) प्रत्येक सूड में निश्चित तालों के प्रयोग का विधान है। जैसे, शुद्ध एकताली और सालग एकताली—दोनों सूडों में एकताली ताल का ही प्रयोग है।

(३) दोनों प्रकार के सूडों में रस, रीति, वृत्ति का विनियोग है।

(४) दोनों में पद का प्रधान स्थान है।

(५) दोनों में गणनियम है। तालों का अधिकांशतः गणों के साथ साम्य है।

---

१. सं० र०, ४/३११-३१३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(६) दोनों ही आलि और विप्रकीर्ण की अपेक्षा अधिक लम्बे हैं।

(७) दोनों में विभिन्न लयों का प्रयोग है जो इसका परिचायक है कि इन प्रबन्धों की लम्बाई, रस, रीति, वृत्ति, पदरचना आदि के कारण संभवतः जो समरसता (monotony) आती होगी उसे दूर करके विविधता और विचित्रता लाने की ओर भी दृष्टि रही।

(८) छन्दों का नियम दोनों में नहीं है।

यद्यपि सूड की अपेक्षा आलि और विप्रकीर्ण छोटे प्रबंध हैं लेकिन स्वर, ताल, तेन, पद, विरुद और पाट के प्रयोग के कारण उनमें ज्यादा वैविध्य और वैचित्र्य रहता है, प्रान्तीय भाषाओं के प्रयोग से स्थानीय तत्त्व व लोकरुचि की प्रधानता है, ज्यादा सरल हैं, अनेक रागों और तालों का प्रयोग होने से सर्वसाधारण को अधिक रुचने वाले हैं। सूडों में बंधन ज्यादा होने, बहुत लम्बे होने, रस-रीति-वृत्ति-गीति आदि का विनियोग होने, गणों का नियम रहने के कारण ये संगीत के मर्मज्ञ श्रोताओं की रुचि के अनुकूल हैं।

मिश्र सूड

संगीतराज में शुद्ध और सालग के अतिरिक्त मिश्र सूड वर्ग भी बनाया गया है। इनमें शुद्धत्व और सालगत्व का मिश्रण होने के कारण मिश्र संज्ञा दी गई है:—

छायालगोपाधिवशात् शुद्धसादृश्यतोऽपि वा।
अस्य सूडस्य मिश्रत्वमभाषिष्ट महीपतिः ॥[1]

जयदेव के गीतगोविन्द की २८ अष्टपदियों को प्रबंध में विशेष स्थान देने के लिये ऐसा किया गया है और अष्टपदियों की विषयवस्तु के अनुसार प्रबन्धों के नाम रखे गये हैं। गीतगोविन्द पर कुम्भा की 'रसिकप्रिया' टीका में जो नाम उन अष्टपदियों को दिये गये हैं वही नाम संगीतराज में मिश्रसूड के अन्तर्गत दिये गये २८ प्रबन्धों के भी हैं और साथ में प्रबंध-लक्षण भी हैं। इनके लक्षण अगले परिच्छेद में दिये जायेंगे।

इनमें राग और ताल नियत होने से शुद्धत्व और देशीरागों का प्रयोग होने से सालगत्व है इसलिये उन्हें अलग-अलग गाने से भी कोई दोष नहीं होता, ऐसा ग्रंथकार का कथन है।[2] रसिकप्रिया टीका में भी गीतगोविन्द के प्रबन्ध-स्वरूप पर यत्रतत्र प्रकाश डाला गया है:—

तत्रेदमाद्यं पदम्। ....गीतमुद्ग्राह्यते येन स उद्ग्राहः प्रकीर्तितः। आभोगस्त्वन्तिम इति ध्रुवत्वाच्च ध्रुवः स्मृतः। उद्ग्राहादिधातूनां विश्रामभूमित्वात्। अन्यानि च उद्ग्राहादिप्रतिरूपकाणि पदानीति प्रतिबोद्धव्यम्। एवमन्यास्वष्टपदीषु ज्ञेयम्। ....अत 'ए'-काराद्यालापो ज्ञेयः। जयजयदेव हरे इत्यत्र ध्रुवः। ....'ए' इति एतदन्ते रागपूर्त्यै गानवेलायां प्रतिपदं एतावत्पदम्।[3]

---

१. सं. रा., २/४/२/३२४ २. वही, ४१७-१८

३. रसिक., पृ. २०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रबन्ध के इतिहास में गीतगोविन्द का विशेष स्थान है। साहित्यकृति मान कर संगीत के क्षेत्र में उसका महत्त्व घट न जाय इस दृष्टि से कुम्भा ने प्रबन्धों में उसके लिये अलग वर्ग बना कर उसकी गेय-परम्परा को लक्षणवद्ध किया है। इनमें जिन छन्दों का प्रयोग हुआ है उनके वारे में छन्द-अध्याय के परिच्छेद 'ग' में चर्चा की जायगी।

गीतगोविन्द में १२ सर्गों में २८ गीत हैं जिनमें से हरेक में ८-८ पद हैं इसीलिये ये 'अष्टपदी' कहलाती हैं। इनमें कृष्ण, राधा या सखियों की उक्तियाँ हैं। सभी अल्पाधिक मात्रा में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। जहाँ सीधे संबद्ध नहीं हैं वहाँ कवि ने पूरक कड़ी के रूप में श्लोक रख कर उन्हें जोड़ दिया है। इस प्रकार पूरे गीतगोविन्द में कथाप्रवाह है। अत्यन्त श्रवण मधुर, ललित पदों का विन्यास और अनुप्रास की छटा से उत्पन्न जैसा नादसौंदर्य इसमें है वैसा संस्कृत काव्य में अन्यत्र दुर्लभ माना जाता है।

इसमें राग और ताल का निर्देश तो कवि ने स्वयं किया है लेकिन उद्ग्राह आदि खण्ड अलग-अलग नहीं किये हैं। फिर भी उनमें ये धातुएँ देखी जा सकती हैं। उदाहरणार्थ :—

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे॥
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥[1]

इसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ हर कड़ी के वाद दोहराई जाती हैं इसलिये ध्रुव कही जा सकती हैं। आरम्भ की दो पंक्तियाँ उद्ग्राह जैसी हैं जिनके द्वारा गीत के विषय का प्रवेश कराया गया है। कवि ने अष्टपदी से पहले जो श्लोक लिखे हैं उन्हें उद्ग्राह और श्लोक व टेक के बीच के पदांश को मेलापक भी समझा जा सकता है। अष्टपदी की शेष कड़ियाँ आभोग हैं। इस प्रकार ये अष्टपदियाँ त्रिधातुक या चतुर्धातुक सूड प्रबन्ध का नमूना कही जा सकती हैं। इनमें प्रवन्ध के ६ अंगों में से स्वर, ताल, पद और विरुद—ये ४ अंग हैं।

परवर्ती प्रवन्धों पर गीतगोविन्द का प्रभाव दो रूपों में पड़ा—१. ध्रुवपदों और वैष्णव पदसाहित्य में पद शैली के रूप में और २. गीतगोविन्द के नमूने पर लिखे गये 'गीतगिरीश', 'संगीतगङ्गाधरम्', 'कृष्णलीलातरंगिणी' आदि प्रबन्ध रचनाओं के रूप में।

विभिन्न तत्त्वों के आधार पर प्रबन्धों का विश्लेषण

प्रबन्धों में किन-किन तत्त्वों का समावेश है अथवा किन तत्त्वों का उनमें समावेश है इसका भी कुछ विश्लेषण करने का प्रयत्न यहाँ किया जा रहा है।

१. गीत., प्रथम सर्ग, तीसरी अष्टपदी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) रसों से संवद्ध। जैसे; अंकचारिणी—वीर और रौद्र रस के विरुदों से बद्ध। रससन्दोह—आठ रसों से युक्त।

(२) अध्यात्म से संवद्ध। जैसे—चर्या।

(३) विशेष ऋतुओं से संवद्ध। जैसे; चच्चरी और धम्माली होली व वसंत में गाये जाने वाले।

(४) भाषाओं से युक्त। जैसे; देशैला के ५ भेद जो अलग-अलग भाषाओं से युक्त हैं। कन्द, त्रिपदी और षट्पदी कर्णाट भाषा से; गाथा, मानुषी मातृका, चच्चरी, लोली प्राकृत से; ओवी किसी भी देशी भाषा से; ढोल्लरी लाट भाषा से।

(५) छन्दों पर आधारित—

स्वनाम छन्दयुक्त	अन्य छन्दयुक्त
गद्य, हयलीला, क्रौंचपद, आर्या, गाथा,	कन्द (आर्या छन्द से),
द्विपथ, कलहंस, तोटक, वृत्त, मातृका,	वृत्त (किसी भी वृत्त से),
त्रिपदी, चतुष्पदी, षट्पदी, दण्डक, झम्पट,	चर्या
त्रिभंगी, चच्चरी, पद्धडी, मंगल, अडिल्ला,	
नडिल्ला, दोधक, रासक, धवल	

(६) अपने ही नाम के तालों से युक्त। जैसे; वर्ण, हयलीला, गजलीला, विजय, सिंहलील, हंसलील, त्रिभंगी, चच्चरी, ध्रुव को छोड़ कर शेष सारे सालगसूड तथा ढेंकी और एकताली शुद्ध सूड।

(७) अक्षरों की आवृत्ति से। जैसे; चक्रवाल।

(८) अक्षरों के क्रम से। जैसे; मातृका, जिसमें अ से क्ष तक के स्वर और व्यंजनों से शब्द आरम्भ होते हैं।

(९) वर्ण्य की विशेषता और राग-तालों की विशिष्ट संख्या से युक्त। जैसे; सूर्यप्रकाश, चन्द्रप्रकाश, नवरत्न, राजचूडामणि (इनके लक्षण अगले परिच्छेद में दिये जायेंगे)।

(१०) नाट्य के तत्त्वों से युक्त। जैसे; एला जिसमें वर्ण, वृत्ति, रीति, देवता, रस आदि का विनियोग है।

(११) विशेष प्रसंगों से संवद्ध जिनमें लोकगीतात्मकता हो। जैसे; कण्डन (अनाज छड़ना) और विप्रलंभ श्रृंगार में त्रिपदी, विवाह में धवल, होली में चच्चरी, वीरवर्णन में राहडी, ग्वालों की बातचीत में दन्ती, शिशु के लिये लोली।

(१२) स्वरों या पाटों के अक्षरों से ही सार्थक बनने वाले। जैसे; स्वरों के द्वारा स्वरार्थ, पाटों के द्वारा कैवाड।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१३) शैली की विशेषता से युक्त। जैसे; प्रश्नोत्तर शैली में शुकसारिक, शुकसारित।

(१४) पदों की संख्या के आधार पर। जैसे; द्विपदी, त्रिपदी, चतुष्पदी, षट्पदी। यह आश्चर्यजनक है कि गीतगोविन्द अष्टपदियों में गाया जाने वाला प्रबन्धगान का नमूना माना जाता है फिर भी प्रबन्धों में अष्टपदी को नहीं लिया गया।

(१५) गेय संबंधी विशेष लक्षणों से युक्त। जैसे; शुद्धसूड, गद्य, पंचतालेश्वर, ध्रुव, मंठ, प्रतिमंठ, रासक, एकताली।

(१६) अनेक तालों से युक्त। जैसे; पंचतालेश्वर, तालार्णव।

(१७) कई रागों व तालों से युक्त जिनमें 'अंगों' का निर्देश भी है। जैसे; श्रीरंग, श्रीविलास, पंचभंगी, पंचानन, उमातिलक, चतुरंग।

(१८) कई राग, ताल और वृत्तों से युक्त। जैसे; रागकदम्ब।

(१९) केवल अंग और धातु संबंधी लक्षणों से युक्त। अधिकांश प्रबन्ध इसी प्रकार के हैं।

'प्रयोग'

प्रबन्ध के संदर्भ में धातु और अंग की तरह 'प्रयोग' भी पारिभाषिक शब्द है जिसकी परिभाषा शाङ्र्गदेव के अनुसार यह है:—

आलापो गमकालप्तिरक्षरैर्वर्जिता मता ॥
सैव प्रयोगशब्देन शाङ्र्गदेवेन कीर्तिता ।[1]

अर्थात् अक्षरों से रहित गमकयुक्त आलप्ति ही आलाप है। इसी को शाङ्र्गदेव ने 'प्रयोग' शब्द से व्यक्त किया है। प्रबन्धों के लक्षण देते समय इस शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है। वहाँ इसका साधारण अर्थ न लेकर इसका पारिभाषिक अर्थ ही समझना चाहिये।

रूपकों के भेद

संगीतरत्नाकर में प्रबन्धों के बाद 'रूपक प्रबन्ध' शीर्षक से रूपक के भेद और उनके लक्षण दिये गये हैं। इससे ऐसा समझा जा सकता है कि प्रबन्ध और रूपक में ग्रंथकार को भेद अभिप्रेत है, यद्यपि इसका कोई स्पष्ट उल्लेख या संकेत नहीं है।

यह समझ चुके हैं कि धातु और अंग प्रबन्ध की विशेषता है। यहाँ रूपक भेदों में धातु और अंगों का नामोल्लेख तक नहीं है। इसलिये इतना अन्तर तो समझा जा सकता है कि प्रबंध में धातु और अंगों की प्रधानता है और रूपक में इन पर बल नहीं है। रूपक का संबंध राग, स्वर, ताल, लय, शब्द आदि से है।

---

१. सं. र., ४/३६०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूपक के ३ भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम गुणों से अन्वित, दोषों से रहित नवीन रूपक उत्तम होता है।[१] शेष दोनों भेदों के सामान्य लक्षण ग्रंथकार ने नहीं दिये हैं। लेकिन उनके अंतर्गत दिये गये विभिन्न रूपकों के लक्षणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शब्द, राग-ताल और स्वर योजना में से कुछ पूर्ववत् रख कर कुछ नवीन करने से और गुणों का उत्कर्ष रहने पर मध्यम रूपक होते हैं। अधम रूपकों में भी कुछ नवीनता तो रहती है लेकिन उनमें गुणों का उत्कर्ष दिखाई नहीं देता।

उत्तम रूपक

उत्तम रूपक में नवीनता के ६ निमित्त होते हैं :—

रागेण धातुमातुभ्यां तथाताललयौडुवैः।
नूतनैः रूपकं नूतनं[२]

अर्थात् राग, धातु (स्वरयोजना), मातु (शब्दरचना), ताल, लय और औडुव की नवीनता से रूपक नया होता है। अन्य स्थायों के प्रयोग से राग में, रागांश के भेद से धातु में, प्रतिपाद्य विषय की विशेषता और रस तथा अलंकारों के भेद से मातु में, गति (लय) और ग्रह (उठान) की विशेषता से ताल में, ताल के अपने विश्राम से भिन्न विश्राम से लय में और छन्द-गण-ग्रह-न्यास-प्रबन्धावयव की नवीनता से औडुव में नवीनता आती है।[3]

मध्यम रूपक

मध्यम रूपक तीन प्रकार का होता है—परिवृत्त, पदान्तर और भंजनीसंश्रित।

परिवृत्त—परिवृत्त का अर्थ है कुछ लौटना अर्थात् कुछ पुराना रखते हुए नवीनता लाना। पहले से बने हुए रूपक में स्वस्थान, राग या ताल में नवीनता लाने से परिवृत्त होता है। जिस स्थायी स्वर में और जिस स्थान में रूपक पहले से रचित हो वह स्वस्थान होता है। स्थायी के परिवर्तन से स्वस्थान बदल जाता है।[४]

पदान्तर—रस, राग, ताल वही रहे किन्तु मातु और स्थाय नवीन हों तो पदान्तर होता है। परिवृत्त में धातु बदलती है; पदान्तर में मातु। 'पदान्तर' शब्द का अर्थ है जिसमें पद (शब्दरचना) अन्तर (भिन्न) हों। पदान्तर में गुणों का उत्कर्ष रहता है।[५]

किसी एक ही राग में एक ही ताल में बँधी अनेक रचनाएँ होती हैं जिनके शब्द और स्वरयोजना भिन्न होती है किन्तु रस-भाव समान होता है। ऐसी रचनाएँ पदान्तर कहलाती हैं।

---

१. वही, ३६१
२. वही, ३६२
३. वही, ३६२-३६५
४. वही, ३६७-३६९
५. वही, ३७०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भंजनीसंश्रित—केवल धातु बदल देने से भंजनीसंश्रित होता है। राग और शब्द वही रहते हैं लेकिन स्वरयोजना बदल जाती है। रत्नाकर में लक्षण इस प्रकार है:—

केनापि रूपकं गीतं निजादन्येन धातुना।
येन तस्यान्यधातुत्वाद्भञ्जनीसंश्रितं मतम् ॥[१]

'निजादन्येन धातुना' का यही अर्थ है कि किसी रूपक की अपनी पूर्व धातु अर्थात् स्वरयोजना बदलने पर भंजनीसंश्रित रूपक होता है, राग-भेद यहाँ अभिप्रेत नहीं है।

'आलप्ति' के भेदों में भी एक भेद 'भञ्जनी' है। वहाँ स्थाय (अर्थात् स्वरसंचार या स्वरयोजना) भिन्न-भिन्न करके उन्हीं शब्दों को बार-बार गाने के कारण भंजनी कही गई है।[२] इसी प्रकार भंजनी आलप्ति में मूल गीत में विविधता और विस्तार की दृष्टि से उसके कुछ शब्दों या पूरे गीत के शब्दों को भिन्न-भिन्न प्रकार से गाया जाता है, किन्तु उनका मूल मान नहीं बदलता इसलिये ऐसी अनुभूति होती है कि मूल गीत का ही विस्तार किया जा रहा है। किन्तु भंजनीसंश्रित रूपक में मूल गीत की रचना ही बदल जाती है।

अधम रूपक

इसमें दो प्रकार हैं—खल्लोत्तार और अनुसार।

खल्लोत्तार—शब्द बदल जायें और पूर्वरचित रूपक के स्थाय अन्य स्थान में चले जायें तो खल्लोत्तार होता है।[३] इसका आशय यह है कि स्वरसन्निवेश बदलें नहीं लेकिन वे मन्द्र, मध्य आदि में से जिन स्थानों में पहले हों वे स्थान बदल जायें।

अनुसार—राग और ताल वही हो, धातु में कुछ नवीनता हो और शब्द बदल जायें, किन्तु गुणों का उत्कर्ष न हो तो अनुसार रूपक होता है।[४]

पार्श्वदेव ने ९ प्रकार के रूपकों के लक्षण दिये हैं जिनमें रत्नाकर के केवल दो नाम—खल्लोत्तार और अनुसार हैं।[५] इनके लक्षणों में रत्नाकर से कुछ भिन्नता है तथा रूपक भेदों का रत्नाकर जैसा स्पष्ट निरूपण नहीं है।

गीत के गुण-दोष

गुण-दोष निरूपण सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र के ३३वें अध्याय में मिलता है। उसके बाद संगीतरत्नाकर के प्रबन्धाध्याय में, संगीतपारिजात के गीतकाण्ड में और संगीतनारायण के गीतनिर्णय परिच्छेद में। इनके अतिरिक्त नारदीयशिक्षा में भी इस पर विचार है। नाट्यशास्त्र में गायक के, रत्नाकर और पारिजात में गीत के और नारदीयशिक्षा में गान के गुण-दोष हैं। संगीतनारायण में गुणों की अपेक्षा गीत में वैचित्र्य लाने वाले तत्त्वों का विश्लेषण है।

---

१. वही, ३७१
२. वही, ३/२००-२०१
३. वही, ३७२
४. वही, ३७३
५. सं. स. सा., ५/२१०-२११, २१३, २१६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गुण

नाट्यशास्त्र में गायक-गायिका दोनों के गुण हैं, यद्यपि गान को स्त्रियों का तथा पाठ्य को पुरुष का धर्म माना है। इसलिये गायिका के गुणों का अधिक विस्तार है। गान नाट्य का अंग है, इसलिये गायिका के गुण केवल कंठ संबंधी ही नहीं बल्कि रूप से भी संबंधित हैं।[1] नारदीयशिक्षा में गान के दस गुणों के नाम वही हैं जो संगीतरत्नाकर में गीत के हैं।[2] उनके लक्षण भी लगभग समान हैं। इसलिये इन्हें अलग से यहाँ नहीं कहा जा रहा है। नाट्यशास्त्र में कंठ के गुण-दोष भी अलग से कहे गये हैं।[3]

संगीतरत्नाकर में गीत के दस गुण ये हैं:—

व्यक्तं पूर्णं प्रसन्नं च सुकुमारमलङ्कृतम्।
समं सुरक्तं श्लक्ष्णं च विकृष्टं मधुरं तथा॥[4]

इनके लक्षण इस प्रकार हैं:—

तत्र व्यक्तं स्फुटैः स्वरैः।
प्रकृतिप्रत्ययैश्चोक्तं छन्दोरागपदैः स्वरैः॥
पूर्णं पूर्णाङ्गगमकं, प्रसन्नं प्रकटार्थकम्।
सुकुमारं कण्ठभवं त्रिस्थानोत्थमलङ्कृतम्॥
समवर्णलयस्थानं सममित्यभिधीयते।
सुरक्तं वल्लकीवंशकण्ठध्वन्येकतायुतम्॥
नीचोच्चद्रुतमध्यादौ श्लक्ष्णत्वे श्लक्ष्णमुच्यते।
उच्चैरुच्चारणादुक्तं विकृष्टं भरतादिभिः॥
मधुरं धुर्यलावण्यपूर्णं जनमनोहरम्।[5]

अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय और छन्द युक्त पदों की, राग की और स्वरों की स्पष्टता से 'व्यक्त', पूर्णांगगमक वाला 'पूर्ण', अर्थ की प्रकटता से 'प्रसन्न', कण्ठ की कोमलता वाला 'सुकुमार', तीनों स्थानों में सहज व्याप्ति 'अलंकृत', वर्ण, लय और स्थान सम हों तो 'सम', वीणा, वंश और कंठ ध्वनियों की एकता से 'सुरक्त', नीच-उच्च और द्रुत-मध्य में ध्वनि टूटे नहीं श्लक्ष्ण (तेल की धारा की तरह एकसी) बनी रहे तो 'श्लक्ष्ण', ऊँचे स्वरों के (सम्यक्) उच्चारण से 'विकृष्ट' और लावण्य से भरपूर जनमनोहर गुण 'मधुर' है।

इन गुणों का संबंध गीत की रचना, गीत प्रस्तुतीकरण यानी गाने के ढंग और कंठ—तीनों से है। व्यक्त का रचना और प्रस्तुतीकरण से; पूर्ण, अलंकृत, सम, सुरक्त का प्रस्तुतीकरण से; सुकुमार, विकृष्ट और मधुर का कंठ से; श्लक्ष्ण का कंठ और प्रस्तुतीकरण से तथा प्रसन्न का रचना, कंठ और प्रस्तुतीकरण तीनों से संबंध है। इनके

---

१. ना. शा., ३३/२-६
२. ना. शि., १/३/१-१०
३. ना. शा., ३३/१२-२०
४. सं. र., ४/३७४-३७५
५. वही, ३७५-३७९

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि गीत के गुणों में अत्यन्त व्यापक तत्त्व हैं जो हमारे शास्त्रकारों की पैनी दृष्टि को सूचित करते हैं।

'गीत' शब्द में गाने की क्रिया और गाने की वस्तु दोनों अर्थ अन्वित हैं, किन्तु 'प्रबंध' वस्तु है जिसका संबंध रचना से है। इसीलिये रत्नाकरकार ने प्रबंध के गुण-दोष न कह कर गीत के गुण-दोष कहे ताकि रचना और गानक्रिया दोनों का समावेश हो। यह शार्ङ्गदेव की मौलिक देन है। इस दृष्टि से व्यंकटमखी ने प्रबन्ध और गीत में जो अन्तर किया वह सही नहीं कहा जा सकता।

गीत कैसा बना—यह गीत का रचना पक्ष है। गीत कैसा गाया—यह गीत का गेय पक्ष है। रचना को जब तक गाया न जाय गीत नहीं बनता; इस तथ्य को संभवत: अहोबल ने ही सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से व्यक्त किया :—

सुस्वरैर्गीयमानत्वाद् गीतमित्यभिधीयते।[1]

गीत बनते ही यह प्रवृत्ति होती है कि रचना कैसी है और गाया कैसा ? इसीलिये गीत के गुण दोषों पर विचार करने के लिये दोनों पक्षों को एक साथ देखना पड़ता है। लेकिन किसी रचना को 'गीत' बनाने में प्रस्तुतीकरण की प्रधानता होती है इसीलिये उपर्युक्त गुणों में इससे संबद्ध गुण अधिक हैं। रचना सुन्दर न हो और अच्छे कंठ से अच्छी गाई जाय तो भी अच्छी नहीं लगती। रचना और कंठ सुन्दर होने पर भी उसे अच्छे ढंग से न गाया जाय तो भी गीत अच्छा नहीं लगता। यदि रचना भी अच्छी हो तथा ठीक प्रकार से गाया भी जाय लेकिन कंठ अच्छा न हो तो भी प्रभाव उत्पन्न नहीं होता। इसीलिये रचना, कंठ और गाने का ढंग—तीनों अच्छे होने चाहियें।

संगीतपारिजात में गीत के गुणों के नाम लगभग रत्नाकर जैसे ही हैं। इनके अतिरिक्त ५ गुण और कहे गये हैं—अभिन्नता, अपौनरुक्त्य, अग्राम्यत्व, विशिष्टजन्यता और शिष्टप्रतिपादकता। पूर्वोक्त १० गुणों में से व्यक्तत्व का लक्षण नहीं है। पूर्णता—गीत के अंगों की पूर्णता का अनुभव कराने वाला यानी पूर्णांगता का आदर्श। सौकुमार्य—स्वर, शब्द और अर्थ की कोमलता। प्रसन्नत्व—अर्थ की स्फुटता। सालंकारत्व—स्वर और शब्द का वैचित्र्य यानी स्वर और शब्द संबंधी अलंकारों से युक्त। माधुर्य—स्वर, शब्द और अर्थ का लावण्य। श्लाघ्यता—देश काल के अनुसार सम्यक् यानी जो जैसा होना चाहिये वैसा ही हो। समत्व—ताल और गीत की एक स्थान पर समाप्ति। सुरक्तत्व—शरीर और वाद्य के वर्णों की सुखपूर्वक एकता। विकृष्ट—ऊँची आवाज में गाना। संभवत: नाद की तीव्रता (volume) या ऊँचे स्वर क्षेत्र से अभिप्राय है। अभिन्नता—राग, ताल और रस की अभिन्नता यानी रस के अनुकूल राग व ताल की योजना। अपौनरुक्त्य—पुनरुक्ति न होना। अग्राम्यत्व—लोक व शास्त्र की व्यवस्था के अनुसार हो। विशिष्ट-जन्यता और शिष्ट-प्रतिपादकता के लक्षण नहीं हैं।[2]

१. सं. पा., श्लो. ५०१ २. वही, श्लो. ५३८-५४४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन गुणों में स्वर, शब्द और अर्थ इन तीनों तत्त्वों को लिया है जो पारिजात की विशेषता है। अर्थ का ग्रहण सीधे अन्य किसी ने नहीं किया। विशिष्टजन्यता में 'जन्यता' का अर्थ 'निर्मित' और 'गाया हुआ' हो सकते हैं। अगर ऐसा हो तो गुणों में रचयिता और प्रयोक्ता के गुण का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार गीत या गान संबंधी सभी पक्षों—रचयिता, गायक, रचना, कंठ और गाने के ढंग—के गुणों का समावेश हो जाता है।

संगीतनारायण में गीत के ये गुण कहे गहे हैं :—

गीतस्याथ गुणा ग्रहोलययतिर्मानस्य वैचित्र्यकं
स्याद्धातोः पुनरुक्तता नवनवत्वं चेति नैकार्थता।
मातौ रागसुरम्यताऽथ गमकस्यार्थस्य नैर्मल्यकं
तेन्नानां स्वरपाटयोश्च विविधाकारेण संयोजनम्॥
एषु सर्वेष्वपि गुणेष्वावश्यकतमं त्विदम्।
गुणालङ्काररसवद्वाक्यस्य ग्रहणं तु यत्।[1]

ग्रह—अनागत, सम, अतीत तीन ग्रह कहे हैं। गीत और ताल के साम्यस्थल से पहले कुछ अक्षर गाकर ताल उठे तो अनागत ग्रह और इसके विपरीत ताल पहले उठे, गीत बाद में हो तो अतीत ग्रह होता है। लय-गीत, वाद्य, पदन्यास की क्रियाओं की परस्पर समता या काल और क्रिया की समता को लय कहा है। विशेष तालों का विशेष लयों में प्रयोग बताया है जो आज के लक्ष्य को मध्ययुग से जोड़ देता है। जैसे—त्रिपुट, आपाड्ड, मंठ, एकताली, झंपा में द्रुत; आदि, निःसारु, कुड्डक में मध्य और रूपक, अड्ड और यति में विलंबित लय का प्रयोग।[2] यति—प्राचीन ग्रंथों के अनुसार हैं।

मान—'मान' की धारणा नई है जो अन्य किसी ग्रंथ में प्राप्त नहीं होती। मान की परिभाषा यह है :—

विश्रान्तिकारिणीकालक्रियामानमिहोच्यते।
तालविश्रामकारित्वान्मानं तालसमाप्तिकृत्॥[3]

ताल की समाप्ति करने वाली क्रिया 'मान' है। ताल के आरम्भ के लिये जैसे ग्रह कहा गया है उसी तरह गीत की समाप्ति के लिये इस नये तत्त्व की कल्पना हुई है। गीत के अन्त में गान की समाप्ति के लिये मान देना चाहिये :—

गीतावसाने दातव्यं मानं गानसमाप्तये।[4]

गीत में ताल के उठान से जिस प्रकार वैचित्र्य आता है उसी तरह समाप्ति से भी। संभवतः इसीलिये ग्रह से भिन्न 'मान' को अलग से कहा गया। मान दो प्रकार का है—

१. सं. ना., ४८८–४८९
२. सं. ना., १/४६५-४६६
३. वही, ५०२
४. वही, ३२१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्धमान और हीयमान।[१] उत्तर भारत के वर्तमान लक्ष्य के 'अतीत सम' और 'अनागत सम' इनके ठीक पर्याय हैं। विशेष विवरण ताल अध्याय में दिया जा चुका है।

धातु की पुनरुक्तता और नवनवत्व—पुनरुक्तता का अर्थ है 'गीतावयवस्य पुनः पुनर्गानम्'।[२] आज की भाषा में गीत की पहली पंक्ति की वारबार आवृत्ति। नवनवत्व—'वारं वारं गीयमानमपि रञ्जनातिरेकेण नवनवमिव प्रतीयमानत्वम्'।[३] यानी किसी अंश को बार-बार गाने पर भी उसमें नवीनता की अनुभूति होना।

शेष सब गुण स्पष्ट हैं।

दोष

नारदीयशिक्षा में गान के १४ दोष कहे गये हैं :—

शंकितं भीतमुद्घृष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
काकस्वरं शिरसिगतं तथा स्थानविवर्ज्जितम्॥
विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम्।
व्याकुलं तालुहीनं च गीतिदोषाश्चतुर्दश॥[४]

इनका विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि इनका संबंध मुख्यतः गायक और प्रस्तुतीकरण से है। अनुनासिक और काकस्वर—ये दो ही कंठ से संबंधित हैं लेकिन रचना, जो गीत का आधार है, से किसी का संबंध नहीं है।

संगीतरत्नाकर में गीत के १० दोष कहे गये हैं :—

दुष्टं लोकेन शास्त्रेण श्रुतिकालविरोधि च॥
पुनरुक्तं कलाबाह्यं गतक्रममपार्थकम्।
ग्राम्यं संदिग्धमित्येवं दशधा गीतदुष्टता॥[५]

अर्थात् लोक और शास्त्र की दृष्टि से दोषयुक्त, श्रुति और काल का विरोधी, पुनरुक्त, कलाहीन, क्रमरहित, निरर्थक, ग्राम्य और संदेह से युक्त—इन १० के कारण गीत दोषयुक्त होता है।

लोक का अर्थ है लक्ष्य और शास्त्र का लक्षण। यानी लक्ष्य और लक्षण की दृष्टि से गीत में किसी भी प्रकार का दोष होना। श्रुति दोष यानी स्वरों की श्रुतियों का सही प्रयोग न हो। निषिद्धकाल में गान कालविरोधिता है। एक ही बात वार-बार कहने से पुनरुक्त है जिसमें रचना, स्वर और गाने का ढंग—तीनों की पुनरुक्ति आ जाती है। क्रमरहित यानी व्यवस्था न हो अर्थात् जिसमें से अर्थ निकल गया हो अर्थात् जिसमें अर्थ-संगति न हो। ग्राम्य यानी जिसमें अभद्र या अश्लील कथन हो।

---

१. वही, ५०३-५०४
२. वही, ५०४ का गद्यखण्ड
३. वही
४. ना. शि., १/३/११-१२
५. सं. र., ४/३७९-३८०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इनमें प्रस्तुतीकरण संबंधी दोष अधिक हैं। जैसे—श्रुतिकाल-विरोधी, पुनरुक्त, कलाबाह्य, गतिक्रम और संदिग्ध। रचना संबंधी दोष अपार्थ और ग्राम्य हैं। कंठ के दोषों का उल्लेख नहीं है। संभवतः गुणों का अभाव ही दोष माना गया हो यद्यपि दोष के भाव और गुणों के अभाव में अन्तर है। गुण न हों तो चल सकता है लेकिन दोष हों तो गीत अच्छा नहीं हो सकता। दूसरी ओर दोष न हों और उत्कृष्ट गुणों का योग हो तो गीत उत्कृष्ट हो जायगा। इसीलिये नाट्याचार्य के लिये यह निर्देश है कि वह नाट्यप्रयोग में दोषवान् को छोड़ दे और गुणवान् का ग्रहण कर ले।

संगीतपारिजात में गुणों के अभाव को ही दोष माना है—'अत्रोक्तानां गुणानां ये त्वभावा दोषसंज्ञिन:'।[१] कुछ गुणों का अभाव अवश्य दोष कहा जा सकता है। जैसे— व्यक्तत्व का अभाव—स्वर, शब्द, अर्थ आदि का स्पष्ट न होना। लेकिन यह दोष गीत या गायक किसी में भी हो सकता है। गीत की रचना में स्पष्टता न हो तो वह गीत का और मूलतः रचयिता का दोष माना जायगा। किन्तु रचना स्पष्ट हो और स्पष्ट रूप में गाया न जाय तो दोष गायक का होगा। फिर भी कुछ दोष ऐसे होंगे जो केवल गायक या केवल रचना के ही होंगे। जैसे—सुकुमारता-मधुरता का अभाव अर्थात् परुषता और कर्कशता गायक के दोष कहे जायँगे जब कि शब्दों की अनुचित योजना और अर्थ की अस्पष्टता रचना का दोष माना जायगा।

संगीतनारायण में गीत के दोष इस प्रकार हैं—वाणी का स्खलन, तालादि का अभाव, धातु-मातु की हानि, कटु उक्ति, रस की हानि, सुनने में अप्रिय।[२] इनकी कोई व्याख्या नहीं की गई है। फिर भी सामान्य रूप से वाणीस्खलन का संबंध गायक से; तालाभाव, धातु-मातु की हानि, कटु उक्ति, रसभंग का वाग्गेयकार से और अप्रियता का मुख्य रूप से गायक से संबंध कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गीत के गुण-दोष निरूपण में यह अभिप्राय रहा है कि पद और गेय अर्थात् वाग्गेयकार और गायक दोनों के कर्म का समावेश हो सके। फिर भी गायक के गुणदोष अलग से कहे क्योंकि गीत या रचना को वही प्रस्तुत करता है और वही गीत के प्रभाव को उत्पन्न करने का साधक है; इसलिये ऐसे गुणदोष छूट न जायें जो गायक से ही संबंधित हों, गीत से नहीं।

एला प्रबंध के दश प्राण

एला नामक प्रबंध (लक्षण अगले परिच्छेद में देखें) के प्राणों का उल्लेख किये बिना गीत के गुणों का अध्ययन अधूरा रहेगा इसलिये उन पर भी विचार करना आवश्यक है। शुद्धसूडों में पहला एला है जिसमें १६ पद होते हैं और इन पदों के १० प्राण हैं। जैसे जीवन का हेतु प्राण होता है उसी प्रकार यहाँ पद के अस्तित्व के हेतु ये प्राण हैं। इनके बिना पद निर्जीव हैं। १० प्राण ये हैं :—

---

१. सं. पा., श्लो. ५४५ २. सं. ना., १/५२२-५२३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समानो मधुरः सान्द्रः कान्तो दीप्तः समाहितः ।
अग्राम्यः सुकुमारश्च प्रसन्नौजस्विनाविति ।।
मान्धात्रादिपदेषु स्युः प्राणा दश दशस्विमे ।[1]

समान, मधुर, सान्द्र, कान्त, दीप्त, समाहित, अग्राम्य, सुकुमार, प्रसन्न, ओजस्वी—ये प्राण एला के मान्धाता आदि पदों में होते हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं। समान—अल्प अक्षर और अल्प स्वर युक्त। मधुर—अल्प नाद और अल्प मूर्च्छना युक्त अर्थात् आदिम और अन्तिम स्वर का लम्बा प्रयोग और बीच के स्वरों का स्पर्शमात्र है। सान्द्र—अक्षरों की घनता, अल्पध्वनि, तारगति वाला है। इसमें कम स्वरों में अधिक शब्दों का प्रयोग होता है। कान्त—ध्वनि की अतिशय रंजकता से युक्त। दीप्त—दीप्त नाद वाला। समाहित—स्थायिवर्ण के स्वरों से युक्त। अग्राम्य—अक्षरों व स्वरों की विशेष ढंग से आवृत्ति हो और स्वर वही रहें लेकिन शब्द के अन्तिम २-३ अक्षर दोहरा कर अगला शब्द गाया जाय। सुकुमार—अक्षर, नाद और मूर्च्छना (तान) की कोमलता। प्रसन्न—पद, स्थान और स्वरों का तुरन्त स्पष्ट होना। ओज—समासबाहुल्य के कारण पद में आने वाली उत्कटता से युक्त।[2] इनमें से कुछ संज्ञाएँ अन्वर्थ हैं और शेष पारिभाषिक।

गीत के तीनों पक्षों से संबद्ध गुण इनमें है। समान, समाहित, अग्राम्य, ओज रचना संबंधी हैं। मधुर और दीप्त प्रस्तुत करने से संबंधित हैं। सान्द्र का संबंध रचना और ढंग से है। कान्त का कंठ और ढंग से है। सुकुमार और प्रसन्न का रचना, कंठ और ढंग—तीनों से संबंध है।

एक ही प्रबंध में गीत के लगभग सारे गुण आ गये हैं इसीलिये एला को सर्वोपरि, उत्तम, महाकठिन प्रबंध माना गया है, जिसकी महिमा ब्रह्म के समान है,[3] जो श्रोता और प्रयोक्ता दोनों को धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि देने वाला है।[4] यही कारण है कि संगीतरत्नाकर में एला का निरूपण भेद-प्रभेदों सहित अत्यन्त विस्तार के साथ और पूर्ण रूप में किया गया है। लेकिन अपने ऐसे स्वरूप के कारण यह दुष्कर और अत्यन्त कष्ट-साध्य भी है।

---

१. सं. र., ४/४७-४८
२. वही, ४८-५२
३. रा. गो. सं, अ. ५, पृ. २६
४. सं. र., ५/५२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिच्छेद ख

प्रबन्ध-भेदों के लक्षण और प्रबन्धों के स्वरूप में परिवर्तन

प्रबन्ध सम्बन्धी ग्रन्थों का परिचय

प्रबन्ध का निरूपण जिन ग्रंथों में मिलता है उन्हें दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहला वर्ग तो वह जिसमें सामान्यतः अर्थात् पूरे संगीतशास्त्र की दृष्टि से भरत पद्धति का अनुसरण हुआ है। प्रबन्ध का निरूपण भरतोत्तर काल में हुआ इसलिये प्रबन्ध को छोड़ कर अन्य विषयों के प्रसंग में भरत-पद्धति के अनुसरण की बात यहाँ कही गई है। इस वर्ग में बृहद्देशी, भरतभाष्य, मानसोल्लास, संगीतचूडामणि, संगीतसुधाकर, संगीतरत्नाकर, संगीतसमयसार, संगीतोपनिषत्सारोद्धार, संगीतशिरोमणि और संगीतराज को लिया जा सकता है। १९वीं सदी में लिखा गया 'राधागोविन्द संगीतसार' भी इसी परम्परा का ग्रंथ है। दूसरा वर्ग वह है जिसमें भरत पद्धति से न्यूनाधिक भेद दिखाई देता है। इसमें ये ग्रंथ हैं—संगीतदामोदर, रसकौमुदी, नर्तन-निर्णय, संगीतसुधा, संगीतसूर्योदय, संगीतपारिजात, चतुर्दण्डीप्रकाशिका, संगीतसारामृत, अनूपसंगीतरत्नाकर, अनूपसंगीतांकुश, अनूपसंगीतविलास और संगीतनारायण आदि मध्ययुगीय ग्रंथ।

इनमें से बृहद्देशी अत्यन्त खंडित है। मानसोल्लास में राजकुमारों की शिक्षा के प्रसंग में गीत के अंतर्गत प्रबंध निरूपण है। चूडामणि और संगीतसुधाकर भी अत्यन्त खंडित हैं। इन कारणों से संगीतरत्नाकर को प्रबंध-निरूपण के लिये हमने आधार माना है। बाद के ग्रन्थों में अधिकांशतः इसी के लक्षणों की आवृत्ति हुई है।

मध्ययुगीय ग्रन्थों में रत्नाकर के प्रबंध लक्षण अधिकतर ज्यों के त्यों लिये गये हैं। ऐसा लगता है कि केवल परम्परा के निर्वाह के लिये लक्षण दिये हैं क्योंकि लक्ष्य में इनका प्रयोग या तो कम हो गया था या स्वरूप बहुत बदल गया था। इन परिवर्तनों का अंकन सामान्य रूप से ग्रंथकारों ने नहीं किया। संगीतदामोदर में सालगसूडों में यत्र-तत्र कुछ संकेत हैं। संगीतनारायण एकमात्र ऐसा ग्रंथ है जिसमें लक्ष्य का पूरा-पूरा अंकन हुआ। जो परिवर्तन हुए तथा जो कुछ लक्ष्य से लुप्त हुआ उसका भी स्पष्ट उल्लेख इसमें किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस ग्रन्थ का बड़ा महत्त्व है इसलिये इस पर कुछ विस्तार से प्रकाश डाला जायगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रस्तुत खण्ड में संक्षेप में प्रबंधों के लक्षण दिये जा रहे हैं। पहले रत्नाकर के अनुसार और उसी वर्ग के अन्य ग्रंथों में प्राप्त उन प्रबंधों के लक्षण जो रत्नाकर में नहीं हैं और इसके वाद प्रवन्धों में हुए परिवर्तनों और नये भेदों का निरूपण द्वितीय वर्ग के ग्रन्थों के अनुसार किया जायगा।

(अ) भरत परम्परा के ग्रन्थों में प्रबन्धों के लक्षण

संगीतरत्नाकर

संगीतरत्नाकर में प्रबन्धों के तीन वर्ग और उनमें प्रवन्धों के नाम इस प्रकार कहे गये हैं—

सूड—एला, करण, ढेंकी, वर्तनी, झोंवड, लंभ, रासक और एकताली।[१]

आलि—वर्ण, वर्णस्वर, गद्य, कैवाड, अंकचारिणी, कन्द, तुरगलीला, गजलीला, द्विपदी, चक्रवाल, क्रौंचपद, स्वरार्थ, ध्वनिकुट्टनी आर्या, गाथा, द्विपथ कलहंस, तोटक, घट, वृत्त, मातृका, रागकदम्ब, पंचतालेश्वर, तालार्णव।[२]

विप्रकीर्ण—श्रीरंग, श्रीविलास, पंचभंगी, पंचानन, उमातिलक, त्रिपदी, चतुष्पदी, षट्पदी, वस्तु, विजय, त्रिपथ, चतुर्मुख, सिंहलील, हंसलील, दण्डक, झम्पट, कन्दुक, त्रिभंगी, हरविलास, सुदर्शन, स्वरांक, श्रीवर्धन, हर्षवर्धन, वदन, चच्चरी, चर्या, पद्धडी, राहडी, वीरश्री, मंगलाचार, धवल, मंगल, ओवी, लोली, ढोल्लरी, दन्ती।[३]

सालगसूड—ध्रुव, मंठ, प्रतिमंठ, निःसारुक, अड्डताल, रासक, एकताली।[४]

विस्तार भय से इन प्रबंधों के लक्षण संक्षेप में मूल तथा कल्लिनाथ और सिंहभूपाल की टीकाओं के आधार पर दिये जा रहे हैं।

शुद्धसूड प्रवंध

(१) एला[५]

इसमें कुल १६ पद हैं, ३ पाद हैं। प्रथम पद द्विखण्ड है। पूरा प्रासबद्ध होता है। इस लक्षण के द्वारा एला में प्रास के महत्त्व का सूचन किया गया है। पहले और दूसरे पादों में ५-५ और तीसरे पाद में २ पद हैं। इसके बाद ४ पद अलग हैं। मेलापक रहने पर ११ पदों का उद्ग्राह, १२वें का मेलापक, १३ से १५ तक ध्रुव और १६वें पद से आभोग होता है। मेलापक न हो तो १२ पदों का उद्ग्राह होता है। पहले, छठे और ग्यारहवें पद द्विखण्ड होते हैं। दोनों खंड समानधातुक (एकसी स्वरयोजना वाले) होते हैं। दूसरा, सातवाँ और १२वाँ पद 'प्रयोग' युक्त होता है। १३वें और १४वें पदों की धातु भी एकसी होती है। पहले पाद में तीसरे और चौथे पद विलंबित लय से और ५वाँ पद द्रुत लय से गाया जाता है। इसी प्रकार दूसरे पाद के ८वें ९वें पद विलंबित तथा १०वाँ द्रुत लय से गाया जाता है। अन्तिम ४ पदों में से पहले

---

१. सं. र., ४/२३–२४
२. वही, २४-२८
३. वही, २८-३३
४. वही, ३१४
५. वही, ३३–१३२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दो (१३वाँ, १४वाँ) मध्य लय से और तीसरा (१५वाँ) विलंवित लय से गाया जाता है। पहले पाद की धातु से ही दूसरे और तीसरे पाद भी गाये जाते हैं। एला के दूसरे, ७वें और १२वें पद संबोधनपद से अन्वित हैं। १३वें से १५वें तक स्तुत्य के नाम से अंकित तथा १६वाँ वाग्गेयकार के नाम से युक्त होता है। १६ पदों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—काम, मन्मथवत्, कान्त, जित, मत्त, विकारी, मान्धाता; सुमति, शोभी, सुशोभी, गीतक, उचित, विचित्र, वासव, मृदु और सुचित्र। इन लक्षणों को एक सारिणी के रूप में नीचे दिया जा रहा है :—

धातु नाम	पद संख्या	पाद संख्या	पदनाम	पदों का गेय स्वरूप	पदों की लय	पदों की रचना सम्बन्धी लक्षण	पादों का गेय स्वरूप
	१	प्रथम	काम	समधातुक		द्विखंड	प्रथम
	२		मन्मथवत्	'प्रयोग'		संबोधन पदान्वित	पाद
	३		कान्त		विलम्वित	प्रथम 'पल्लव' पद	जैसी
	४		जित		विलम्वित		ही
	५		मत्त		द्रुत		धातु
	६	द्वितीय	विकारी	समधातुक		द्विखंड	द्वितीय
	७		मान्धाता	'प्रयोग'		संबोधन पदान्वित	पाद
	८		सुमति		विलम्वित		
	९		शोभी		विलम्वित	द्वितीय 'पल्लव' पद	
	१०		सुशोभी		द्रुत		और
	११	तृतीय	गीतक	समधातुक		द्विखंड	तृतीय
	१२		उचित	'प्रयोग'		संबोधन पदान्वित	पाद में
	१३		विचित्र	समधातुक	मध्य	द्विखंड	
	१४		वासव		मध्य	स्तुत्य के नाम से अंकित	
	१५		मृदु		विलम्वित		
	१६		सुचित्र			वाग्गेयकार के नाम से युक्त	

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कल्लिनाथ के अनुसार पूरे पद को फिर से गाकर ध्रुव में और सिंहभूपाल के अनुसार केवल ध्रुव को फिर से गाकर गीत समाप्त होता है। इसमें विषम ग्रह (अतीत या अनागत) है। मंठ कंकाल, द्वितीय, प्रतिताल हैं और त्याग, सौभाग्य, शौर्य, धैर्य आदि का वर्णन होता है।

एला के ४ अक्षरों (अ+इ+ल्+आ) के क्रमशः विष्णु, कामदेव, लक्ष्मी और विष्णु देवता हैं।

एला के भेद—एला चार प्रकार की होती है—गणैला, मात्रैला, वर्णैला और देशैला।

गणैला[1]—शुरू के पादों में विशेष गण और उनकी संख्या का नियम होता है। शुद्ध गणैला ४ हैं—नादावती, हंसावती, नंदावती, भद्रावती जिनमें क्रम से ५ भगण (ऽ।।)+१ नगण (।।।), ५ रगण (ऽ।ऽ)+१ सगण (।।ऽ), ५ तगण (ऽऽ।)+१ जगण (।ऽ।), ५ मगण (ऽऽऽ)+१ यगण (।ऽऽ)—यह गणनियम है। इनके मिश्रण से संकीर्ण गणैला और गणों में विकार से विकृता गणैला बनती हैं।

मात्रैला[2]—६, ५, ४, ३, और २ मात्राओं के मात्रिक गणों से युक्त निश्चित अक्षर संख्या के आधार पर ४ प्रकार की मात्रैला होती हैं—रतिलेखा, कामलेखा, बाणलेखा और चन्द्रलेखा जो क्रमशः रतिगण (द्विमात्रिक), कामगण (त्रिमात्रिक), बाणगण (चतुर्मात्रिक) और उनके मिश्रण से बनती हैं।

वर्णैला[3]—वर्णों अर्थात् अक्षरों की संख्या के आधार पर २४ प्रकार की वर्णैला होती हैं जिनमें क्रमशः प्रतिपाद ६ अक्षर से आरंभ करके १-१ अक्षर की वृद्धि करके ३२ अक्षर तक होते हैं।

देशैला[4]—कर्णाट, लाट, गौड, आन्ध्र और द्रविड प्रदेश की भाषाओं से ५ प्रकार की देशैला होती हैं जो विशेष तालों के अतिरिक्त अनुप्रास, रस, राग, भाव आदि के विशेष नियमों से भी युक्त होती हैं।

एला प्रबन्ध के भेद-प्रभेदों को मिला कर कुल ३५६ प्रकार होते हैं।

(२) करण[5]

उद्ग्राह और ध्रुव स्वरबद्ध, गाता और नायक के नाम से युक्त आभोग रासताल, द्रुतलय, इष्टस्वर से आरंभ, अंश स्वर से समाप्ति—इन लक्षणों से युक्त प्रबन्ध है। इसके ८ भेद हैं—स्वरकरण, पाटकरण, बन्धकरण, पदकरण, तेनकरण, विरुदकरण, चित्रकरण और मिश्रकरण। उद्ग्राह सभी में स्वरबद्ध है। ध्रुव में अन्य अंगों के प्रयोग से भेद होते

१. सं. र., ४/६६-९४
२. वही, ९४-१०५
३. वही, १०५-११३
४. वही, ११४-१३१
५. वही, १३२-१४४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं। इन सभी में गेय अंश की विशेष प्रकार से आवृत्ति होने से ३-३ भेद हो जाते हैं। इस प्रकार कुल २४ प्रकार के करण हैं।

(३) ढेङ्की[1]

उद्ग्राह का पूर्वार्ध दो वार, उत्तरार्ध एक बार, विकल्प से 'प्रयोग' रूप मेलापक, उद्ग्राह और मेलापक अताल या विलंबित कंकाल अथवा ढेंकिका ताल से, ध्रुव और आभोग किसी अन्य ताल और भिन्न लय से, ध्रुव के तीन खंडों में से प्रथम दो खंड समान धातु में बद्ध और तीसरा ऊँची धातु में तथा पूरा ध्रुव दो बार गाकर आभोग एक वार और फिर पूरा प्रबन्ध दुबारा गाकर ध्रुव में न्यास होता है। छन्दरहित अथवा १, २ या अनेक छन्दों से बद्ध होने पर अनेक भेद बनते हैं।

(४) वर्तनी[2]

स्वरकरण के सदृश है। अन्तर यह है कि रासताल के बजाय किसी अन्य ताल से और द्रुत के स्थान पर विलंबित लय से गाया जाता है। उद्ग्राह दो वार, ध्रुव और आभोग १-१ वार गाकर ध्रुव में समाप्ति होती है।

जब कंकाल, प्रतिताल, कुडुक्क, द्रुतमंठ में से किसी एक ताल में रचित हो तो वर्तनी को ही विवर्तनी कहा जाता है।

(५) झोंवड[3]

उद्ग्राह का पूर्वार्ध दो वार, उत्तरार्ध एक बार, 'प्रयोग' युक्त मेलापक विकल्प से, ध्रुव दो वार और आभोग एक बार गाकर ध्रुव में समाप्त होने वाला झोंवड प्रबंध है। इसमें निःसारु, कुडुक्क, त्रिपुट, प्रतिमंठ, द्वितीय, गारुगि, रास, यतिलग्न, अड्ड और एकताली—इन १० तालों का ही प्रयोग होता है। तारज, अतारज, त्रिधातुक, चतुर्धातुक, कम गमक, अधिक गमक, गद्य, पद्य, गद्य-पद्य, रस, अलंकार भेद से झोंवड के ३५१० भेद होते हैं। सबसे ज्यादा भेद इसी प्रबंध के हैं।

(६) लम्भ[4]

एक खंड अथवा द्विखंड उद्ग्राह दो वार या एक वार, ध्रुव दो वार, आभोग विकल्प से तथा ध्रुव में समाप्ति होने पर लंभ प्रबन्ध होता है। इसके ७ भेद हैं जो सालगसूडों में प्रयुक्त ७ तालों से गाये जाते हैं और उद्ग्राहादि धातुओं के प्रयोग और संख्या के विशेष नियमों से युक्त हैं।

(७) रासक[5]

झोंवड और रासक में यही भेद है कि झोंवड की गमक इसमें नहीं है, मेलापक नहीं

---

१. वही, १४५-१५२
२. वही, १५२-१५४
३ वही, १५५-१६८
४. वही, १६९-१७५
५. वही, १७५-१७६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता और केवल रासताल का प्रयोग होता है। मात्रिक गणों के आधार पर इसके भेद बनते हैं। कल्लिनाथ ने ८२ भेद कहे हैं। उल्लेखनीय है कि छन्द संबंधी ग्रंथों में रासक छन्द के भी अनेक भेद कहे गये हैं।

(८) एकताली[1]

दो बार उद्ग्राह, दो बार ध्रुव, फिर आभोग और ध्रुव एक एक बार गाकर सिंहभूपाल के अनुसार उद्ग्राह में तथा कल्लिनाथ के अनुसार ध्रुव में न्यास किया जाय और एकताली ताल से गाया जाय तो एकताली प्रवन्ध होता है। मतान्तर से इसका उद्ग्राह केवल आलापयुक्त होता है।

आलिप्रबन्ध

(१) वर्ण[2]—विरुद, वर्णताल और कर्णाट भाषा से होता है। वर्णताल के ३ भेदों से तीन प्रकार का वर्ण प्रबन्ध होता है।

(२) वर्णस्वर[3]—स्वर, पाट, पद और तेन के इच्छित क्रम से रचना हो और न्यास तेन से हो तो वर्णस्वर होता है। इन चारों अंगों के क्रम परिवर्तन से ४ प्रकार का होता है।

(३) गद्य[4]—छन्दरहित पदों के समूह को गद्य कहते हैं। यह ६ प्रकार का होता है और प्रत्येक में ६ गतियाँ होने से गद्य के कुल ३६ भेद हैं।

(४) कैवाड[5]—इसमें उद्ग्राह और ध्रुव—ये दोनों धातुएँ करपाटों से होती हैं तथा समाप्ति उद्ग्राह में होती है। सार्थक और निरर्थक पाटों से दो प्रकार का होता है और दोनों फिर शुद्ध और मिश्र दो प्रकार के होते हैं।

करपाट का अपभ्रंश रूप 'कैवाड़' है। वाद्यों से उत्पन्न ध्वनियों के वाचक अक्षरों से ही अर्थयुक्त और निरर्थक रचना बनाई जाय तो उसे कैवाड कहा जाता है।

(५) अंकचारिणी[6]—वीर और रौद्र रसों के विरुदों से बद्ध होता है। आभोग में वर्ण्य नायक का नाम और किसी भी इष्टताल का प्रयोग होता है। तालों की संख्या के आधार पर ६ भेद होते हैं।

(६) कन्द[7]—कर्णाट आदि देशी भाषाओं के पदों, पाटों, विरुदों से तालरहित, आर्यागीति, वीररसयुक्त, पाट से समाप्त होने वाला प्रबन्ध है। इस में ३२ गुरु अक्षरों से आरम्भ करके क्रम से १-१ गुरु को भंग करके अर्थात् लघु बना कर २९ भेद बनते हैं।

(७) हयलीला[8]—स्वर, पद, विरुद और हयलीला ताल से गाया जाने वाला

---

१. वही, १८०-१८१
२. वही, १८१-१८२
३. वही, १८२-१८३
४. वही, १८४-१९८
५. वही, १९९-२००
६. वही, २००-२०४
७. वही, २०४-२०९
८. वही, २०९-२१२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रबन्ध है। गद्य और पद्य तथा ताल और अताल के कारण भेद बनते हैं। हयलीला छन्द के आधार पर भी इसका एक प्रकार माना गया है।

(८) गजलीला[१]—गजलील ताल से बद्ध तथा छन्द को छोड़ कर शेष हयलीला के लक्षणों से युक्त प्रबन्ध है।

(९) द्विपदी[२]—करुण ताल से गाया जाने वाला तथा शुद्ध, खंड, मात्रा और सम्पूर्ण भेदों वाला प्रबंध है।

(१०) चक्रवाल[३]—पूर्व-पूर्व शब्दों के अन्तिम-अन्तिम दो या तीन अक्षर यदि अगले-अगले शब्दों के शुरू में आयें तो उसे चक्रवाल प्रबंध कहा जाता है। गद्य और पद्य भेद से दो प्रकार का होता है।

(११) क्रौंचपद[४]—पद, स्वर से बद्ध, प्रतिताल से युक्त, क्रौंचपद छन्द से युक्त अथवा छन्दरहित और स्वर से समाप्त होने वाला प्रबंध है।

(१२) स्वरार्थ[५]—स्वरों के वाचक स, रि आदि अक्षरों की योजना से ही वांछित अर्थ व्यक्त हो तो स्वरार्थ प्रबंध होता है। शुद्ध और मिश्र स्वराक्षरों से दो प्रकार का होता है। एक स्वर से शुरू करके एक-एक नया स्वर जोड़ते हुए ७ स्वरों से इसके असंख्य भेद बनते हैं।

(१३) ध्वनिकुट्टनी[६]—मंठ और कंकाल को छोड़ कर दो भिन्न तालो से युक्त उद्ग्राह और ध्रुव, समसंख्यक मात्राओं पर यति, मेलापक न हो, ढेंकी के समान दो तालों में दो भिन्न लयों से गाया जाय—वह ध्वनिकुट्टनी प्रबंध है।

भरतभाष्य में ऐसा उल्लेख है कि ध्वनि के कदन के कारण इसकी संज्ञा ध्वनि-कुन्दिनी है।[७]

(१४) आर्या[८]—आर्या के दो भाग होने पर दल के अंत में और चार चरण होने पर पहले-तीसरे चरणों के अंत में स्वर से न्यास होता है, प्रथम दल दो वार और दूसरा दल एक वार गाया जाता है। आभोग में नायक और प्रबंध का नाम तथा उद्ग्राह से समाप्त होता है। इसमें गुरु मात्राओं का भंग करके २६ भेद बनते हैं।

(१५) गाथा[९]—आर्या ही प्राकृत भाषा से बद्ध होने पर गाथा प्रबंध कहलाता है। मतान्तर से त्रिपदी, पंचपदी या षट्पदी गाथा कही गई है।

(१६) द्विपथ[१०]—द्विपथ छन्द से, सताल या अताल, स्वर से समाप्त होने वाला

१. वही, २१२-२१३
२. वही, २१३-२१९
३. वही, २१९-२२०
४. वही, २२१
५. वही, २२२-२२३
६. वही, २२४-२२५
७. भरत., सं. शा. वि. प्रति के आधार पर
८. सं. र., ४/२२५-२३१
९. वही, २३१-२३२
१०. वही, २३२-२४१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रबन्ध है। द्विपथ छन्द को ही दोधक तथा प्राकृत में 'दोहू' भी कहा जाता है। स्वर और 'प्रयोग' के द्वारा इसके ४ भेद होते हैं।

(१७) कलहंस[१]—कलहंस छंद से हर पाद के अंत में स्वर, झंपादि ताल से तथा स्वर से समाप्त होने वाला प्रबन्ध है। इसके वर्णज और मात्रिक दो भेद हैं।

(१८) तोटक[२]—तोटक छन्द से तथा हर पाद की समाप्ति स्वर से होने पर तोटक प्रवन्ध होता है।

(१९) घट[३]—द्विपदी का आधा तेनकों के द्वारा हो और तेनक से ही समाप्त हो तो घट प्रवन्ध कहलाता है।

(२०) वृत्त[४]—किसी भी वृत्त और किसी भी ताल से वद्ध प्रवन्ध वृत्त कहलाता है। मतान्तर से वृत्त नामक छन्द से बद्ध होता है।

(२१) मातृका[५]—क्रम से 'अ' से आरम्भ करके 'क्ष' तक के स्वर और व्यंजनों से शब्द आरम्भ करके मातृका प्रबन्ध होता है। संस्कृत, प्राकृत और उनके मिश्रण से तथा उनके साथ क्रमशः मार्ग, देशी और मिश्रतालों से क्रम से दिव्या, मानुषी और दिव्यमानुषी भेद कहे गये हैं। अनिवद्ध-निवद्ध, गद्यज-पद्यज भेद से इसके अनेक भेद हैं।

(२२) रागकदम्ब[६]—वृत्त, राग और तालों के समूह से इसकी रचना होती है। दो प्रकार का होता है—नन्द्यावर्त और स्वस्तिक। पहले में ४ छन्द, ४ ताल और अनेक राग होते हैं। ताल की दो आवृत्ति अथवा उद्ग्राह से न्यास होता है। स्वस्तिक में छन्द आदि की संख्या दुगनी होती है। दोनों में रागों की संख्या अधिक होती है इसीलिये राग-कदम्व कहा जाता है। इसके अन्य भेदों में वृत्त, राग, तालादि की अधिकतम संख्या ६४ होती है।

(२३) पंचतालेश्वर[७]—इसके शुरू में अताल आलाप होता है। इसके बाद पाँच खण्ड होते हैं जिनमें क्रमशः चच्चत्पुट, चाचपुट, षट्पितापुत्रक, सम्पक्वेष्टाक और उद्घट्ट— इन ५ मार्गतालों का प्रयोग होता है। शुरू के ३ खण्डों में ५-५ और शेष खण्डों में ६-६ पद होते हैं। प्रत्येक खण्ड में पहले सभी पदों का दो-दो वार प्रयोग होता है, उसके बाद स्वर और पाट का। इसके वाद उन्हीं तालों के दो-दो आवर्तनों से अन्तरा होता है। पाँचों खण्डों के अन्तरों में क्रम से पटह, हुडुक्का, शंख, कांस्यताल और मुरज के पाट रहते हैं। इसके बाद उद्घट्ट ताल से आभोग होता है। शुरू के पद मध्य या विलंबित लय में और आभोग द्रुत लय में गाया जाता है। आभोग में वर्ण्य नायक और वाग्गेयकार का नाम

---

१. वही, २४२-२४३
२. वही, २४४-२४५
३. वही, २४६
४. वही, २४६-२४८
५. वही, २४८-२५२
६. वही, २५३-२५६
७. वही, २५६-२६४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहता है। अंत में मंगलवाक्य यानी 'तेन' होता है। आलाप में ही न्यास किया जाता है। वीर और श्रृंगार रस में गाने पर क्रमशः वीरावतार और श्रृंगारतिलक भेद होते हैं।

प्रबन्धों में यही एकमात्र ऐसा प्रबन्ध है जिसमें मार्गतालों का प्रयोग है। संभवतः इसी कारण इसे उत्कृष्ट मान कर इसके नाम में 'ईश्वर' शब्द रखा है।

गीत शुरू करने से पहले तालरहित आलाप करने का वर्तमान लक्ष्य में जो रूप है उसका मूल पंचतालेश्वर के अताल आलाप की परंपरा में देखा जा सकता है।

(२४) तालार्णव[1]—अनेक तालों से बद्ध तथा गद्य-पद्य भेद से यह दो प्रकार का होता है। इसमें और पंचतालेश्वर में मुख्य अंतर यह है कि इसमें विशेष तालसंख्या, पद-पाटादि का नियम नहीं है। स्वेच्छा से किन्हीं तालों का प्रयोग किया जा सकता है।

विप्रकीर्ण प्रबन्ध

(१) श्रीरंग[2]—४ राग, ४ तालों और अन्त में पदवाला प्रबन्ध है।

(२) श्रीविलास[3]—५ राग, ५ तालों से युक्त तथा स्वर से समाप्त होने वाला प्रबन्ध है।

(३) पंचभंगी[4]—२ राग, २ ताल और तेन से अन्त होता है।

(४) पंचानन[5]—२ राग, २ ताल और पाटान्त है।

(५) उमातिलक[6]—३ राग, ३ ताल और विरुदान्त है। अन्तिम तीनों प्रबंध छहों अंगों से युक्त होते हैं।

(६) त्रिपदी[7]—४ पाद वाले इस प्रबंध के शुरू के दो पदों में ३-३ अक्षर के २-२ गण, तीसरे पाद के ४ गणों में से पहले, तीसरे, चौथे ३-३ अक्षर वाले और दूसरा २ अक्षर वाला गण होता है। चौथे पाद के पहले तीसरे गण ३-३ अक्षर के और दूसरा गण २ अक्षर वाला होता है। शुरू के २ पाद गाकर तीसरे का थोड़ा सा अंश गाकर फिर पूरे तीसरे पाद को गाया जाता है और तब चौथा पाद गाया जाता है। यह अताल और कर्णाट भाषा से युक्त होता है।

(७) चतुष्पदी[8]—समपादों में १६, विषम पादों में १५ मात्राओं से युक्त, भिन्नार्थ यमक वाला, आधा स्वर और आधा तेनकों से बद्ध, तेन से समाप्त होने वाला, तालहीन और कर्णाट भाषा से युक्त प्रबन्ध है।

(८) षट्पदी[9]—इसमें ६ पाद होते हैं जिनमें कुल १४ गण हैं। ७वाँ और १४वाँ

---

१. वही, २६५
२. वही
३. वही, २६६
४, ५, ६. वही, २६६-२६७
७. वही, २६८-२७०
८. वही, २७१-२७२
९. वही, २७२-२७४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गण ४-४ अक्षर वाला और शेष ३-३ अक्षर वाले होते हैं। कर्णाट भाषा युक्त, अताल और आकार में स्थायी स्वर गाकर उसी पर समाप्त किया जाता है।

(९) वस्तु[1]—५ चरणों में से पहले, तीसरे, पाँचवें चरणों में १५-१५ और दूसरे-चौथे में १२-१२ मात्राएँ होती हैं। दो चरणों में स्वर और अन्त में पाट तथा शेष तीन में स्वर और अन्त में तेन होते हैं। इसके बाद एक दोधक होता है जो तेन से समाप्त होता है।

(१०) विजय[2]—तेन, स्वर, पाट और पदवद्ध, विजयताल, राजा की विजय का वर्णन और तेन से न्यास—ऐसा विजय प्रबंध है।

(११) त्रिपथ[3]—इसके तीन चरणों में क्रम से पाट, विरुद और स्वर रहते हैं।

(१२) चतुर्मुख[4]—स्थायी आदि ४ वर्णों के क्रम से स्वर, पाट, पद और तेन के द्वारा चार चरण गाये जायँ और उद्ग्राह में न्यास हो तो चतुर्मुख प्रवन्ध होता है।

(१३) सिंहलील[5]—जिसके चार चरणों में क्रम से स्वर, पाट, विरुद, तेन हों और सिंहलील ताल हो वह सिंहलील प्रबंध है।

(१४) हंसलील[6]—हंसलील ताल से और दो चरणों में क्रम से पद तथा पाटों से हंसलील प्रबंध होता है।

(१५) दण्डक[7]—पद और स्वरों से तथा दंडक छंद से यह प्रबंध होता है। दंडक छंद के अनेक भेद हैं।

(१६) झम्पट[8]—झम्पट छंद और क्रीडाताल से गाया जाता है।

(१७) कन्दुक[9]—क्रम से पद, पाट और विरुद बद्ध तीन पादों से युक्त होता है।

(१८) त्रिभङ्गि[10]—स्वर, पाट और पदों से त्रिभंगि होता है। इसके ५ भेद हैं—त्रिभंगि ताल से, त्रिभंगि वृत्त से, ३ राग ३ ताल से, ३ वृत्तों से और ३ देवताओं की स्तुति से युक्त। ताल को दुगना करके समाप्त होने वाला है।

(१९) हरविलास[11]—विरुद, पाट और तेन से होता है।

(२०) सुदर्शन[12]—पद, विरुद और तेन से बद्ध होता है।

(२१) स्वराङ्क[13]—उद्ग्राह में पद और एक ताल, मेलापक में स्वर और दो

---

१. वही, २७५-२७६
२. वही, २७७
३. वही, २७८
४. वही, २७८-२७९
५. वही, २७९-२८०
६. वही, २८०
७. वही, २८१
८. वही, २८२
९. वही
१०. वही, २८३-२८४
११. वही, २८५
१२. वही
१३. वही, २८६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ताल तथा ध्रुव में विरुद और तीन तालों का प्रयोग तथा स्वर से अन्त होने वाला स्वरांक है।

(२२) श्रीवर्धन[१]—इसमें उद्ग्राह विरुद और पाट से तथा ध्रुव पद और स्वर से वद्ध होते हैं। ताल के दो मान से समाप्त होता है।

(२३) हर्षवर्धन[२]—पद, विरुद, स्वर और पाट वद्ध होता है।

(२४) वदन[३]—जिसके दो चरणों में से प्रत्येक में २ गण ६ मात्रा वाले, २ गण ५ मात्रा वाले और १ गण २ मात्रा वाला हो तथा जो स्वर और पाट से वद्ध हो वह वदन प्रबंध है। गण भेद से इसके दो प्रकार होते हैं।

(२५) चच्चरी[४]—जिसमें हिन्दोल राग, चच्चरी ताल, १६ मात्रा वाले वहुत से चरण, दो-दो चरण प्रासयुक्त, प्राकृत भाषा के पद हों और जो वसन्तोत्सव में गाई जाय वह चच्चरी है। मतान्तर से चच्चरी अथवा घत्तादि छंदों से अथवा क्रीडाताल से गाई जाती है।

हेमचन्द्र के छन्दोऽनुशासन में चच्चरी छंद के अनेक प्रकार हैं। यह इस तथ्य का सूचक है कि वसंतोत्सव में विभिन्न अवसरों पर नृत्य करते हुए अलग-अलग तालों के साथ गाये जाने वाले अनेक प्रकार के गीत रहे होंगे।

(२६) चर्या[५]—पद्धडी आदि छंदों से युक्त, पादों के अंत में प्रास से शोभित, अध्यात्मविषयक, द्वितीय आदि तालों से चर्या प्रबंध होता है। सब पादों की आवृत्ति से गाया जाता है।

बौद्धों के चर्यापद प्रसिद्ध हैं। ये बौद्ध विशेष प्रकार के आचार-विचार और अध्यात्म-परक पद घूमते हुए गाते थे इसलिये ये चर्यापद कहलाये।

(२७) पद्धडी[६]—चरणों के अंत में समान प्रास वाला, पद्धडी छंद से युक्त, प्रथमार्ध विरुद और स्वरान्त तथा द्वितीयार्ध विरुद और पाटान्त होता है।

(२८) राहडी[७]—वहुत से चरणों में वीर रस द्वारा संग्राम संबंधी स्तुति होने पर राहडी प्रबंध होता है।

(२९) वीरश्री[८]—पद और विरुदों से वद्ध होता है।

(३०) मङ्गलाचार[९]—गद्य अथवा पद्य से या दोनों से युक्त, कैशिकी भाषाराग से, निःसारु ताल से तथा स्वरों से युक्त प्रबंध है।

---

१. वही, २८७
२. वही, २८८
३. वही, २८८-२८९
४. वही, २९०-२९२
५. वही, २९२-२९४
६. वही, २९५
७. वही, २९६
८. वही, २९७
९. वही, २९७-२९८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(३१) धवल[१]—तीन प्रकार का धवल होता है—कीर्ति, विजय और विक्रम जिनमें क्रम से ४, ६ और ८ चरण होते हैं। इनमें मात्रिक गणों का भेद रहता है तथा आशीर्वचन या धवल, विमल जैसे शब्द रहते हैं।

(३२) मंगल[२]—मंगल छन्द से, मंगल पदों से, कैशिकी या बोट्ट राग से विलंबित लय में गाया जाता है।

(३३) ओवी[३]—तीन खंड, प्रासयुक्त, देशीभाषा से होता है। अन्त में ओवीपद रहता है। अनेक छन्दों से गाया जाता है।

मराठी का ओवी छन्द प्रसिद्ध है जिसमें ४ चरण होते हैं। केवल अक्षर संख्या का नियम होता है। चारों चरण विषम होने से छन्दत्व नहीं दिखाई देता।

(३४) लोली[४]—तीन खंड, प्रासयुक्त, प्राकृत पद, अन्त में लोली पद होने पर लोली प्रबंध होता है। संगीत पारिजात के लक्षण से 'लोरी' जैसा लगता है।

(३५) ढोल्लरी[५]—लाट (गुजराती) भाषा युक्त, दोहड के अंत में ढोल्लरी पद होने पर ढोल्लरी कहलाता है।

(३६) दन्ती[६]—तीन खंड, प्रासप्रधान, अन्त में दन्ती पद युक्त होता है।

सालगसूड

(१) ध्रुव[७]—इसमें समधातुक दो खण्ड और उससे ऊँची धातु वाले तीसरे खंड से युक्त उद्ग्राह को दो बार गाया जाता है। इसी प्रकार के तीन खंडों वाला आभोग होता है जो स्तुत्य के नाम से अंकित और कभी-कभी ऊँचे एक ही खंड से युक्त होता है। उद्ग्राह के प्रथम खंड को ध्रुव बनाकर उससे समाप्त किया जाता है। हर खंड में ११ अक्षरों से शुरू करके क्रमशः एक-एक अक्षर बढ़ाते हुए २६ अक्षरों की अवधि तक १६ ध्रुव भेद होते हैं। इनमें रस, ताल विनियोग और फलों का विस्तार से निरूपण रत्नाकरकार ने किया है।

सालगसूडों में ध्रुव का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है जिसकी चर्चा ग्रंथों में इस प्रकार की गई है :—

यथोक्तान् यो जयन्तादीन् गायेन्निपुणया धिया ॥
सर्वक्रतुफलं तस्येत्यवोचन्मुनिसत्तमः ।[८]
यथा सरो विना नीरं यथा (तथा) गीतं ध्रुवं विना ।
षोडशानां ध्रुवाणां च तस्माल्लक्ष्म प्रचक्षते ॥[९]

---

१. वही, २९८-३०३
२. वही, ३०३-३०४
३. वही, ३०४-३०६
४. वही, ३०७
५. वही, ३०८
६. वही, ३०९
७. वही, ३१५-३३२
८. वही, ३३१-३३२
९. सं. सारो., १/५१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यथैकं न (विवेकेन) विना ज्ञानं न ध्यानं स्थिरतां विना ।
श्रद्धया न विना दानं न गानं ध्रुवकं विना ॥[1]

विवेकेन विना ज्ञानं यथा भाति न कुत्रचित् ।
तथैव सर्वलोकेषु गानं नैव ध्रुवं विना ॥

न श्रद्धया विना दानं ध्यानमात्मरसं विना ।
प्राणेशं न विना नारी तथा गानं ध्रुवं विना ॥[2]

(२) मण्ठ[3]—दो या एक यति से युक्त उद्ग्राह हो. ध्रुव दो बार गाया जाय, विकल्प से 'अन्तर' (धातु) हो जिसे गाकर ध्रुव तक जाकर आभोग एक बार गाया जाय, ध्रुव में समाप्त किया जाय, मंठताल हो तो मण्ठ कहलाता है । मण्ठताल के ६ भेदों के प्रयोग से ६ प्रकार का मण्ठसूड होता है ।

(३) प्रतिमण्ठ[4]—मंठ के सदृश लक्षण वाला प्रबन्ध है किन्तु इसमें प्रतिमण्ठ ताल का प्रयोग होता है । ४ प्रकार के प्रतिमण्ठ ताल का प्रयोग होने से ४ प्रकार का प्रतिमण्ठ सूड होता है ।

(४) निःसारुक[5]—सामान्य लक्षण नहीं दिये हैं । निःसारु ताल से गाया जाता है जिसके ६ भेदों के प्रयोग से यह ६ प्रकार का होता है ।

(५) अड्डताल[6]—अड्डताल नामक ताल से यह प्रबंध होता है । इसके ६ भेदों में अड्डताल के ६ प्रकारों का प्रयोग होता है ।

(६) रासक[7]—आलापप्रधान प्रबंध है जिसमें ध्रुव के अन्त, मध्य, प्रथम खंड और आरंभ में आलाप होने पर क्रम से चार भेद होते हैं । उद्ग्राह सभी में द्विखण्ड होता है ।

अपभ्रंश छन्द-ग्रंथों में चच्चरी की भाँति अनेक प्रकार के रासकों का उल्लेख है जिनका संबंध विभिन्न नृत्यों-गीतों से जोड़ा जाता है ।

(७) एकताली[8]—एकताली ताल से होता है । इसके तीन भेद हैं—रमा, चन्द्रिका, विपुला । रमा में द्विखण्ड उद्ग्राह एक बार गाकर अक्षरयुक्त ध्रुव होता है । चन्द्रिका में ध्रुव आलापयुक्त होता है और विपुला में उद्ग्राह आरंभ करने से पहले आलाप रहता है ।

ध्रुव, मंठ, प्रतिमंठ में एला की तथा रासक और एकताली सालगसूडों पर एकताली शुद्धसूड की कुछ छाया दिखाई देती है । एला की छाया उसके गेय सम्बन्धी

१. सं. वा., पृ. १९
२. रस., ३/१३५-१३६
३. सं र., ४/३३२-३३८
४. वही, ३३८-३४३
५. वही, ३४३-३४७
६. वही, ३४८-३५२
७. वही, ३५२-३५६
८. वही, ३५६-३६०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लक्षणों के कारण है तथा एकताली की छाया आलाप की प्रधानता के कारण है।

बृहद्देशी

(१) पाटली[1]—स्वर, पाट से युक्त, ताल समन्वित, विरुदों से तथा किसी भी विभाषा (राग) में बद्ध होता है।

(२) अर्धिला[2]—हर पाद के अन्त में उज्ज्वल स्वरविन्यास और तालयुक्त होता है।

(३) चतुष्पीटिका[3]—लक्षण खण्डित है।

(४) हंसपद[4]—एक पाद संस्कृत और दूसरा देशी भाषा में हो तथा प्रासबद्ध होने पर हंसपद होता है।

(५) शुकसारित[5]—प्रश्नोत्तर शैली में, पद पाट से तथा २ तालों से युक्त होता है। बाद के ग्रंथकारों ने इसी को शुकसारिक कहा है।

(६) शुकसारिक[6]—कर्णाट भाषा से या मिश्रित तथा संवाद से युक्त है।

(७) शरभलील[7]—स्वर और पाटों से बद्ध ८ पद, ८ राग और ८ तालों से समन्वित प्रबंध है।

(८) शुकचंचु[8]—आरंभ में गमकसहित, राग व ताल से समन्वित, स्वर और पाट बद्ध तथा देशी भाषाओं में गाया जाने वाला प्रबन्ध है।

(९) विचित्र[9]—अनेक देशी भाषाओं से, विरुद, तेन, पाट, स्वर और ताल से गाया जाता है।

(१०) चतुरंग[10]—४ राग, ४ ताल और ४ भाषाओं से युक्त है।

भरतभाष्य

भरतभाष्य में पंचताली, विशाला, ललिता, लीला, रंभा, मार्गावती, विद्युन्माला, कुन्दप्रभा, चूतमंजरिका, विद्युल्लेखा, वलितिका आदि बहुत से ऐसे प्रबन्धों के नाम हैं जिनके लक्षण या तो खंडित हैं या बिल्कुल अस्पष्ट हैं इसलिये उनके लक्षण देना सम्भव नहीं है।

मानसोल्लास

(१) आडिल्ला[11]—आडिल्ला (अडिला) छन्द से युक्त है।

---

१. बृह., श्लो. ४०३-४०४
२. वही, ४०४-४०५
३. वही, ४०५-४०६
४. वही, ४०९
५. वही, ४१०
६. वही, ४११
७. वही, ४१५
८. वही, ४१६-४१७
९. वही, ४१७-४१८
१०. वही, ४१९-४२०
११. मान., १६/४/२६८-२६९

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(२) जयमाला[1]—जय से आरम्भ होने वाले शब्दों से, जयताल से और किसी भी राग से गाया जाता है।

(३) रससन्दोह[2]—आठ रसों से युक्त होता है।

(४) स्तवमंजरी[3]—देवस्तुति और अनेक समाक्षर पादों से युक्त है।

(५) सर्वतोभद्र[4]—इस शब्द का अर्थ है—जो चारों ओर भद्र यानी अच्छा हो। इसमें ४ पाद होते हैं, हरेक में ८-८ अक्षर होते हैं। हर पाद के शुरू के ४ अक्षर उसी पाद में उल्टे क्रम से आवृत्त होते हैं।

संगीतशिरोमणि

(१) सिंहविक्रम—पद, पाट से, सिंहविक्रम ताल से, पदान्तर से अथवा पद और पाट से युक्त आभोग होता है।

(२) सिंहपद—सिंहपद छन्द से, सिंहविक्रम ताल से वद्ध, ताल के दो मान से समाप्त होने वाला प्रबंध है।

(३) शशिशेखर—आठ खंडों में से पहले में प्रतिताल, मालवश्री राग, दूसरे में गारुगिताल, रामक्रुति राग, तीसरे में दर्पण ताल, दीप राग, चौथे में श्रीराग (? श्रीरंग) ताल, मल्लार राग, पाँचवें में त्रिभंगि ताल, वेलावली राग, छठे में सोमवल्लभ ताल, गुंडक्री राग, सातवें में पार्वतीलोचन ताल, वराटी राग और आठवें खंड में रतिताल और नाद (क्रिया) राग रहते हैं। आठों खंडों में क्रम से वीर, अद्भुत, रौद्र, श्रृंगार, भयानक, हास्य, वीभत्स और करुण रस होते हैं। इसके बाद के लक्षण खंडित और अस्पष्ट हैं। अन्त में पूरा प्रबंध एक बार गाकर आलाप से समाप्त किया जाता है।

(४) धमाल—१२, ८ या ४ पादों से वद्ध, यतिलग्न या एकताली ताल, वसन्त राग और श्रृंगार-हास्य रस युक्त होता है जिसमें उद्ग्राह दो वार और ध्रुव बार-बार गाया जाय, मेलापक और आभोग युक्त हो तथा स्वैरिणी, वसंत या प्रभु का वर्णन हो।

(५) लहचारी—लहचारी त्रिपदी या चतुष्पदी, प्राच्यभाषा की लय व पदों से, श्रृंगार और शान्त रस के आश्रित है। एकताली, कुड्डुक्क, यतिलग्न या अड्डताल और भैरवी, मल्लार, वसंत, गौरी, रामक्रुति या धन्याश्री रागों में से यथारुचि प्रयोग हो। सभी पद अलग-अलग दिखाई दें—ऐसा लहचारी प्रबंध है।

(६) तिविला—यथोचित रागों से युक्त, तिविला ताल से, उद्ग्राह और ध्रुव तथा नायक के विरुद और नाम से युक्त आभोग होता है।

अब तक जिन प्रबंधों के लक्षण दिये गये हैं उनमें घत्ता, पज्झटिका (पद्धडी), अडिल्ला, मडिला, वदन, उपवदन, वस्तुवदन, कामलेखा, चन्द्रलेखा, धवल, कीर्तिधवल,

---

१. वही, ३०८-३०९
२. वही, ४०८
३. वही, ३७५-३७७
४. वही, ४०९-४११

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वस्तु, हंसी, हंसपद आदि जो शब्द प्रबंध या छन्दनामों के रूप में आये हैं उन संज्ञाओं के वृत्त संस्कृत अथवा प्राकृत (प्राकृत पैंगलम्), अपभ्रंश (छन्दोऽनुशासन) छन्द ग्रंथों में मिलते हैं। इनमें से कुछ संस्कृत वृत्त और अधिकतर प्राकृत अपभ्रंश के हैं। संगीत, अश्वाक्रान्ता, आक्षिप्तिका, रावणहस्तक नामों से भी इन ग्रंथों में छंद हैं जो संगीत में मूर्च्छना, प्रबन्ध या वाद्यप्रकारों के रूप में सुपरिचित हैं।

मिश्रसूड

इस वर्ग के बारे में पिछले परिच्छेद में चर्चा की जा चुकी है। अष्टपदियों में राग व ताल का निर्देश कवि ने स्वयं किया है लेकिन कुम्भा ने उनमें यथेष्ट परिवर्तन किया है। यहाँ प्रबंध लक्षण संगीतराज के आधार पर और प्रबंध नामों की सार्थकता रसिकप्रिया टीका के अनुसार दी जा रही है।

(१) दशावतारकीर्तिधवल—'जय जगदीश हरे' अष्टपदी का यह प्रबंध नाम है जिसमें दस अवतारों की धवल कीर्ति का वर्णन है। कवि ने मालव राग, रूपक ताल कहा है। कुंभा ने मध्यमादि राग, आदिताल, किसी भी छंद से, गद्य-पद्य से युक्त, हर पद के बाद ध्रुव पंक्ति का प्रयोग, अन्तिम आभोग पाट और स्वरों से युक्त—ये लक्षण कहे हैं।

(२) हरिविजयमंगलाचार—'जय जय देव हरे' अष्टपदी की यह प्रबंध संज्ञा है। इसमें कृष्ण की विजय का वर्णन करते हुए मंगलाचरण किया है। कवि ने गुर्जरी राग, निःसार ताल और कुंभा ने ललितराग, आदिताल कहा है। मंगल छंद, गद्य-पद्य युक्त, हर पद में गमकयुक्त आलाप व ध्रुव का प्रयोग, आभोग के अंत में स्वर और तेनयुक्त प्रबंध है।

(३) माधवोत्सवकमलाकर—'विहरति हरिरिह सरस वसंते' नामक अष्टपदी का प्रबंध नाम है जिसमें वसन्त में कृष्ण के क्रीडोत्सव का वर्णन है। वसन्त राग, यतिताल (कुंभा ने झम्पाताल कहा है), गद्य-पद्य युक्त, वसन्त या नृपोत्सव में प्रयुक्त, मध्यलय में गेय, गमकालप्तियुक्त और तेन-पाटान्त होता है।

(४) सामोददामोदरभ्रमर—'हरिरिह मुग्धवधूनिकरे' अष्टपदी को यह नाम दिया गया है जिसमें विलासरत हर्षित दामोदर का वर्णन है। गद्य-पद्य युक्त, स्वर-पाटान्त आभोग, कहीं-कहीं पद्य, गुर्जरी राग, झंपाताल (कवि के अनुसार रामकरी राग, यति ताल) युक्त प्रबंध है।

(५) मधुरिपुरत्नकण्ठिका—'रासे हरिमिह विहितविलासं' अष्टपदी का यह नाम है। संभवतः कृष्ण के स्मरण की रत्नमाला के अर्थ में यह नाम दिया है। चम्पूबंध, अंत में गमकयुक्त आलाप, अन्तिम आभोग स्वर; तेन, पाटान्त, धन्नासी राग और वर्णयति ताल (कवि के अनुसार गुर्जरी राग, यतिताल) से युक्त प्रबंध है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(६) अक्लेशकेशवकुञ्जरतिलक—'सखि हे केशिमथनमुदारं' अष्टपदी की यह प्रबंध संज्ञा है। राधा द्वारा सखी से कृष्ण की अनुकूलता की प्रार्थना है। भैरव राग, वर्णयति ताल (कवि के अनुसार मालवगौड राग, एकताली ताल), पाट-स्वरांत आभोग युक्त है।

(७) मुग्धमधुसूदनहंसक्रीड—'हरिहरि हतादरतया' को यह संज्ञा दी है। कृष्ण के पश्चात्ताप का वर्णन है। गौण्डकृति राग व प्रतिमंठ ताल (कवि के अनुसार गुर्जरी राग, यतिताल), शृंगार रस पूर्ण कृष्ण की केलि से शोभित, आभोग के अन्त में पाट-स्वरयुक्त प्रबंध है।

(८) हरिवल्लभा-अशोकपल्लव—'सा विरहे तव दीना' अष्टपदी की प्रबन्ध संज्ञा है। सखी द्वारा कृष्ण से राधा के विरह वर्णन से युक्त है। देशाख्य राग व प्रतिमंठ ताल (कवि के अनुसार कर्णाट राग, एकताली ताल), गमकयुक्त आकार में आलाप और तेन-पाटान्त आभोग से युक्त होता है।

(९) स्निग्धमधुसूदनरासावलय—'राधिका तव विरहे' अष्टपदी को यह संज्ञा दी है। इसमें सखी द्वारा राधा के प्रति कृष्ण के विरह का वर्णन है। मालवश्री राग, और निःसारु ताल (कवि के अनुसार देशाख्य राग, एकताली ताल) से, वाग्गेयकार के नाम से युक्त और पद-तेन-पाटान्त पदयुक्त प्रबंध है।

(१०) हरिपदसमुदयगरुडपद—'तव विरहे वनमाली' अष्टपदी का प्रबंध नाम है। इसमें भी कृष्ण के विरह का वर्णन है। केदार राग और निःसारु ताल (जयदेव के अनुसार देशीवराडी राग, रूपक ताल) से, कवि के नाम से अंकित और अन्तिम आभोग पाटस्वरान्त युक्त है।

(११) साकांक्षपुण्डरीकाक्षभ्रमररुत—'धीरसमीरे यमुनातीरे' अष्टपदी की यह प्रबंध संज्ञा है। सखी द्वारा राधा की अभिसार योजना है। केदार राग, वर्णयति ताल (जयदेवोक्त गुर्जरी राग, एकताली ताल) से युक्त २ या ३ पद गाकर स्वर, पाट, आलाप और तेन तथा फिर ३-४ पद गाये जाते हैं।

(१२) धन्यवैकुण्ठकुङ्कुम—'नाथ हरे सीदति' नामक अष्टपदी को यह नाम दिया गया है जिसमें वासकसज्जा राधा का वर्णन है। इसमें कवि के अनुसार गुणकरी या गोण्डकरी राग, रूपकताल होता है। कुंभा ने मालवगौड राग और अड्डताल का प्रयोग कहा है। पद के अंत में स्वर व पाटों का समूह और मध्यलय से गाये जाने पर यह प्रबंध होता है।

(१३) हरिशरणकदलीपत्र—'यामि हे कमिह शरणं' ध्रुव वाली अष्टपदी की संज्ञा है। वासकसज्जा राधा की निराशा व अतिशय उत्कंठा का वर्णन है। रसिकप्रिया टीका में इसके स्थान पर 'स्निग्धमधुसूदनरासावलय' संज्ञा है जो ९वें प्रबंध की संज्ञा भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। इस अष्टपदी में कवि ने मालव राग यतिताल कहा है। कुंभा के अनुसार स्थानगौड राग, वर्णयति ताल है। पाटों से गुम्फित पदयुक्त प्रबंध है।

(१४) हरिरमितचम्पकशेखर—'कापि मधुरिपुणा विलसति' अष्टपदी का यह प्रबंध नाम है जिसमें कृष्ण द्वारा किसी अन्य के साथ रमण का संदेह राधा की उक्ति में वर्णित है। वसंत राग, यतिताल है। कुंभा ने श्रीराग और द्रुत मंठताल कहा है। पदों के बाद पाट, स्वर, तेन और 'प्रयोग' होता है।

(१५) हरिरसमन्मथतिलक—'रमते यमुनापुलिनवने' नामक अष्टपदी की संज्ञा है। अन्यत्र रमण की आशंका का वर्णन है। कवि ने गुर्जरी राग, एकताली ताल कहा है और कुंभा ने मल्हार राग, द्रुतलययुक्त द्रुत मंठ ताल तथा स्वर पाटान्त पदयुक्त प्रबंध कहा है।

(१६) नारायणमदनावास—'सखि या रमिता' ध्रुव पद वाली अष्टपदी को यह संज्ञा दी गई है। अन्यत्र रमण की आशंका से युक्त गीत है। देशवराडी राग, रूपक ताल कवि ने कहा है। कुंभा के अनुसार वराटी राग और वर्ण यति ताल तथा स्वेच्छित आलापों से भूषित पद और स्वर-पाटान्त प्रबंध है।

(१७) लक्ष्मीपतिरत्नावली—'हरिहरि याहि माधव' ध्रुवक अष्टपदी का यह प्रबंध नाम है। राधा द्वारा मान में कृष्ण का प्रत्यावर्तन (वापस लौटना) वर्णित है। कवि के अनुसार भैरवी राग और कुंभा के अनुसार मेघराग, यतिताल, कवि के नाम से अंकित पद, उसके बाद पाट और स्वर और अन्त में फिर २ या ३ पद होने पर यह प्रबंध होता है।

(१८) अमन्दमुकुन्दमकरन्द — 'माधवे मा कुरु मानिनि' अष्टपदी की संज्ञा है जिसमें सखी द्वारा राधा से मान न करने की प्रार्थना है। गुर्जरी राग, यतिताल बद्ध हैं। कुंभा ने नट्ट राग और तृतीय ताल कहा है। मध्य लय, आलाप युक्त पद, अन्त में पाट ,स्वर, तेन होने पर यह प्रबंध होता है।

(१९) चतुर्भुजरागराजितचन्द्रोद्योत — 'प्रिये चारुशीले' अष्टपदी को यह नाम दिया गया है। इस अष्टपदी में कृष्ण द्वारा मानिनी राधा के प्रति अनुनय का वर्णन है। कवि ने देशवराडी राग और आठ तालों से गाने का निर्देश किया है। कुंभा ने संगीतराज में क्रम से ये १८ राग कहे हैं—मध्यमादि, ललित, वसंत, गुर्जरी, धन्यासी, भैरव, गौण्डकृति, देशाख्या, मालवश्री, केदार, मालवगौड, स्थानगौड, श्रीराग, मल्हार, वराटी, मेघराग, नट्टा और धोरणी। पदों के अंत में पाट और स्वर तथा कहीं-कहीं आलापयुक्त होता है।

(२०) हरिहारतालराजिजलधरविलसित[1] — 'मुग्धेमधुमथनं' अष्टपदी का

१. रसिक. में 'हरितालराजिजलधरविलसित' संज्ञा है। पृ. १४३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह प्रबंध नाम है। सखी द्वारा राधा के मानापनोदन का वर्णन है। कवि के अनुसार वसंत राग और यतिताल से गाया जाता है। कुंभा ने १३ तालों का निर्देश किया है— आदि, प्रतिमंठ, चतुर्मात्रिक मंठ, अड्ड, वर्णयति, नवमात्रिक मंठ, निःसारु, झंपा, द्रुतमंठ, रूपक, प्रतिताल, त्रिपुट और एकताली। पद आलप्तियुक्त होते हैं। इन पदों में काहला, तुण्डुकिनी, झक्का, श्रृंग, शंख, पटह, हुडुक्का, मुरज, करटा, रुञ्जा, डमरू, ढक्का के पाटों का प्रयोग होता है। निःसारु ताल में पटह, डक्का, मर्दल, त्रिवणी और करटा के, एकतालो में इनके अतिरिक्त डवकुली, त्रिवली, दुन्दुभि और घडस के पाटों का प्रयोग भी होता है। प्रतिताल के साथ नट्टा राग का प्रयोग किया जाता है।

(२१) तालरागार्णवमुरारिमंगलकुसुम—'प्रविश राधे' अष्टपदी को यह प्रबंध नाम दिया गया है। सखी द्वारा राधा को कुंज प्रवेश कराने का वर्णन है। वराडी राग, रूपक ताल का विधान कवि ने किया है। लेकिन कुंभा ने १४ राग और १८ तालों का निर्देश किया है तथा विविध अवनद्ध वाद्यों के पाटाक्षरों का प्रयोग कहा है। पाट-तेनान्त पद होते हैं।

(२२) सानन्दगोविन्दरागश्रेणिकुसुमास्तरण[1] — 'हरिमेकरसं' अष्टपदी को यह प्रबंध नाम दिया है। मान के बाद राधाकृष्ण का परस्पर दर्शन वर्णित है। कवि द्वारा बराडी राग और यतिताल का निर्देश है। कुंभा ने १७ रागों का क्रम से प्रयोग कहा है— नट्ट, केदार, श्रीराग, स्थानगौड, धोरणी, मालव, वराटी, मेघ, मालवश्री, देवशाखा, गौण्डकृत्, भैरवी, धन्नासी, वसंत, गुर्जरी, मल्हार और ललित। पहले, दूसरे, तीसरे, १०वें, १२वें पदों में द्रुतमंठ, ७वें, ९वें, ११वें, १३वें, १५वें, १७वें में रूपक, चौथे में प्रतिताल, ५वें में द्रुताल, ६ठे, ८वें में त्रिपुट और द्रुत प्रतिमंठ, १४वें और १६वें में प्रतिताल का प्रयोग होता है। स्वेच्छित छंद में बद्ध कहा है।

(२३) मधुरिपुमोदविद्याधरलीला — 'क्षणमधुना नारायणं' अष्टपदी की प्रबंध संज्ञा है। सखी द्वारा राधा को मिलन की प्रेरणा का प्रसंग है। कवि ने विभास राग और एकताली से गेय कहा है। कुंभा ने दश पद, वर्णयति ताल, देवशाख राग, हर पद के बाद ध्रुवपद, इसके बाद प्रतिताल से आलाप, पाट-तेन-स्वरान्त प्रबंध कहा है।

(२४) सुरतारम्भचन्द्रहास – 'क्षणमधुना नारायणं' अष्टपदी के बाद के ४ श्लोकों को क्रम से अलग-अलग प्रबंधनाम दिये गये हैं। 'प्रत्यूहः पुलकाङ्कुरेण' श्लोक को यह नाम दिया है जिसमें राधा-माधव की रतिक्रीड़ा का आरंभ वर्णित है। कुंभा ने इसे देवशाख राग, जयमंगल ताल में गेय तथा अन्त में पाट, स्वर, तेन का प्रयोग कहा है।

(२५) कामिनीहास—'दोर्भ्यां संयमितः' श्लोक को यह प्रबंध संज्ञा दी है। राधा

---

१. रसिक. में 'सानन्दगोविन्दरागश्रेणिकुसुमाभरण' संज्ञा है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कृष्ण के मिलन का प्रसंग वर्णित है। कुंभा के अनुसार गौडी राग, विजयानंद ताल में गाया जाता है। पाट, स्वर, तेनान्त तथा श्रृंगाररस और कैशिकी वृत्ति युक्त है।

(२६) पौरुषरसप्रेमविलास—'वामाङ्गे रतिकेलिसंकुल' से आरंभ होने वाले श्लोक में 'पौरुषरस' शब्द भी आया है जिसमें रतिक्रीड़ा का वर्णन है इसलिये यह संज्ञा प्रदान की गई है। कुंभा ने कर्णटबंगाल राग में जयश्री ताल से गेय तथा पाट, स्वर और तेन से बद्ध कहा है।

(२७) कामाद्भुताभिनवमृगाङ्कलेखा—'तस्याः पाटलपाणिजाङ्कितमुरो' आरंभक श्लोक को यह प्रबंध नाम दिया है। इसमें भी राधा कृष्ण की कामक्रीड़ा का वर्णन है। मरुकृति राग और यतिताल से बद्ध तथा, पाट, स्वर और तेनयुक्त आलापान्त प्रबंध है।

(२८) प्रीतपीताम्बरतालश्रंणिमुक्ताफल — 'निजगाद सा यदुनन्दने' ध्रुवपद वाली अन्तिम अष्टपदी की यह प्रबंध संज्ञा है। कृष्ण की भरपूर प्रसन्नता का वर्णन है। कवि ने रामकरी राग और यतिताल में गाने का विधान किया है। कुंभा ने गोंड राग और १९ तालों से युक्त कहा है किन्तु आदि, ५ मार्गताल, चतुर्मात्रिक प्रतिमंठ, मंठ, अड्डताल, वर्ण, यति, जयमंगल, विजयानंद, जयश्री, प्रतिताल—केवल १५ तालों के ही नाम प्राप्त हैं। बीच-बीच में आलप्ति, प्रतिताल से तेनकों का प्रयोग और स्वेच्छित छंद —ये इस प्रवंध की विशेषताएँ हैं।

कुंभा के दिये हुए नामों में से कुछ सार्थक हैं, कुछ लाक्षणिक हैं तथा कुछ में रागताल की विविधता का संकेत है।

जयदेव ने अष्टपदियों में जिन रागों और तालों का निर्देश किया है उनसे भिन्न राग व ताल कुंभा ने उन्हीं अष्टपदियों के आधार पर बनाये प्रबंधों में किया है। संभव है कि कुंभा के समय में रागों व तालों के प्रयोग में यह परिवर्तन आया हो। साथ ही १९वें से २२वें प्रबंधों में अनेक रागों व तालों के प्रयोग के कुम्भाकृत विधान से अनुमान होता है कि ये प्रवंध और अष्टपदियाँ भी रागतालमालिका के रूप में गाये जाने लगे होंगे। इन प्रवंधों के लक्षणों में पाट, तेन, स्वर आदि का प्रयोग भी कहा है जो मूल अष्टपदियों में नहीं है।

(आ) मध्ययुगीय ग्रन्थों में प्रबंध-लक्षण

मध्ययुग में प्राचीन प्रवंधों के स्वरूप में भी परिवर्तन आये और नये प्रबंधों की रचना भी हुई। विभिन्न ग्रंथों में परिवर्तन व नवीन प्रबंधों के उल्लेख ग्रंथों में भिन्न-भिन्न हैं। इसलिये यहाँ अलग-अलग ग्रंथों के अनुसार दोनों पर प्रकाश डाला जायगा।

संगीतपारिजात

इसमें वर्गीकरण रत्नाकर जैसा ही है लेकिन एला जैसे वड़े प्रबंध के लक्षण भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इतने संक्षिप्त हैं जिससे अनुमान होता है कि या तो इन प्रवंधों के आकार छोटे हो गये अथवा लक्ष्य में बचे ही नहीं इसलिये परंपरा के निर्वाह के लिये उनके नाम और संक्षिप्त लक्षण देना पर्याप्त समझा गया हो। उदाहरणस्वरूप कुछ प्रवन्धों के लक्षण प्रस्तुत हैं।

एला[1]—जिसके उद्ग्राह का पूर्वार्ध द्रुत गति से और उत्तरार्ध मंद गति से शोभित हो। एला के बारे में केवल एक श्लोक है और अन्य लक्षणों या भेदों की कोई चर्चा नहीं है।

ढेंकिका[2]—उद्ग्राह का पूर्वार्ध दो बार और उत्तरार्ध एक बार गाने से ढेंकिका होता है। लक्षण रत्नाकर के झोंवड से मिलते हैं।

वर्तनी[3]—जिस प्रवंध में स्वर गाये जायँ वह वर्तनी कहलाता है। संगीतरत्नाकर में रागाध्याय और प्रवंधाध्याय दोनों में वर्तनी है। रागाध्याय में लक्षण न देकर केवल इतना कहा है कि करण और वर्तनी प्रवंध में कहेंगे, यहाँ नहीं।[4] प्रवंध के अन्तर्गत ये दोनों पदबद्ध निवद्ध प्रवंध है जव कि रागाध्याय में ये केवल स्वरयुक्त हैं। संभव है अहोवल को वर्तनी के रूप में मात्र स्वरवद्ध प्रवन्ध अभिप्रेत हो इसीलिये स्वर की ही चर्चा की।

झोंबड[4]—जिसका उद्ग्राह पंचम में और ध्रुव षड्ज में हो वह झोंवड है। लक्षण विल्कुल अस्पष्ट और रत्नाकर से भिन्न हैं।

एकताली[5]—लंभ ही एकताली ताल से द्रुत गति में गाने पर एकताली कहलाता है।

ध्वनिकुट्टनी[6]—जिसमें अर्थान्तर भासित हो।

चतुर्मुख[7]—जिसमें एक साथ ४ तालधर हों ऐसा समकाल से सुशोभित चतुर्मुख है! रत्नाकर में स्थायी आदि ४ वर्णों के क्रम से स्वर आदि ४ अंगों का प्रयोग कहा गया है। पारिजात के लक्षण से ऐसा आभास होता है जैसे एक स्थान से एक साथ ४ ताल उठते हों जो एक स्थान पर आकर मिल जाते होंगे।

वदन[8]—जिसमें मुख का वर्णन हो।

पद्धडी[9]—जिसमें मुनि का वर्णन हो।

धवल[10]—जो प्रातः काल में गाया जाय। यह प्रभाती जैसा लगता है।

प्रवंधलक्षणों में अन्तर देखने के वाद उन ४ गीतों के लक्षण भी देख लें जो पारिजात से पहले के ग्रंथों में उपलब्ध नहीं हैं। ये तत्कालीन लक्ष्य में नये प्रकार कहे जायँगे।

बिन्दु[11]—किसी द्रविड़ यानी दक्षिणी भाषा से, किसी भी ताल से और सदा द्रुत लय से युक्त होता है।

---

१. सं. पा., ५४७
२. वही, ५४८
३. वही, ५४९
४. वही
५. वही, ५५२
६. वही, ५६६
७. वही, ५८२-५८३
८. वही, ५९०
९. वही
१०. वही, ५९१
११. वही, ५९५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दरु[1]—तैलंग भाषा और द्रुत लय से युक्त है।

अष्टपदी[2]—आठ पद, त्रिपुट ताल, कोई भी भाषा, घंटानाद से युक्त कहा है। विशेष बातें संप्रदाय से अर्थात् लक्ष्य परंपरा से जाननी चाहियें। जयदेव की अष्टपदियों में केवल त्रिपुट ताल नहीं अन्य अनेक ताल हैं। संभव है अहोबल के समय तक अष्टपदी त्रिपुट ताल से युक्त विशेष प्रबन्ध बन चुकी हो।

ध्रुवपद[3]—उत्तर भारतीय भाषाओं से युक्त होता है।

इन चारों गीतों में वर्णों की अल्पता और स्वरों का कर्षण अधिक कहा है। प्रबंधों में पद के तथा गीतों में स्वरों के बाहुल्य में इस तत्कालीन प्रवृत्ति का संकेत है कि संभवतः गीतों में पद की अपेक्षा स्वर का महत्त्व अधिक होने लगा था।

संगीतदामोदर

पहले कहा जा चुका है कि प्रबंध के स्वरूप में हो रहे परिवर्तनों के उल्लेख संगीत-दामोदर में मिलते हैं। शुद्ध, सालग और संकीर्ण गीत या सूड के रूप में वर्गीकरण करके कुछ के ही लक्षण दिये हैं। संकीर्ण सूडों में चैत्र, नगणिका, अमिला, बहुल, गुरुवल, हेवाक, कारिका, कामत्विषा नाम नये हैं।[4] इनमें से केवल चैत्र का यह लक्षण दिया है—'चैत्रश्चैत्रे मासि नित्यं गीयते'।[5] शेष किसी का लक्षण प्राप्त नहीं होता। आज की 'चैती' का शायद इसके साथ कोई संबंध हो।

अड्ड को छोड़ कर शेष ६ सालगसूडों के अलावा प्रतिताल, झुमरि, यति—ये तीन नाम सालगसूडों में नये हैं। रासक की आलाप-प्रधानता यहाँ समाप्त हो गई है। यह उल्लेख है कि लोक में रासक को 'छुटिकिला' भी कहा जाता है[6] (संगीत-नारायण में 'ध्रुवपदा' को 'छुटिकिला' कहा है)। प्रतिमंठ का 'आटताल' नाम प्रसिद्ध होना बताया है।[7] अक्षर संख्या के आधार पर 'यति' कहा है।[8] 'झुमरि' को श्रृंगार बहुल, मधु के समान अत्यन्त मधुर और मृदु कहा है जिसमें वर्ण मात्रादि का नियम नहीं है।[9] लक्षणों और नाम के साम्य से ऐसा अनुमान होता है कि संभवतः ठुमरी के विकास में इसका भी योगदान रहा हो। मतान्तर से इन ९ के अलावा १० सालग और भी माने गये हैं। इस प्रकार कुल १९ भेद हैं। कुछ लोग ११ भी मानते हैं।

उपर्युक्त परिवर्तनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संगीतरत्नाकर के बाद जैसे स्वर, रागादि के स्वरूप में स्पष्ट परिवर्तन दिखाई देता है उसी प्रकार प्रबंधों के

---

१. वही, ५९६
२. वही, ५९६-५९७
३. वही, ५९८
४. सं. दा., पृ. २८
५. वही, पृ. २९
६. वही, पृ. २६
७. वही, पृ. २४
८. वही, पृ. २७
९. वही, पृ. २८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्गीकरण और स्वरूप में भी दिखाई देने लगा। आलि, विप्रकीर्ण का वर्गीकरण नहीं रहा और सालगसूडों के स्वरूप में भी बड़े परिवर्तन हुए।

चतुर्दण्डीप्रकाशिका

पिछले खंड में यह कहा जा चुका है कि चर्तुदण्डी-प्रकाशिका में प्रवन्ध और गीत का भेद किया जो सही नहीं है लेकिन उसे रूढ़िवश मान लिया गया।

आभोग का विशेष स्वरूप बताया है। इसके दो खंड होते हैं—पूर्वार्ध ताल रहित आलापरूपात्मक होता है जिसे लक्ष्य में 'वाक्य' कहा जाता है। द्वितीयार्ध तालयुक्त होता है। पूर्वार्ध में गाता का और उत्तरार्ध में वर्ण्य नायक का नाम रहता है।[1]

प्रबंधों का वर्गीकरण आलि, विप्रकीर्ण आदि वर्गों में न करके मेदिनी आदि जातियों के अनुसार किया है। ६८ नाम दिये हैं किन्तु केवल ४० के लक्षण हैं। अधिकांश श्लोक संगीतरत्नाकर के ज्यों के त्यों अथवा कहीं-कहीं शब्दों का क्रम वदल कर ले लिये हैं।

गीत प्रकरण में रत्नाकर के ही ७ सालगसूड कहे हैं और उनके लक्षण भी रत्नाकर जैसे ही हैं।

संगीतसूर्योदय

इसमें एक ही नवीनता है। कुछ प्राचीन प्रबंधों के लक्षण देने के बाद अंत में 'तौरुष्कदेशोत्थ' (अर्थात् तुरुष्क देश से उत्पन्न) गीत दिये हैं। इनमें ६ जातियों से उत्पन्न ६ गीत हैं। खराशन, पार्श्वज, मूलत्राण, लाट, अवशीय और घन—ये ६ जातियाँ हैं और गजलु, कालु, हसक, प्रतिताल, मञ्जरी और झङ्करी—६ गीत हैं। पाठ अत्यन्त अशुद्ध और अस्पष्ट होने के कारण लक्षण स्पष्ट नहीं होते। इतना निश्चित है कि ग़ज़ल आदि जैसे ईरानी गीतों का प्रचार हुआ होगा जिनका यहाँ उल्लेख है। लेकिन बृहस्पतिजी ने यह कहा है कि संगीत सूर्योदय के लेखक के अनुसार जो व्यक्ति खर (गधे) की भाँति अशन (भोजन) करता है वह 'खराशन' है। ऐसे व्यक्तियों के देश अर्थात् खराशन देश (खुरासान) में उत्पन्न गीत ग़ज़ल कहलाता है।[2]

प्रबंध के स्वरूप में ऐतिहासिक मोड़

संगीतराज तक प्रबंधों के स्वरूप में कोई बड़ा परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। विप्रकीर्णों की संख्या घटती-बढ़ती रही अथवा ग्रंथकारों ने कुछ प्रबंध ले लिये, कुछ छोड़ दिये। लेकिन इसके वाद बड़े परिवर्तन दिखाई देते हैं। प्रवन्ध शब्द में जो आकार की विशालता, गंभीरता और पद के महत्त्व का भाव है वह धीरे-धीरे कम होने लगा। ग्रंथकारों ने प्रायः प्रबंध संज्ञा को छोड़ कर 'गीत' का ही ग्रहण किया। सामान्य रूप से पद का महत्त्व घटने लगा और रागविस्तार उसका स्थान घेरने लगा जिसका संकेत संगीतपारिजात के

---

१. चतु., ६/४३-४६ २. सं. चिं., प्रथम संस्करण, पृ. ५०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पूर्वोल्लिखित इस अंश में है—'वर्णैरेतेपु स्वल्पत्वं स्वरैरत्र समीरणा'। प्रबंधों में पदरचना का विस्तार से निरूपण रहता था जो गीतों में कम होने लगा और गेय संबंधी लक्षणों की प्रधानता होने लगी।

गीत और राग के विस्तार का बड़ा घनिष्ठ संबंध है। ये परस्पर अवलंबित होते हैं। जैसा गीत होता है उसी के अनुरूप विस्तार किया जाता है अथवा यह कहें कि जैसा विस्तार करना हो उसी के अनुरूप गीत का चुनाव करना पड़ता है। उदाहरण के लिये ध्रुपद और ख़्याल को ले लें। ध्रुपद में ख़्याल शैली से विस्तार नहीं किया जा सकता वल्कि लयकारी बोलबाँट आदि जैसा लयबद्ध काम ही हो सकता है। दूसरी ओर 'नोम् तोम्' व 'जोड़काम' करने के लिये ख़्याल की बन्दिश उपयुक्त नहीं होती। ध्रुपद के पद में कर्षण कम होने के कारण लयप्रधान काम फवता है। ख़्याल की बन्दिश में असाधारण कर्षण और द्रुत खटके आदि होते हैं इसलिये विलंबित लय का आलाप और द्रुतलय की बोलतानें और तानें अच्छी लगती हैं।

संगीतपारिजात के समय तक प्रबंधों में शिथिलता आने लगी और ध्रुवपद, दरु जैसे नये गीत आये जो क्रमश: उत्तर भारतीय और दाक्षिणात्य भाषाओं से युक्त होते थे। इममें यह संकेत है कि उत्तर में ध्रुवपद और दक्षिण में दरु का प्रयोग होता था। ये दोनों आज भी प्रचलित हैं।

उड़ीसी शैली

प्रबंधों के लक्षण ग्रंथों में संगीतनारायण के विशेष स्थान की चर्चा पहले की जा चुकी है। इस ग्रंथ में उड़ीसी शैली का निरूपण हुआ है। प्रबंधों के ऐतिहासिक अध्ययन और संगीतनारायण के महत्त्व को हृदयंगम करने की दृष्टि से उड़ीसी शैली के बारे में भी कुछ जान लेना आवश्यक है।

उडीसी नृत्य शैली की तरह उड़ीसी संगीत और गीतों की भी स्वतंत्र परंपरा है। यह लोकसंगीत अथवा प्रादेशिक संगीत नहीं है किन्तु इसे शास्त्रीय शैली का दर्जा नहीं मिल सका है।

भौगोलिक दृष्टि से उड़ीसा पूर्वोत्तर और दक्षिण भारत के बीच में दोनों का संधिस्थल है। उड़ीसी संगीत के अध्ययन से मालूम होता है कि उत्तर और दक्षिण दोनों की संगीत पद्धतियों से इसका साम्य है, इसमें दोनों के तत्त्व हैं, दोनों का स्वरूप है। फिर भी दोनों से भिन्न स्वतंत्र शैली है जिसका अधिक झुकाव उत्तर की ओर है। इसमें स्वर संज्ञाएँ, स्वरों का स्वरूप, स्वर लगाने का ढंग उत्तर जैसा है लेकिन राग व तालों के नामों में दक्षिण का स्वरूप मालूम होता है। स्वर न तो उत्तर की तरह खड़े या अत्यंत मींड युक्त ढंग से लगाये जाते हैं और न दक्षिण की तरह निरन्तर हिला हिला कर, बल्कि इनके बीच की स्थिति है जिसमें स्वरों को झुलाते हुए प्रयोग किया जाता है।

उत्तर की तरह गीत में दो खण्ड होते हैं जिनके नाम 'घोषा' और 'पद' हैं। इन्हें क्रमश: स्थायी और अन्तरा के समकक्ष रखा जा सकता है। साधारणत: घोषा की दुगनी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लय में पद को गाया जाता है जिसे 'पड़ी' कहा जाता है। परंपरागत गायक 'पड़ी' गाने के बाद उसकी दुगनी लय में अर्थात् मूल की चौगुनी लय में 'पद' को गाते हैं जो 'वस्ती' कहलाता है। गीत को ताल की जिस मात्रा से उठाया जाता है उसी मात्रा से गीत की हर पंक्ति शुरू होती है जो दाक्षिणात्य प्रयोग के समान है। उदाहरण के लिये यदि किसी गीत की पहली पंक्ति ताल की १३ मात्रा बाद उठती है तो हर नई पंक्ति भी वहीं से उठेगी। इसी गीत में जब 'वस्ती' का प्रयोग होगा तो पड़ी अर्थात् दुगनी लय में गाई जाने वाली पंक्ति को ताल की भिन्न-भिन्न मात्राओं से चौगुनी लय में उठा कर १३ मात्रा पर लाकर मिलाया जाता है। तानें आम तौर पर मध्यलय में झूलती हुई चलती हैं; न तो उत्तर की तरह अतिद्रुत व सपाट और न दक्षिण की तरह कम्पवाली।

उड़ीसी शैली के दो ग्रंथ प्रबंध की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं—गजपति नारायणदेव का संगीतनारायण, जो लक्षण ग्रंथ है और कवि चन्द्र का किशोरी चन्द्रानन्द चम्पू, जो लक्ष्य ग्रंथ है। पहले में लक्ष्य को शास्त्रवद्ध किया गया है और दूसरे में उड़ीसा में प्रचलित विभिन्न प्रबंधों के उदाहरण हैं जिनके पद कवि के स्वरचित हैं। इनमें से पहले ग्रंथ पर यहाँ प्रकाश डाला जायगा और दूसरे की कुछ चर्चा परिच्छेद घ के अन्तर्गत की जायगी।

संगीतनारायण

गीत निरूपण के संदर्भ में ग्रंथकार ने हरिनायक, दामोदर, गीतप्रकाशकार, वाचस्पति, गुरु कविरत्न मिश्र आदि संगीत-ग्रंथ प्रणेताओं के व सार, संगीतकौमुदी, चूडामणि, पंचमसारसंहिता, छन्दोरत्नाकर, संगीतसार, गीतगोविन्द, नारदसंहिता, दर्पण आदि ग्रंथों का उल्लेख किया है और इनमें से कई ग्रंथों के उद्धरण भी दिये हैं जिनसे अनुमान होता है कि तत्कालीन लक्ष्य पर इनमें काफ़ी सामग्री रही होगी। लेकिन संगीत-दामोदर को छोड़ कर अन्य या तो उपलब्ध नहीं या अत्यन्त खंडित हैं। दामोदर के उद्धरणों में से भी कई अंश प्रकाशित संस्करण में नहीं हैं।

गीतों का वर्गीकरण

इसमें ३ प्रकार का निबद्ध कहा गया है—शुद्ध, सालग और क्षुद्र। क्षुद्र की ही अन्य संज्ञा संकीर्ण भी है। शुद्ध का लक्षण है—'आलापैर्धातुभिश्चाङ्गैः संयुक्तम्'[१] अर्थात् आलाप, धातु और अंगों से युक्त। आलाप का अर्थ 'सार्थक पद' है।[२] शुद्ध को ही प्रवंध भी कहते हैं। सालग वह है जिसमें शुद्ध की छाया हो और जो रागों और तालों से रचित हो। क्षुद्र का लक्षण यह है;—

तालधातुयुतं वाक्यमात्रं क्षुद्रमितीर्यते।
बाहुल्येनेष्यते ह्यत्र ध्रुवमण्ठादिलक्षणम्॥
सर्वो योज्येऽप्यनुप्रासस्तेष्वन्त्यस्यैव नित्यशः।[३]

---

१. सं. ना., १/३०५ २. वही, गद्यखण्ड
३. वही, ४७०-४७१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ताल, धातु और वाक्य मात्र से युक्त क्षुद्र गीत होता है। अनुप्रास अवश्य होता है।

धातु—उद्ग्राहादि धातुओं के संबंध में दो उल्लेख बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। लक्ष्य में मेलापक कहीं दिखाई नहीं देता—

सम्प्रति तु उद्ग्राहध्रुवयोर्मध्ये मेलापकधातोः प्रयोगः कुत्रापि न दृश्यते। अतएव तस्य त्यागेन प्रवन्धावयवो धातुः, स त्रिवेति गीतप्रकाशकारेणोक्तम्। उद्ग्राहध्रुवाभोगरूपेण त्रिवेति भावः।[1]

अन्तरा के लिये भी कहा है कि उसका प्रयोग कहीं दिखाई नहीं देता।[2]

गीतलक्षण

एलादि को दुष्कर कह कर २६ शुद्ध गीतों के नाम दिये हैं जो संगीत-रत्नाकर के आलि और विप्रकीर्ण वर्ग के हैं। इनमें से केवल १३ प्रचलित गीतों के लक्षण दिये हैं। इनमें से वर्णस्वर, स्वरार्थ, श्रीरंग, श्रीविलास, पंचभंगि, पंचानन, सिंहलील, हंसलील के लक्षण रत्नाकर जैसे ही हैं, कुछ का संक्षेपीकरण हुआ लगता है और कुछ की संज्ञाओं में परिवर्तन दिखाई देता है। शेष ५ के लक्षण इस प्रकार हैं:—

(१) कायवाल—लक्षण से कैवाड प्रवंध जैसा लगता है। संभव है कैवाड शब्द का परिवर्तित रूप कायवाल हो या दोनों का कोई संवंध हो। जहाँ पाटों से ही ताल प्रकाशित हों और पदों से आभोग की कल्पना हो वह कायवाल है।[3]

(२) मातृका—रत्नाकर जैसा ही है। किन्तु रत्नाकर के भेद यहाँ नहीं हैं और यह लक्षण विशेष है कि एक ही राग और ताल से अथवा बहुत से रागों, तालों से इसका प्रयोग होता है।[4]

(३) रागकदम्ब—संगीतरत्नाकर का मुख्य लक्षण—रागों का समूह—तो यहाँ भी है लेकिन शेष नियम, वृत्तादि और भेद नहीं है तथा भाषा के नियम का निषेध किया है।[5]

(४) तालार्णव—अनेक तालों के रत्नाकरोक्त लक्षण के अलावा संस्कृत भाषा का नियम विशेष है।[6]

(५) लाहडी—रत्नाकर के 'राहडी' के लक्षण इसमें हैं। यह उल्लेख भी किया है कि उत्कल भाषा में इसे 'पावड' कहा जाता है।[7]

सूड

सूड प्रबन्ध का सामान्य लक्षण इस प्रकार दिया है:—

---

१. वही, ३०७ का गद्यखण्ड
२. वही, ३०६ का गद्यखण्ड
३. वही, ३३१
४. वही, ३३४-३३७
५. वही, ३३८
६. वही, ३३६
७. वही, ३४३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ताला नवादिका यत्र पाटादि रहिता यदि ।
सूडः प्रबन्धः कथितः एकरागनिवेशितः ।।[१]

नौ आदि ताल, पाटरहित और एक राग से निवेशित 'सूड' प्रबन्ध कहलाता है । विशेषता यह है कि राग एक ही है किन्तु ताल अनेक हैं । सालगसूड का विशेष लक्षण अनेक तालों का एक साथ समूह रूप में प्रयोग है—'बहूनां तालानामेकत्रगुम्फनं' ।[२] अनेक मतों से सालगसूडों का संख्याभेद कहा है । इससे यह स्पष्ट है कि सालगसूडों की संख्या व स्वरूप में काफ़ी परिवर्तन हुए होंगे । संगीतनारायण में ९ सालगसूड हैं—आदि, यति, निःसारु, अड्डताल, त्रिपुट, रूपक, झम्पक, मण्ठ और एकताली जिन्हें गान, वादन और नर्तन की दृष्टि से रंजक कहा है :—

एभिस्तु नवभिस्तालैः कल्पितः सूड उच्यते ।।
इत्येष रञ्जकः सूडो गाने वाद्ये च नर्तने ।[३]

संभव है कि उड़ीसा में सालगसूडों के साथ नृत्य करने की संगीतरत्नाकर में वर्णित नृत्यपद्धति की परम्परा बनी रही । रत्नाकर में नृत्य की शुद्ध, गौण्डली, पेरणि आदि पद्धतियाँ कही गई हैं । इनकी विशेष चर्चा अगले परिच्छेद में की जायगी ।

उपर्युक्त सालगसूड उसी क्रम में गाये जाते हैं । शुरू में आदिताल और अन्त में एकताली ताल के प्रयोग का नियम है ।[४]

इस प्रकार लक्ष्य और लक्षण के निरूपण में संतुलित दृष्टिकोण रखा है । इसका एक प्रमाण निम्न अंश में भी है :—

संप्रति तत्तदुत्कलभाषाप्रबन्धेष्वप्यन्यतालेनापि प्रथमं यद्गानं दृश्यते तदनाकरमिव प्रतिभाति ।[५]

अर्थात् उत्कल भाषा के प्रबन्धों में आदिताल के बजाय किसी अन्य ताल से आरम्भ करके सूड गाने का जो रूप दिखाई देता है उसे कोई आधार प्राप्त नहीं है ।

ध्रुव—ध्रुव के लक्षणों में संगीतरत्नाकर से बहुत अन्तर है । द्विखण्ड उद्ग्राह का दूसरा खण्ड ऊँची धातु में गाया जाय, दोनों खण्ड दो बार गाये जायँ, दोनों की लम्बाई समान हो अथवा पहले खण्ड में २ या ३ मात्रा अधिक हों । उद्ग्राह का पहला खण्ड ही ध्रुव हो ।[६] संगीतरत्नाकर में उद्ग्राह, ध्रुव, आभोग हैं ।

मण्ठ—मण्ठ में गेय सम्बन्धी लक्षण नहीं हैं केवल रचना सम्बन्धी लक्षण हैं । जैसे—उद्ग्राह, आभोग समान लम्बाई वाले और ध्रुव डेढ़गुना या दुगना लम्बा ।[७]

१. वही, ३४५
२. वही, ३४६ का गद्यखण्ड
३. वही, ३५६-३५७
४. वही, ३५९-३६०
५. वही, ३६० का गद्यखण्ड
६. वही, पृ. ५१-५२
७. वही, पृ. ५३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सालगसूडों के लक्षणों में उन तालों और प्रबंधों के लक्षण इतने मिले-जुले रूप में दिये हैं कि उन्हें अलग करना कठिन है। वास्तव में यहाँ प्रबंधों के लक्षण नहीं हैं बल्कि तालों के लक्षण और उनके उदाहरणस्वरूप उन गीतों की शब्दरचना मात्र ही हैं।

क्षुद्रगीत

क्षुद्रगीत के ४ भेद कहे हैं—चित्रपदा, चित्रकला, ध्रुवपदा और पांचाली। वस्तुतः ये गीत के भेद नहीं हैं बल्कि रचना और गेयस्वरूप कितने प्रकार का हो सकता है इसका विश्लेषण है।

चित्रपदा—जहाँ केवल पद का वैचित्र्य हो, धातु आदि का नहीं वह चित्रपदा हैः—

> केवलं पदमात्रेण वैचित्र्यं यत्र दृश्यते।
> न धात्वादौ विचित्रत्वं ज्ञेया चित्रपदेति सा॥[1]

पद का वैचित्र्य अकठोर (मृदु) वर्णों, अनुप्रास और प्रसादादि गुणों से आता है।[2]

चित्रकला—उद्ग्राह और आभोग समान मात्रावाले हों, ध्रुव न्यूनमात्रिक हो तथा ३ से ८ तक पद हों तो चित्रकला नामक क्षुद्रगीत होता है।[3]

ध्रुवपदा—दो प्रकार का होता है—१. केवल ध्रुव और आभोग युक्त जो भिन्न-धातुक होते हैं और २. जिसमें उद्ग्राह भी हो।[4] संगीतरत्नाकर में प्रबंधों में उद्ग्राह अनिवार्य माना गया किन्तु यहाँ वह वैकल्पिक हो गया है।

पांचाली—'पंच' शब्द से बना है जिसका अर्थ विस्तार होता है। जैसे—प्रपंच। जिस गीत में पदों का विस्तार हो उसे 'पाञ्चाली' कहा गया है।[5] पांचाली गीत दो प्रकार का हो सकता है—ध्रुवसहित और ध्रुवरहित। ध्रुव का अर्थ संभवतः ध्रुवपंक्ति या खंड है और कुछ गीत ऐसे होते हैं जिनकी ध्रुवपंक्ति बार-बार दोहराई जा सकती है। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें किसी पंक्ति को दोहराया नहीं जाता बल्कि गीत का एक खंड पूरा गा लेने पर ही उसे फिर से गाया जा सकता है।

गीतों में ताल संबंधी मौलिक विशेषताएँ

इस ग्रंथ में एक मौलिक बात यह है कि गीत में किसी ताल के प्रयोग में कितनी-कितनी मात्राओं पर खंड बनने चाहियें और किसी गीत में ताल की कितनी आवृत्ति होती हैं—इनका भी निश्चित नियम है। खंड संबंधी तीन संज्ञाएँ हैं—खण्ड, प्रान्त-खण्ड और भङ्गी। इनके लक्षण बहुत स्पष्ट तो नहीं हैं लेकिन शायद बड़े खंडों को 'खंड', उनसे १-२ मात्रा कम होने पर 'प्रान्तखण्ड' और बीच के छोटे खंडों को 'भङ्गी' कहा है।[6]

---

१. वही, १/४७३
२. वही, गद्यखंड
३. वही, ४७५
४. वही, ४७६
५. वही, ४८०
६. वही, ३६७-३७५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कुडुक्क और एकताली में क्रमशः १६, १४, ८ पर यति, त्रिपुट में १४, १२, ७ पर, झम्पा और अड्ड में १० या १५ या १९ पर, भङ्गी में ५-५ पर, निःसारु में १४, १२, १० पर और रूपक में १२, ११, ६ मात्राओं पर खंड बनाये जाते हैं। इसी प्रकार ध्रुव के पहले खंड में ५ से ८ तक, दूसरे खंड में ३ अधिक तक, मण्ठ के उद्ग्राह में ७ से ९ तक और ध्रुव में १० से १२ तक ताल की आवृत्तियाँ हो सकती हैं।[1]

तालों के बंध भी कहे हैं। जैसे—कुडुक—एकताली का, यति—त्रिपुट का, झम्पा—अड्ड का 'सम' बंध कहलाता है। रूपक और निःसारु का किसी से बंध नहीं होता।[2]

सूळादि

कर्णाटक संगीत में 'सूळादि' संज्ञा से एक विशेष प्रकार के गीत का प्रचार रहा है। यद्यपि आज ये लक्ष्य से लुप्त हो गये हैं लेकिन रत्नाकर आदि ग्रंथों में निरूपित सालगसूडों से इनका संबंध जोड़ा जाता है। मैसूर के विद्वान् प्रो० आर० सत्यनारायण ने सूळादि के विकास के संबंध में अपनी पुस्तक में[3] विस्तार से चर्चा की है। उसे ध्यान में रखते हुए संगीतरत्नाकर और परवर्ती ग्रंथों के आधार पर इस बारे में यहाँ विचार किया जा रहा हैं।

श्री० सत्यनारायण ने अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में सूड पर कल्लिनाथ की टीका के 'ध्रुवादेस्तु नियमातिलङ्घनात् सर्वथा सालगत्वमेवेति भावः'[4]— इस अंश के आधार पर सालगसूडों को स्थानीय प्रयोग (localised usage) पर आधारित कहा है। किन्तु संगीतरत्नाकर या टीकाओं में ऐसा संकेत नहीं है बल्कि वहाँ 'सालगत्व' का अर्थ शुद्ध की छाया का दिखाई देना ही है, स्थानीय प्रयोग नहीं।

लेखक के अनुसार 'सूड' या 'सूळ' शब्द केवल कन्नड़ भाषा में है अन्य किसी दाक्षिणात्य भाषा में भी नहीं है। 'सूळ' धातु से ये शब्द बने हैं जिसका अर्थ है ध्वनित होना (to sound) और निश्चित क्रम में आना ('to occur in a pre-determined order') इससे सूचित होता है कि ये सातों गीत एक विशेष क्रम से गाये जाते थे। ये ऐसे तालों में गाये जाते थे जिन्हें केवल सशब्द क्रियाओं से दिखाया जाता था।

इन सूडों का ही 'सूडादि' या 'सूळादि' के रूप में विकास हुआ। 'आदि' का अर्थ है 'से शुरू होने वाले' या 'शुरू में हैं जिसके' (beginning with या et cetera)। लेखक के अनुसार सबसे पहले पुण्डरीक विट्ठल ने नर्तन-निर्णय में और सोमनार्य ने 'स्वरराग सुधारस' में सूळादि संज्ञा का प्रयोग किया है। १५वीं १६वीं सदी में सालगसूडों में बहुत से परिवर्तन हुए और नवीन रूप सूळादि बना। वर्तमान स्वरूप १५ वीं १६ वीं सदी के हरिदासकूट सन्त गायकों द्वारा और सूळादि संज्ञा संभवतः व्यासराय द्वारा दी गई।

१. वही, ३७५-३७८ २. वही, ३८०-३८१

३. Sulādis And Ugābhogas of Karnātak Music

४. सं. र., अ. ४, पृ. ३३५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सूळादि सप्ततालों का आज जो रूप है उसका उल्लेख अग्गळ ने ११८९ ई. में किया, ऐसा लेखक ने कहा है। ये गीत जिन तालों में गाये जाते थे उनके साथ ऐसे रूढ़ हो गये कि बाद में ये ताल भी 'सूळादि सप्तताल' कहलाने लगे।

सालगसूडों से सूळादि में बड़े परिवर्तन हुए—(१) सालगसूड के ७ प्रबंध एक क्रम से गाये जाते थे। उनके स्थान पर उनके प्रतीक रूप एक-एक चरण उन तालों में रख कर एक गीत बना लिया गया और इस प्रकार यह एक तालमालिका गीत बन गया। (२) सूडों में विषयवस्तु की विविधता थी। अब धार्मिक या नैतिक विषय रह गये। (३) सात सूडों में प्रयुक्त तालों के स्थान पर ध्रुव, मठ्य, रूपक, झम्पा, त्रिपुट, अट्ट, एकताल और झोम्पट् इन ८ तालों का प्रयोग होने लगा।

इस प्रकार श्री० सत्यनारायण के अनुसार यद्यपि इनका विकास सालगसूडों से हुआ फिर भी इनका मूल काफ़ी प्राचीन है। दासकूट गायकों द्वारा १५वीं १६वीं सदी में इनका स्वरूप स्थिर हुआ और उनके द्वारा अनेक सूळादि रचे गये।

संगीतरत्नाकर के सालग सूडों में ध्रुव को छोड़ कर शेष सभी में उन्हीं प्रबन्ध नाम वाले तालों का प्रयोग है। एकमात्र ध्रुव ऐसा है जिसके भेदों में निःसारु, प्रतिमंठ, हयलील, क्रीडा, लघुशेखर, झंपा, एकताली, द्वितीय और आदि तालों का प्रयोग कहा गया है। ध्यान देने योग्य है कि ध्रुव नाम से कोई ताल नहीं है जब कि उपर्युक्त सभी ताल और अन्य सालगसूडों में प्रयुक्त ताल देशी वर्ग के हैं।

संगीतरत्नाकर की रचना दक्षिण में हुई जिसमें ग्रंथकार ने सभी उपलब्ध व प्रचलित प्रबंधों का लक्षण निरूपण किया लगता है। संभव है कि सालगसूड दक्षिण प्रदेश में ही प्रचलित रहे हों, उत्तर में नहीं अथवा उत्तर में बहुत कम प्रयोग होता हो। हमारे अनुमान का एक बड़ा कारण यह भी है कि उत्तर के तत्कालीन और परवर्ती ध्रुवपदों में संगीतरत्नाकर के शास्त्रगत तथा लक्ष्यगत सभी प्रमुख विषयों की चर्चा होती रही है लेकिन सूड या सालगसूड का नाम तक कहीं नहीं आया है। सूड, सूळ, सूळादि संज्ञाओं के बारे में श्री० सत्यनारायण के इस कथन से भी इस अनुमान को पुष्टि होती है कि ये शब्द कन्नड़ के सिवा किसी दाक्षिणात्य भाषा में भी नहीं हैं। उनके कथनानुसार १२वीं सदी में सूळादि सप्ततालों का उल्लेख मिलना इसका प्रमाण है कि सूड प्रबंधों या सूळादि का प्रयोग कर्णाटक प्रदेश में कम से कम १२वीं सदी में अवश्य होता रहा होगा। संभवतः इन्हीं को सालगसूड नाम से संगीतरत्नाकर में शास्त्रबद्ध किया गया। बाद में ये स्वतंत्र और अलग-अलग प्रबंध अपना मूल रूप खोकर सूळादि के रूप में आये हों।

कल्लिनाथ ने सालगसूडों में हो रहे अनेक परिवर्तनों का उल्लेख किया है लेकिन संभवत. उस समय तक उनका गठबंधन ७ या ८ तालों से उस रूप में नहीं हुआ था जैसा सूळादि में है। संगीतदर्पण में रासक के लक्ष्य से लुप्त हो जाने का उल्लेख है यद्यपि शेष सालगसूडों के लक्षण संगीतरत्नाकर के समान हैं। संभवतः संगीत-परिजात में ही सबसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहले सालगसूडों को सात तालों के समूह से जोड़ा गया—'ध्रुवादिसप्तभिस्तालैः सूड इत्यभिधीयते'।[1] इससे भी यह संकेत मिलता है कि सूळादि सप्ततालों का स्वरूप स्थिर हो चुका था और उनमें ये सूड गाये जाते थे।

इसके समसामयिक और परवर्ती दक्षिण भारतीय शास्त्रग्रंथों में सूळादि संज्ञा या इस रूप में घनीभूत हुए नये प्रबंध की चर्चा प्रायः नहीं मिलती। संगीतनारायण उड़ीसा में लिखा गया और उसमें उस प्रदेश के गीतों के लक्ष्यगत स्वरूप पर काफ़ी चर्चा की गई है। इसमें सूळादि संज्ञा तो नहीं है लेकिन सूड के जो लक्षण दिये हैं उनसे सूड के बजाय सूळादि की धारणा ही बनती है (पाटरहित पद को नौ तालों और एक राग में गाने पर सूडप्रबंध कहलाता है)। संबंधित श्लोक में 'सूडः' में प्रथमा एकवचन का प्रयोग होने के कारण यह स्पष्ट है कि अलग-अलग सालगसूडों की चर्चा नहीं है बल्कि एक राग, नौ ताल युक्त एक प्रबंध का उल्लेख है। सूळादि का भी यही स्वरूप है। अगले श्लोक में सालगसूड और सूळादि को मिला दिया लगता है :—

शुद्धस्य लगतिच्छायां यत्तत्छायालगं विदुः।
रञ्जकं तु भवेत्तालैः रागाद्यैः सूडकल्पितम् ॥[2]

'बहूनां तालानामेकत्रगुम्फनं सूडः' में तो सूळादि का रूप बिल्कुल स्पष्ट है। आगे भी कहा है—'एभिस्तु नवभिस्तालैः कल्पितः सूड उच्यते'।

इस प्रकार सूड शब्द तथा सालगसूड प्रबंधों में प्रयुक्त ७ तालों में से ४ के प्रयोग के सादृश्य से सूळादि का संबंध सालगसूडों से स्थापित करने का प्रयत्न होता रहा। ग्रंथोक्त लक्षणों के आधार पर तो सूळादि सूड से भिन्न तालमलिका गीत ही प्रतीत होते हैं।

विद्वान् श्री. एँन चेन्नकेशव ने उल्लेख किया है[3] कि गायकों के मत से सूळादि शब्द 'सुळु हादि' से बना है जिसका अर्थ है मोक्षप्राप्ति का सरल उपाय। यह भी संभव है कि 'ड' और 'ळ' का अभेद होने पर रत्नाकरोक्त 'सूड' ही 'सूळ' हो गया हो। उनके अनुसार उत्तर भारत में प्रचलित सूलताल संभवतः मठ्य, झंपे, खंड चापु तालों से युक्त हरिदास कृतियों का आधार रहा हो और बाद में ये कृतियाँ सूळादि कहलाई हों। परंपरागत ढंग से गाये जाने वाले सूळादि प्रबंधों की उन्होंने ये प्रमुख विशेषताएँ बताई हैं :—

(१) साधारणतः इनमें ५ से १० चरण होते हैं जो दल कहलाते हैं। पल्लवी आदि खंड नहीं होते लेकिन हर दल के अंत में या बीच में प्रबंध के शुरू के या प्रमुख शब्द आवृत्त होते हैं। अन्तिम दल 'जथे' कहलाता है जिसमें पूरे गीत का सार रहता है।

(२) आम तौर पर अध्यात्म, शिक्षा, ईशस्तुति या नैतिक शिक्षा और कभी-कभी ऐतिहासिक घटनाएँ इनकी विषय वस्तु होती है।

१. सं. पा., ५५३ २. सं. ना., १/३४५

३. मद्रास म्यूज़िक ऍकेडॅमी के जर्नल (वर्ष १९६४, Part I-IV) में प्रकाशित लेख Sri Purandardas and the general characteristics of his Suladis and Ugabhogas के आधार पर।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(३) हर चरण में वाग्गेयकार की मुद्रा रहती है। कभी-कभी प्रासनियम का भंग हो सकता है।

(४) पूरे प्रबंध में एक ही गति रहती है। कभी-कभी एक चरण विलंबित में और अन्य चरण मध्य या द्रुत लय में होते हैं।

(५) भावाभिव्यक्ति की आवश्यकतानुसार चरणों की लंवाई कम-ज्यादा हो सकती है।

(६) अलग-अलग तालों का प्रयोग होता है लेकिन कोई ताल दुबारा भी आ सकता है।

(७) पूरा गीत प्रायः एक ही राग में गाया जाता है। कभी रागतालमालिका होने पर कई राग भी हो सकते हैं।

श्री. चेन्नकेशव के अनुसार सूळादि का विकास श्रीपादराय के समय में हुआ लेकिन प्रचार पुरन्दरदास के समय में हुआ। उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त पुरन्दरदास के 'ब्रह्मानन्द सूळादि' में आराध्यदेव के शिर से चरण तक के सभी अंगों को आनन्द रूप कहा है जिसके विभिन्न खंडों को चतुरस्र ध्रुव-मठ्य-रूपक, खंड अट, चतुरस्र त्रिपुट, तिस्र त्रिपुट के क्रम से एक ही काल (लय) में गाया जाता है।

आ पाद आनन्द, आ नख आनन्द, आ जानु आनंद, आ जंघे आनन्द,
आ ऊरु आनन्द, आ कटि आनन्द, आ नाभि आकुक्षि, आनन्द
मयवैय्यु—(आ पाद आनन्द)।
आ भुज आनन्द, आ कम्बुग्रीवानन्द, आनन्द मयवय्य आ शिरोरुह गळु।
आनन्दवा सर्वांगड वैभवगळेल्ल, असंख्यातानन्द, पुरन्दर विठल (आ पाद आनन्द)।

२. पावककोटिसूर्य—प्रमेय सोलिसुव—देवनंगड कान्ति—आनन्द मयवैय।
हावभावभ्रू—विभ्रमविलासगळेल्ल—देवनंगड कान्ति—आनन्द मयवैय।
देवादिदेव पुरन्दर विठलन—पावनरूप—आनन्द मयवैय (देवादिदेव)।

३. बोम्म बोम्म बोम्म—बोम्म श्री हरिय—कर्मवानन्द—कुरुहुगळानन्द,
सुम्मानवानन्द—सुलिवगलानन्द—नम्म श्री पुरन्दर विठलरायन
करुणावानन्द, कोपायानन्द—

४. दशमारुतंगळ—आनंदमयवैय—हृषीकेशन एकादशवाद हृषीका (दशमारुतंगळु)

५. आनन्दलधींगि, आनन्दनाकुमार—आनन्दना थाहन आनन्द आ शयन।
आनन्दवागमन—आनन्द आ विहार, आनन्द मत्थे परमानन्द (आनन्दलधींगि)
आनन्दमुरुथि पुरन्दर विठल—आनन्दनंदनथानादनी परिय (आनन्दलघींगि)

(जथे) ६. ज्ञानानन्द मय पुरन्दर विठलन—नानारूपगळेल्ल आनन्दमयवैय (ज्ञानानन्द मय)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिच्छेद ग

प्रबन्ध के अन्य रूप

(१) प्रबंध संज्ञा से रहित गेय रूप

भरत के गीतकों का अध्ययन हम कर चुके हैं। गीत के रूप में वही प्राचीनतम उपलब्ध रचनाएँ हैं। उनमें मुख्य रूप से ३ तत्त्व हैं—स्वर, ताल और पद। पद के अंतर्गत ही 'झण्टुम्' आदि वे वाक्करण भी आते हैं जिनका प्रयोग गीतकों में होता था, यह भी समझ चुके हैं।

नाट्यशास्त्र के बाद बृहद्देशी में 'जातिप्रस्तार' हैं और 'आक्षिप्तिका' के संकेतमात्र हैं। संगीतरत्नाकर में जातिप्रस्तार के अतिरिक्त आक्षिप्तिका, कपालगान, रूपक, करण और वर्तनी—इतने प्रकार के गेय रूप हैं। इनमें से प्रथम तीन का स्वर, ताल और पद युक्त होने के कारण प्रबंधों से संबंध है इसलिये उन्हें देख लेना उपादेय होगा। शेष तीन केवल स्वर युक्त हैं इसलिये इन्हें प्रबंध नहीं कह सकते।

बृहद्देशी में जातिप्रस्तारों के स्वर दिये हैं, पद नहीं हैं। ग्रामरागों में आक्षिप्तिका का नाम नहीं है और प्रस्तार भी नहीं है लेकिन हर ग्रामराग के अन्त में प्रायः कहा है—'स्वरपदगीते""ताल:' अर्थात् स्वर, पद और तालयुक्त गीत है जिसमें आक्षिप्तिका का संकेत है क्योंकि संगीतरत्नाकर में जो आक्षिप्तिकाएँ दी गई हैं उनके साथ यहाँ दी गई कलासंख्या, मार्ग और ताल की पूरी समानता है।

जातिप्रस्तार

इसकी व्याख्या या परिभाषा प्राप्त नहीं होती। लेकिन जो गीत जातिप्रस्तार के रूप में संगीतरत्नाकर में प्राप्त हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये तालबद्ध, शिवस्तुति के पदों से युक्त गीत हैं जिनकी स्वरयोजना जातियों के अपने लक्षणों के अनुसार है अर्थात् इनकी स्वररचना में जातियों के लक्षण पूरे-पूरे घटते हैं। इनमें ताल, मार्ग और गीति का नियम है और कलासंख्या नियत हैं। शिवस्तुति संबंधी होने के कारण अदृष्टदायक हैं इसलिये पूर्वरंग में अथवा नाट्य से स्वतंत्र रूप से शिवस्तुति में इनका प्रयोग होता था जैसा कल्लिनाथ ने स्पष्ट किया है—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चकारात्स्वातन्त्र्येणापि ब्रह्मप्रोक्तपदैरन्यैर्वा शंकरस्तुतावेव विनियोगः समुच्चीयते ।[१]

नैष्क्रामिकी आदि ध्रुवाओं और नाट्य के प्रथम आदि अंकों में प्रयोग का नियम भी बताया गया है :—

नैष्क्रामिकध्रुवायां च प्रथमे प्रेक्षणे स्मृतः ।[२]

इसका अर्थ यह है कि नाट्य के अंतर्गत भी जातिप्रस्तारों का प्रयोग होता था :—

ध्रुवापदानामेतज्जात्युक्तस्वरसंदर्भेण योजनं नाट्याङ्गत्वेन ।[३]

उस स्थिति में परिस्थिति, पात्र की प्रकृति, रस आदि के अनुकूल पदयोजना, प्रयोज्य जाति के लक्षण के अनुसार स्वरयोजना और ताल का इनमें प्रयोग होना चाहिये, ऐसा अनुमान होता है । अथवा शिवस्तुति के प्रसंग में इन्हीं जातिप्रस्तारों का प्रयोग होता रहा होगा।

इन गीतों में न गणनियम है, न अक्षरसंख्या नियम और न मात्रासंख्या का नियम है । लघुगुरु क्रम भी पूरे गीत में एकसा नहीं है । इस दृष्टि से ये छन्दोवद्ध नहीं हैं, केवल पादवद्ध कहे जा सकते हैं । लेकिन ताल के आवर्तन में पूरे आ जाने के कारण यह कमी खटकती नहीं है । पूरा गीत एकसाथ गाया जाता है । बीच में खण्ड नहीं होते और न कोई पंक्ति 'ध्रुव' की तरह आवृत्त होती है । कर्णाटक संगीत में श्री० मुत्तुस्वामी दीक्षितर के 'प्रस्तार' केवल तालवद्ध स्वररचनाएँ हैं जिनमें स्थायी अन्तरा जैसा विभाजन या ध्रुवपंक्ति की आवृत्ति नहीं होती । यंत्रक्षेत्रदीपिका में भी 'स्वरनिवन्धिनी' के नाम से ऐसी रचना का उदाहरण है जिसमें स्थायी अन्तरा का विभाजन नहीं है ।[४]

आक्षिप्तिका

इसका लक्षण यह है:—

चच्चत्पुटादितालेन मार्गत्रयविभूषिता ॥
आक्षिप्तिका स्वरपदग्रथिता कथिता बुधैः ।[५]

अर्थात् चच्चत्पुटादि तालों से, तीन मार्गों से, स्वर और पद से गुँथी हुई 'आक्षिप्तिका' कहलाती है । इस पर टीका करते हुए कल्लिनाथ ने गीत का लक्षण इन शब्दों में प्रतिपादित किया :—

तैः स्वरैः पदैस्तालैर्मार्गैरेवं चतुर्भिरङ्गैरुपेतं ध्रुवादिसंज्ञकं गीतमिति ।[६]

आशय यह है कि स्वर, पद, ताल और मार्ग—इन ४ से युक्त गीत होता है। 'मार्ग' ताल का ही अंश है इसलिये यह कहना उपयुक्त होगा कि गीतकों और जातिप्रस्तारों की तरह इनमें भी स्वर, पद और ताल—ये तीन ही अंग हैं ।

---

१. सं. र., कल्लि. १/७/पृ. १६८
२. वही, १/७/६३
३. वही, कल्लि., पृ. १६८
४. यंत्र., पृ. १६७–१६६
५. सं. र., २/२/२५-२६
६. वही, कल्लि., पृ. ३३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आक्षिप्तिका और जातिप्रस्तार लगभग एक से हैं। इतना अंतर अवश्य है कि आक्षिप्तिकाएँ जातियों के बजाय ग्रामरागों में होती हैं, भाषा का नियम नहीं होता और विविध विषयों से संबंधित पद हो सकते हैं। कल्लिनाथ ने इसे निबद्धगीति का भेद कहा है—'आक्षिप्तिकेति निबद्धगीति भेदः'।[1] साथ ही इसके नाम की सार्थकता इस प्रकार स्पष्ट की है:—

पदतालाद्याक्षिप्तत्वादाक्षिप्तिकेत्यन्वर्था।[2]

इस प्रकार आक्षिप्तिका ऐसा निबद्ध गीत है जिसकी स्वर योजना में ग्रामराग के सब लक्षण हों अर्थात् जो ग्रामराग में बद्ध हो, जो तालबद्ध हो और जो पद से युक्त हो। यानी ऐसा गीत जो प्रयोज्यराग का 'आक्षेप' कराये वह आक्षिप्तिका है। इनमें छंद का नियम नहीं है। लेकिन आक्षिप्तिकाओं के जो उदाहरण संगीतरत्नाकर में हैं उनमें चामर, रथोद्धता, त्वरितगति, मत्तचेष्टित आदि वर्णवृत्त और कहीं-कहीं मात्रावृत्त भी हैं।

कर्णाटक संगीत का 'गीतम्' आक्षिप्तिका से बहुत मिलता-जुलता है क्योंकि इसमें भी आक्षिप्तिका की तरह खंड-विभाजन नहीं होता और एक ही धातु चलती है। गीतम् का प्रयोजन राग का संचार-ज्ञान कराना है।

कपालगान

इस संज्ञा की सार्थकता को कल्लिनाथ ने दो तरह से स्पष्ट किया है। प्रथम, जैसे घट का एक अंश कपाल (खप्पर या घड़े का नीचे का आधा भाग) घट की प्रतीति का जनक होता है उसी प्रकार कपालगान राग के एक अंश होने से राग की प्रतीति के जनक होते हैं :—

यथा घटैकदेशत्वेन कपालानि घटप्रतीतिजनकान्येवमेतान्यपि रागैकदेशत्वेन रागप्रतीतिजननात्कपालानीव कपालानीति तेषां संज्ञाऽवगन्तव्या।[3]

द्वितीय, भिक्षाटन के समय शंभु के द्वारा षाड्जी आदि जाति गाये जाने पर अत्यधिक रसाभिव्यक्ति के कारण उनके मस्तक पर शोभित चंद्रमा से झरते हुए अमृत के, उनके गले में पड़ी हुई कपालों (नरमुंडों) की माला पर, गिरने से कपाल जीवित हो गये और शंकर की स्तुति गाने लगे। इस प्रकार कपालों के द्वारा इनका गान होने के कारण ये कपालगान कहलाये:—

अथ वा, पुरा भिक्षाऽटनसमये शम्भुना षाड्ज्यादिषु गीयमानासु निरतिशयरसाभिव्यक्त्या रसात्मिकायां तन्मौलिगतचन्द्रकलायां च स्रवन्त्यां तदमृतरससिक्तानि तद्भूषणब्रह्मकपालानि तदा सजीवानि तद्गानमनुकृत्यागायन्किल। अतः कपालगीतत्वात्कपालसंज्ञानीत्यैतिह्यम्।[4]

---

१. वही, पृ. २१
२. वही, पृ. २२
३. वही, कल्लि., १/८ पृ. २७५
४. वही, २७६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कपालगानों के जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें शिवस्तुति के पद और 'झण्टु' 'हौ हौ' आदि स्तोभाक्षर हैं जो ताल की कलाओं के अनुसार दिये हैं, लेकिन उनकी स्वरयोजना या ताल नहीं हैं। अधिकांश प्रासबद्ध हैं, कुछ छन्दोबद्ध भी हैं। उदाहरण के लिये आर्षभी और गान्धारी के कपालपद नीचे उद्धृत हैं। इनमें से पहले में स्तोभाक्षर और पद—दोनों हैं, प्रासबद्ध है लेकिन छन्दोबद्ध नहीं है। दूसरे में स्तोभाक्षर नहीं हैं लेकिन छन्द व प्रासबद्ध है :—

आर्षभी कपालपद

झण्टुं झण्टुं खट्वाङ्गधरम् ॥१॥
दंष्ट्राकरालम् ॥२॥
तडित्सदृशजिह्वम् ॥३॥
हौ हौ हौ हौ हौ हौ हौ हौ ॥४॥
वरसुरभिकुसुम ॥५॥
चर्चितगात्रम् ॥६॥
कपालहस्तम् ॥७॥
नमामिदेवम् ॥८॥

इत्यार्षभीकपालपदानि ॥[1]

गान्धारी कपालपद

चलत्तरङ्ग ॥१॥
भङ्गुरम् ॥२॥
अनेकरेणु ॥३॥
पिञ्जरं, सु- ॥४॥
रासुरैः सुसेवितं, पु- ॥५॥
नातु जान्ह- ॥६॥
वी जलम् ॥७॥
मां विन्दुभिः ॥८॥

इति गान्धारीकपालपदानि ॥[2]

गांधारी कपालपद में प्रमाणिका या मत्तचेष्टित छन्द है।

संगीतरत्नाकर में शुद्ध कैशिक, भिन्नषड्ज और शुद्धपंचम की आक्षिप्तिकाओं में पद वही हैं जो क्रमशः धैवती, गांधारी और पंचमी के कपालपदों में हैं। इससे यह समझा जा सकता है कि आक्षिप्तिकाओं के पद नियत नहीं थे बल्कि परिस्थिति के अनुसार पदयोजना की जा सकती थी। लेकिन कपालपद ब्रह्मप्रोक्त[3] होने के कारण अपरिवर्तनीय थे।

---

१. वही, १/८, पृ. २७९ २. वही
३. वही, १/८/१४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वर, ताल, पद, पाट, तेन और विरुद—प्रवंधों के ये ६ अंग हम समझ चुके हैं। सकल प्रवन्धगत नादरूप स्वर और आवर्तनरूप ताल को 'स्वर' और 'ताल' के रूप में समझें तो शेष चारों अंग 'पद' के ही विभिन्न रूप हैं। पाट भी अक्षर हैं। यों तो स्वर के वाचक स, रि, ग आदि वर्ण भी पद में ही आते हैं। इस प्रकार भरत के 'यत्स्यादक्षर-संबद्धं तत्सर्वं पदसंज्ञितम्—इस कथन के अनुसार प्रवंध के ६ अंगों में से ताल को छोड़ कर शेष पाँचों पद के अन्तर्गत आते हैं। पद का इतना सूक्ष्म और विस्तृत विश्लेषण इस तथ्य का परिचायक है कि भारतीय संगीत में पद का बड़ा महत्त्व रहा है। वह स्वर ताल प्रयोग का आधार रहा है और सदा ही अंग के रूप में गृहीत हुआ है; पाश्चात्य संगीत की तरह संगीत वाह्य तत्त्व नहीं माना गया। गीतक तथा कपालगान में झंटुं आदि वाक्करण और 'हो हो' आदि स्तोभाक्षर भी निरर्थक वर्ण हैं जैसे प्रवंधों में पाट और स, रि, ग आदि स्वराक्षर। इस दृष्टि से गीतकों और कपालों में भी स्वर, ताल, पद, विरुद, स्तोभ और वाक्करण—६ अंग कहे जा सकते हैं। आक्षिप्तिकाओं में भी स्वर, पद, ताल और विरुद हैं।

अंगों की दृष्टि से गीतक, प्रस्तार, कपाल, आक्षिप्तिका और प्रवन्ध—ये सभी गीतों के विभिन्न प्रकार हैं। प्रवन्धों में दो ऐसी विशेषताएँ हैं जो इन पूर्ववर्ती प्रकारों में दिखाई नहीं देतीं—तेन और पाट ये दो अंग तथा उद्ग्राहादि धातुएँ। धातु और अंगों की इन विशेषताओं के आधार पर इन्हें 'प्रवन्ध' संज्ञा देकर गीतक आदि से अलग किया गया। लेकिन सभी में स्वर, ताल और पद—ये तीन ही तत्त्व थे और सभी गाये जाते थे इसलिये सबकी साधारण संज्ञा 'गीत' कही जा सकती है।

(२) वाद्य प्रवन्ध

संगीतरत्नाकर के वाद्याध्याय में अवनद्ध वाद्यों के प्रबंध दिये हैं। इनमें गेय प्रबंधों की ही तरह उद्ग्राह आदि धातुएँ हैं। अवनद्ध वाद्यों के विभिन्न पाटों से 'हस्तपाट' बनते हैं, हस्तपाटों के आधार पर 'वाद्य' और वाद्यों से 'प्रवन्ध' बनते हैं। ऐसे ४३ वाद्य प्रवन्धों का निरूपण संगीतरत्नाकर में हुआ है—यति, ओता, गजर, रिगोणी, कवित, पद, मेलापक, उपशम, उद्ग्राह, प्रहरण, अवत्सक, छण्डण, तुडुका, मलप, मलपांग, मलपपाट, छेद, रूपक, अन्तर, अन्तरपाट, खोज, खण्डयति, खण्डच्छेद, अवयति, खण्डपाट, खण्डक, खण्डहुल्ल, सम, पाट, ध्रुवक, अंग, अंगरूपक, ताल, विताल, खलक, समुदाय, जोडणी, उडव, तलपाट, उट्टवणी, तुण्डक, अंगपाट और पैसार।[1]

वाद्य प्रवन्धों का निरूपण करना हमारा प्रयोजन नहीं है इसलिये इनका विशेष विवरण यहाँ नहीं दिया गया है। प्रवन्ध संज्ञा दी जाने के कारण यहाँ इनका उल्लेखमात्र किया है। किन्तु इस ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि अवनद्ध वाद्यों के विशेष महत्त्व और उनकी अत्यन्त विकसित वादन शैली के प्रमाण ये प्रवन्ध हैं। वर्तमान वादन शैली की

१. वही, ६/९४५-९५०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बँधी हुई रचनाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है जिसकी विविधता उपर्युक्त प्रबंधों के द्वारा सूचित होती है।

ये वाद्य प्रवन्ध उद्ग्राहादि धातुओं के अनुसार कठोर, कोमल पाटों पर आधारित हैं जिनके अन्त में प्राय: 'दैंकार' यानी 'दें' ध्वनि रहती है। संभवत: खुला बोल होने के कारण 'दें' अन्त में रखा जाता था जिससे बुलंद ध्वनि में प्रवन्ध का समापन हो। इन प्रवन्धों का प्रयोग मंठादि सालगसूडों [1], एलादि प्रवन्धों अथवा दीप्त (उद्धत) नृत्य में होता है। नृत्य की त्रिविध पद्धति में तो इनका अनिवार्य स्थान है, यह आगे स्पष्ट किया जायगा।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि नाट्यशास्त्र में भी ताण्डव और लास्य नृत्तों के संदर्भ में अवनद्ध वाद्यों के उद्धत और सुकुमार प्रयोग की बार-बार चर्चा की गई है। उद्धत नृत्त के साथ अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग अनिवार्य माना गया है क्योंकि ये नृत्त का उपरंजन करते हैं और नृत्त में दीप्ति लाते हैं।

(३) नृत्त प्रबन्ध

गेय और वाद्य प्रवन्धों की ही भाँति नृत्त प्रबन्ध भी कहे गये हैं। इनमें गेय और वाद्य प्रबन्धों के साथ नृत्य किया जाता है। इन्हें नृत्य प्रबन्ध न कह कर 'पद्धति' कहा गया है। पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें 'पात्र' अर्थात् नर्तकी एक ही होती है लेकिन गायक वादकों का विशाल समूह होता है। नर्तकी सहित इस पूरे समुदाय को 'सम्प्रदाय' कहा जाता है। सम्प्रदाय में प्रयोक्ताओं की संख्या इस प्रकार है—१ मुखरीवादक, १ प्रतिमुखरी वादक, २-२ आवजधर, अड्डावजधर और करटाधर, ३२ मर्दलवादक, २ तालधर, ८ कांस्यतालधर, २ काहल वादक, ४ वंशीवादक. ८ गायकों सहित २ मुख्य-गायक, ८ गायिकाओं सहित २ मुख्य गायिकाएँ और गुणों से युक्त १ नर्तकी—इस प्रकार कुल ७२ गायकवादक और एक नर्तकी होती है। ये सभी रूपवान्, अलंकारों से शोभित, गीतादि के साम्य में निपुण, प्रसन्न, उत्फुल्ल चित्त होने चाहियें। यह उत्तम सम्प्रदाय है जो लोक में 'कुटिल' कहलाता है। आधी संख्या होने पर मध्यम और उससे भी कम होने पर कनिष्ठ सम्प्रदाय कहलाता है।[2]

पद्धति तीन प्रकार की होती है—शुद्ध, देशी और पेरणि। इनकी प्रमुख विशेषताओं का परिचय मात्र यहां दिया जा रहा है।

शुद्ध पद्धति—नर्तकी के रंगमंच पर प्रवेश करने से पहले क्रमश: मेलापक और गजर वाद्य प्रवंधों का प्रयोग किया जाता हैं। प्रवेश करने के बाद उपशम, पद, ओता, कवित, मलप, अवत्सक, रिगोणी, तुडुक—इन वाद्यप्रवंधों का स्वेच्छित क्रम से अथवा इसी क्रम से वादन और नृत्तांगों सहित नृत्त होता है। इसके बाद एलादि में से किसी प्रवंध का गान करते हुए त्रिविध नर्तन—रसाश्रित गीतार्थ का अभिनय करते हुए 'नाट्य',

१. वही, ६/६५४ २. वही, ७/१२५२-१२५८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भावाश्रित गीतार्थ का अभिनय करते हुए 'नृत्य' और गात्रविक्षेप मात्र से गीत का अनुकरण मात्र करते हुए 'नृत्त'—करती है।[1] संभवतः शुद्धसूडों के साथ नर्तन किया जाने के कारण अथवा यह संभवतः मूल शास्त्रीय पद्धति हो इसलिये इसे 'शुद्ध पद्धति' कहा गया है।

देशी पद्धति—इस पद्धति की नर्तकी 'गौण्डली' कहलाती है। एलादि कठिन प्रबंध छोड़ कर सालगसूडस्थ गीतों को स्वयं गाकर, कंधे में लटकी हुई त्रिवली को स्वयं वजाते हुए कोमल अंगों से युक्त लास्य नृत्य करती है। त्रिवली वजाने में 'ग्राम्यत्व' होने के कारण इसे देशी पद्धति कहा गया है। यदि अच्छा कंठ न हो और स्वयं न गा सके तो 'मूक गौण्डली' कहलाती है। गौण्डली का अर्थ 'मण्डल' है। इस पद्धति में विशेष सालगों का प्रयोग, विशिष्ट तालों का वादन, गौण्डली द्वारा चतुर्विध स्वस्थानों से युक्त रागालप्ति गान, मुख्य गायिकाओं द्वारा रूपकालप्ति का गान और द्रुत लयाश्रित नृत्त होता है।[2]

पेरणि पद्धति—इसमें नर्तकी के स्थान पर नर्तक होता है। चारी प्रधान होने के कारण चारी करणों का प्रयोग अधिक होता है। नर्तक मुँडे सिर वाला, चोटीधारी, भस्मादि से शरीर को लिप्त करके, कमर में घुँघरुओं का जाल वाँध कर स्वयं सालगसूड गाकर नृत्य करता है। साथ में विलंवित वाद्य प्रबंधों, जैसे—रिगोणी, उट्टवण आदि, का वादन होता है।[3]

उपर्युक्त नृत्त पद्धतियाँ नाट्यशास्त्र में पूर्वरंग में कहे गये 'ताण्डव' प्रयोग का संशोधित, परिवर्तित और सरल रूप जान पड़ती हैं। ताण्डव में भी नृत्त के साथ गीतकों का और वाद्यों का—विशेष रूप से अवनद्ध वाद्यों का—प्रयोग होता था। यहाँ इतना परिवर्तन हुआ है कि गीतकों का स्थान प्रबंधों ने ले लिया है। लेकिन शुद्ध पद्धति में एलादि शुद्ध सूड ही हैं जो प्रकरण गीतों से संबद्ध कहे जा चुके हैं। देशी पद्धति में सालगसूडों का प्रयोग कहा गया है।

यही परंपरा गीतगोविन्द के रूप में भी चलती रही। कहा जाता है कि गीतगोविंद के पदों को जयदेव गाते थे और उनकी पत्नी पद्मावती साथ में नृत्य-अभिनय किया करती थीं। इन पदों में कुंभा ने देशीत्व और सालगत्व दोनों की कल्पना की है। इस प्रकार संभवतः नाट्यशास्त्र की गांधर्व पद्धति और रत्नाकर की देशी पद्धति का इसमें मिश्रण हुआ है।

वाद्य और नृत्त प्रबंधों का उपर्युक्त संक्षिप्त निरूपण करने का यही प्रयोजन है कि प्रवन्ध नाम से अथवा इस स्वरूप के जितने प्रकार प्राप्त होते हैं उनका संकेत कर दिया जाय और गीत, वाद्य, नृत्त प्रबंधों के सम्मिलित प्रयोग में गीत-प्रबंधों का क्या स्थान रहता होगा इसका दिग्दर्शन करा दिया जाय।

---

१. वही, १२६०-१२७२
२. वही, १२७३-१३००
३. वही, १३०१-१३२५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिच्छेद घ

वर्तमान लक्ष्य में प्रचलित गीतों का विकास और वर्तमान रूप

प्रस्तुत खंड में उन गीतों पर चर्चा करेंगे जो आज के शास्त्रीय संगीत में प्रचलित हैं। आज पूरे भारत में शास्त्रीय संगीत की तीन पद्धतियाँ हैं—१. उत्तर भारतीय, २. कर्णाटक ३. उड़ीसी। स्वरों की संख्या, स्वर प्रयोग का ढंग, रागों के स्वरूप, राग वर्गीकरण, ताल की धारणा व प्रयोग और विविध ताल, गीत के प्रकार आदि सभी दृष्टियों से इन पद्धतियों में अन्तर है। उत्तर और कर्णाटक पद्धतियों में यह अन्तर अत्यधिक मात्रा में है लेकिन, जैसा पहले कहा जा चुका है, उड़ीसी पद्धति में दोनों के स्वरूप का दर्शन और उत्तर की ओर झुकाव अधिक होते हुए भी उसकी स्वतंत्र शैली है। इसलिये तीनों के गीतों का अलग-अलग निरूपण किया जायगा।

(१) उत्तर भारतीय

ध्रुपद

इसका प्राचीन नाम ध्रुवपद है। छन्द संबंधी अध्याय में घनाक्षरी के संदर्भ में भी इसकी चर्चा की जायगी। यहाँ विशेष रूप से इसके उद्भव, विकास और आधुनिक रूप पर ही प्रकाश डाला जायगा।

प्रबंध की धातुओं में ध्रुव नामक धातु, और ध्रुव नामक प्रबंध के बारे में कहा जा चुका है। संभव है इनसे ध्रुवपद का कोई संबंध रहा हो। संभव है कि मूलतः इनमें प्रयुक्त भाषाभाग यानी पद को ध्रुवपद कहा गया हो।[1]

गीतगोविंद की अष्टपदियों में पदों के बाद कहे गये 'ध्रुव' को कुम्भा की रसिकप्रिया टीका में 'ध्रुवपद' कहा गया है—'जय जय देव हरे इति सर्वत्र ध्रुवपदम्'।[2] वह पंक्ति स्थायी (स्थिर) होने और बार-बार आवृत्त होने के कारण ही ध्रुव कहलाती है।

सर्वप्रथम ध्रुवपद गोपाल नायक का प्राप्त होता है जो भीमपलासी राग और उसूले-

१. सं. चि., पृ. ३१८ २ रसिक., पृ. २०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फ़ाख़्ता (सूल) ताल में निबद्ध है। यह तत्कालीन प्रचलित भाषा में है और ओज-गुण से युक्त है।[1]

वास्तव में ध्रुवपद को विशिष्ट पदरचना व गेय शैली के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले ग्वालियर नरेश मानसिंह तोमर (१४८६-१५१६ ई.) थे। मध्ययुगीय पदशैली के प्रवर्तक भी यही माने जाते हैं।

पदशैली का मूलरूप बौद्धों के चर्या पदों में मिलता है। उनमें विशेष रूप से ये विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं :—

(१) दो-दो पंक्तियों में तुक (प्रास) योजना।

(२) तुक समाप्ति पर ध्रुव।

(३) कहीं-कहीं ध्रुव का प्रयोग ४ पंक्तियों के वाद।

(४) दो-दो पंक्तियों में ही प्रास योजना तथा पूरे पद में अन्त्यानुप्रास का अभाव।

(५) सामान्य रूप से ध्रुव पंक्ति का अन्य पंक्तियों से छोटा न होना अर्थात् सभी पंक्तियों की समान लंबाई।

(६) केवल एकाध पद में छोटी पंक्ति का अस्तित्व।

उदाहरण के लिये दो पद यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं :—

राग़ पटमञ्जरी

भाव न होइ अभाव न जाइ।
आइस समोहे को पति आई॥ ध्रुव॥
लुइ भणइ वट दुलक्ख विणाणा।
तिअ धाए विलसइ उह लागेणा॥ ध्रुव॥
जाहेर बाणचिह्न रूब न जाणी।
सो कइसे आगम बेएं बरवाणी॥ ध्रुव॥
काहे रे किस भणी मइ दिवि पिरिच्छा।
उदक चाँद जिम साच न मिच्छा॥ ध्रुव॥
लुइ भणइ मइ भाइव किस
जालइ अच्छम ताहेर उह ण दिस॥ ध्रुव॥[2]

इसमें दो-दो पंक्तियों में प्रास व ध्रुव है। ध्रुव पंक्ति नहीं है।

सुइणा ह अविदार अरे निअमन तोहोर दोसे।
गुरु बअणविहारें रे थाकिब तइ घुण्ड कइसे॥ ध्रुव॥
अकट हूं भव इ गअणा।
बंगे जाया निलेसि परे भागेल तोहोर निणाणा॥ ध्रुव॥

---

१. सं. चि., पृ. ३१८-३१९   २. बौद्ध गान ओ दोहा, पृ. ४९-५०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अदभुज भवमोह रे दिसइ पर अप्पणा ।
एजग जगविम्वाकारे सहजें सुण अपणा ॥ ध्रुव ॥
अमिआ अच्छन्तें विस गलेसि रे बिअ परवस अपा ।
घरें परेक बुज्झिले रे खाइव मइ दुठ कुण्डवा ॥ ध्रुव ॥
सरह भणन्ति वरसुण गोहाली कि मो दुठ बलन्दे ।
एकेले जगनाशिय रे विहरहं सुच्छन्दे ॥ ध्रुव ॥[1]

इसमें लगभग वही रूप है जो परवर्ती गीत-गोविन्द के 'विहरति हरिरिह सरसवसन्ते' अष्टपदी में है। शुरू में दो पंक्ति गाने के बाद छोटी ध्रुव पंक्ति है। इस दृष्टि से इसमें भी शुरू में 'उद्ग्राह', छोटी पंक्ति में 'ध्रुव' और बाद की कड़ियों में 'आभोग' कहा जा सकता है। जयदेव की पदशैली पर चर्या पदों का अत्यधिक प्रभाव है, यह आगे स्पष्ट किया जाने वाला है। फिर भी गीतगोविन्द की तरह प्रबंध के ढंग से इन्हें गाने की कोई परम्परा प्राप्त न होने के कारण चर्या पदों को प्रबंध नहीं कहा जा सकता। ये पद चौथी सदी ईस्वी के लगभग रचे गये हैं और प्राचीन पाली भाषा में हैं। आज की दृष्टि से इनमें बँगला, उड़िया, मगधी, व्रज भाषाओं का मिश्रण दिखाई देता है। इसका कारण संभवत. यह है कि ये पद ऐसे बौद्ध सिद्धों द्वारा रचे गये, जो जनसामान्य में से निकले; उन्हीं में बौद्ध आचार-विचार और धर्म के प्रचार के लिये उन्हीं के बीच घूम-घूम कर गीत गाते थे। अनेक स्थानों पर घूमने के कारण उनकी भाषा भी मिश्रित थी। इन पदों में अभिजात वर्ग की भाषा, छन्द, शैली से भिन्न लोक की गीत या पद-शैली और गेय छन्दों को अपनाया गया।

इसी पदशैली को जयदेव ने अपनाया। डॉ. भोलाशंकर व्यास के अनुसार कुछ लोगों की यह मान्यता है कि जयदेव पहले बौद्ध थे और बाद में वैष्णव बने। (यहाँ तक कहा जाता है कि जगन्नाथपुरी का मन्दिर भी पहले बौद्ध था। उसमें स्थापित मूर्तियाँ भी बुद्ध व बौद्ध संघ की प्रतीक थीं।) इसलिये जयदेव ने बौद्धों की पदशैली को अपना कर गीतगोविन्द की रचना पहले अपभ्रंश में की और बाद में उसका संस्कृत में रूपान्तर किया।

इस अपभ्रंश शैली से ही संस्कृत में प्रासयुक्त पदशैली का आविर्भाव हुआ। संस्कृत में अन्त्यानुप्रासबद्ध रचना का सर्वप्रथम नमूना गीतगोविन्द ही माना जाता रहा है।[2] इसमें प्रास दो प्रकार का है—१. अवान्तर यतिखंडों में और २. पूरे पद का अन्त्यानुप्रास। उदाहरणार्थ, 'जय जय देव हरे' अष्टपदी के कुछ पद देखें :—

श्रितकमलाकुचमण्डल, धृतकुण्डल ए
कलित ललित वनमाल, जय जय देव हरे ॥ ध्रुव० ॥ १ ॥
दिनमणिमण्डलमण्डन, भवखण्डन ए।

---

१. वही

२. इस बारे में इसी अध्याय का परिशिष्ट भी द्रष्टव्य है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मुनिजनमानसहंस, जय जय देव हरे ।। २ ।।
कालियविषधरगञ्जन, जनरञ्जन ए ।
यदुकुलनलिनदिनेश, जय जय० ।। ३ ।।
मधुमुरनरकविनाशन, गरुडासन ए ।
सुरकुलकेलिनिदान, जय० जय० ।। ४ ।।[1]

इस अष्टपदी में हर पद के चार चरणों में से प्रथम दो में अन्तरप्रास है लेकिन पूरे पद में अन्त्यानुप्रास ध्रुव पंक्ति में ही है।

पूरे गीत में अन्त्यानुप्रास का उदाहरण —

सञ्चरदधरसुधामधुरध्वनिमुखरितमोहनवंशम्
चलितदृगञ्चलचञ्चलमौलिकपोलविलोलवतंसम् ।
रासे हरिमिह विहितविलासम्
स्मरति मनो मम कृत परिहासम् ।। १ ।।
चन्द्रकचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयितकेशम् ।
प्रचुरपुरन्दरधनुरनुरञ्जितमेदुरमुदिरसुवेशम् ।। रासे० २ ।।
गोपकदम्बनितम्बवतीमुखचुम्बनलम्भितलोभम् ।
बन्धुजीवमधुराधरपल्लवमुल्लसितस्मितशोभम् ।। रासे० ३ ।।[2]

(शेष पदों में भी इसी प्रकार 'अम्' का अन्त्यानुप्रास है।)

गीतगोविन्द की यह पदशैली दो रूपों में विकसित हुई—१. ध्रुवपद गीत और २. भक्त कवियों के पद जिनमें उत्तर के सगुण और निर्गुण भक्त कवियों के तथा दक्षिण के आळवार सम्प्रदाय के वे पद सम्मिलित किये जा सकते हैं जिनकी रचना गीतगोविन्द के बाद हुई। ध्रुवपदों में छोटी ध्रुव पंक्ति, २-२ पंक्तियों अथवा ४-४ चरणों की कड़ी, पूरे पद में अन्त्यानुप्रास की योजना—'पद' की ये विशेषताएँ तो आईं लेकिन ये प्राय: छन्दोवद्ध नहीं होते थे। ये ऐसे गेय पद थे जिनमें छन्द की कमी को ताल के अनुसार पद का कर्षण करके पूरा कर लिया जाता था। अक्षरों की निश्चित संख्या और विशिष्ट लय के कारण कवित्त वाले ध्रुपद पाठ्यरूप में भी छन्दोवद्ध होते थे।

ध्रुवपद की विशेषताएँ—'ध्रुवपद' एक गानशैली भी है और प्रवन्ध विशेष भी। प्रबंध के रूप में ये ब्रज या शुद्ध हिन्दी में रचे ऐसे गीत हैं जिनमें वर्ण्य विषय की विविधता रहती है। इसमें पद का पर्याप्त महत्त्व रहता है; ख़्याल की तरह पद उपेक्षित नहीं होता। इसलिये ख़्याल की अपेक्षा प्राचीन शैली होते हुए भी ध्रुपद के पद अधिक शुद्ध रूप में रह पाये हैं जब कि ख़्याल के भ्रष्ट और विकृत हो गये। इनमें नवरस से लेकर भक्ति, राजस्तुति, ईशस्तुति, मंगलोत्सव, धर्मतत्त्व, पुराण-विषयक कथाएँ, मूल सिद्धान्त, संगीतशास्त्र के ग्राम, मूर्च्छना, श्रुति, स्वर, तान, प्रबंध, नृत्त, पात्र आदि

१. गीत., प्रथम सर्ग, द्वितीय अष्टपदी
२. वही, द्वितीय सर्ग, प्रथम अष्टपदी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विविध विषयों का निरूपण होता है। ये विभिन्न राग रागिणियों में चौताल, तीव्रा, धमार, सूल आदि छोटे तथा ब्रह्म, रुद्र, लक्ष्मी, सवारी, मत्त, शेष आदि लम्बे तालों में बद्ध करके गाये जाते हैं। साथ में मृदंग या पखावज की संगत होती है जिससे ध्रुवपद में बड़ी गंभीरता और भव्यता आती है। गोपालनायक, नायक बैजू और बख्शू, तानसेन और चिन्तामणि के ध्रुपद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ध्रुवपद गान शैली की भव्यता, गंभीरता, अति कष्टसाध्यता आदि के कारण मध्ययुगीय दरबारों में ध्रुपदगायक को सर्वोच्च स्थान दिया जाता था।

इसमें ४ खंड होते हैं जो स्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग कहलाते हैं। आजकल प्रायः स्थायी और अंतरा—ये दो ही खंड रहते अथवा गाये जाते हैं। इन खंडों का उद्ग्राहादि धातुओं से संबंध परिच्छेद 'क' में दिखाया जा चुका है।

पदरचना की तरह इसकी गानशैली का स्वरूप भी विशिष्ट है जिसे ४ खंडों में बाँटा जा सकता है—(१) नोम् तोम्, (२) वन्दिश, (३) लयकारी और (४) उपज जिन्हें शास्त्रीय भाषा में क्रमशः रागालप्ति, गीत, लय वैचित्र्य और भंजनी रूपकालप्ति कह सकते हैं। आरंभ में 'नोम्तोम्' किया जाता है जिसमें त, न, री, तों, नों, नु, दि, रि आदि निरर्थक वर्णों का प्रयोग करके लम्बी मींडों के साथ आलाप किया जाता है। इन वर्णों का संबंध 'ओं', 'त्वमनन्तं' 'हरि : ओं' आदि ईश्वर के वाचक शब्दों से जोड़ा जाता है जो प्रवन्धों में 'तेन' कहलाते थे। 'तेन' शब्द से ही पार्श्वदेव ने त, न आदि निरर्थक वर्णों का भी ग्रहण किया, यह पहले कहा जा चुका है। इस प्रकार नोम्तोम् के वर्ण प्राचीन परंपरा से संबद्ध हैं, ईरानी संगीत से नहीं आये जैसा प्रायः समझा जाता है।

यह आलाप पहले लयरहित और फिर धीरे-धीरे गति बढ़ा कर लयबद्ध रूप में गाया जाता है जो धीरे-धीरे गमकयुक्त द्रुत तानों का रूप ले लेता है। इसमें आकार के बजाय 'नों तों' आदि वर्ण रहते हैं। यहाँ भी निरर्थक वर्णों का ही प्रयोग होता है, सरगम का नहीं। इस पूरे आलाप प्रयोग का वीणा के 'जोड़काम' से सादृश्य होने के कारण यह भी कहा जाता है कि वीणावादन से ध्रुपदशैली में इसका ग्रहण किया गया है और इसे भी ईरानी संगीत से प्रभावित कहा जाता है। लेकिन इसका मूल भारतीय संगीत में ही है जो अत्यन्त प्राचीन है तथा गायन में इसका स्वरूप भी उपलब्ध है। गीतकों में पद आरम्भ करने से पहले आलाप करने की क्रिया को 'उपोहन' कहा गया है जिसकी चर्चा गीतकों में की जा चुकी है। प्रवंधों में पंचतालेश्वर प्रबंध में स्पष्ट निर्देश है कि 'आलापः प्रागतालः स्यात्'[1] अर्थात् प्रवंध शुरू करने से पहले तालरहित आलाप होता है। आलप्ति के एक भेद रागालप्ति के लक्षणों में कहा गया है कि यह रूपक की अपेक्षा के बिना होती है।[2] स्पष्ट है कि गीत शुरू होने से पहले रागालप्ति की जाती है। रागालप्ति में ४ स्वरस्थानों के अनुसार राग का विस्तार किया जाता है। यही परंपरा ध्रुवपद की नोम् तोम् आलाप-

१. सं. र., ४/२५६ २. वही, ३/१६०-१६६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चारी में आज भी सुरक्षित है। फिर इस पर विदेशी प्रभाव की कल्पना क्यों की जाय? प्रमाणों के लिये दृष्टि हमेशा बाहर रखना स्वस्थ मानस का परिचायक नहीं है।

विलंबित से शुरू करके क्रमशः द्रुत गति की ओर बढ़ते हुए नों तों आदि वर्णों द्वारा आलाप करने की क्रिया अत्यन्त आकर्षक होती है जो चित्त को क्रमशः दीप्ति की ओर ले जाती है।

इसके बाद ध्रुवपद का पद विलंबित-मध्य लय में गाया जाता है। द्रुत गति में लयबद्ध आलाप करने के तुरन्त बाद पद के गान में जो वैषम्य खड़ा होता है वह ध्रुवपद शैली का प्राण है। द्रुत गति के कारण श्रोता का चित्त जिस तनाव अथवा खिंचाव की स्थिति में आ जाता है वह पद के शुरू होते ही एकदम समाप्त हो जाती है। इससे श्रोता का मन पूरी तरह विश्रान्त हो जाता है। लेकिन उत्कृष्ट पदरचना, कंठ के गांभीर्य, विलम्बित लय के योग और पखावज की संगत के कारण गायन में किसी प्रकार की शिथिलता की अनुभूति नहीं होती। इस कारण चित्त को आनंद तो प्राप्त होता है लेकिन वह ढीला नहीं पड़ता। द्रुत आलाप में चित्त की जो द्रुति होती है वह पूरी तरह 'विगलित' नहीं होती बल्कि थोड़ा सा शमन होकर चित्त 'प्रसाद' की स्थिति में आ जाता है और गीत के चारों अथवा दो खंड गाने तक स्थिर हो जाता है।

गीत को गाने के बाद लयकारी की जाती है। इसमें दुगुन, चौगुन, तिगुन, छगुन, जैसी सीधी और ३/४ (पौनगुन), ३/२ (आड़), पाँचगुन, ३/५, ४/५, सातगुन, ३/७, ४/७, ५/७, २/९, ४/९, (कुआड़ अर्थात् आड़ की आड़) आदि क्लिष्ट और कठिन लयों का प्रयोग गायक अपनी सामर्थ्य और योग्यतानुसार करता है। इन्हें विभिन्न मात्राओं से शुरू करके सीधे और तिहाई युक्त—दोनों प्रकार से गाया जाता है। इसे लक्ष्य में 'लयबाँट' या 'लयबन्त' कहा जाता है। यह ध्रुवपद गानशैली का सबसे कठिन अंश है जिसके लिये अत्यन्त उर्वर मस्तिष्क, आशुबुद्धि, लय का पक्कापन, कंठ पर प्रभुत्व व स्थिरता और ताल देने का अच्छा अभ्यास अनिवार्य है। अगर सहृदय श्रोता हो तो लयवैचित्र्य का चित्त पर बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ता है तथा एक प्रकार की लोकोत्तरता के कारण चित्त चमत्कृत हो जाता है।

अंत में भंजनी रूपकालप्ति[१] का प्रयोग होता है जिसे आज की भाषा में उपज अथवा बोलबाँट, बोलतान आदि कहा जाता है। गीत के शब्दों का और गेय का भंजन करके अर्थात् कुछ शब्द या एक खंड के पूरे शब्द लेकर उन्हें विविध प्रकार से सजाना—यही रूपकालप्ति का सरल रूप है। सरल रूप इसलिये कहा कि रत्नाकर में रूपकालप्ति में 'तैः पदैः तेन मानेन' के अनुसार पद वही हों और उनका कालमान न बदले तब यह प्रकार होता है। बोलबाँट में मान भी बदल जाता है और स्थाय यानी स्वर सन्निवेश भी; केवल पद वही रहते हैं। यही वर्तमान 'बोलबाँट' या 'बोलबन्त' है।

---

१. सं. र., ३/१९९-२०१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लय का काम संगीत के मर्मज्ञ श्रोताओं के लिये आनन्ददायक होता है लेकिन गीत के शब्दों की एक ही ढंग से बार-बार आवृत्ति होने के कारण सामान्य श्रोता को उबाने वाला होता है। इसलिये अन्त में बोलबाँट किया जाता है जिसमें स्वरवैचित्र्य के कारण सभी का रंजन होता है।

इस प्रकार स्वर, ताल और पद—तीनों का उत्कृष्ट रूप ध्रुवपद शैली में है। पखावज जैसे गंभीर वाद्य का प्रयोग इसकी भव्यता में वृद्धि करता है। इसकी साधना अत्यन्त कठिन है। लेकिन सभी प्रकार के श्रोताओं के लिये हृदयरंजक होता है इसलिये इसे श्रेष्ठ स्थान दिया गया और ध्रुपद गायक को भी श्रेष्ठ माना गया।

ध्रुपदगान के दो आश्रयस्थल थे—वैष्णव मंदिर और राजदरबार। प्रायः दोनों जगह ध्रुपद के साथ नृत्य की परंपरा भी रही है। वैष्णव और शाक्त मंदिरों की देवदासी प्रथा के बारे में तो सभी जानते हैं। ये नर्तकियाँ मन्दिर के प्रति समर्पित होती थीं और मंदिर के सेवा समय के अनुसार वहाँ गाये जाने वाले ध्रुपद पदों के साथ नृत्य करती थीं। राजदरबारों में भी जब ध्रुपद गान का ही प्रचार था तब उनके साथ भी नृत्य होता था। 'सहसरस' में बख़्शू के ध्रुपदों में 'पात्र' अर्थात् नर्तकी के शिक्षा संबंधी विषयों का जिस रूप में निरूपण मिलता है उसके आधार पर यह अनुमान किया गया है। नेपाल के ध्रुपद गायक श्री. टी. ऐंल. राणा ने बताया कि नेपाल दरबार में कुछ वर्ष पूर्व तक यह परंपरा विद्यमान थी। उनकी ५ गुरुमाताओं में से एक या दो को ध्रुपद के साथ 'हेला' (भाव) प्रधान कथक नृत्य करते हुए उन्होंने स्वयं देखा है। उनके साथ श्री राणा की गुरुबहन बीना देवी ही मृदंग पर संगत करती थीं। इससे इस तथ्य की भी पुष्टि होती है कि ध्रुपद केवल 'मर्दाना गान' नहीं था जैसा प्रायः समझा जाता है। श्री राणा ने यह भी बताया कि उनकी गुरुमाँ जब ध्रुपद गाकर साथ में नृत्य करती थीं तो ऐसा समाँ बँध जाता था कि बड़े-बडे कलाकार चकित हो जाते थे। 'सहसरस' की भाषा में गुणी पुरुष तो 'आपा आपा' ही किया करते थे।[१]

ठाकुर जयदेवसिंह ने भी ध्रुपद के साथ नृत्य व अभिनय की पुष्टि की। उन्होंने बताया कि ९-१० वर्ष की आयु में उन्होंने स्वयं ध्रुपद के साथ नृत्य होते हुए देखा था। लेकिन पिछले ५० वर्षों से नेपाल को छोड़ कर शेष भारत में इस प्रकार की कोई परम्परा प्राप्त नहीं होती।

संगीतरत्नाकर में नृत्य प्रबंधों की देशी पद्धति में गौण्डली (नर्तकी) के द्वारा ध्रुवपद का बार-बार नर्तन करने का वर्णन है।[२]

'भरतकोष' में 'ध्रुवपदनृत्तम्' नाम से देशीनृत्त के एक प्रकार का लक्षण दिया गया है जो इस प्रकार है :—

१. सहस., भूमिका पृ. १३५ २. सं. र., ७/१२७३–१३००

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गीयमाने ध्रुवपदे गीते भावमनोहरे ।
नर्तनं तनुयात्पात्रं कान्ताह् स्यादिदृष्टिजम् (?) ।।
नानागतिलसद्भावमुखरागादिसंयुतम् ।
सुकुमाराङ्गविन्यासं दन्तोद्योतितहावकम् ।।
खण्डमानेन रचितं मध्ये मध्ये च कम्पनम् ।
यत्र नृत्यं भवेदेवं ध्रुपदाख्यं तदा भवेत् ।।
प्रायशो मध्यदेशीयभाषया यत्र धातवः ।
उद्ग्राहध्रुवकाभोगास्त्रय एते भवन्ति ते ।।
उद्ग्राहरचितं केचित्परे त्वाभोगवर्जितम् ।
उद्ग्राहाभोगरहितमन्वर्थमपरे जगुः ।।
स्यादाक्षिभ्रूविकारादिश्रृंगाराकृतिसूचके ।। (वेदः)[1]

इसका सार यह है कि भावयुक्त, गाये जाते हुए ध्रुवपद गीत में पात्र अर्थात् नर्तकी नर्तन करे जो अनेक गति, भाव, मुखराग, सुकुमार अंग-विन्यास, खण्डभाव, बीच-बीच में कम्पनयुक्त गान से युक्त हो तो वह ध्रुपद नृत्य कहलाता है। इसका पद प्रायः मध्य-देशीय भाषा (व्रज, ग्वालियरी आदि) में होता है और उद्ग्राह, ध्रुव, आभोग—तीन धातुएँ होती हैं। कभीं-कभी केवल ध्रुव होने पर इसकी ध्रुवपद संज्ञा सार्थक होती है। श्रृंगार रसोपयोगी नेत्र, भ्रूविकार आदि चेष्टाएँ होती हैं। इन लक्षणों से यह अनुमान होता है कि नृत्य के साथ गाये जाने वाले ध्रुपद श्रृंगारप्रधान ही होते होंगे।

ध्रुपद की ४ 'वानियों' का उल्लेख प्रायः किया जाता है और उनका संबंध शुद्धा, भिन्ना, गौडी आदि गीतियों से जोड़ा जाता है। वानियाँ इस प्रकार हैं—डागर, खण्डहार, नौहार, गोबरहार। लेकिन इनका कोई तर्कसंगत स्पष्टीकरण, विश्लेषण या भेदक विशेषताएँ प्राप्त न होने तथा इन बानियों के गायकों की गान शैली में उन वानियों की विशेषताएँ स्पष्ट रूप से दिखाई न देने के कारण यहाँ उनके नामोल्लेख तक ही अपने को सीमित रखा गया है।

ख़्याल

अत्यन्त श्रमसाध्य और कठिन होने तथा लोकरुचि में परिवर्तन के कारण पदप्रधान ध्रुपद शैली का ह्रास हुआ और धीरे-धीरे स्वरप्रधान और अपेक्षाकृत सरल 'ख़्याल' का विकास हुआ। इस नवीन प्रवृत्ति का संकेत संगीतपारिजात में 'वर्णैरेतेषु' श्लोक में है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। प्रबंधों की अपेक्षा ध्रुपद, दरु आदि में स्वर कीप्रधानता और पद की गौणता होने लगी थी। ख़्याल में इस प्रवृत्ति की चरम परिणति दिखाई देती है।

१५वीं सदी के उत्तरार्ध में जौनपुर के सुल्तान हुसैनशाह शर्की को ख़्याल का 'आविष्कारक' कहा जाता है। कैप्टेन विलर्ड जैसे कुछ विदेशी लेखकों ने इसका श्रेय

१. भरतकोष, पृ. २९९

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अमीर खुसरो को दिया है। लेकिन खुसरो जैसे आत्मप्रशंसक ने ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया है, न 'आइने अकबरी' में ही इसका उल्लेख है। यह मान्यता बहुत बाद की किंवदंतियों पर आधारित है।

'ख़्याल' अथवा 'ख़याल' शब्द फ़ारसी का है जो संस्कृत 'ध्यान' का पर्याय है। मतंग के समय से चली आ रही रागध्यान परंपरा में शुरू में रागों के 'ध्यान' गाये जाते थे जो श्रोता और गायक को एक स्तर पर लाने की दृष्टि से प्रयुक्त होते थे। संभव है इस ध्यान परंपरा से 'ख़्याल' का संबंध रहा हो।

ख़्याल का संबंध सूफ़ियों से भी जोड़ा जाता है क्योंकि सूफ़ी संतों में भी ख़्याल नाम से काव्य रचना का एक भेद प्रचलित था। सूफ़ियों के दो प्रमुख काव्य क़ौल और ख़्याल थे। सूफ़ी संतों के पदबद्ध वचनों को क़ौल कहा जाता था। जिन पदों में ख़्याल अर्थात् कल्पना की उड़ान अधिक होती थी, साधारण शब्दों के माध्यम से आध्यात्मिक तथ्य प्रकट किये जाते थे अथवा अन्योक्ति या व्यंजना के द्वारा विशेष कथन होता था वे ख़्याल कहलाते थे। लेकिन ये दोनों काव्य से संबंधित प्रकार थे, सांगीतिक प्रकार नहीं। ठा. जयदेवसिंह का मत है कि ख़्याल या ख़याल शब्द वहाँ भी था और गेयविधा का भी यही नाम है इसलिये ख़्याल गान पर सूफ़ी प्रभाव की कल्पना कर ली जाती है। वास्तव में सूफ़ी ख़्याल का ख़्याल गान से संबंध या ख़्याल गान पर प्रभाव नहीं है।

एक ही शब्द का विभिन्न संदर्भों में अनेक अर्थों में प्रयोग होता है। ख्याल शब्द आज भी राजस्थान में नाटक, खेल, चित्रकार के लिये प्रयुक्त होता है। इसमें मूल अर्थ कल्पना की प्रधानता है। नाटक में कल्पना का उच्चतम स्वरूप रहता है। चित्रकार कल्पना के सहारे ही चित्र बनाता है इसलिये 'ख्यालिया' कहलाता है। बच्चों के अनेक खेलों में कल्पना के विकास की गुंजाइश रहती है इसलिये 'ख्याल' कहलाते हैं। ख़्याल गान में भी कल्पना के लिये बहुत क्षेत्र है। संभवतः इसीलिये इसे ख़्याल कहा गया हो।

१४ वीं सदी के महाराष्ट्र के संत नामदेव ने ख्याल का उल्लेख किया है।[1] बिहार में विवाह के अवसर पर झूमरा जैसे बड़े तालों में गाये जाने वाले गीतों को बहुत प्राचीन समय से ख्याल कहा जाता रहा है।[2] राजस्थानी भाषा में नाटक को भी ख्याल कहते हैं। संभव है कि आरंभ में नाटक में गाये जाने वाले गीतों को ख्याल कहा गया हो।[3] ख़्याल शैली में प्रयुक्त झूमरा, आड़ाचौताल जैसे लम्बे तालों का आज भी राजस्थानी लोकगीतों में प्रयोग होता है।[4]

उपर्युक्त संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि आज भी ख़्याल के पदों में विवाह गीतों की भरमार है। जैसे—बनरा मोरा प्यारा (नायकी कानड़ा), बना प्यारा (देवगिरी

१. श्री चैतन्य देसाई द्वारा उल्लेख। द्रष्टव्य उनका लेख The Origin & Development of Khyal' —मद्रास म्यूज़िक ऍकेडेमी जर्नल (Vol XL)

२, ३, ४. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बिलावल), बंदनवार बाँधो रे, मुबारकबादियाँ, दुलहन तेरी (दरबारी कानड़ा) गूँदला मालन फूलों दा सेरा (शहाना कानड़ा), सजी रे दुलहन (सारंग) आदि।

ख़्याल की विशेषताएँ—संस्कृत को छोड़ कर उत्तर भारतीय भाषाओं में होते हैं। अधिकांश ख़्यालों के पद ब्रज भाषा में और उसके बाद राजस्थानी, पंजाबी और कुछ हिन्दी में होते हैं। वर्ण्य विषय कुछ भी हो सकता है। लेकिन राजस्तुति, नायिका वर्णन, श्रृंगार रससंबंधी परिस्थितियों और विवाह प्रसंग से संबंधित ख़्याल सबसे अधिक सुने जाते हैं। इसमें स्थायी और अंतरा दो ही खंड होते हैं। वर्णसंख्या, मात्रा, गण आदि का नियम न होते हुए भी दोनों खंडों में अन्त्यानुप्रास होने के कारण इसमें एक प्रकार की लयबद्धता दिखाई देती है। खंड भी अन्त्यानुप्रास के कारण बनते हैं। स्थायी में शब्द अपेक्षाकृत काफ़ी कम रखे जाते हैं जिससे ताल के एक आवर्तन में बोलतानें गाने में सुविधा रहे। शब्द बहुत हों तो बोलतानों में कुछ शब्द छोड़ दिये जाते हैं।

ध्रुवपद में मींड की प्रधानता और मध्य-विलंबित लय के कारण स्वरों का सीधा और एक मात्रा में एक या दो ही स्वरों का प्रयोग होता है। लेकिन ख़्याल में खटके, मुरकी आदि छोटे अलंकरणों के कारण स्वरों में वक्रगति होती है और मात्रा के १६वें अंश तक का प्रयोग साधारण बात है। विलंबित एकताल, तिलवाड़ा, झूमरा, आड़ा चौताल आदि तालों का विलंबित ख़्याल में तथा मध्य-द्रुत ख़्याल में तीनताल, एकताल, झपताल, रूपक, द्रुत चौताल आदि का प्रयोग होता है। पखावज के स्थान पर तबले की संगत होती है इसलिये ध्रुपद का गांभीर्य और भव्यता इस शैली में नहीं है। सदारंग, अदारंग, मनरंग, मुहम्मदशाह रँगीले (सदारंग से युक्त) आदि के ख़्याल बहुत प्रचलित हैं। ख़्याल गायन में पद का महत्त्व शुरू से कम रहा इसलिये ध्रुपद की तरह इसके पद कसे-मँजे हुए नहीं होते थे। धीरे-धीरे अपढ़, निरक्षर गायकों के हाथों में पड़ कर रही-सही कसर भी पूरी हो गई और आज अनेक ख़्याल जिस रूप में प्राप्त हैं उनका सिरपैर भी समझ में नहीं आता। भाषा, भाव, विषय किसी भी दृष्टि से वे इतने अशुद्ध हैं कि उन्हें पद कहने में भी संकोच होता है।

ख़्याल गायन की शैली का मूल और काफ़ी हद तक स्वरूप भी संगीतरत्नाकर की रूपकालप्ति में है। शुरू में ख़्याल का गीत विलंबित लय में ताल के साथ गाकर आलाप और शब्दालाप किये जाते हैं। इसके बाद बोलतानें, सरगम और तानें क्रमशः इसी क्रम से गाई जाती हैं। विलंबित लय, लम्बे ताल और देर तक गाये जाने के कारण यह बड़ा ख़्याल कहा जाता है। इसे गाकर छोटा ख़्याल शुरू किया जाता है। मध्य या द्रुतलय के ताल में बद्ध होने के कारण इसमें प्रायः लम्बे या विलंबित आलाप न करके गीत के २-४ शब्द लेकर उन्हें विविध प्रकार से सजाया जाता है जिसे बोल बाँट कहा जाता है। इसके बाद सरगम और द्रुत तानों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया जाता है।

रूपकालप्ति दो प्रकार की कही गई है—प्रतिग्रहणिका और भंजनी। प्रतिग्रहणिका में विभिन्न स्थायों का (आज की भाषा में स्वरसंचारों का) प्रयोग करके गीत के अवयव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(मुखड़े) का वार-वार ग्रहण किया जाता है। भंजनी दो प्रकार की है—स्थायभंजनी और रूपकभंजनी। स्थाय-भंजनी में गीत के कुछ शब्द लेकर अलग-अलग स्वरसंचारों में उन्हें गाया जाता है। इसमें वोल आलाप, वोलवाँट आदि का मूल कहा जा सकता है। रूपकभंजनी में पूरे गीत के शब्दों को विविध प्रकार से गाया जाता है। बोलतानों का इससे संवंध जोड़ा जा सकता है, यद्यपि बोलतानों में पूरे गीत के शब्द न लेकर स्थायी के ही शब्द लिये जाते हैं। फिर भी दोनों में साम्य है। रूपकालप्ति के प्रकारों और बोलालाप, वोलतानों में वड़ा अंतर यह है कि आलप्ति में गीत के शब्दों का गीत में जो मूलमान हो वह नहीं वदलता यानी हर अक्षर को जितनी मात्रा या मात्रांश मूल गीत में प्राप्त हो वह आलप्ति में नहीं बदलता, केवल स्वर वदलते हैं। बोलतान आदि में स्वर के साथ कालमान भी बदल जाता है। आलप्ति की विधि कठिन है जो कठिन को सरल बनाने की प्रवृत्ति के कारण वोलतान आदि का रूप लेकर प्रयोग में आई।

ख़्याल शैली में आलाप सताल होने के कारण उनमें भावों की विविधता रहती है, कभी मींड, कभी खटके-मुरकी, कभी सीधे, कभी वक्र स्वर प्रयोग, कहीं लंवे कहीं छोटे स्वरसन्निवेश, गमक, आन्दोलन काकुप्रयोग आदि सभी प्रकार के अलंकरणों की प्रचुरता के कारण विविध भावों की अभिव्यक्ति के लिये बहुत गुंजाइश रहती है। आलाप में चित्त का विकास होता है तो द्रुत बोलतानों व तानों में चित्त की द्रुति होती है तथा वैचित्र्य और चमत्कार उत्पन्न होता है।

ख़्यालगान की ४ प्रमुख शैलियाँ हैं जिन्हें 'घराना' कहा जाता है—१. ग्वालियर-ध्रुपद से ख़्याल के विकास का स्पष्ट प्रमाण इसी शैली में मिलता है। ध्रुपद की बोलबाँट जैसी वोलतानें, मध्य-विलंवित लय, विविध लयों का प्रयोग और ध्वनि के चारों तत्त्व (तारता, तीव्रता, गुण और volume) का संतुलन—ये सभी विशेषताएँ इसमें हैं। २. किराना—आलापप्रधान, बोलतान तान कम, ताल उपेक्षित सा, गीत के प्रति विशेष लगाव नहीं, केवल मुखड़ा पकड़ कर भी गा लेना—इसकी विशेषताएँ हैं। ३. पटियाला—ठुमरी अंग की प्रधानता, स्वर की सच्चाई, तानों की सफ़ाई और तैयारी इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। ४. आगरा—रँगीलापन, ध्रुपद की तरह बन्दिश से पहले नोम्‌तोम् आलाप, लयकारी की प्रधानता वाली शैली है।

धीरे-धीरे ख़्याल की गंभीरता, आलाप की प्रचुरता, आलाप, बोलतान, तान के प्रयोग का क्रम व संतुलन वर्तमान लक्ष्य में नष्ट हो रहे हैं। ठुमरी अंग की द्रुत, चंचल काम की प्रवृत्ति बढ़ रही है। आलाप का स्थान तानें लेती जा रही हैं। रागों के मिश्रण और रागशुद्धि की उपेक्षा की प्रवृत्ति तेज़ी से ख़्याल शैली को लपेट रही है इसलिये ख़्याल-गान शैली का शुद्ध रूप कम दिखाई देता है।

तराना

स्वर, ताल, अवनद्ध वाद्यों के पाट और तेन (त, न आदि) अंगों से बनी हुई रचना है जो द्रुत लय में गाई जाती है। निरर्थक वर्णों से बनी निरर्थक रचना है जिसमें

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

केवल द्रुत लय और वर्णवैचित्र्य का चमत्कार रहता है। द्रुत तीनताल, एकताल, आड़ा चौताल आदि तालों में इसकी रचना होती है। कभी-कभी बड़े ख़्याल के रूप में लम्बे ताल में भी इसकी रचना सुनी जाती है। पं० बलवन्तराय भट्ट 'भावरंग' के तराने बोल, कठिन ताल और लय के टेढ़ेपन की दृष्टि से बहुत कसे हुए हैं।

धमार

ब्रज भाषा में रचित ऐसे गीत हैं जिनमें प्रायः कृष्ण की रासलीला का अथवा होरी का वर्णन रहता है। स्थायी और अंतरा—दो ही खंड होते हैं और धमार ताल में गाया जाता है। ध्रुपद की 'नोम् तोम्' रागालप्ति सहित लय का सारा काम इसमें भी किया जाता है।

धमार का मूल 'धम्माली' में है जिसका सबसे पहले उल्लेख 'संगीतशिरोमणि' में मिलता है। 'धम्माल' अथवा 'धमाल' शब्द में उत्साहपूर्वक नाचना, गाना, उछल-कूद अन्वित है। यह गीत मूलतः होली पर गाया जाता था जिसके साथ नृत्य भी होता था। लोकशैली के इस गीत में गान व नृत्य तथा होली का उत्साह होने के कारण 'धमाल' संज्ञा सार्थक है। 'ल' का 'र' हो जाने के फलस्वरूप इसी से 'धमार' हो गया।

श्री. टी. एॅल. राणा के अनुसार इसमें प्रयुक्त धमार ताल में आज की तरह ३-२-२-३-२-२ के खंड न होकर ३-२-३-२-२ के खंड होते थे। इस कारण यह गाने में कठिन होता था और तीव्रा की लय दिखाई नहीं देती थी। उनके पास ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें उपर्युक्त तालरचना है।

धमार में 'उपज' का नाम ख़ूब होता है। उपज का अर्थ है नवीन उद्भावना, जो स्वर और शब्द के संयोग से की जाती है; जैसे—बोलतान आदि।

धमार दो प्रकार के होते थे—१. प्रकाश—जिनका सम स्पष्ट और एक निश्चित स्थान पर होता था। २. गुप्त—जिनका सम गुप्त होता था और आरंभ में पहली पंक्ति को ३ बार गाने के बाद अन्तिम बार में समझ में आता था। ऐसे धमारों की कई रचनाएँ लेखिका ने श्री० राणा से सुनी हैं। 'प्रकाश' ढंग के धमार ही प्रायः गाये जाते रहे हैं। वर्तमान धमार ताल में ३-४-३-४ के खण्डों तथा होरी, रास के श्रृंगारिक पद होने के कारण इनमें ध्रुपद जैसी गंभीरता नहीं होती। लेकिन लोक परंपरा में होली पर नृत्य और पखावज के साथ जब धमार गाया जाता है तो वातावरण में अनोखा माधुर्य भर जाता है।

चतुरंग अथवा चतरंग

चतुरंग प्रबंध मतंग के काल से प्रचलित रहा है लेकिन उसके ४ खण्डों को ४ राग, ४ ताल और ४ भाषा के पदों से गाया जाता था। आज के 'चतरंग' में ४ अंग हैं, ४ खण्ड न हों यह संभव है। लेकिन राग और ताल १-१ ही होते हैं। चतरंग में सबसे पहले पद, फिर तराने के बोल, तब सरगम और अन्त में तबला या मृदंग के पाट अथवा किसी अन्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाषा के शब्द रहते हैं। इस प्रकार स्वर, तेन, ताल, पद और पाट—ये ५ अंग होते हैं। इस दृष्टि से यह रत्नाकर के 'वर्णस्वर' प्रबंध से मिलता है। पं. विष्णु दिगम्बरजी के चतरंग उत्कृष्ट हैं।

होरी

श्रृंगारप्रधान गीत है जिसमें रास और होरी वर्णन रहता है। दीपचंदी या चाचर ताल में गाये जाने पर होरी और केवल धमार में गाये जाने पर 'धमार' कहलाता है। किन्तु होरी के वर्णन से युक्त गीत को दीपचंदी या चाचर में गाने पर 'होली' और धमार में गाने पर 'होरी' कहने की परंपरा भी है।

टप्पा

हिन्दी मिश्रित पंजाबी भाषा के श्रृंगारसप्रधान गीत हैं। पंजाब के ऊँट चराने वालों द्वारा इन गीतों का प्रवर्तन हुआ और बाद में अपनी आकर्षक शैली के कारण शास्त्रीय संगीत में स्थान पा गये। शोरी मियाँ के टप्पे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। सामान्य रूप से संकीर्ण प्रकृति के रागों में त्रिवट, तीव्रा, तिलवाड़ा, झूमरा, टप्पा आदि तालों में गाये जाते हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है खटके, मुर्की और द्रुतलय की छोटी-छोटी वक्र तानों का प्रयोग, जो हृदय को तुरन्त और सहज रूप से आकर्षित कर लेता है।

ठुमरी

उत्तरी भारतीय शास्त्रीय संगीत में ठुमरी ऐसा गीत है जिसमें शास्त्रीय और लोकसंगीत—दोनों के तत्त्व विद्यमान हैं। लोकसंगीत की तरह सहज रूप से प्रवाहित होने वाला न होकर व्यक्तिगत विकास से उत्पन्न होने के कारण शास्त्रीय है। लेकिन शास्त्रीय संगीत की तरह नियमों के कड़े बंधन से मुक्त होने के कारण लोकसंगीत के निकट है।

मुख्य रूप से श्रृंगारप्रधान गीत है। इसमें लौकिक और आध्यात्मिक—दोनों प्रकार का श्रृंगार रहता है। इसलिये उनके अनुकूल कोमल शब्दावली और अपेक्षाकृत कोमल रागों का ही प्रयोग होता है। भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से रागशुद्धि आवश्यक नहीं। कभी-कभी अनेक रागों का मिश्रण और प्रयोज्य राग से भिन्न स्वरसंचारों का प्रयोग भी किया जाता है। षड्जचालन करके अनेक रागों का प्रभाव लाना इस शैली की विशेषता है। लोक और शास्त्रीय संगीत के अनेक प्रकार के मिश्रण के कारण इसे उपशास्त्रीय संगीत के वर्ग में रखा जाता है।

ठुमरी की उत्पत्ति के बारे में सामान्य धारणा यह है कि अवध के नवाब वाजिद अली शाह (१९वीं सदी का मध्य) के यहाँ इसका जन्म हुआ लेकिन भारतीय संगीतशास्त्र के अध्ययन से यह सामान्यतः अनुभव में आता है कि प्राचीन शास्त्र में सभी मूलभूत तत्त्वों का इतना सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है कि कोई भी नवीन रूप उसमें समाहित हो सकता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। भरत का कथन 'यत्किञ्चिद्गीयते लोके तत्सर्वं जातिषु स्थितम्'[1] गीतों पर भी लागू होता है क्योंकि गीत के मूल तत्त्वों, मूल प्रवृत्तियों, रस, भाव आदि का जो निरूपण शास्त्र में किया गया है उसके अंतर्गत सभी गीत किसी न किसी रूप में आ सकते हैं।

उपर्युक्त दृष्टि से ठुमरी का मूल भरत की प्रासादिकी ध्रुवा और कैशिकी वृत्ति, मतंग के नादावती गणैला प्रबंध और भाषा तथा विभाषा गीति में तथा उसका विकास शार्ङ्गदेव के 'रूपक', रागालप्ति, पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोक संगीत की चैती, विरहा, कजरी, कबीर के द्व्यर्थक पदों से माना जाता है।[2] प्रासादिकी ध्रुवा 'रंगरागप्रसादजननी' कही गई है. कैशिकी वृत्ति शृंगाररस प्रधान है, नादावती गणैला शृंगार रस, कैशिकी वृत्ति, विचित्रध्वनियुक्त, वर्णालंकार से शोभित, सबका रंजन करने वाली मानी गई है। भाषा राग में अनेक रागों की उत्पत्ति और आलाप विशेष का सामर्थ्य होता है। विभाषा में इच्छानुसार प्रयोग और रंजकता होती है। रूपकों में राग, स्थाय, धातु, रागांश और मातु की नवीनता से नये-नये प्रकार बनते हैं। दोनों प्रकार की आलप्तियों में राग का प्रकटीकरण और गीत के शब्दों को नये-नये ढंग से सजा कर उन्हीं शब्दों में निहित अनेक सूक्ष्म भावों का प्रकटीकरण अन्वित है। चैती, विरहा जैसे शृंगारप्रधान लोक गीतों और कबीर के लौकिक प्रतीकों के सहारे वर्णित पारमार्थिक प्रेम से युक्त पदों—इन सब तत्त्वों से ही ठुमरी का विकास हुआ। यह संभव है कि वाजिद अली शाह के समय में इसका अधिक प्रचार हुआ हो या इसे ज्यादा पसंद किया जाने लगा हो अथवा उसके यहाँ इस शैली को आश्रय मिला हो।

ठुमरी गान की ३ शैलियाँ हैं—पूर्वी, पछाहीं और पंजाबी। पूर्वी शैली पूर्वी उत्तर-प्रदेश, ब्रज, बिहार, बंगाल, मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र में; पछाहीं शैली लखनऊ, मुरादाबाद, सहारनपुर, मेरठ और दिल्ली में प्रचलित रही है। पंजाबी अपेक्षाकृत नवीन है जिसका संबंध पंजाब के बरक़त अली ख़ाँ, बड़े ग़ुलाम अली, नज़ाकत सलामत अली से है।

पूर्वी अंग की ठुमरी में कोमलता, माधुर्य, स्वरों के लगाव और अभिव्यक्ति में सहजता व लोच अधिक है तथा भोजपुरी बोली की मिठास इनमें वृद्धि करती है। पछाहीं में कोमलता व लोच अपेक्षाकृत कम है जो खड़ी बोली के खड़ेपन के कारण ज्यादा स्पष्ट हो जाता है। बरक़त अली पंजाब के पहाड़ी प्रदेशों में प्रचलित लोकधुनों में विशेष ढंग से प्रयुक्त होने वाले स्वरों का ठुमरी में ख़ूबसूरती से प्रयोग करते थे; इसी से यह पंजाबी

१. मतंग द्वारा उद्धृत, बृह., पृ. ८७

२. बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की पत्रिका 'प्रज्ञा' [Vol. VIII (2) 1963] में डॉ प्रेमलता शर्मा के लेख 'History and Origjn of Thumri' तथा Delhi Sangit Samaj की पत्रिका Indian Music Journal, No. 6, 1966 में प्रकाशित उन्हीं के लेख 'The Thumri' के आधार पर।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंग की ठुमरी कहलाने लगी। मूलतः यह कोई अलग अंग नहीं था। इसमें टप्पा शैली की मुरकी के ढंग की छोटी-छोटी तान और द्रुत लय की प्रधानता है जबकि अन्य दोनों में मध्यलय और आलाप, खटकों की प्रधानता और छोटी मुरकियों का भी प्रयोग होता है। पूर्वी व पछाहीं में बोलबनाव का काम ज्यादा होता है और पंजाबी में तान का।

रचना के आधार पर ठुमरी दो प्रकार की होती है—१. बंदिश या बोलबाँट की और २. बोलबनाव की। बंदिश की ठुमरी छोटे ख़्याल से मिलती जुलती होती है जिसमें शब्द ज्यादा होते हैं, शब्द और बंदिश में कसाव होता है और मात्राओं के वज़न का पूरा ध्यान रखा जाता है। इनमें प्रायः बंदिश बनाने वाले के नाम के साथ 'पिया' लगा होता है। जैसे—कदरपिया, सनदपिया आदि। छोटे ख़्याल की बंदिशों से स्थूल भेदक लक्षण यही है कि इनकी तरह ख़्याल की बंदिशों में नाम के साथ 'पिया' नहीं जुड़ा रहता। इन ठुमरियों की बंदिश सुनने से ऐसा लगता है कि " 'तन्त' बज रहा है या जैसे किसी तराने पर 'बोल' रख दिये गये हों। आला दर्जे का राग, अच्छा अंग और अच्छी लय उनमें है। इन्हें हम 'बन्धान' या 'बंदिश' की ठुमरियाँ कहते हैं।"[१] इनमें बोलबनाव के लिये गुंजाइश नहीं होती और प्रायः बंदिश गाकर थोड़ा बहुत आलाप तान का काम ख़्याल के ढंग से किया जाता है। इनमें त्रिताल, झपताल, जैसे तालों का भी प्रयोग होता है।

बोलबनाव की ठुमरियों में शब्द बहुत कम, स्वरों का फैलाव ज्यादा और छोटी मुरकियों का प्रयोग ज्यादा रहता है जिसके कारण बोलबनाव के लिये बहुत गुंजाइश रहती है। प्रायः ढीली और लचीली होती हैं। इनके लिये विशेष गुणधर्मयुक्त कंठ होना ज़रूरी है जिससे छोटी-छोटी मुरकियाँ, खटके, मींड सरलता से निकल सकें। कंठ की मधुरता पहला गुण है। प्रायः दीपचंदी, जत, कहरवा, दादरा आदि तालों का प्रयोग ठुमरी में होता है। अंत में 'लग्गी' लगाकर दुगनी लय में कहरवा के साथ गाकर समाप्त किया जाता है।

ठुमरी गायन अत्यन्त कठिन है क्योंकि ध्रुपद और ख़्याल की तरह राग का बँधा हुआ ढाँचा इसमें नहीं होता। भाव और शब्द के अनुरूप नवीन स्वरसंचार और नये-नये स्वरप्रयोगों की क्षमता पर ही ठुमरीगान की सफलता निर्भर रहती है। इसके लिये रागों को ख़ूब साधना, कंठ और स्वर के लगाव पर प्रभुत्व तथा षड्जचालन का अभ्यास होना ज़रूरी है। यही कारण है कि सभी ख़्याल गायक ठुमरी को सफलतापूर्वक नहीं गा सकते।

ठुमरी गानशैली की एक बड़ी विशेषता यह रही है कि बीच-बीच में ठमरी के वर्ण्य विषय से संबद्ध छंद पढ़े जाते थे। कुशल गायक प्रायः जिस राग में ठुमरी गाई जा रही हो उसी में कवित्त, सवैये जैसे छन्द बीच में 'पढ़ते' थे। यद्यपि ताल चलता

---

१. सं. चि., पृ. ५२६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहता था लेकिन छंद पढ़ते समय स्वर और ताल गौण हो जाता था और उतनी देर शब्द के सौंदर्य का ही ग्रहण होता था जो बहुत रंजक और प्रिय लगता था। आजकल छंद के स्थान पर ग़ज़ल के ढंग से 'शेर' भी पढ़े जाते हैं।

ठुमरी भावप्रधान गान है जिसमें शब्दों के अर्थ और भाव के अनुसार ही उद्-भावना की जाती है इसलिये इसमें शब्द की उपेक्षा नहीं हो सकती। यही कारण है कि ठुमरी के पद कभी भ्रष्ट नहीं हुए जब कि ख़्याल के शब्द अत्यन्त भ्रष्ट हुए क्योंकि उनमें शब्द गौण व उपेक्षित रहा।

ठुमरी रचयिताओं में महाराज कलिका बिन्दादीन, कदरपिया, ललनपिया, बड़े रामदास, प्रेमपिया, सुन्दरपिया, रसकपिया आदि उल्लेखनीय हैं।

मूलतः अभिनय-प्रधान गेयरूप ठुमरी में त्रिविध अभिनय—आंगिक, वाचिक और आहार्य—में से आंगिक और वाचिक का प्रयोग होता था। ठुमरी का साभिनय गान 'बाई' और 'कत्थक' वर्ग के लोग करते थे। इसी कारण इसे हेय दृष्टि से देखा जाता रहा है।

ठुमरी के शब्दों को गाकर उनके भाव के अनुसार किया जाने वाला अभिनय कत्थक नृत्य शैली में 'भावनृत्य' कहलाता था। अभिनय मुख्य रूप से बोल बनाव की ठुमरी में ही होता था क्योंकि उसमें शब्द कम और स्वरों का कर्षण अधिक होने तथा विलंबित लय रहने के कारण अभिनय के लिये गुंजाइश रहती थी। बोल बाँट की ठुमरी दो प्रकार की होती थी—मध्य लय की और द्रुत लय की। इनमें से प्रथम में अभिनय ज्यादा व बोल बनाव कम होता था। लेकिन द्रुत लय वाली बोल बाँट की ठुमरियों में बोल बनाव नाम मात्र को और बहुत थोड़ा अभिनय होता था, अधिक काम लय का, कुछ तानों के ढंग का और नृत्य में पद संचालन का काम ज्यादा किया जाता था।

बोल बनाव की ठुमरी में गायिका द्वारा बंदिश गा लेने के बाद साज़िंदे मुखड़ा पकड़ कर बजाते रहते थे और गायिका उसके भावों को अभिनय के द्वारा विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत करती थीं।

२०वीं सदी में सभागान का प्रचार अधिक होने के बाद साभिनय ठुमरी गान की परंपरा नष्ट होने लगी और अब समाप्त प्राय है। ठुमरी में से आंगिक अभिनय निकल जाने के बाद केवल वाचिक अभिनय रह गया यानी ठुमरी के बोलों का स्वरों के द्वारा ही अभिनय होने लगा। इसी को ठुमरी में बोल बनाव कहा जाता है। परंपरागत शुद्ध शैली में ठुमरी गाने वाली गायिकाओं में सिद्धेश्वरी देवी प्रमुख थीं।

शास्त्रीय संगीत में अब ठुमरी को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया है और प्रायः सभी ख़्याल गायक भजन या ठुमरी गाकर ही कार्यक्रम समाप्त करते हैं। ठुमरी ने वादकों में भी यही स्थान प्राप्त किया है। सितार, सरोद, सारंगी, वायलिन, बाँसुरी,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शहनाई वादक भी अन्त में ठुमरी बजाते हैं। इसमें शब्दरहित ठुमरी अंग का सारा काम किया जाता है। यहाँ तक कि हारमोनियम में भी ठुमरी बजाने वाले भैया गणपतराव और गोविंदराव तेम्बे जैसे बड़े कलाकार हुए हैं। वर्तमान लक्ष्य में ठुमरी इतनी छा गई है कि ख़याल की गंभीर आलापचारी और बोल तान आदि को छोड़ कर या कम करके उनमें भी ठुमरी के ढंग का चंचल, द्रुत और मध्यलय का काम किया जाने लगा है। परिणाम यह हो रहा है कि न ठुमरी अपने शुद्ध रूप में दिखाई देती है और न ख़याल ही शुद्ध रूप में गाया जाता है।

दादरा

ठुमरी से मिलता-जुलता प्रकार दादरा है। मूलतः इसे दादरा ताल में गाया जाता था इसीलिये दादरा कहलाने लगा लेकिन अब यह आवश्यक नहीं है। आजकल अनेक ठुमरियाँ दादरा ताल में और दादरे कहरवा में गाये जाते हैं। ठुमरी और दादरा बहुत नज़दीक हैं क्योंकि दोनों में लगभग एक से अलंकरणों का प्रयोग होता है। दादरा में स्वरों का लगाव और लय भिन्न रहती है। दादरा में प्रायः द्रुत अथवा कभी-कभी मध्यलय होती है। बंदिश की रचना ऐसी होती है जो झूलती हुई चलती है। 'बनावो बतियाँ' बड़ा प्रसिद्ध दादरा है जिसमें लय का झूलना स्पष्ट दिखाई देता है। दादरा मूलतः लोक संगीत से आया है इसलिये उसमें लय का झोल बड़ा सहज होता है। इसमें बोलबनाव भी लयदारी के साथ होता है। आजकल दादरा जिस ढंग से गाया जाता है वह प्रायः ठुमरी से भिन्न नहीं मालूम पड़ता। मिश्रण की प्रवृत्ति इतनी ज्यादा हो गई है कि गायक ठुमरी और दादरा में लगभग एक ही ढंग का काम करते हैं।

ग़ज़ल

ईरानी संगीत से आया हुआ गीत है जिसमें उर्दू फ़ारसी मिश्रित हिन्दी का प्रयोग होता है। यह मूलतः ५ मात्रा के ग़ज़ल रूपक या ७ मात्रा के ग़ज़ल ताल में गाया जाता है। बीच में ताल रोक कर 'शेर' गाये जाते हैं और फिर ख़ास जगह से ताल पकड़ लिया जाता है।

भजन

भजन की परंपरा अति प्राचीन है लेकिन उसे शास्त्रीय संगीत में स्थान दिलाने का श्रेय मुख्य रूप से पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर और पं. ओमकारनाथ ठाकुर को है। प्राचीन 'कीर्तन' से इसका विकास हुआ है। सगुण भक्ति परम्परा का एक अनिवार्य अंग होने के कारण ईशस्तुति इसका विषय होता है। सगुण और निर्गुण सम्प्रदायों के भक्त सन्तों द्वारा पदशैली में भजनों की रचना हुई। प्रायः ब्रज में अष्टछाप भक्तों के, जिनमें सूरदास अन्यतम हैं; ब्रज, राजस्थानी, गुजराती में मीरा के; पंजाबी और हिन्दी में नानक के; अवधी में तुलसी के, मैथिली में विद्यापति के; मिश्र हिन्दी में कबीर के, बंगला में चंडीदास और गौडीय सम्प्रदाय के भक्तों के भजन प्रसिद्ध हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शास्त्रीय संगीत के भजन गान का मूल कीर्तन परंपरा में है। कीर्तन परंपरा से आशय वल्लभसंप्रदाय की यानी कृष्णभक्ति की सगुण परम्परा से है। इसका मूल केंद्र ब्रज है। वहीं से यह पहले पश्चिम में राजस्थान और गुजरात में फैली तथा पूर्व में बंगाल और आसाम में पदावली कीर्तन की एक स्वतंत्र परम्परा विकसित हुई। ऐसा माना जाता है कि ब्रज, राजस्थान और गुजरात में कीर्तन परम्परा का मूल रूप है।

इन वैष्णव मंदिरों में दिन के आठ प्रहरों में कृष्ण की निश्चित लीलाओं से संबंधित पद ही गाये जाते हैं जो 'पद-पदान्त' कहलाते हैं। समय के अनुसार राग नियत होते हैं। पदों को विविध तालों में बाँधकर पखावज के साथ गाया जाता है। इन पदों की बंदिश प्राय: ध्रुपद के ढंग की होती है यानी कर्षण बहुत कम होता है। बन्दिश सीधी होती है जिसमें अलंकरण प्राय: नहीं होता। लेकिन गाते समय गायक प्राय: ख़्याल के ढंग से थोड़े बहुत आलाप गाते हैं। इस प्रकार बंदिश और पखावज की संगत की दृष्टि से ध्रुपद तथा आलाप प्रयोग की दृष्टि से ख़्याल का रूप इनमें दिखाई देता है। मंदिरों के वातावरण में पले, वहाँ के संगीत में घुले हुए और मंदिर के परम्परागत गायकों द्वारा प्रशिक्षित गायक ही मंदिरों में कीर्तन करते हैं।

वल्लभ संप्रदाय के भक्त गायकों के पदों का रागकल्पद्रुम में कीर्तन नाम से संग्रह किया गया है। रागकल्पद्रुम में एक ओर वैष्णव मन्दिरों के पदों का संग्रह है, दूसरी ओर दरबारी संगीत के पदों का। यह ध्यान देने योग्य है कि संगीत की ये दो धाराएँ प्राय: एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप से प्रवाहित होती रहीं। न तो इन दोनों का कोई विशेष सम्पर्क हुआ और न ही इन्होंने एक दूसरे को प्रभावित किया, ऐसा समझा जाता है। लेकिन जहाँ दरबारी संगीत आश्रयदाता राजा व प्रजा की रुचि में परिवर्तन के कारण बदलता रहा वहाँ मंदिर का संगीत, रुचि का प्रश्न न होने के कारण लगभग अपरिवर्तित रहा और अपने प्राचीन स्वरूप को सुरक्षित रख सका। मंदिर संगीत के श्रोता वास्तव में समझदार श्रोता नहीं होते थे, वे केवल दर्शक थे इसलिये संगीत से उनका समझदारी का संबंध हो यह आवश्यक नहीं। लेकिन दरबारी संगीत के श्रोता समझदार होते थे जो संगीत को समझते, पहचानते और विवेक भी करते थे। इस कारण भी वहाँ परिवर्तन आना स्वाभाविक था।

वैष्णव मंदिरों की कीर्तन परंपरा से ही शास्त्रीय संगीत की भजन शैली का विकास हुआ। कीर्तन का प्रयोग पूजाविधि में ही था इसलिये उसमें रागदारी अथवा स्वरांश की प्रमुखता के लिये गुंजाइश नहीं थी। भजन शास्त्रीय संगीत का अंग है जिसका प्रयोजन श्रोताओं के चित्त का रंजन है इसलिये कीर्तन शैली के पद लेकर, तबले की संगत से, स्वर व रागदारी के प्रचुर प्रयोग के द्वारा उसमें प्राणप्रतिष्ठा की गई। भावप्रवणता और भावाभिव्यक्ति ही इसका प्राण बना। भजन के पदों में कोमल मधुर ध्वनि वाले शब्दों की प्रधानता के कारण गेय तत्त्व तो प्रचुर मात्रा में पहले से ही रहता है, गायक की रस-भाव-अभिव्यक्ति की सामर्थ्य के अनुसार श्रोताओं को आनन्दानुभूति भी होती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बँगला कीर्तन

वैष्णव कृष्ण भक्ति परंपरा का जिस रूप में विकास बंगाल में हुआ उसकी बड़ी विशेषता उसकी अपनी विशेष कीर्तन परम्परा है। एक विशेष शैली के रूप में उसका शास्त्रीय अध्ययन हुआ है जिससे अनेक विशेषताएँ सामने आई हैं—

बँगला कीर्तन की तीन प्रमुख शैलियाँ मानी गई हैं—१. गडेरहाटी या गराणहाटी, २. मनोहरसाही और ३. राणीहाटी या रेणेटी। इन तीनों के प्रवर्तक क्रमशः श्री नरोत्तमदास ठाकुर, श्री श्रीनिवास आचार्य और श्री श्यामानन्द—ये तीन कृष्णभक्त आचार्य थे। महाप्रभु चैतन्य के परलोकवास के बाद बंगाल में वैष्णव धर्म की अवनति शुरू होने पर वृन्दावन के श्री जीवगोस्वामी इन तीनों को वृन्दावन ले गये। इन आचार्यों ने दिल्ली दरबार के गुणी ध्रुपदगायकों से संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी इसलिये बँगला कीर्तन की जो शैलियाँ उनके द्वारा प्रवर्तित हुईं वे ध्रुपद गायकी की भित्ति पर आधारित थीं।

इन शैलियों का नामकरण उन्हीं नाम वाले परगनों के आधार पर हुआ। राजाशाही जिले के खेतरी ग्राम में राजा सन्तोष द्वारा विग्रह प्रतिष्ठा के अवसर पर तीनों आचार्यों ने भिन्न शैलियों में कीर्तन किया।

कीर्तन की गडेरहाटी और मनोहरसाही शैलियाँ अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित हैं। कुछ लोगों ने इनमें ध्रुपद और ख़्याल गायकी जैसा भेद करने का प्रयत्न किया है जो अन्य मत से उचित नहीं माना जाता। ख़्याल के घरानों में जैसा अन्तर किया जाता है वैसा भेद इनमें किया जा सकता है। लेकिन इतने सूक्ष्म विश्लेषण के लिये कीर्तन गान में निपुणता और विश्लेषण की योग्यता एक साथ न मिलने के कारण यह कार्य अत्यन्त कठिन है। कीर्तनकारों को इनके तालों के नाम और उनके स्वरूप तो ज्ञात हैं लेकिन रागों के नहीं। इसलिये इस बारे में प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती।[१]

इन शैलियों की अपनी-अपनी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं[२]:—

गडेरहाटी—विलंबित लय, दीर्घ छन्द, मात्राओं (संभवतः मात्रा खण्डों) की सरलता और प्रसाद गुण प्रमुख विशेषताएँ हैं। शास्त्रीय ध्रुपद के साथ तुलना की जा सकती है। इसमें प्रायः १०८ तालों का प्रयोग होता है।

मनोहरसाही—लय छन्द अपेक्षाकृत संक्षिप्त, स्वर का काम अधिक, मात्रा की जटिलता से समृद्ध शैली है। ख़्याल शैली से तुलनीय है। इन दोनों शैलियों में 'आखर' (इस बारे में आगे कहा जायगा) की परिपाटी विशेष है। इसमें ५४ तालों का प्रयोग प्रायः होता है।

रेणेटी—लय छन्द संक्षिप्त, तरल स्वर, 'आखर' कम, ठुमरी गान के समकक्ष रखी जा सकती है। इसमें २६ तालों का प्रयोग होता है।

---

१. 'कीर्तन स्वरलिपि'—प्रथम खंड के आधार पर। २. बॉ. की. ओ. की. के आधार पर।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कीर्तन के ५ अंग हैं—कथा, दोंहा, आखर, तुक और छूट। कथा—श्रीकृष्ण, राधा और सखियों की उक्ति प्रत्युक्ति से युक्त गीतों को परस्पर संबद्ध करना या किसी पंक्ति के अर्थ को विशेष रूप से कह कर गायक द्वारा विशद करना 'कथा' है। दोंहा—छन्दोवद्ध २ या ४ चरणों में सूत्र रूप में विषय की अभिव्यक्ति को 'दोंहा' कहते हैं। चैतन्य चरितामृत के पयार, त्रिपदी के एक दो चरण, हिन्दी कवियों के दोहे, उज्ज्वल नीलमणि के श्लोकांश बँगला कीर्तन में दोंहा नाम से परिचित हैं। आखर—कीर्तन गान की प्रमुख विशेषता है जिसे कीर्तन के रहस्यों के उन्मोचन का एकमात्र उपाय, रस-भण्डार की अर्गला खोलने का मंत्र, कुंजिका, व्याख्या विश्लेषण का वार्तिक आदि कहा गया है। पद में जो कहा न गया हो उसे कीर्तनिया अपनी ओर से शब्द जोड़ कर पूरा करता है अथवा पद को समझाता है—यही 'आखर देना' है। पद की विषय-वस्तु का ध्यान मग्न होकर चिंतन करते-करते जो आखर कीर्तनिया के मन में गूँजने लगते हैं उन्हें वह 'दोहार' (अनुगत गायक) और वादक के साथ चर्चा करके गाकर कंठस्थ कर लेता है। ये आखर गुरुमुख से शिष्य को प्राप्त होते हैं। गान करते-करते आखर देने की योग्यता रखने वाले कीर्तनिया वहुत कम होते हैं। जो कीर्तनिया जितने अधिक आखर दे सके और सवको भाव विभोर कर सके वह उतना ही उत्तम कीर्तनकार माना जाता है।

तुक—कीर्तन की पूरी रचना जो अनुप्रासवहुल, छन्दोवद्ध, वर्ण मैत्री से युक्त हो 'तुक' या 'तुकगान' कहलाती है। किसी किसी तुक में 'कली' (कड़ी) रहती हैं। कीर्तन गायकों की गुरु परंपरा से तुक चली आई हैं। इनमें से अनेक तुक अज्ञात पदकर्ताओं के मुद्रारहित पद या पदांश हैं। छूट—ताल का ही एक नाम 'छूट' भी है।

कीर्तनकारों की टोलियाँ 'संप्रदाय' कहलाती हैं। रथयात्रा के समय ४ अथवा ७ संप्रदायों की चर्चा चैतन्य चरितामृत में की गई है। हर संप्रदाय में ६-६ गायक, २-२ मार्दंगिक और ८-८ करतालवादक हैं। इनके मध्य में महाप्रभु गान और नृत्य करते हैं। रथयात्रा के ७ संप्रदायों में से जगन्नाथ के आगे ४, दोनों पार्श्वों में दो और पीछे एक रहते हैं जिनमें १४ मादल (मर्दल) वादक होते हैं। ऐसा वर्णन है कि इनकी ध्वनि सुनकर प्रभु पागल हो रहे हैं। वे मेघ, घटा अथवा वादल हो गये हैं। संकीर्तन के अमृत के साथ उनके नेत्रों से जल की वर्षा हो रही है। महाप्रभु के संकीर्तन की इस ध्वनि से त्रिभुवन व्याप्त हो रहा है।

कीर्तन की तालपद्धति विशेष प्रकार की है। कुछ तालों के नाम ये हैं—झांप, तेओड़ा (तीव्रा), डांश पाहिड (८ मात्रा के जत के समान), चञ्चुपुट (कहरवा के समान), आड़ (सूल जैसा) दोठुकि (७ या १४ मात्रा के यद जैसा)। २ अक्षर के ताल के बाद ४ अक्षर का ताल हो तो दोनों को मिला कर 'जोड़ा' या 'युग्मताल' कहा जाता है तथा इनसे भिन्न ४ अक्षर के तालों को 'छूटा' या 'विश्लिष्ट ताल'। एक ही ताल के तीन-तीन रूप होते हैं—छोटा, मध्यम और वड़ा। तालों में कुछ विशेष प्रकार की निःशब्द क्रियाएँ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होती हैं जिनके विसर्जिता, कृष्या, विक्षिप्ता, पताका आदि नाम हैं जो संगीतरत्नाकर के समान हैं लेकिन स्वरूप भिन्न हैं। कीर्तन में लय का प्रयोग भी विभिन्न प्रकार से होता है। जैसे, कभी विलंबित से द्रुत, कभी द्रुत से विलंबित। इसमें शास्त्रोक्त 'यति' का कुछ रूप है। आधुनिक शास्त्रीय संगीत की 'सम' की धारणा कीर्तन में नहीं है क्योंकि ताल के प्रथम घात में ही कीर्तन की समाप्ति अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार गानशैली और ताल पद्धति दोनों दृष्टियों से बँगला कीर्तन का अपना विशिष्ट स्वरूप है।

सरगम

राग के नियमों से बद्ध केवल स्वर और तालयुक्त ऐसी रचना सरगम कहलाती है जिसमें केवल स्वराक्षरों का ही प्रयोग होता है, सार्थक पदों का नहीं। यह केवल राग के स्वरूप को व्यक्त करती है। यह शिक्षण संबंधी रचना है जिसकी उपयोगिता रागस्वरूप के ज्ञान के लिये ही है अतः विशेष रूप से विद्यार्थियों के लिये इसकी रचना होती है।

लक्षणगीत

स्वर और तालबद्ध ऐसे गीत हैं जिनके पदों में राग के लक्षणों का ब्योरा रहता है। इसकी उपयोगिता भी संगीत शिक्षा में ही है।

स्वरार्थ

रत्नाकरोक्त स्वरार्थ प्रबंध के कुछ गीत किसी-किसी गायक के पास सुरक्षित हैं यद्यपि इस संज्ञा व उसके अर्थ का न उन्हें बोध है और न इस नाम का प्रचार रह गया है। रागकल्पद्रुम में इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

राग भैरव—ताल धमारबहार
मग मध मेरे मगरे धनीसाम रेसानी।
पग (मग) में धरे धरे पग धम धामरे सास रेसानी।
सारे गाम में सगरे मग में धाम धाम पै पधनी।
साध साध पग धरे सदा पै मोरी नेक न मानी॥[1]

इसमें 'नेक' को छोड़ कर सब अक्षर भैरव के स्वरों के वाचक हैं। और स्वराक्षरों से ही सार्थक रचना हुई है।

प्रबन्ध

ध्रुपद गायकों में 'प्रबन्ध' नाम से गीत का एक विशेष प्रकार प्रचलित था जो ध्रुपद के बहुत नजदीक था। इसमें प्रायः ४ खण्ड होते थे, कभी-कभी ८ या १२ खण्ड भी होते थे। तीसरे और चौथे खण्डों में प्रायः वैसा अन्तर नहीं दिखाई देता जैसा ध्रुपद में संचारी के बाद आभोग में स्वर की ऊँची फेंक वाली उठान में होता है। प्रबन्ध दो प्रकार के होते थे—पूरा प्रबन्ध एक ही ताल में गेय और एक प्रबंध में अनेक तालों के

---

१. राग., प्रथम खण्ड, पृ. ८६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रयोग वाला। एक ही ताल में गाये जाने वाले प्रबंध और ध्रुपद में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई पड़ता। लेकिन अनेक ताल वाले प्रबंध में ताल बदलने के साथ ही लय भी बदल जाती थी। इस प्रकार एक ही प्रबंध में द्रुत, मध्य, विलंबित लयों का प्रयोग होने के कारण उनमें वैचित्र्य, आकर्षकता और रंजकता ध्रुपद की अपेक्षा अधिक होती है। प्रबंधों में लय का काम बहुत थोड़ा होता था जो दुगुन चौगुन तक सीमित होता था।

कुछ प्रबंध लंबे और कुछ छोटे होते थे। छोटे प्रबंधों का पद गाने से पहले 'नोम् तोम्' किया जाता था जिसमें 'अन्तर तरन तारन त्वं' शब्दों का ही प्रयोग किया जाता था।

प्रबंधों में तीव्रा, त्रिशूल (सूल), ध्रुपद (चौताल), मण्ठिका, सम, सादरा (१० मात्रा वाला) आदि तालों का प्रयोग होता था और पखावज द्वारा संगत की जाती थी। सादरा ताल में गेय प्रबंधों में सरगम में अनेक लयों का प्रयोग करके 'उपज' का काम किया जाता था।

श्री. टी. एॅल. राणा के पास अब भी लगभग ५० बढ़िया प्रबंधों का संग्रह है जिसमें से कुछ लेखिका ने उनसे सुने थे। उनके मत से इन प्रबंधों से ध्रुपद का विकास हुआ।

(२) कर्णाटक[1]

कीर्तन व कृति

प्रबंध या रचना की दृष्टि से कीर्तन और कृति में कोई अंतर नहीं है। कीर्तन परंपरागत संज्ञा है और कृति संगीतशास्त्रियों द्वारा ग्रहण की गई संज्ञा। 'कृति' शब्द की व्याख्या यह है—'यत्कृतं तत्कृतिः' अर्थात् जिसे किया या बनाया जाय वह कृति। अर्थ की दृष्टि से प्रत्येक रचना कृति ही है क्योंकि वह वाग्गेयकार द्वारा बनाई जाती है। इस रूप में कृति 'प्रबंध' का पर्याय है। अन्तर यही है कि प्रबंध सताल-अताल दोनों प्रकार का हो सकता है लेकिन कृति सताल ही होती है। त्यागराज ने अपनी रचनाओं को 'कृति' कहा। उनकी कृतियाँ मुख्य रूप से अध्यात्म संबंधी हैं। भगवत्प्रेम ही उनके पदों का विवक्षित वर्ण्य है।

मूलतः 'कीर्तन' और 'पद' शब्द पर्याय थे। लेकिन क्षेत्रज्ञ के अलौकिक श्रृंगार के पदों के प्रचलन के बाद श्रृंगारयुक्त पदों को 'पदम्' कहा जाने लगा और अध्यात्म संबंधी पद कीर्तन ही कहे जाते रहे। कीर्तन का जन्म १४वीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ।

प्रदर्शन गान में आजकल आधे से अधिक समय में कृति या कीर्तन ही गाये जाते हैं। राग, ताल, गति, लय, और वर्ण्य विषय में वाग्गेयकार को पूरी स्वतंत्रता होने के कारण अभिव्यक्ति सहज और प्रभावपूर्ण होती हैं। राग की अभिव्यक्ति और उसके माध्यम से रसभाव की व्यंजना इनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

---

१. आधार—श्री. पी साम्बमूर्ति की पुस्तक 'South Indian Music' के ५ भाग तथा श्री वी. वी. षडगोपन् से हुई मौखिक चर्चा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कीर्तन के तीन अंग होते हैं—पल्लवि, अनुपल्लवि और चरणम्। चरणम् एक से अधिक हो सकते हैं और यह भी संभव है कि एक भी चरणम् न हो। चरणम् में रचयिता के नाम की छाप रहने के कारण इसे 'मुद्राचरणम्' भी कहा जाता है।

संगीत रचना की दृष्टि से इसमें मुक्त विस्तार ख़ूब होता है। कृति में प्रयुक्त किसी विशेष स्वरसंचार के आधार पर क्रमशः नये-नये संचार बनाते हुए गीत के शब्दों में नये-नये भाव भरते हुए 'संगतियों' का प्रयोग होता है। उत्तर भारतीय गायन में जैसे गीत के शब्दों को लेकर अलग-अलग ढंग से गाकर अभिव्यक्ति की जाती है उसी प्रकार संगतियों के द्वारा भी किया जाता है। लेकिन उत्तर में जहाँ गायक को स्वरसंचार बनाने में पूरी स्वतंत्रता है वहाँ कीर्तनगायक की संगतियाँ प्रायः पूर्वरचित होती हैं।

कीर्तन का एक विशेष प्रकार है 'दिव्यनाम कीर्तन' जिसमें पल्लवि और समान-धातुक कई चरण होते हैं। कभी-कभी हर चरणम् के बाद पल्लवि पर लौटे बिना एक के बाद एक सारे चरणम् गाये जाते हैं। पुरन्दरदास की रचनाएँ कीर्तन या 'दासर पद' कहलाती हैं।

वर्णम्

अभ्यास गान वर्ग में आने वाला प्रमुख प्रकार है जिसकी रचना लगभग ३०० वर्ष पूर्व हुई। गायक और वादक इसका अभ्यास अत्यन्त सावधानी और परिश्रम से करते हैं। हर राग में स्थायी, आरोही, अवरोही और संचारी वर्णों में राग रूप के स्पष्टीकरण के लिये रचे जाने के कारण इसकी संज्ञा 'वर्णम्' है। शब्दों की अल्पता और 'अचों' (अ, इ, उ आदि स्वरों) के बाहुल्य के कारण और अचों की समान 'बाँट' के कारण कंठ साधने में और वादकों के लिये अंगुलिसंचालन में अत्यन्त उपयोगी है।

सामान्य रूप से पद में भक्ति, श्रृंगार या आश्रयदाता का वर्णन रहता है। इसकी रचना के लिये मँजी हुई बुद्धि, योग्यता, प्रतिभा और रागलक्षणों में सूक्ष्म पैठ आवश्यक हैं। इसलिये वर्णम् रचयिता और वर्णम् गिने चुने हैं जब कि कृति, कीर्तन हजारों की संख्या में हैं उनके रचयिता भी सैकड़ों हुए।

इसके दो भाग होते हैं—१. पूर्वांग जिसमें पल्लवि, अनुपल्लवि और 'मुक्तयिस्वर' या तानवर्ण होते हैं। २. उत्तरांग जिसमें केवल चरणम् और सरगम होते हैं। दोनों भागों की लम्बाई बराबर होती है।

वर्णम् के भेदों में 'तानवर्णम्' में स्वरों की प्रधानता होती है जो स्वतंत्र रूप से गाया जाता है। 'पदवर्णम्' में पदरचना होती है और इसे नृत्य के साथ ही गाया जाता है।

ध्रुपद के संचारी और आभोग की तरह वर्णम् के पहले और दूसरे खंड के बीच ध्रुवपंक्ति नहीं गाई जाती बल्कि दोनों खंड एक साथ गाये जाते हैं।

मंचप्रदर्शन में सर्वप्रथम वर्णम् ही गाया बजाया जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पदम्

मूलतः पदम् ऐसे गीत थे जो मधुरा भक्ति और विद्वत्ता से युक्त होते थे तथा जिनमें पद प्रधान था। १७वीं सदी के क्षेत्रज्ञ के पदम् अत्यंत प्रसिद्ध । गीतगोविन्द की तरह श्रृंगारिक कृष्णलीला इनका वर्ण्य विषय है। साहित्य, रस, भाव, संगीत सभी दृष्टियों से ये उत्तम रचनाएँ मानी जाती हैं। जीवात्मा, परमात्मा और गुरु के रूप में कृष्ण, भक्त और सखी को लेकर इनकी रचना हुई।

आजकल नायक-नायिका भेद ही इनका प्रमुख विषय बन गया है और ये गेय के क्षेत्र से नृत्य के क्षेत्र में चले गये हैं। फिर भी विलंबित लय में किये जाने वाले आलाप की प्रधानता के कारण इनमें विशेष प्रकार की भव्यता है इसलिये ये नृत्य से स्वतंत्र भी गाये जाते हैं। गेय पदों में मधुरा भक्ति के अंग के रूप में आत्मा और परमात्मा का संबंध इनमें प्रमुख रूप से रहता है।

पल्लवि आदि तीन अंग होते हैं। चरणम् अधिक भी हो सकते हैं लेकिन संगति या कठिन स्वरसंचार नहीं होते। स्वरों का सहज और मधुर प्रवाहपूर्ण प्रयोग होता है। लोकभाषा के शब्दों की प्रचुरता होती है।

मणिप्रवाल कृति

मणि (रत्न) और प्रवाल (मूँगा)—इन दो बहुमूल्य रत्नों की भाँति दो भाषाओं में बद्ध गीत 'मणिप्रवाल' कहलाता है। भाषाओं को इस तरह संबद्ध किया जाता है कि व्याकरण और छन्द की दृष्टि से उनमें असंबद्धता नहीं दिखाई देती।

रागमालिका

यह अत्यन्त चित्ताकर्षक गेय विधा है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है इसमें अनेक रागों की माला होती है यानी एक के बाद एक अनेक रागों में गीत गाया जाता है, ताल शुरू से अन्त तक एक ही रहता है। रागों के बदलते जाने के कारण श्रोताओं की रुचि और उत्सुकता शुरू से अन्त तक बनी रहती है। आजकल जितने गीत प्रकार हैं उनमें यह सबसे लंबा है। महावैद्यनाथ अय्यर की ७२ मेल रागमालिका को गाने में दो घंटे का समय लगता है।

रागों के चुनाव और क्रम योजना की पूरी स्वतंत्रता वाग्गेयकार को रहती है। लेकिन सामान्य नियम यह है कि बिल्कुल भिन्न प्रकृति के या बिल्कुल नज़दीक के रागों का प्रयोग नहीं होना चाहिये। वर्ण्य विषय का भी सामान्यतः कोई बंधन या नियम नहीं है। लेकिन रागमालिका की पल्लवि और अन्तिम चरणम् प्रसिद्ध रागों में से किसी में होना चाहिये और पहला राग ऐसा होना चाहिये जिसमें गान समय का बंधन न हो।

इसमें तीनों अंग होते हैं, अन्त में 'चिट्टास्वर' होता है। एक राग की समाप्ति और दूसरे राग के आरम्भ के बीच में सरगम होती है जो दोनों को जोड़ती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राचीन रागकदम्ब प्रवन्ध से यह इतने अंश में मिलता है कि इसमें अनेक राग रहते हैं। रागकदम्ब में अनेक राग, अनेक ताल और अनेक वृत्तों का प्रयोग होता है।

तालमालिका

रागमालिका की तरह इसमें अनेक तालों का प्रयोग होता है। लेकिन पूरा गीत एक ही राग में गाया जाता है। हर ताल-खण्ड में 'ताल मुद्रा' होती है। प्राचीन तालार्णव प्रवन्ध में इसका साम्य देखा जा सकता है। पंचतालेश्वर में ५ तालों का प्रयोग है लेकिन वहाँ केवल मार्गताल हैं, साथ ही स्वर के अतिरिक्त विभिन्न वाद्यों के पाटों से ५ तालों के ५ खण्ड बद्ध होते हैं। तालमालिका सार्थक पदयुक्त गीत है इसलिये पंचतालेश्वर से इसका सादृश्य नहीं कहा जा सकता जैसा श्री साम्वमूर्ति ने कहा है।[१]

रागमालिका और तालमालिका के मिश्रण से रागतालमालिका की रचना होती है। इसका प्रत्येक खण्ड एक राग और एक ताल में होता है तथा हर खण्ड में राग और ताल बदलते जाते हैं।

जावळि

इसे ठुमरी के समकक्ष कहा जा सकता है। इसमें लौकिक श्रृंगार के पद होते हैं तथा गेय आकर्षक और इन्द्रिय स्तर का होने के कारण सामान्य और मर्मज्ञ सभी प्रकार के श्रोताओं को तुरन्त आकर्षित कर लेता है। सामान्यतः मध्यलय और चंचल प्रकृति के रागों में इसे गाया जाता है। ये राग उत्तर भारतीय रागों से मिलते-जुलते हैं—परज, जंझुटी (झिंझोटी), काफी, बेहाग आदि। भाषा सर्वसाधारण की और प्रकृति क्षुद्र होती है। सामान्य रूप से आदि, रूपक, चापु तालों में गाया जाता है।

सरगम

अभ्यासगान में सबसे पहले आने वाला गीत है। इसमें शब्द नहीं रहते, विभिन्न तालों में राग के स्वर बाँध दिये जाते हैं, जिससे राग का स्वरूप स्पष्ट हो।

गीतम्

अभ्यासगान वर्ग का तथा सरगम के तुरन्त बाद सिखाया जाने वाला विशेष प्रकार का गीत है जिसमें सीधे और सरल स्वरसंचारों के द्वारा राग का स्वरूप स्पष्ट किया जाता है। इसमें मध्यलय का ही प्रयोग होता है। पल्लवि आदि अंग नहीं होते और किसी भी अंश को दोहराये बिना पूरा गीत गाया जाता है। उसके गेय में खंड दिखाई देते हैं क्योंकि कुछ अंश मध्य सप्तक के स्वरों तक गाकर आगे का अंश तार 'सा' पर जाकर कुछ रुक कर आगे बढ़ता है। संगति या क्लिष्ट संचार नहीं होते। साधारण रूप से हर स्वर में एक-एक

१. South Indian Music, Book III, 6th Edn., page. 199

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अक्षर रहता है। वर्ण्य विषय ईशस्तुति होने पर स्तुतिगीतम् कहलाता है और रागलक्षण से युक्त हो तो लक्षणगीतम् कहा जाता है।

स्वरजति

गीतम् के बाद और वर्णम् से पहले सिखाया जाता है। रचना और लय की दृष्टि से वर्णम् के नज़दीक है। भक्ति, श्रृंगार या वीर संबंधी वर्ण्य से युक्त होता है। इसमें तीनों अंग और भिन्न धातुओं से युक्त कई चरणम् होते हैं, कभी-कभी अनुपल्लवि नहीं होती। इसमें स्वर, शब्द और जति (दि, गि, णुम् आदि) तीनों होते हैं। नृत्य के साथ गाया जाने वाला गीत है।

जतिस्वरम्

स्वरजति के सदृश होता है लेकिन इसमें केवल स्वर होते हैं यह भी नृत्य के साथ गाया जाता है।

तिल्लाना

नृत्य के साथ गाया जाने वाला गीत है जिसमें प्रमुख रूप से 'सोलकट्टु' अर्थात् पाटाक्षर (तरिकिट आदि) और स्वर तथा कहीं-कहीं सार्थक पद भी होते हैं। कभी-कभी गायन के कार्यक्रम में भी अन्त में गाया जाता हैं। मध्यलय, स्वरों के वक्र प्रयोग और स्वर तथा 'जति' के कारण जानदार गीत मालूम होता है। १८वीं सदी के वाग्गेयकारों के द्वारा इसकी रचना हुई।

दरु

इसका सबसे पहले संगीतपारिजात में उल्लेख मिलता है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि काफ़ी प्राचीन गीत है। आजकल इसका प्रयोग गीतिनाट्यों और नृत्यनाटिकाओं में होता है जिसमें पौराणिक, श्रृंगारिक या आश्रयदाता की स्तुति संबंधी कथा रहती है। कथा होने के कारण शब्दों का वाहुल्य रहता है। इसका संबंध भरत की ध्रुवा से भी जोड़ने का प्रयत्न किया गया है।[1]

इसमें पल्लवि आदि तीनों अंग होते हैं जिनमें कभी दो और कभी चार चरण होते हैं। दरु आठ प्रकार का होता है—संवाद दरु, उत्तर-प्रत्युत्तर दरु, पात्रप्रवेश दरु, कोलट्ट (कोल्हाटिका) दरु, स्वगत दरु, वर्णन दरु, प्रलाप दरु और पट्टाभिषेक दरु।

स्वराक्षर

रत्नाकर के स्वरार्थ प्रवंध का अवशेष है जो आजकल अप्रचलित हो गया है।

आळवार प्रबन्धम्[2]

तमिल प्रदेश के १२ आळवार अर्थात् वैष्णव भक्तों द्वारा ५वीं से ८वीं सदी में

---

१. वही, पृ. २१८

२. आ. भ. का त. प्र. और गोदा गीतावली के आधार पर।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपने इष्टदेव की स्तुति में गाये गये चार हजार पदों का संग्रह 'आळवार प्रबंधम्' कहलाता है। यह भक्तिप्रधान गीतों का संग्रह है जिसने मध्ययुगीय हिन्दी कृष्ण भक्ति साहित्य को प्रभावित किया। तमिल की द्रविड़ संस्कृति में अनेक सदियों से विकसित हुई भक्ति परंपरा और उत्तर भारत में प्रवाहित वेद उपनिषद् परंपरा का एकीकृत रूप 'प्रबंधम्' में मिलता है। वैष्णव भक्ति का जो स्वरूप हिन्दी वैष्णव साहित्य में है उसका मूल इस तमिल परंपरा में है।

भागवत् पर प्रबंधम् का प्रभाव होना तो स्वाभाविक है क्योंकि भागवत् प्रबंधम् के कुछ ही समय वाद की रचना है। विद्वानों का ऐसा भी मत है कि भागवत् दक्षिण में रचा गया क्योंकि उसमें जिन वृक्ष-पुष्पों का वर्णन है वे भी वृन्दावन में नहीं मिलते, मलावार में ही प्राप्त होते हैं।

नवीं सदी के अंत में श्री नाथमुनि ने इन पदों का संकलन 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्' (चार सहस्र पावन पद) नाम से किया। इनके रचयिताओं में कुलशेखराळवार, पेरियाळ-वार और आण्डाल का विशेष स्थान है। इनके पदों में श्रुतियों और शास्त्रों का सार है। मधुरा भक्ति से ओतप्रोत इन पदों से दक्षिण के वैष्णव मंदिरों के गर्भगृह आज भी गुंजित होते हैं। मन्दिरों में वेदपाठ हो या न हो भगवान् के सेवासमयों पर प्रबंधम् का गान अवश्य होता है।

प्रबंधम् में लोकगीत परंपरा का परिष्कृत रूप है लेकिन उस परंपरा की आत्मा व प्रकृति की पूरी रक्षा हुई है। इसमें अत्यन्त प्राचीन तमिळ गीतकाव्य परंपरा के दर्शन होते हैं। ईसा की दूसरी शताब्दी तक यह अत्यन्त विकसित विशिष्ट संगीत पद्धति थी जिसमें विविध राग रागिणियाँ, वाद्य यंत्र और अपनी शास्त्रीय शब्दावली थी।

गेय होने के कारण ये प्रबंधम् अनेक सदियों तक भी मौखिक परंपरा में सुरक्षित रहे। लेकिन विद्वानों का मत है कि आज ये प्रबंध ठीक उसी पद्धति से नहीं गाये जाते जिसमें ये मूलतः गाये जाते थे। नाथमुनि ने इनका संकलन करने के साथ ही इनकी गानशैली भी निर्धारित की लेकिन वाद में किसी संगीताचार्य ने नये राग, तालादि की योजना कर दी जो आज हर पद के साथ प्राप्त हैं।

प्रबंधम् को परंपरागत ढंग से गाने वाले गायक 'अरैयर' कहलाते थे जो मन्दिर के सामने मंडप में बैठकर वाद्यों के साथ इन्हें गाते थे। आज प्रबंधम् की गानशैली वैदिक मंत्रपाठ जैसी लगती है। प्रायः ३-४ स्वरों में सस्वर पाठ होता है।

सूळादि

इस पर पहले विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। यहां इतना उल्लेख पर्याप्त होगा कि यह एक प्रकार का तालमालिका गीत है जो एक राग में गाया जाता है। सामान्य रूप से गीत के एक-एक चरण में ध्रुव, मठ्य, रूपक, झंपा त्रिपुट, अट्ट, एकताली और कभी कभी झोंपट तालों का प्रयोग किया जाता है। लक्ष्य में इसका प्रचार नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(३) उड़ीसी

उड़ीसी पद्धति में गिने-चुने गीत हैं लेकिन उनका अपना-अपना विशेष स्वरूप है।

उड़ीसी

गीतगोविंद के अनुकरण पर उड़िया भाषा में जो गीत बने वे उड़ीसी कहलाये। ये प्रकीर्णक पद हैं जो अकेले-अकेले गाये जाते हैं। वर्ण्य विषय राधाकृष्ण और उनकी लीला है। कभी-कभी ऋतुवर्णन भी रहता है। इन्हीं के आधार पर आजकल नये पद भी बनाये जाने लगे हैं लेकिन उन्हें परंपरागत गायक नहीं गाते।

छान्द

छंद से इसका संबंध है। छन्द में 'ध्रुव' या 'टेक' नहीं होती और न पहली पंक्ति दोहराई जाती है। उसी प्रकार छान्द नामक गीत में भी ध्रुव पंक्ति नहीं रहती। छन्द के भिन्न-भिन्न पद एक के बाद दूसरे—इस क्रम से गाये जाते हैं, पहली पंक्ति की आवृत्ति नहीं होती और न पूरा पद गाने के बाद फिर से पहली पंक्ति गाई जाती है। इनमें 'घोषा' और 'पद' का भेद नहीं होता।

चम्पू

गद्य और पद्य के मिश्रण से बना चम्पू कहलाता है। इसमें गद्यांश संस्कृत में और पद्यांश उड़िया भाषा में होते हैं। यह अत्यधिक प्रचलित गीत है और चम्पू के अनेक संग्रह हैं। इनमें से कवि चन्द्र के चम्पू बहुत प्रसिद्ध हैं जो 'किशोरी चन्द्रानन्द चम्पू लहरी' में प्रकाशित हुए हैं। इसके ३४ पदों में वर्णमाला के हर अक्षर से गीत हैं। विशेषता यह है कि जिस अक्षर का जो गीत है उसकी सब पंक्तियाँ उसी अक्षर से शुरू होती हैं। इन गीतों में संगीतपारिजात के रागों का प्रयोग हुआ है जो यह प्रमाणित करता है कि पारिजात की रागपरंपरा व शैली उड़ीसा में जीवित रही है।

मालश्री

दुर्गा की स्तुति के विभिन्न गीतों को माला के रूप में गाये जाने वाले एक गीत प्रकार की संज्ञा 'गीतमाला' है। संभवतः यही मालश्री हो गया क्योंकि इसमें भी दुर्गास्तुति के गीत हैं जिनकी संख्या संभवतः १८ है।

सूड

एक विशेष प्रकार का गीत है जिसे एक ही राग में किन्तु किसी ताल से शुरू करके उसी गीत को एक के बाद दूसरे यों अनेक तालों में गाकर वापस मूल ताल और लय में लौट आने पर सूड कहते हैं। इसी को उड़िया भाषा में 'पहपट' भी कहा जाता है। संगीतनारायण का जो 'सूड' लक्षण दिया जा चुका है वह इसी सूड से संबद्ध होगा ऐसा लगता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मंगल

पुरी के जम्बेश्वर मंदिर के ५०० मन वजन के रथ को १५० से भी अधिक लोग कंधों पर उठा कर दौड़ते हैं और सब मिल कर एक ही राग और ताल में जो गीत गाते हैं वह मंगल कहलाता है। इसका सामूहिक अभ्यास १-१ महीने तक किया जाता है।

उपर्युक्त तीनों पद्धतियों में प्रचलित व प्रमुख वर्तमान गीत किसी न किसी अंश में प्रबंधों से संबद्ध कहे जा सकते हैं। उत्तर के ध्रुपद को खंडों की दृष्टि से प्रबंध से, पदरचना की दृष्टि से पदशैली से, गानशैली को वैष्णव मंदिरों की शैली से तथा रत्नाकर की रागालप्ति से जोड़ा जा सकता है। ख़्याल को ध्यान परंपरा, लोक गानशैली और रत्नाकर की रूपकालप्ति से; भजन को मंदिरों की कीर्तन परंपरा से; ठुमरी-दादरा को कैशिकी वृत्ति, प्रासादिकी ध्रुवा तथा 'झुमरि' से तथा सरगम को निरर्थक स्वरार्थ प्रबंध से संबद्ध किया जा सकता है। कर्णाटक की कृति के पल्लवि, अनुपल्लवि, चरणम्—इन तीन अंशों का एला के तीन पल्लव पदों से; तालमालिका का तालार्णव से; रागमालिका का राग वैविध्य की दृष्टि से रागकदंब से; रागतालमालिका का केवल राग और ताल की विविधता के कारण श्रीरंग, श्रीविलास, पंचभंगि, पंचानन, उमातिलक आदि से संबंध स्थापित किया जा सकता है। उड़ीसी, पद्धति के उड़ीसी का गीतगोविंद की पद शैली से; छान्द का छन्दों से; चम्पू का मातृका से; सूड का सूड से और नाम साम्य तथा मंगल पद होने के कारण मंगल का रत्नाकर के मंगल प्रबंध से संबंध देखा जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिशिष्ट

स्तोत्र साहित्य और 'प्रबन्ध' तथा 'पद' का सम्बन्ध

संस्कृत साहित्य में स्तोत्रों की अत्यन्त प्राचीन परंपरा है जिनकी रचना मुख्य रूप से देवता स्तुति के लिये की गई। पाठ के लिये रचे जाने के कारण इनमें ध्वनि का वड़ा महत्त्व रहा। इसीलिये अनुप्रास, अन्तरप्रास और अन्त्यानुप्रास का सौंदर्य इनमें भरपूर है।

हिन्दू स्तोत्र साहित्य ने बौद्ध स्तोत्र साहित्य को प्रभावित किया। बौद्ध स्तोत्रों का काल कम से कम नवीं शताब्दी अवश्य माना जाता है इसलिये हिन्दू स्तोत्र साहित्य का काल इससे भी प्राचीन होगा।[१]

शंकराचार्य के नाम से प्रायः २०० स्तोत्र मिलते हैं। ये सभी आदि शंकराचार्य के हैं या नहीं, इस वारे में संदेह प्रकट किया जाता है। यह संभव है कि उनमें से अधिकांश बाद के शंकराचार्यों के रहे हों। लेकिन कौनसा स्तोत्र किसका है यह तय करने के लिये कोई मापदंड या निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं हैं।[२] फिर भी शिवापराधक्षमापन, द्वादशपञ्जरिका तथा चर्पटपञ्जरिका स्तोत्रों के वारे में ऐसी शंका प्रकट नहीं की गई है कि ये आद्य शंकराचार्य की रचना न हों। ये तीनों उनके नाम से प्रसिद्ध स्तोत्रों में सवसे ज्यादा प्रचलित हैं।

ये सारे स्तोत्र शंकराचार्य के हों या न हों, स्तोत्र लेखकों में शंकराचार्य के नाम की गणना ही इसका प्रमाण है कि उनके स्तोत्र रहे अवश्य होंगे। यह स्तोत्र परम्परा गीतगोविंद की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन है।[३]

स्तोत्रों में जैसी प्रास योजना है वैसी संपूर्ण संस्कृत साहित्य में दुर्लभ है। अव तक यही माना जाता रहा है कि संस्कृत साहित्य में प्रास योजना और पद शैली गीत-

१. History of Sanskrit Literature—Classical Period-Vol. I, S. N Dasgupta and S. K. Dey, Page 378

२. वही, पृ. ३७९-३८०

३. वही, पृ. ३७६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गोविन्द की देन हैं। लेकिन इन स्तोत्रों में प्रास योजना तो दर्शनीय है ही, पद शैली का मूल बीज भी इनमें है। रावण के नाम से प्रचलित शिवताण्डव स्तोत्र में, जो काफ़ी प्राचीन रचना मानी जाती है, अनुप्रास की छटा अत्यन्त सुन्दर है :—

प्रफुल्लनीलपङ्कजप्रपञ्चकालिमप्रभा-
वलम्बिकण्ठकन्दलीरुचिप्रबद्धकन्धरम्।
स्मरच्छिदं पुरच्छिदं भवच्छिदं मखच्छिदं
गजच्छिदान्धकच्छिदं तमन्तकच्छिदं भजे ॥
जयत्वदभ्रविभ्रमभ्रमद्भुजङ्गमश्वस-
द्विनिर्गमत्क्रमस्फुरत्करालभालहव्यवाट्।
धिमिद्धिमिद्धिमिद्ध्वनन्मृदङ्गतुङ्गमङ्गल-
ध्वनिक्रमप्रवर्तितप्रचण्डताण्डवः शिवः ॥[1]

अन्तरप्रास के उदाहरणस्वरूप शंकराचार्य के एक स्तोत्र का अंश भी उद्धृत है :—

अच्युतं केशवं सत्यभामाधवं
माधवं श्रीधरं राधिकाराधितम्।
इन्दिरामन्दिरं चेतसा सुन्दरं
देवकीनन्दनं नन्दजं सन्दधे ॥
विष्णवे जिष्णवे शङ्खिने चक्रिणे
रुक्मिणीरागिणे जानकीजानये।
वल्लवीवल्लभायार्चितायात्मने
कंसविध्वंसिने वंशिने ते नमः ॥[2]

स्तोत्र मुक्तक वर्ग में आते हैं। अनेक स्तोत्र ऐसे हैं जिनमें पदों या प्रबंधों की भाँति 'ध्रुव', 'ध्रुवपद' या 'ध्रुवपंक्ति' तो नहीं है लेकिन हर तीन चरणों के बाद एक चरण आवृत्त होता रहता है। पदशैली के ध्रुवपद का पूर्वरूप इसमें कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ शंकराचार्य के ही दो भिन्न स्तोत्रों के अंश नीचे उद्धृत हैं :—

(१) यह शिवापराधक्षमापनस्तोत्र का अंश है जिसमें हर तीन चरणों के बाद 'क्षन्तव्यो मेऽपराधः शिव शिव शिव भो महादेव शम्भो'—यह चरण बार-बार आता है—

बाल्ये दुःखातिरेको मललुलितवपुः स्तन्यपाने पिपासा
नो शक्तश्चेन्द्रियेभ्यो भवगुणजनिता जन्तवो मां तुदन्ति।
नानारोगादिदुःखाद्रुदनपरवशः शङ्करं न स्मरामि।
क्षन्तव्यो मेऽपराधः शिव शिव शिव भो महादेव शम्भो ॥[3]

---

१. स्तोत्र, पृ. ४६ २. वही, पृ. १६७
३. वही पृ. २४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(२) यह भवान्यष्टक का अंश है जिसमें 'गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि' हर तीन चरणों के बाद आवृत्त होता है :—

भवाब्धावपारे महादुःखभीरुः
पपात प्रकामी प्रलोभी प्रमत्तः ।
कुसंसारपाशप्रबद्धः सदाहम् । गतिस्त्वं ॥
न जानामि दानं न च ध्यानयोगं
न जानामि तन्त्रं न च स्तोत्रमन्त्रम्
न जानामि पूजां न च न्यासयोगम् । गतिस्त्वं ॥[1]

संस्कृत में पदशैली के प्रवर्तक जयदेव माने जाते हैं यद्यपि गीतगोविन्द में अनेक अष्टपदियाँ ऐसी हैं जिनमें दो या अधिक चरणों के बाद आने वाली पूरी पंक्ति या उसका अन्तिम अंश हर अष्टपदी के बाद आवृत्त होता है। इसका पूर्वरूप उपर्युक्त स्तोत्रों में प्राप्त होता है। इस दृष्टि से संस्कृत में पदशैली का मूलरूप स्तोत्रों में है। विल्वमंगलाचार्य के गोविन्ददामोदर स्तोत्र की दूसरी अर्द्धाली का उत्तरार्ध हर श्लोक के बाद आवृत्त होता है और इस प्रकार ध्रुवपंक्ति वन जाता है। इस स्तोत्र के निम्न श्लोक में स्वरतालवद्ध 'प्रवंध' का भी उल्लेख है :—

पर्यङ्किकाभाजमलं कुमारं प्रस्वापयन्त्योऽखिलगोपकन्याः ।
जगुः प्रबन्धं स्वरतालबन्धं गोविन्द दामोदर माधवेति ॥[2]

उपर्युक्त स्तोत्र में ७१ श्लोक हैं जो विभिन्न व्यक्तियों की उक्तियाँ हैं और इस प्रकार हर श्लोक अपने में पूर्ण है लेकिन हरेक के अंत में 'गोविन्द दामोदर माधवेति' आने के कारण मुक्तक होते हुए भी इसमें प्रबंधात्मकता दिखाई देती है।

शंकराचार्य का 'भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते' ध्रुवपद वाला चर्पटपञ्जरिकास्तोत्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें एक श्लोक समाप्त होने के बाद दूसरे श्लोक की पहली अर्द्धाली 'भज गोविन्दं' है जो बाद में हर श्लोक के अंत में 'ध्रुवपद' वन जाती है। जैसे :—

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः ॥१॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते ।
प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे ॥२॥ (ध्रुवपदम्)
अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम् । भज० । ६ ।
पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।
इह संसारे खलु दुस्तारे कृपयापारे पाहि मुरारे । भज० । ८ ।[3]

१. वही, पृ. ७१-७२ २. वही, पृ. २१२
३. वही, पृ. ३०२,३०४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अष्टकों की परंपरा संस्कृत स्तोत्र साहित्य में अत्यन्त प्राचीन समय से चली आई है। शंकराचार्य के ही शिवाष्टक, भवान्यष्टक, गोविन्दाष्टक, अच्युताष्टक, कृष्णाष्टक, श्रीगङ्गाष्टक, यमुनाष्टक, धन्याष्टक आदि स्तोत्ररत्नावली में दिये गये हैं। जयदेव ने जितने प्रकार की अष्टपदियाँ लिखी हैं प्रायः सभी का रूप इन स्तोत्रों में प्राप्त है। जयदेव की रचनाएँ अष्टपदी कहलाती हैं। संभव है कि स्तोत्रों के अष्टकों ने अष्टपदी को प्रभावित किया हो और अष्टक से 'अष्टपदी' संज्ञा का ग्रहण किया गया हो।

'पद' की जितनी विशेषताएँ पूर्वखण्डों में बताई जा चुकी हैं वे सभी इन स्तोत्रों में प्राप्त हैं। अभी तक शंकराचार्य के ग्रंथों का दार्शनिक दृष्टि से ही अध्ययन किया गया है। अगर साहित्यिक दृष्टि से भी इनका अध्ययन किया जाय तो अनेक तथ्य प्रकाश में आने की संभावना है। इसलिये स्तोत्रों का गंभीर अध्ययन अपेक्षित है, यद्यपि उसके बिना भी इतना तो स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है कि अनुप्रास, अन्तरप्रास और अन्त्यानुप्रास का प्रचुर प्रयोग है और पदशैली की प्रायः सभी विशेषताएँ बीज रूप में इनमें हैं।

बृहद्देशी में अनेक प्रबंधों के लक्षण दिये गये हैं। यद्यपि खंडित होने के कारण अंगों या धातुओं का निरूपण तो इसमें प्राप्त नहीं है फिर भी इतना कहा जा सकता है कि बृहद्देशी के जिन प्रबंधों के नाम व लक्षण परवर्ती ग्रंथों में भी हैं, उन प्रबंधों के स्वरूप लक्षणनिरूपण से काफ़ी पहले अवश्य स्थिर हो चुके होंगे। परवर्ती ग्रंथों में ध्रुव धातु कही गई है जिसका पुनः पुनः प्रयोग होता है। पदयुक्त होने के कारण प्रबंध के जिस अंश की बार-बार आवृत्ति की जाती होगी वही अंश ध्रुवपदस्थानीय बन जाता होगा। इससे अनुमान किया जा सकता है कि मतंगोक्त प्रबंधों में भी ध्रुवपंक्ति किसी न किसी रूप में अवश्य रही होगी भले ही उसे ध्रुवपद या ध्रुवपंक्ति संज्ञा दी गई हो या नहीं। इस दृष्टि से यह भी विचारणीय है कि पदशैली का मूल गीतगोविन्द, चर्यापदों अथवा स्तोत्रों में माना जाय या प्रबंधों में ?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

छन्द

परिच्छेद क

छन्द का सामान्य परिचय और गद्य, पद्य, ताल, वाद्य और संगीत से उसका सम्बन्ध

विश्व साहित्य के इतिहास में छन्द की धारणा, विविध छन्दों का विकास और छन्द परंपरा भारत की अनुपम देन है। वेद, इतिहास, पुराण, काव्य ही नहीं विद्याओं और कलाओं के शास्त्र व लक्षण ग्रंथों की रचना भी छन्दोवद्ध रूप में हुई। यह भी विश्व में अद्वितीय उदाहरण है।

प्रस्तुत खण्ड में छन्द का संगीत के साथ संवंध दिखाना मुख्य प्रयोजन है इसलिये उसका सामान्य परिचय करा कर संवंधित विषयों—गद्य, पद्य और ताल के साथ भी उसका संवंध देखना होगा।

वाक् और काल तत्त्व

भारतीय दार्शनिक परंपरा के अनुसार चतुर्विध वाक् (परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी) को सम्पूर्ण विश्व का कारण माना गया है। इनमें से प्रथम तीन सूक्ष्म और अव्यक्त हैं जिनके द्वारा भीतर ज्ञान का प्रस्फुटन होता है और वैखरी स्थूल, व्यक्त है जो लौकिक व्यवहार का आधार है। इसीलिये भरत ने इन शब्दों में वाक् की महत्ता प्रतिपादित की है :—

वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च।
तस्माद्वाचः परं नास्ति वाग्घि सर्वस्य कारणम्॥[1]

समस्त वाग्व्यवहार का मूल नाद है, फिर वह चाहे भाषा के रूप में हो अथवा संगीत के रूप में। संगीत में नाद सूक्ष्म रूप में है भाषा में अपेक्षाकृत स्थूल। सूक्ष्म नाद के

१. ना. शा., १४/३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्रमशः स्थूल होने और उसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् के व्यवहार का क्रम शार्ङ्गदेव ने इस रूप में व्यक्त किया है :—

नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णाद् पदाद्वचः ।
वचसा व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ॥[१]

संगीत की उत्पत्ति केवल नाद से होती है किन्तु भाषा, जो व्यवहार का माध्यम है, और नाद के बीच कई सीढ़ियाँ हैं। नाद से वर्ण, वर्ण से पद, पद से वाक्य और वाक्य से भाषा बनती है। लौकिक व्यवहार भाषा से ही होता है इसलिये सम्पूर्ण जगत् नाद के अधीन है।

शब्दों की भाषा को सीखे बिना अर्थ ग्रहण नहीं हो सकता लेकिन नाद की भाषा के लिये किसी प्रकार की 'ट्रेनिंग' की जरूरत नहीं होती। शब्द बुद्धि की देन है, नाद हृदय का प्रकाशक है। मूलतः एक में कृत्रिम विकास है, दूसरे में सहज अभिव्यक्ति है। एक को ग्रहण करने के लिये बुद्धि को प्रयत्नशील होना पड़ता है, दूसरा सीधे हृदय में प्रवेश करके 'तन्मयीभाव' लाता है, चित्त को रँग' देता है, अपना 'आक्षेप' कर देता है।

भाषा का उपकरण वर्णात्मिका वाक् है और संगीत का नादात्मिका वाक्। जैसे बीज के दो दल होते हैं उसी प्रकार ये दोनों भी वाक् तत्त्व के दो दल हैं। वर्णात्मिका वाणी में सार्थक पद होने के कारण अर्थ या विचार की अभिव्यक्ति की प्रधानता होती है और नादात्मिका वाणी में विशुद्ध नाद होने से भावसामान्य की अनुभूति का प्राधान्य रहता है। दोनों की विभाजक रेखा बड़ी सूक्ष्म है। जरा सा इधर उधर होते ही एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश कर जाने का अंदेशा रहता है। अभिव्यक्ति का मूल माध्यम दोनों में एक—ध्वनि—है इसलिये भाषा और संगीत का बड़ा घनिष्ठ संबंध है।

नाद की अभिव्यक्ति देश और काल में होती है, लेकिन इनमें से कालतत्त्व ध्वनिमात्र के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। ध्वनि की उत्पत्ति, प्रसार और ग्रहण काल में ही होता है। यह कालतत्त्व नियमित, निरन्तर गति का रूप ले लेता है तो लय बन कर संगीत, ताल और छन्द का निर्माण करता है और अनियमित गति में रह कर सामान्य वाक् व्यवहार या गद्य कहलाता है। इस गद्य में जब कभी कुछ लयबद्धता के कारण वृत्त की गंध आने लगती है तो वृत्तगन्धि[२] कहा जाता है जो गद्य का एक भेद है। इसी को आधुनिक हिन्दी काव्य में गद्यछन्द, गद्यकाव्य संज्ञाएँ दी गई हैं।

भरत ने अत्यन्त व्यापक रूप में वाक् तत्त्व को 'शब्द' के रूप में और काल तत्त्व को 'छन्द' के रूप में कहा है :—

छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति न च्छन्दश्शब्दवर्जितम्।[३]

क्योंकि ऐसी कोई ध्वनि नहीं जो कालमान से बाहर हो और न काल का मान ही ध्वनि के बिना होता है। यहाँ भरत ने अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व का संकेत दिया है। यह तो थोड़े

१. सं. र., १/२/२ २. वही, ४/१८४
३. ना. शा., १४/४५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से विचार से समझ में आ सकता है कि ध्वनि काल के बिना संभव ही नहीं लेकिन काल का मान ध्वनि के बिना क्यों नहीं होता? काल निःसीम है जिसका ज्ञान होना असंभव है। ज्ञान के लिये खंड बनाना आवश्यक है। खंड बनाने के लिये क्रिया करनी पड़ती है। क्रिया में ध्वनि अनिवार्यतः होती है भले ही कितनी ही सूक्ष्म हो। चींटी चलती है उसमें भी ध्वनि है लेकिन हमारे कान उसे ग्रहण नहीं कर पाते। चेतना रूप काल का ज्ञान हृदय की धड़कन से ही होता है। जब वह सामान्य होती है तो हम उसे सुन नहीं पाते लेकिन धड़कन बढ़ जाने पर कान लगाने से सुनाई पड़ती है।

इस प्रकार वाक् और काल—ये दो तत्त्व मिलकर नाद की उत्पत्ति करते हैं जो समस्त विश्व के व्यवहार का आधार है।

सत्, चित् और आनन्द की धारणा से संगीत का संबंध

भारतीय दर्शन शास्त्र में संपूर्ण विश्व वाक्, प्राण और मन—इन तीन तत्त्वों से व्याप्त माना गया है। इसी के साथ सत्, चित् और आनन्द की धारणा जुड़ी हुई है। वाक् को सत् के साथ, प्राण को चित् के साथ और मन को आनन्द के साथ संबद्ध किया जाता है। सत् से क्रिया का, चित् से ज्ञान का और आनन्द से इच्छा का संबंध माना जाता है तथा सत् की अपेक्षा चित् की और चित् की अपेक्षा आनन्द की महत्ता अधिक मानी गई है। संगीत के ताल तत्त्व को, जो क्रिया प्रधान है, सत् से; पद तत्त्व को, जो अर्थ बोधक होने के कारण ज्ञानरूप कहा जा सकता है, चित् से और स्वर तत्त्व को अनुभूति प्रधान होने के कारण आनन्द से संबद्ध किया जा सकता है। क्रिया से ज्ञान और ज्ञान से आनन्द की उपलब्धि होती है इसीलिये संगीत में ताल, पद और स्वर—साधना का यह क्रम उत्तम माना गया है। क्रियाप्रधान ताल का प्रयोजन काल का विभाजन है। इसके लिये पद आवश्यक है, भले ही वह सार्थक—निरर्थक कुछ भी हो। इसीलिये स, रि, ग आदि पदों का ग्रहण किया जाता है। इन पदों के द्वारा स्वर की साधना की जाती है। 'स्वरतालपदात्मकम्' लक्षण अभिव्यक्ति के क्रम के अनुसार है, अनुभूति के क्रम में 'तालपदस्वरात्मकम्' लक्षण सार्थक होता है।

काव्य के आधार—भाषा—में स्वर यानी आनंदांश है तो लेकिन गौण है इसीलिये उसके द्वारा आनन्द की वैसी अनुभूति नहीं होती जैसी संगीत के द्वारा होती है। उसमें जब स्वर का यथोचित योग होता है तब वह असीम आनंद देता है। आनन्दांश की प्रधानता के कारण गान्धर्व अर्थात् संगीत को सभी कलाओं में श्रेष्ठ माना गया और सच्चिदानंद रूप, नादब्रह्म, आदि कह कर उसे ब्रह्म के समकक्ष रखा गया।

काव्य और संगीत का संबंध

काव्य और संगीत एक माता से उत्पन्न जुड़वाँ सन्तान के समान हैं क्योंकि दोनों का मूल ध्वनि है। ध्वनि के दो भेदों—वर्णात्मक और नादात्मक—में से काव्य वर्णात्मक ध्वनि से युक्त है और संगीत नादात्मक से युक्त। इसीलिये काव्य में पद की और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीत में स्वर की प्रधानता होती है। काव्य में अर्थ और रस का बोध कराने वाला पद है लेकिन स्वर और ताल भी निरालम्व प्रयुक्त नहीं हो सकते इसलिये संगीत में भी आधार रूप में पद का प्रयोग ग्राह्य माना गया। इसीलिये भरत ने कहा:—

गान्धर्वं यन्मया प्रोक्तं स्वरतालपदात्मकम्।
पदं तस्य भवेद् वस्तु स्वरतालानुभावकम्॥[१]

इस प्रकार पद ऐसा तत्त्व है जो काव्य और संगीत दोनों में सामान्य है।

'पद' का विश्लेषण

ऊपर हम कह आये हैं कि काव्य में पद और संगीत में स्वर की प्रधानता है और अभी हमने कहा कि पद दोनों में सामान्य है। सामान्य दृष्टि से इसमें विसंगति मालूम होती है, वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि 'पद' अत्यन्त व्यापक शब्द है। भरत के कथनानुसार तो अक्षर (स्वर अथवा व्यंजन) से संवद्ध जो कुछ भी है वह सब पद में अन्वित है— यत् स्यादक्षरसम्बद्धं तत्सर्वं पदसंज्ञितम्।[२] भरत का गांधर्व सार्थक-निरर्थक दोनों प्रकार के पद से युक्त है क्योंकि गीतकों में ईशस्तुति के पद भी हैं जो अर्थयुक्त हैं। साथ ही झण्टुं, दिङ्ग्ले आदि निरर्थक अक्षर भी हैं जो गीतकों के अभिन्न अंश हैं। इस प्रकार संगीत के स, रि, ग आदि स्वराक्षर, अकार-आकार आदि अक्षर, झण्टुं आदि या नोम् तोम्, तनन आदि निरर्थक अक्षर और सार्थक शब्द—ये सभी पद के अंतर्गत आ जाते हैं। अभिनय-प्रधान काव्य जो नाट्य कहलाता है उसमें तो पद की महत्ता सर्वोपरि है इसीलिये भरत ने छन्द-अध्याय के आरंभ में वाचिक अभिनय के विशेष प्रयत्न पर बल दिया क्योंकि वाचिक अभिनय का आधार पद ही है जो छन्दोवद्ध रूप में अधिक प्रभावशाली होता है—वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता।[३]

ध्रुवाध्याय में भी भरत ने पद के संबंध में विचार किया है। वहाँ व्यापक अर्थ में सार्थक-निरर्थक अक्षरमात्र का ग्रहण पद में करके मुख्यतः छन्द, ताल और अर्थ से युक्त पद को निबद्ध और इनसे रहित होने पर अनिबद्ध कहा।

पद, छन्द और पद्य

पहले कहा जा चुका है कि स्वरतत्त्व और कालतत्त्व अभिन्न हैं। काव्य में स्वरतत्त्व पद के रूप में व्यक्त होता है और उसे नापने वाला कालतत्त्व छन्द ही है। काव्यगत पद का शरीर ही छंद है क्योंकि छन्दोवद्ध पद ही काव्य कहलाता है:—

नानावृत्त विनिष्पन्ना शब्दस्यैषा तनुः स्मृता॥[४]

पदबन्ध दो प्रकार का कहा गया है:—

पदबन्धाः कर्तव्या निबद्धबन्धास्तु चूर्णा वा॥

---

१. वही, ३२/२७
२. वही, २८
३. वही, १४/२
४. वही, ४४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विभक्त्यन्तं पदं ज्ञेयं निवद्धं चूर्णमेव च ।
तत्र चूर्णपदस्येह संविवोधत लक्षणम् ।।
अनिवद्धपदं छन्दस्तथाचानियताक्षरम् ।
अर्थापेक्ष्यक्षरस्यूतं ज्ञेयं चूर्णपदं वुधैः ।।
निवद्धाक्षरसंयुक्तं यतिच्छेदसमन्वितम् ।
निवद्धं तु पदं ज्ञेयं प्रमाणनियतात्मकम् ।।[1]

अर्थात् पदरचना दो प्रकार की होती है—चूर्ण और निवद्ध । चूर्ण अथवा अनिबद्ध का लक्षण है—जिसमें अक्षरसंख्या नियत न हो और अर्थ की अपेक्षा से पद रखे गये हों यानी पदों का क्रम किसी विशेष प्रकार की गति या लय के अनुसार न हो बल्कि सामान्य गद्यवाक्य जैसा हो । निबद्ध अक्षरों से युक्त, यति और छेद सहित तथा नियत प्रमाणरूप वाला निवद्ध पद है । अनिबद्ध की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा—'इदं तु केवलं पठनकर्मत्वाद् गद्यमित्युच्यते' ।[2] अनिबद्ध अथवा चूर्णपद में केवल पठनीयता होती है इसलिये इसे गद्य कहा जाता है । 'पठनकर्मत्वात्' के द्वारा लयवद्धता का निषेध करना अभिप्रेत है ।

यहाँ छन्द और पद्य का सम्वन्ध भी समझ लेना चाहिये । छन्दों का सर्वप्रथम लक्षण विवेचन नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है । वहाँ छन्द का लक्षण यह है :—

एवं नानार्थसंयुक्तैः पादैर्वर्णविभूषितैः ।
चतुर्भिस्तु भवेद्युक्तं छन्दोवृत्ताभिधानवत् ।।
षड्विंशतिः स्मृतान्येभिः पादैश्छन्दांसि संख्यया ।।[3]

इसके अनुसार नाना अर्थों से युक्त पादों, वर्णों से विभूषित तथा चार पादों से युक्त वृत्त ही छन्द कहा जाता है । इसमें 'पाद' शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वृत्त या छन्द में ही पाद होते हैं, गद्य में नहीं । नियत संख्या के अक्षर अथवा मात्रा अथवा नियत लघु-गुरु क्रम से ही पाद वनता है और ऐसा होते ही लयवद्धता आ जाती है । यही गद्य और पद्य का भेदक लक्षण है और यही छन्द का मुख्य लक्षण है । इसलिये मोटे रूप में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि छन्द और पद्य में विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि पद्य ही छन्द से युक्त होता है, गद्य नहीं । मानसोल्लास में विल्कुल स्पष्ट शब्दों में कहा गया है:—

पदानां नियमो नास्ति छन्दो यत्र न विद्यते ।
समासपदभूयिष्ठं तत्तु गद्यं निगद्यते ।।[4]

संगीतरत्नाकर में भी गद्य और छन्द के विरोध को स्पष्ट रूप में व्यक्त किया गया है—

---

१. वही, ३८-४१
२. वही, अभि., पृ. २३४
३. वही, १४/४२-४३
४. मान., १६/४/२४७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गद्यं निगद्यते छन्दोहीनं पदकदम्वकम् ।[१]

यही कारण है कि भरत ने पदबंध दो प्रकार का कहा जिसमें से एक चूर्ण है जो गद्य ही है; लेकिन छन्दों या वृत्तों में गद्य को नहीं गिनाया। अगर गद्य को छन्द मानना अभिप्रेत होता तो छन्द के भेद-प्रभेदों में उसका नाम तक न लिया जाता? इसी से प्रभावित होकर केदारभट्ट, जयकीर्तिकार, गंगादास, कविराज विश्वनाथ, जगन्नाथप्रसाद भानु आदि छन्दःशास्त्रकारों और रघुनन्दन शास्त्री, रामचन्द्र शुक्ल 'सरस', अवध उपाध्याय, परमानन्द शास्त्री आदि लेखकों ने स्पष्ट अथवा परोक्ष रूप से छन्द और पद्य में अन्तर नहीं माना।[२]

पाश्चात्य छन्दःशास्त्रियों की छन्द की परिभाषा के अनुसार भी छन्द का मुख्य लक्षण लय ही है। अंग्रेजी कविता में छन्दों की रचना आघातयुक्त (accented या stressed) अथवा आघातरहित (unaccented या unstressed) अक्षरों के क्रम के आधार पर होती है जो ह्रस्व (short = ⌣) और दीर्घ (long = –) अक्षरों (syllables) से बनते हैं। मुख्य क्रम दो ही हैं ⌣ – और – ⌣। इनके मेल से मुख्य ४ छंद बनते हैं जो iambic (⌣), trochaic (– ⌣), anapaestic (⌣ ⌣ –) और dactylic (– ⌣ ⌣) कहलाते हैं। अंग्रेजी भाषा का स्वरूप और उच्चारण शैली ऐसी है कि उसमें मात्रा संख्या, अक्षरसंख्या अथवा वर्णक्रम के आधार पर छन्दोरचना संभव नहीं है इसीलिये उपर्युक्त क्रम ही प्रचलित हैं। इनमें निश्चित लय अवश्य है इसलिये उनकी परिभाषाओं में छन्द का लक्षण लय दिया गया है।

वाद्य में छन्द

संगीतरत्नाकर में गद्य प्रबंध में गद्य का लक्षण ही 'छन्दोहीनं पदकदम्वकम्' है। यद्यपि बाद में गद्य को छन्द अवश्य कहा गया लेकिन उसमें जब तक अक्षरसंख्या का और यति का नियम न हो तो वह छन्द की उस श्रेणी में नहीं आ सकता जिसमें पद्य है क्योंकि इस प्रकार के गद्य में कोई नियमित प्रवाह या लय नहीं होती। गद्य और पद्य में लगभग वही अन्तर है जो सामान्य बोलचाल और संगीत में है। बोलचाल में भी अर्थ और भाव की अभिव्यक्ति मुख्यतः स्वर के कारण ही होती है लेकिन उसे संगीत नहीं कह सकते। उन्हीं स्वरों में नियमितता और लयबद्धता आ जाने पर संगीत कहलाता है।

डॉ. मिश्र ने पद्य को स्थूल शरीर और छन्द को उसका प्राण कह कर दोनों में भेद भी स्थापित किया है और शरीर के विना प्राण और प्राण के विना शरीर का उदाहरण देकर अप्रत्यक्ष रूप से अभिन्न भी मान लिया है।[3] सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो दोनों में भेद मानना होगा। इसके दो कारण हैं। प्रथम, पद्य निश्चित रूप से शब्दयुक्त स्थूल रचना है लेकिन छन्द उसमें रहने वाली नियत और विशिष्ट लय है। इसीलिये पद्य को

१. सं. र., ४/१८४ २. विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य—सू. सा. का छं. अ., पृ. ११-१२

३. वही, पृ. १३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पढ़ और सुन सकते हैं लेकिन छन्द का केवल अनुभव ही किया जा सकता है, कर्णप्रत्यय नहीं; जैसे संगीत में स्वर का तो कर्णप्रत्यक्ष होता है लेकिन लय की सूक्ष्म अनुभूति ही होती है। इसीलिये स्वर और पद्य इन्द्रियगोचर हैं लेकिन लय और छन्द की मानस अनुभूति ही होती है। दूसरे, पद्य निश्चित रूप से सार्थक शब्द से युक्त होता है लेकिन छंद के लिए सार्थक शब्द अनिवार्य नहीं है, जबकि अब तक के सभी लेखकों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में सार्थक शब्द को अनिवार्य मान लिया है। इस सम्बन्ध में छन्द की कुछ परिभाषाओं पर दृष्टिपात करना जरूरी है।

"छन्द वह वैखरी ध्वनि है जो प्रत्यक्षीकृत निरन्तर तरंगभंगिमा से आह्लाद के साथ भाव और अर्थ की अभिव्यंजना कर सके।"[1]

इस परिभाषा में वैखरी ध्वनि, प्रत्यक्षीकृत निरंतर तरंगभंगिमा, आह्लादकता, भाव और अर्थ तथा अभिव्यंजना—ये ५ बातें हैं। डॉ० शुक्ल ने छन्द की दूसरी सामान्य परिभाषा यह दी है—"छन्द नियमित मुख-ध्वनि-रचना है।"[2] इसमें भी मुखध्वनि मुख्य है जिसका अर्थ सार्थक पद ही है जैसा कि अगले वाक्यों से स्पष्ट है—

"संसार में अनेक प्रकार की रचनाएँ हैं। उनमें छंद ध्वनि-रचना है। ध्वनि-रचना संगीत में भी होती है, पर वाद्य-यन्त्रों की मोहक-रचना छंद नहीं है। छन्द के लिये आवश्यक है कि उसकी ध्वनि मनुष्य की वाणी से निर्मित हो। मनुष्य की वाणी में जो कलात्मक रचना की जाती है, उसे ही छन्द माना जा सकता है। इतर ध्वनि रचनाएँ छन्द से भिन्न हैं।"[3]

तीसरी परिभाषा इस प्रकार है :—

"छन्द वह लयात्मक, नियमित तथा अर्थपूर्ण वाणी है जिसमें आबद्ध होकर कोई वाक्य या वाक्यांश पद्य का रूप धारण करता है।'[4]

विशेष लक्षण यहाँ भी अर्थपूर्ण वाणी, वाक्य, वाक्यांश यानी सार्थक पद है इसीलिये आगे डॉ० मिश्र ने कहा—"अर्थपूर्ण इसलिये कि संगीत भी लयात्मक व नियमित होता है पर उसमें अर्थवत्ता नहीं होती। यही अर्थवत्ता पद्य (काव्य) और संगीत का भेदक तत्त्व है।"[5]

एक और परिभाषा यों है :—

मत्त वरण यति गति नियम, अन्तहिं समता बन्द।
जा पदरचना में मिलैं, 'भानु' भनत सोइ छन्द ॥[6]

अन्त्यानुप्रास और पदरचना—इन दो बातों से स्पष्ट है कि यहाँ भी सार्थक पद अभिप्रेत है।

---

१. आ. हि. का. में छन्द., पृ. २१
२. वही, पृ. २३
३. वही, पृ. २३-२४
४. सू. सा. का छं. अ., पृ. १३
५. वही
६. छ. प्र., पृ. १

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इनके अतिरिक्त और भी जो परिभाषाएँ दी गई हैं उन सबमें सार्थक पद अनिवार्यत: है। इसका कारण यह है कि छन्द पर अब तक जितना विचार हुआ है वह काव्य के संदर्भ में ही हुआ है। काव्य से स्वतंत्र छंद के अस्तित्व पर विचार करने का संभवत: किसी ने भी प्रयत्न नहीं किया। नाट्यशास्त्र के अध्ययन और संगीत के प्रायोगिक अनुभवों के बाद हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि काव्य अर्थात् सार्थक पद से स्वतंत्र भी छंद का अस्तित्व है। इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का प्रयास यहाँ करेंगे।

भरत ने छंद की चर्चा मुख्य रूप से दो प्रसंगों में की है—(१) सार्थक पद के प्रसंग में चौदहवें, पन्द्रहवें और बत्तीसवें अध्यायों में और (२) प्रधान रूप से सार्थक पद से रहित 'गान्धर्व' अर्थात् गीत-वाद्य के प्रसंग में चौथे, पाँचवें और २८वें से ३१वें अध्यायों में।

ताल संबंधी लय, यति और पाणि के संबंध की चर्चा में भरत ने छंद और लय के संबंध को एक अन्य प्रकार से व्यक्त किया है :—

छन्दोक्षरपदानां हि समत्वं यत्प्रकीर्तितम् ॥
कलाकालान्तरकृत: स लयो नाम संज्ञित:।[1]

इसे स्पष्ट करते हुए अभिनव ने कहा कि एक छंद और अन्य छंद के काल में विश्रान्तिकाल के रूप में समानता का जो आधार माना जाता है वह विश्रान्तिकाल ही अक्षर, पद और वाक्यगत लय है :

यस्माद्विश्रान्तिलक्षणाच्छन्दश्छन्दोन्तरेण समं तुल्यकालं प्रयुक्तमिति व्यपदेशो जायते तेनाक्षरगत: पदगत: सकलवाद्य(वाक्य)गतश्च लय इत्युक्तं भवति।[2]

इसका मूल आशय यह है कि छन्दों में परस्पर समानता या भेद का आधार लक्षण लय ही है अर्थात् छन्द का मूल लक्षण लयबद्धता है। जहाँ लय नहीं वहाँ तो छन्द असंभव है इसीलिये काव्य में पद्य तो छन्दबद्ध है लेकिन गद्य नहीं। गद्य किसी न किसी अंश में लयबद्ध हो तभी छन्द के क्षेत्र में आ सकता है। लयबद्धता छन्द का स्वरूप लक्षण है किन्तु लय ही छन्द नहीं है। एक निरन्तर गति से जब काल के खंड बनाये जायें तो वह लय कहलाती है। लय की ह्रस्व-दीर्घ अथवा लघु-गुरु—इन निश्चित इकाइयों के आधार पर जब लय को विशेष आकार प्रदान किया जाय तब छन्द बनता है। इसलिये लय का प्रयोजन काल-विभाजन मात्र है जब कि छंद का प्रयोजन विभाजित काल को निश्चित स्वरूप प्रदान करना। जैसे ध्वनि का अव्याकृत रूप नाद है और व्याकृत रूप अक्षर, वर्ण, पद आदि हैं उसी प्रकार काल का अव्याकृत रूप लय और व्याकृत रूप छंद कहा जा सकता है।

लेकिन लय और छंद निरर्थक शब्द में भी रहते हैं। नादब्रह्म स्वर और लय के द्वारा ही संगीत में व्यक्त होता है क्योंकि संगीत में मूलतत्त्व दो ही हैं—स्वर और लय। स्वर यानी ध्वनि जिसका मूल रूप स्पन्दन, शक्ति, ऊर्जा है। वह काल में ही व्यक्त होता है इसलिये स्वर की भी अपेक्षा लय अधिक सूक्ष्म है। लय के बिना संगीत की सत्ता तो

१. ना. शा., ३१/३७०-३७१ २. वही, अभि., पृ. २८३-२८४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

असंभव है ही लेकिन उसके विना छन्द भी निष्प्राण है। लय जब निश्चित आकार में प्रकट होती है तो छन्द की उत्पत्ति होती है भले ही सार्थक शब्द हो या न हो। लला लला लला लला, लाल लाल लाल लाल, ललला ललला ललला ललला, लालल लालल लालल लालल आदि में सार्थक शब्द नहीं लेकिन इन्हें छन्द कहने से इन्कार नहीं किया जा सकता। लला लला लला लला को क्या प्रमाणिक अथवा भरत का मत्तचेष्टित नहीं कहेंगे? लाल लाल लाल लाल में समानी का अस्तित्व इन्कार कर सकेंगे? लालल लालल लालल लाला को दोधक नहीं कहेंगे? ललला ललला ललला ललला सुन कर तोटक कहने के लोभ का संवरण कैसे होगा? ललाला ललाला ललाला ललाला बोलते ही भुजंगप्रयात याद नहीं आयेगा? इनमें छन्द का अस्तित्व न मानना तो दुराग्रह मात्र कहा जायगा। उपर्युक्त सभी उदाहरणों में लय है और निश्चित आकार भी है इसीलिये इन्हें छंद कहा जा सकता है।

स्वर की साधना से ब्रह्म की प्राप्ति मानी गई है तो लय से क्यों नहीं? स्वर की अजस्र धारा में जो अलौकिक आनंद है विशुद्ध लय द्वारा प्रवाहित होने वाली स्रोतस्विनी में भी उसी 'ब्रह्मानंद सहोदर' की अनुभूति होती है। साहित्य के द्वारा होने वाली अनुभूति से भी विलक्षण अनुभूति संगीत के द्वारा होती है। यह कहा जा सकता है कि साहित्य में सार्थक शब्द से ही छंद हो सकता है लेकिन संगीत में निरर्थक शब्द से अथवा मात्र ध्वनि से भी छंद हो सकता है और वह आह्लादकारी भी होता है क्योंकि छन्द के लिये जो दो तत्त्व—ध्वनि और लय—आवश्यक हैं संगीत में तो अभिव्यक्ति और अनुभूति के मुख्यत: यही दो माध्यम हैं।

इसलिये श्री शुक्लजी के इस कथन से हम सहमत नहीं हैं—"ऐसा विकृत शब्द जिसका कोई सामाजिक अर्थ नहीं, साहित्यिक सृष्टि में योग नहीं दे सकता। अत: सामाजिक दृष्टि से छन्द में सार्थक भाषा ही वांछित है। यों तो 'अड़ं बड़ं' जैसे निरर्थक शब्दों से छन्द पूरा हो सकता है पर उसे 'लय छन्द' कहना चाहिये, 'साहित्य छन्द' नहीं, अन्यथा संगीत के 'बोलों' या 'परनों' से छन्द की सीमा अलग नहीं की जा सकेगी। व्यवहारात्मक और उपयोगात्मक विचार के कारण 'आह्लाद उत्पन्न करना' छन्द का प्रकृत धर्म माना गया है। 'आह्लाद' मनुष्य की विकासाकांक्षा की पूर्ति में सहायक होता है।"[1] यह सही है कि निरर्थक पद साहित्यिक सृष्टि में योग नहीं दे सकता लेकिन सांगीतिक सृष्टि में उसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और वह 'सामाजिक' को आह्लाद प्रदान करता ही है। इसलिये सामाजिक दृष्टि से वह भी उतना ही महत्त्व रखता है जितना सार्थक पद। यदि ऐसा न हो तो नोम् तोम्, तनन, देरे ना, रीतन आदि तराने के निरर्थक बोलों और मृदंग तबले की परनों में लय और छंद के विचित्र संयोग से श्रोताओं को आनन्द की अनुभूति कैसे हो? निरर्थक अक्षर और कभी-कभी तो केवल तबले पर बजते हुए बोल से प्राप्त होने वाला आनन्द भी विकास की ओर अग्रसर कराता है, यह संगीत के सहृदय श्रोताओं की अनुभूति है। प्रसिद्ध तबलावादक लयभास्कर

१. आ. हि. का. में छन्द., पृ. २३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

श्री लक्ष्मणराव पर्वतकर के सुपुत्र श्री रामकृष्ण पर्वतकर के द्वारा तबले के बोल पढ़ने में और तबले पर विभिन्न लय प्रयोग के समय हमने स्वयं आनन्द की ऐसी अनुभूति की है जिसमें चित्त की वही अवस्था होती थी जो भरत ने रसानुभूति के प्रसंग में कही है :—

शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ।[1]

कुशल वादक मृदंग के बोलों में अनेक छंदों का प्रयोग करते थे। उन बोलों की रचना ऐसी होती थी जिनमें उन छंदों की स्पष्ट अनुभूति होती थी। उदाहरण के लिये यहाँ दो छन्दों के बोल दिये जा रहे हैं जिनमें से पहला भुजंगप्रयात (वर्ण वृत्त) में और दूसरा मात्रिक छन्द गीतांगी या झूलना में है :—

भुजंगप्रयात—इसका लक्षण है ४ यगण अर्थात् ।ऽऽ की ४ बार आवृत्ति। जैसे—

।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ
भु	जं	ग	प्र	या	तं	भु	जं	ग	प्र	या	तम्
क्ड	धान्	क	त्त	धान्	ता	क्ड	धान्	क	त्त	धान्	धा[2]

यह पूरे बोल का एक अंश है।

झूलना—झूलना के एक भेद में ७-७ मात्राओं के ४ खण्ड होते हैं, हर खण्ड में ३-२-२ मात्राओं के अवान्तर खण्ड बनते हैं और १४-१४ मात्राओं पर यति होती है। इसके अनुसार निम्न बोल देखें :—

त ड़ि त त ड़ त ड़ । घे ते टे घे घे ते टे ॥ धा गे न क्ड़ा न् तु ना ।
क ते टं धा ऽ घ ह । रा ऽ त वि ऽ ज्जु घ ॥ टा ऽ न घे घे न न ।
धा ऽ त, घे घे न न । धा ऽ त घे घे न न ॥ धा[3]

श्री शुक्ल जी के पूर्व-उद्धृत उस अंश से भी हम सहमत नहीं हैं जिसके अनुसार वाद्य यन्त्रों की मोहक रचना में छन्द नहीं माना जा सकता। वाद्यों में भी जब निश्चित प्रकार के आघातों का प्रयोग अथवा आवृत्ति होती है तो वहाँ छन्द ज्ञान होता है। नाट्यशास्त्र के ५वें अध्याय में निर्गीतों के रूप में दस वाद्य-प्रधान रचनाएँ दी गई हैं[4] जिनमें भरत ने छन्द बताये हैं। उनमें सार्थक निरर्थक दोनों प्रकार के पद हैं लेकिन वीणा वादन की विधि की प्रमुखता के कारण ये प्रधानतः वाद्य रचनाएँ हैं। इनमें से वक्त्रपाणि में मत्ताक्रीडा छन्द है। शेष में निश्चित लघु गुरु क्रम हैं, यद्यपि उन लक्षणों से युक्त कोई छन्द संस्कृत परम्परा में प्राप्य नहीं हैं। इन सभी में चतुर्मात्रिक गण हैं इसलिये मात्रिक छन्द तो हैं ही नाम भले ही न दिये गये हों।

वाद्य में विशेष छन्द नामों के प्रयोग की या सामान्य रूप से छन्द कहने की परम्परा आज नहीं रह गई है। इसका मूल कारण यह है कि आज के संगीतकार केवल

१. ना. शा., ७/७
२. ताल., भाग ४, पृ. १४
३. वही, भाग ३, पृ. २०
४. विशेष विवरण प्रस्तुत ग्रन्थ के ध्रुवा सम्बन्धी अध्याय में देखें।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीतज्ञ हैं। उनसे छन्द या काव्यशास्त्र के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखी जा सकती जैसे किसी कवि से संगीत के क्रियात्मक ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। लेकिन वे अनजाने में अनेक छन्दों का प्रयोग करते हैं। गान-वादन में छन्द बताने की कोई आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि काव्य की तरह संगीत के श्रवण के समय भी उसके समग्र प्रभाव का ही आनन्द लिया जाता है। समझदार श्रोता अगर छन्द का दर्शन करे तो उसे अधिक आनन्द मिलेगा और यदि उस अंश विशेष में वह किसी छन्द का निर्देश करे तो अनुचित भी नहीं होगा। लेकिन यह तो श्रोता अथवा प्रयोक्ता के छन्दोज्ञान पर निर्भर है।

फिर भी वाद्य रचनाओं में छन्द देखने का मोह हो तो तन्त्री वाद्यों में विशिष्ट छन्दों के निश्चित प्रयोग के निम्न प्रमाण प्रस्तुत हैं :—

[१] भरत, शार्ङ्गदेव, कुंभा आदि ने वीणा वादन की प्रविधि से संबंधित 'धातुएँ' कही हैं जो विशिष्ट आघातों से उत्पन्न ऐसे स्वर हैं जिनसे वीणा का वाद्य यानी वीणा पर जो कुछ बजाया जाता है वह पुष्ट होता है और रक्तिवर्धन भी होता है।[1] इनके लक्षणों में आघातों की संख्या और लघु गुरु क्रम बताया गया है लेकिन छन्दों के नाम नहीं लिये हैं। इतने मात्र से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि ये वर्णवृत्त हैं। फिर भी उन लक्षणों के आधार पर उनके समकक्ष छन्दों का हमने निर्देश किया है:—

धातु का नाम	लघुगुरु क्रम	समकक्ष छन्द का नाम और ग्रंथ संदर्भ
रिभित	।। ऽ (सगण)	रजनी, ना० शा०, ३२।५३
उच्चय	।।।। ऽ	कमलमुखी, ना० शा०, ३२।६९
नीरटित	।।।।।। ऽ	चपला, द्रुतगति, ना० शा० ३२।१०१
ह्राद	।।।।।।।। ऽ	मणिगुणनिकरकृता, ना० शा०, ३२।१८८
क्षेप	।। (भरत)	पुष्प, हेम०, २।८; वलि, जय० २।७
	। ऽ ऽ-यगण (शार्ङ्गदेव)	धृति, ना० शा०, ३२।५१
	ऽ ।।-यगण (कुम्भा)	हृद्य, जय०, २।१४
प्लुत	।।।—नगण (भरत)	दक्, जय०, २।१५
	। ऽ ।—जगण (सिंहभूपाल)	सुवस्तु, जय०, २।१३
अतिपात	।।।। (भरत)	दधि, जय०, २।३१
	। ऽ । ऽ (शार्ङ्गदेव)	जया, ना० शा०, ३२।६१
अतिकीर्ण	।।।।।।।।। (भरत)	छन्दः शास्त्र में इन लक्षणों से युक्त
	। ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । (शार्ङ्गदेव)	कोई छन्द नहीं है

इस संबंध में एक-दो बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भरत ने दो प्रकार की वीणाओं—शारीर और दारवी—में से शारीर यानी कंठ के लिये अलंकार और दारवी यानी

१. ना. शा. अ., २९, अभि., पृ. ६५।
सं. र., ६/१२४-१२५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तंत्रीवाद्यों के लिये धातुएँ कहीं। अभिनवगुप्त ने इसे स्पष्ट करते हुए धातुओं को दारवी वीणा के अलंकार कहा है :—

> अलङ्कारानन्तरं च दारव्या कृता उद्दिष्टालङ्काराः सन्धातव्या इति धातुभ्यश्च दारव्या वा लक्ष्यमाण शोभातिशये अन्ये वैचित्र्योपजीवनेन शारीर्यामप्यलङ्काराः शक्ययोजना इत्यभिप्रायेणाह। धातूंश्चैव निवोधतेति। चकारेणालङ्कारत्वमप्येतेषां समुच्चिनोति।[1]

भरत ने अलंकार और धातु का अलग-अलग निरूपण करके बड़े सूक्ष्म तथ्य का संकेत दिया है। गान में सार्थक पद होने पर छन्द के स्वरूप का संबंध स्वतः पद के साथ जुड़ जाता है इसलिये गेय अंश में यदि कोई छंद हो भी तो उस पर ध्यान नहीं जा सकता इसलिये उसमें वैचित्र्य लाने के लिये अलंकार कहे। वीणा में पद न रहने और केवल ध्वनि होने के कारण छन्दगत लय खंडों का सीधा संबंध उन ध्वनि खंडों से स्थापित हो जाता है इसलिये वीणा में धातुओं में छंद कहे। ऊपर बताई गई ८ धातुओं में से ६ के समानान्तर वृत्त नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध हैं। धातुओं के जो रूप प्रचलित थे उन्हीं का निरूपण किया गया किन्तु इनका प्रयोग उस काल में ही नहीं आज भी होता है। इसके प्रमाण में इन धातुओं के लघुगुरु क्रम के अनुसार वीणा के वर्तमान बोल दिये जा रहे हैं।

धातु	लघुगुरु क्रम	वीणा के वर्तमान बोल
रिभित	। । ऽ	दि र दा
उच्चय	। । । । ऽ	दि र दि र दा
नीरटित	। । । । । । ऽ	दि र दि र दि र दा
ह्लाद	। । । । । । । । ऽ	दि र दि र दि र दि र दा
क्षेप	। ।	दि र
	। ऽ ऽ	र दा दा
	ऽ । ।	दा दि र
प्लुत	। । ।	दि र र
	। ऽ ।	र दा र
अतिपात	। । । ।	दि र दि र
	। ऽ । ऽ	र दा र दा
अतिकीर्ण	। । । । । । । । ।	दि र दि र दि र दि र र
	। ऽ । ऽ । ऽ । ऽ ।	र दा र दा र दा र दा र

[२] ध्रुपद के शब्दों को विभिन्न प्रकार की आवर्तक या चक्रिक लयों में सजा कर गाया जाता था और मृदंग वादक उसके बिल्कुल साथ-साथ परनों में ठीक उसके अनुरूप बोल बना कर बजाते चलते थे। ध्रुपद गायन के इस विशेष प्रकार में गायक और वादक दोनों ही अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग करते थे।

---

१. ना. शा., अ. २६, अभि., पृ. ६४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कुछ वर्ष पूर्व तक इस शैली का प्रयोग बीनकार भी करते थे जो बीनकारों में 'तार परन' कहलाती थी। तारपरन का अर्थ है तार पर बजाई जाने वाली परन। परन अर्थात् मृदंग के बोलों का ही वीणा के तार पर प्रयोग होने के कारण यह क्रिया तारपरन कही जाती थी। ध्रुपद की तरह इसमें भी बीनकार और मृदंगवादक एक साथ अनेक छंदों का प्रयोग करते थे। लेकिन यहाँ क्रम उलट जाता था। यहाँ मृदंग के बोलों के आधार पर वीणा पर मिजराव के बोलों में आवर्तक ढंग से लय बाँधी जाती थी। इसे 'छंद बाँधना' ही कहा जाता था। वीणा के साथ तार परन के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं:—[1]

(१)

१	२	३	४	५	६	७	८
घिन्तिर	किटतक	ता	ऽ	कत	घिन्	नड़ा	ऽन
+				।			

९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१
घेन्	तरा	ऽन	कत्	ता	तिरकिट	धा	ऽता	धा
०				।				+

(२)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
धातिर	किटतक	ता	ऽ	कत	घेन	दिं	ऽ	धाक्	ऽद्धा	ऽधा	ऽता	धा	ऽता
+				।				०				।	

१५	१६	१
धा	ऽता	धा
		+

(३)

१	२	३	४	५	६	७	८
कत्तिर	किटतक	धा	ऽ	किट	घिन्	नरा	ऽकिट
+				।			

९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१
तकधा	तित्ता	धाकिट	तकधा	तित्ता	धाकिट	तकधा	तित्ता	धा
०				।				+

इनमें से प्रथम दो परनों के साथ वीणा में तार परन के बोल बना कर दिखाये जा रहे हैं :—

(१)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
घिंतिर	किटतक	ता	ऽ	कत	घिं	नड़ा	ऽन	घें	तरा	ऽन
दादिर	दिरदिर	दा	ऽ	दिर	दा	रदा	ऽर	दा	रदा	ऽर
+				।				०		

१२	१३	१४	१५	१६	
क	त्ता	तिरकिट	धा	ऽता	धा
दा	रा	दिरदिर	दा	ऽर	दा
	।				+

१. ताल., भाग ४, पृ. ५८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(२)	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
	धातिर	किटतक	ता	ऽ	कत	धेन	दिं	ऽ	धाक्	ऽधा	ऽधा
	दादिर	दिरदिर	दा	ऽ	दिर	दिर	दा	ऽ	दा	दा	दा
	+				।				०		

१२	१३	१४	१५	१६	१
ऽता	धा	ऽता	धा	ऽता	धा
र	दा	र	दा	र	दा
	।				+

[३] श्री सुरेन्द्रमोहन टैगोर की बँगला पुस्तक 'यंत्रक्षेत्रदीपिका' सितार शिक्षा की पुस्तक है जिसमें अब से लगभग सौ वर्ष पूर्व सितारवादकों द्वारा प्रयुक्त शिक्षा पद्धति को सुलझे हुए ढंग से दिखाया गया है। सितार के अभ्यास के लिये उसमें 'छन्दोऽलंकार' यानी छन्दबद्ध अलंकार दिये हैं। इस शब्द की व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है:—

"विविध मात्रानुसारी कुछ स्वरानुगत वर्णों को अथवा विशुद्ध स्वर को यथानियम राग एवं ताल के अनुसार छोटे-छोटे परिच्छेदों में आबद्ध करने को विज्ञानेश्वर, विद्याधर, शिवकिंकर इत्यादि संगीत ग्रंथकार 'छन्दोऽलंकार' कहते हैं।[1] प्रमाणस्वरूप 'संगीतरत्नावली' से उद्धरण दिया है:—

विशिष्टमात्रासंदर्भं छन्दोऽलङ्कारलक्षणम्।
तेषां प्रबन्धो गीतादौ प्रयोगे सुमनोहरः॥

छन्दोऽलंकार सितारशिक्षा का पारिभाषिक शब्द था जिसके अनुसार अलंकार यानी भिन्न-भिन्न स्वर छन्द में यानी भिन्न-भिन्न मात्राओं के अनुसार छोटे-छोटे खंडों के रूप में संबद्ध होकर प्रतिपन्न होते थे।

इस पुस्तक में १ अक्षर से शुरू करके २१ अक्षर तक के छन्दों के स्वरूप, लक्षण और उदाहरण देकर उनमें सितार के अभ्यास की विधि दी है।[2] साथ में कहीं-कहीं तालों के संकेत भी हैं। यह उल्लेखनीय है कि छन्द के साथ सितार के बोल न देकर पद्य दिये हैं। इसका कारण यह है कि यदि पद्य याद हो तो उसके अनुसार सितार के बोल स्वतः बनते चले जाते हैं। लेकिन पद्य याद न हो तो केवल लघु-गुरु क्रम के रूप में इतने छंद याद रखना कठिन होगा। आगे चल कर राग मिश्रविहाग की तीनताल की गत में ४ छंदों के अनुसार उदाहरणस्वरूप अलंकार बना कर दिखाये हैं:—

(क) सती—४ अक्षर, । । । ऽ

। । । ऽ
नि़ नि़ स गा, पममगा, गमपसां, रिंसंसंसां
इसमें र दि र दा बोल लगाये जा सकते हैं।

---

१. यंत्र., पृ. २०४

२. वही, पृ. २१०-३०६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(ख) प्रिया—५ अक्षर, । । ऽ । ऽ

। । ऽ । ऽ

नि़ स गा म पा, निसंनीधपा, गमपामगा, पमगारिसा

इसमें दिर दा र दा बोलों का प्रयोग किया जा सकता है।

(ग) मधुमती—७ अक्षर । । । । । । ऽ

। । । । । । ऽ

नि़ स ग म ग रि सा, नि़प़म़ग़म़प़नी, सगमपनिपनी, पमगरिसनि़सा,

इसमें दिर दिर दिर दा बोल लगाये जायेंगे।

(घ) बृहती—९ अक्षर, । । । । । । ऽ ऽ ऽ

। । । । । । ऽ ऽ ऽ

नि़ स नि़ स ग म पा नी सां, निपनिपममगमगासा,

गमपनिसंरिंसांनीसां, पपनिपममगमगासा।[1]

मूल पुस्तक में लघु-गुरु के चिन्ह सभी स्वरों पर हैं, यहाँ एक-एक अंश पर ही दिये हैं।

इसमें दिर दिर दिर दा रा दा या दिर दिर दिर दा दा दा बोल लगाये जा सकेंगे।

[४] सितारवादक झाले[2] में और बाज के तार पर मिजराव के बोलों में विविध प्रकार के छंदों का प्रयोग करते हैं। इसके कुछ नमूने प्रस्तुत हैं।

मिजराब के बोलों में:—

२ मात्रा के—दा दिर, दिर दा।

३ मात्रा के—दा दिर दा, दिर दिर दा, दिर दा रा।

४ मात्रा के—दा दिर दा रा, दा रा दा दिर, दिर दिर दा रा।

५ मात्रा के—दा दिर दा रा दा, दा –र दा दा रा।

६ मात्रा के—दा दिर दिर दा –र दा।

७ मात्रा के—दा –र दा दा रा दा रा, दिर दा रा दा रा दा रा।

---

१. वही, पृ. २३७-२३९

२. तंत्री वाद्यों की एक विशेष क्रिया है जिसमें दाहिने हाथ की कनिष्ठा उँगली या मिजराव से चिकारी के तार पर द्रुत लय में आघात करके अलग-अलग छन्द बनाये जाते हैं और बायें हाथ से प्रयोज्य राग के स्वर बजाये जाते हैं। चक्रिक गति से झाले की निरन्तर उत्पन्न होने वाली ध्वनि में छन्द का रूप दिखाई देता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

८ मात्रा के—दा रा दा दा रा दा दा रा, दा दिर दिर दिर दा रदा –र दा, दा

रदा –र दा रदा –र दा रा, दा दा –र दा दा रा दा रा।

झाले के बोलों में—नीचे दिये गये बोलों में 'चि' का अर्थ चिकारी के तार पर आघात है। सामान्य रूप से यह आघात बाहर से भीतर की ओर किया जाता है। जहाँ 'चि' के नीचे दारादा आदि बोल लिखे हैं वहाँ 'दा' को चिकारी के तार पर भीतर से बाहर और 'रा' को बाहर से भीतर आघात करके बजाया जाता है। जहाँ ० है वहाँ कोई आघात नहीं होता। बोलों के उदाहरण :—

३ मात्रा के—दा चि चि

४ मात्रा के—दा चि चि चि, दिर दा चि चि, रा दा चि चि, चि. दा दा दा, दा
दा चि चि

६ मात्रा के—दिर दा ० चि चि चि

८ मात्रा के—दा चि चि चि ० चि चि चि, दा चि चि दा चि चि दा चि,
चि दा ० दा चि दा ० दा, चि ० दा ० चि दा ० दा, दा रा दा दा
रा दा दा चि, दिर दिर दा० दा चि चि चि, चि चि चि दा चि चि
दा चि दा रा दा

१० मात्रा के—रा ० ० दिर दा चि दा ० चि दा

१६ मात्रा के—दाचिचि दाचिचि दाचिचि दाचिचि दाचिचिचि, चि०दा० चि०दा०
चि०दा० चिदा०दा

उपर्युक्त बोल सितार में अत्यन्त प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के बोल बना कर उनकी आवृत्ति की जाय तो वे छंद बन जाते हैं।

अन्त में डॉ० मिश्र के इन वाक्यों पर भी विचार कर लें—"जब लय और छंद एक ही वस्तु है तो फिर दो नाम क्यों दिये गये ? जिस प्रकार छंद की आत्मा लय है उसी प्रकार संगीत की भी। संगीत और छंद में पार्थक्य दिखलाने के लिये यहाँ लय को छंद कहा। जिस प्रकार व्यावहारिक सुविधा के लिये एक ही आत्मा, भिन्न-भिन्न विशेषताओं के कारण भिन्न-भिन्न नामों से संसार में पुकारी जाती है, उसी प्रकार एक ही लय प्रकृतिगत विशिष्टताओं के कारण कहीं संगीत और कहीं छंद कही गई है"।[1] वास्तव में न तो लय और छंद एक ही वस्तु है और न लय को ही संगीत और छंद कहा जा सकता है। लय छंद का मूल तत्त्व अवश्य है लेकिन निश्चित लय तथा नियत लम्बाई से युक्त विभिन्न आकार छंद हैं। लय के द्वारा अखंड, अनादि, अनन्त काल का विभाजन मात्र होता है और छंद के

१. सू. सा. का. छ. अ., पृ. १५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्वारा उन कालखंडों को विशेष स्वरूप प्रदान किया जाता है, यह हम देख चुके हैं। साथ ही यह भी समझ लेना आवश्यक है कि छंद और संगीत एक स्तर पर नहीं हैं। काव्य में छंद का जो स्थान है संगीत में वही स्थान ताल का है इसलिये ताल और छंद को एक स्तर पर रखा जा सकता है।

काव्य के श्रवण के समय भी अधिक प्रचलित छंदों को ही श्रोता पहचान पाते हैं लेकिन शेष को न पहचानते हुए भी निश्चित आवृत्ति के कारण छंद का प्रत्यय तो होता ही है। उसी प्रकार कंठ से, वाद्य से अथवा अन्य किसी माध्यम से भी ऐसी ध्वनि उत्पन्न हो जिसमें एक निश्चित क्रम का आवर्तन हो, नियत लम्बाई हो और आनंदप्रद हो तो उसमें भी छंद तो है ही। द्रष्टा ऋषियों ने पशुपक्षियों की ध्वनियों में स्वर की अनुभूति आनंदप्रद होने के कारण ही की होगी। फिर यदि उन ध्वनियों में किसी विशिष्ट लय-खण्ड की अनुभूति हो तो वहाँ भी छंद माना जा सकता है।

गान और छन्द

यहाँ गान से तात्पर्य ऐसे कंठ संगीत से है जिसमें सार्थक पद न हो; जैसे, 'अनिबद्ध' अथवा 'रागालप्ति'। सार्थक पदयुक्त गान के गेयांश में छंद की स्पष्ट अनुभूति कठिन है क्योंकि सार्थक पद होने के कारण छंद का उसके साथ पहले सहचार हो जाता है लेकिन 'सरगम' (स्वरों के वाचक अक्षर स, रि, ग आदि का प्रयोग करके राग विस्तार) करते समय छंद की अनुभूति सहज रूप से अवश्य होती है। सरगम में विभिन्न छंदों के प्रयोग का आज विशेष प्रचार नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि स्वयं शिक्षक छन्द ज्ञान से शून्य होते हैं इसलिये वे उचित मार्गदर्शन भी नहीं कर सकते। लेकिन शुरू से ही विद्यार्थियों को इस प्रकार का अभ्यास कराया जाय तो वे छंदों का प्रयोग बड़ी आसानी से कर सकते हैं। उदाहरण के लिये राग बागेश्री में कुछ छंदों पर आधारित सरगमों के कुछ प्रकार दिये जा रहे हैं। स्वर लिपि में तार स्वरों के ऊपर और मन्द्र स्वरों के नीचे बिन्दु का और विकृत स्वरों के नीचे आड़ी रेखा का प्रयोग किया गया है। ह्रस्व अक्षर १ मात्रा के बराबर और दीर्घ अक्षर २ मात्रा के बराबर हैं। लघु-गुरु के चिन्ह केवल एक-एक अंश पर लगाये हैं। बागेश्री राग में 'ग' और 'नि' कोमल होते हैं। इनके लिये यहाँ चिन्ह नहीं लगाये जा रहे हैं।

(१) प्रमाणिका अथवा मत्तचेष्टित—८ अक्षर, ज र ल ग (।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ)

। ऽ । ऽ । ऽ । ऽ

नि़ सा स गा ग मा म धा, गमा मधा धनी निसां,

रिंसां संनी निधा धमा, निधा धमा मगा गरी, धमा मगा गरी रिस

(२) समानिका—८ अक्षर, र ज ग ल (ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।)

ऽ। ऽ। ऽ। ऽ।

रीस माग धाम नीध, धाम नींध सांनि रीसं, सांनि नीध धाम माग,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धाम माग गारि रीस

(३) सुमालती—८ अक्षर; न र ल ग (।।। ऽ।ऽ ।ऽ)

।।। ऽ।ऽ ।ऽ

ससस मागमा गमा, रिरिरि धामधा मधा, गगग नीधनी धनी,
ममम सांनिसां निसां

(४) चपला—७ अक्षर, न न ग (।।। ।।। ऽ)

।।। ।।। ऽ

रिसस मगग म, धमम निधध नी, निधध संनिनि सां

(५) तोटक—१२ अक्षर, स स स स (।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ)

।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ

निनिरी ससमा गगधा ममधा, रिरिमा गगधा ममनी धधनी,

(६) भुजंगप्रयात—१२ अक्षर, य य य य (।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ)

।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ

सगारी रिमागा गधामा मनीधा, रिमागा गधामा मनीधा
धसांनी, गधामा मनीधा धसांनी निरींसां

इसी प्रकार अनेक छंद बनाये जा सकते हैं। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिये कि छन्द में शब्दों के उच्चारण में बल-अबल और ध्वनि का उतार-चढ़ाव जैसा हो वैसा ही बल-अबल और उतार-चढ़ाव सरगम में भी रहना चाहिये अन्यथा लघुगुरु के खंडों के अनुसार स्वर संचार बना देने मात्र से छन्द की सजीवता और प्राणप्रतिष्ठा सरगम में नहीं हो सकेगी। उदाहरण के लिए तोटक और भुजंगप्रयात छन्दों को ले लें।

तोटक—

किमिदं कपटाश्रयदुर्विषहं
बहुशाठ्यमथोल्बणरूक्षकथम्।
स्वजनप्रियसज्जनभेदकरं
ननु तोटकवृत्तमिदं कुरुषे ॥[1]

उपर्युक्त पद्य में रेखांकित वर्णों का उच्चारण विशेष बल के साथ होता है तथा पहले दो वर्णों के उच्चारण में ध्वनि एकसी ऊँची और तीसरे वर्ण पर काफ़ी ऊँची हो जाती है जो संगीत की दृष्टि से लगभग दो स्वर का अन्तर है। इसलिये ऊपर दी गई सरगम में

१. ना. शा., १५/५५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भी दो-दो स्वरों का अन्तर हर गण में दिया है—नि़नि़री ससमा गगधा ममधा। इसके स्थान पर यदि नि़नि़सा ससगा गगमा ममधा—इस प्रकार टुकड़े बनाये जाते तो तोटक की गति न आती। तोटक वीर छन्द माना गया है। उसकी उद्धतता स्वरों की ऊँची फेंक में अन्वित है।

भुजंगप्रयात—

न ते काचिदन्या समा दृश्यते स्त्री
नृलोके विशिष्टा गुणैरद्वितीयैः।
त्रिलोक्यां गुणाग्र्यान् समाहृत्य सर्वान्
जगत्यप्रमेयासि दृष्टा विधात्रा ॥[1]

इसके रेखांकित वर्णों पर बल है और इनकी ध्वनि तीसरे वर्ण से ऊँची और पहले वर्ण से अधिक ऊँची है। भुजंगप्रयात नाम की सार्थकता यानी सर्प की गति केवल इस छन्द की लय में ही नहीं है बल्कि उसके पाठ में जो ध्वनि का उतार-चढ़ाव है उसमें भी है। साँप चलते समय मूलस्थान से काफ़ी आगे बढ़ कर थोड़ा सा वापस लौटता है बिल्कुल मूलस्थान पर नहीं और फिर वहीं से आगे बढ़ जाता है। यह गति भुजंगप्रयात छन्द के पाठ में प्रयुक्त होने वाली ऊँची-नीची ध्वनियों में स्फुट होती है। इसलिये सरगम में भी यह ध्यान रखा है—सगारी रिमागा गधामा मनीधा।

राग के विस्तार में इस प्रकार विविध छंदों का प्रयोग करने से वैचित्र्य की सृष्टि भी होगी और छन्द का आनन्द भी प्राप्त होगा। छन्द की सूक्ष्म लय मन में ख़ूब घुल गई हो तो सरगम में अपूर्व आनन्द स्वतः उसी प्रकार उत्पन्न होगा जैसे ख़ूब महीन पिसी हुई और बढ़िया घुली हुई मेंहदी में से अत्यन्त सुन्दर लाल रंग उत्पन्न हो जाता है।

यह तो हुई लम्बे छन्दों की बात। गीत वाद्य में सरगमों और आलापादि में स्वरों के जो छोटे-छोटे सन्निवेश बनाये जाते हैं उनमें विभिन्न वर्णगण सहज ही प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिये गण के नामसहित मालकौंस में ऐसे स्वरसन्निवेश दिये जा रहे हैं जो इस राग में बहुत प्रयोग में आते हैं। इस राग में 'ग', 'ध', 'नि' कोमल होते हैं। यहाँ भी चिन्ह नहीं लगाये जा रहे हैं।

यगण (। ऽ ऽ)—सगामा, गमाधा, मधानी, धनीसां

मगण (ऽ ऽ ऽ)—सागामा, गामाधा, माधानी, धानीसां

तगण (ऽ ऽ ।)—गागास, मामाग, धाधाम, नीनीध, सांसांनि

रगण (ऽ । ऽ)—नीसनी, सागसा, गामगा, माधमा, धानिधा

जगण (। ऽ ।)—सगास, गमाग, मधाम, धनीध, निसांनि

1. वही, १५/७३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भगण (ऽ । ।)—गासस, मागग, धामम, नीधध, सांनिनि

नगण (। । ।)—सगग, गमम, मधध, धनिनि, निसंसं

सगण (। । ऽ)—सगमा, गमधा, मधनी, धनिसां

इनके अतिरिक्त त्रिमात्रिक, चतुर्मात्रिक, पञ्चमात्रिक, षाण्मात्रिक और सप्तमात्रिक खंडों के कुछ नमूने भी यमन राग में प्रस्तुत हैं। यमन में 'म' तीव्र होता है।

त्रिमात्रिक—निरिनि, रिगरि, गमग, मधम, धनिध, प

चतुर्मात्रिक—निरिगरि, रिगमग, गमधम, मधनिध, प

पञ्चमात्रिक—निरिगमग, रिगमपम, गमधनिध, प

षाण्मात्रिक—निरिगमगरि, रिगमपमग, गमधनिधप

सप्तमात्रिक—निरिगमपमग, रिगमधनिधप, गमधनिर्रिनिध, प

छन्द, ताल और संगीत का संवंध

ध्वनि का काल तत्त्व काव्य में छंद के रूप में और संगीत में ताल के रूप में व्यक्त होता है। छंद और ताल—दोनों ही मापक हैं, प्रतिष्ठापक हैं। छंद के द्वारा मुख्य रूप से काव्य का और ताल के द्वारा गेय का मान होता है इसलिये ये दोनों आधार प्रदान करते हैं।

छंद वर्ण पर आधारित है लेकिन ताल हाथ अथवा वाद्य की क्रियाओं पर। इसीलिये भरत ने ताल को घनवाद्य से अभिन्न रूप में समझाया :—

वाद्यं तु यद्घनं प्रोक्तं कलापातलयान्वितम्।
कालस्तस्य प्रमाणं हि विज्ञेयं तालयोगतः ॥[१]

काव्य में छन्द के अनुसार क्रियाएँ भी की जायें तो ताल बन जायगा और संगीत में यदि क्रियारहित लघुगुरुक्रम मात्र रहे तो वह छन्द ही कहलायेगा। इसीलिये गेय संबंधी लघुगुरु क्रमों के विशेष सन्निवेशों को भरत ने ध्रुवा (गेय वृत्त) कहा है।

ह्रस्व-दीर्घ और लघु-गुरु—इन शब्द युग्मों का प्रयोग संगीत और साहित्य दोनों में होता है लेकिन सामान्यतः इनके अन्तर को न समझते हुए पर्याय के रूप में ही प्रयोग किया जाता है। वास्तव में ह्रस्व-दीर्घ व्याकरण के पारिभाषिक शब्द हैं और लघु-गुरु तालशास्त्र व छन्दःशास्त्र के। इनमें से पहले जोड़े का संबंध वर्ण के उच्चारण

१. वही, ३१/१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के प्रकार से है और दूसरे का हाथ से की जाने वाली क्रिया के अथवा उच्चरित वर्ण के काल से। एक ह्रस्वाक्षर के उच्चारण प्रकार को ह्रस्व और एक दीर्घाक्षर के उच्चारण प्रकार को दीर्घ कहा जाता है। छन्द का लघु-गुरु सामान्यतया ह्रस्व-दीर्घ मात्रा के समकक्ष होता है लेकिन ताल की लघुगुरु मात्रा इतनी छोटी नहीं होती। प्राचीन ताल शास्त्र में लघु मात्रा का काल ५ ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण-काल के बराबर माना गया और गुरु का इससे दुगना यानी १० ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण काल के बराबर। ताल में इनके अतिरिक्त 'प्लुत' है जो लघु का तीन गुना है। मार्ग ताल-पद्धति में ये तीन ही इकाइयाँ हैं जब कि देशी पद्धति में द्रुत (लघु का आधा) भी है। यह उल्लेखनीय है कि छन्द-शास्त्र में लघु और गुरु—अक्षर की ये दो ही इकाइयाँ मानी गई हैं। केवल भरत इसके अपवाद हैं जिन्होंने अक्षर तीन प्रकार का कहा है :—

ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं चैव त्रिविधं चाक्षरं स्मृतम् ॥[1]

छन्द की अपेक्षा ताल की इकाई बड़ी होने के मूल में एक कारण यह प्रतीत होता है कि गले से स्वर के उच्चारण में जितना प्रयत्न करना पड़ता है उससे कहीं अधिक हाथ की क्रिया में। प्रयत्न की अधिकता के लिये समय भी अधिक लगना स्वाभाविक है इसलिये हाथ की क्रियाओं में लघु गुरु का मान काफ़ी बड़ा रखा गया है।

मात्रा काल का भेद होते हुए भी छन्द और ताल दोनों के निरूपण में एक ही भाषा का इस्तेमाल हुआ है। इससे इन दोनों का अटूट संबंध ही सिद्ध होता है।

भारतीय संगीत में स्वर का विकास राग के रूप में और लय का ताल के रूप में होता है इसलिये राग और ताल को परस्पर संबद्ध तो कहा जा सकता है लेकिन परस्पर आश्रित नहीं। दोनों में समवाय संबंध न होकर संयोग संबंध ही है। यह कहना भी उचित नहीं है कि राग में ताल का आधार आवश्यक है जैसा कि श्री शुक्ल ने पं० भातखंडे कृत हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के आधार पर कहा—"प्रत्येक राग में ताल का आधार आवश्यक है, पर राग के भेदों और तालों का निश्चित संबंध नहीं होता। एक राग में कई प्रकार की तालों का अवलम्ब लिया जा सकता है और एक ही ताल कई रागों में गाई जा सकती है। एक राग मालकौंस में त्रिताल, एकताल, आड़ा चौताल, तिलवाड़ा, झपताल, सूलताल, चौताल और धमार ताल का प्रयोग हो सकता है और त्रिताल को राग भूपाली, हमीर, केदार. विहाग, देस, तिलककामोद, कालिंगड़ा, रागेश्री, सोहनी, वागेश्री, वृन्दावनी सारंग. भीमपलासी, पीलू, जौनपुरी और मालकोस में गाया जाता है।"[2]

राग और ताल के संबंध पर विचार करने का यह दृष्टिकोण सही नहीं है क्योंकि यहाँ राग और उसमें गेय पद को अभिन्न मान कर अथवा गेय पद को ही राग मान कर

१. वही, १४/१०७ २. आ. हि. का. में छन्द., पृ. ४६०-४६१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

राग और ताल में आधार-आधेय संबंध दिखाया गया है। वस्तुतः राग और पद एक स्तर पर नहीं, बिल्कुल भिन्न हैं। पद के बिना भी राग हो सकता है और राग एक ही हो लेकिन उसमें अनेक पद गाये जा सकते हैं। राग विशुद्ध स्वररूप है, पद सार्थक पदरूप है। पद और ताल का भी अभिन्न संबंध नहीं है क्योंकि पद सताल और अताल दोनों प्रकार का हो सकता है और अताल होते हुए भी लयबद्ध हो सकता है। लेकिन अताल और सताल दोनों प्रकार का पद छन्दयुक्त अथवा छन्दरहित दोनों प्रकार का हो सकता है। ताल और छन्द दोनों लय पर आधारित होते हुए भी वे केवल लय नहीं हैं। इन दोनों का आधार लय है लेकिन लय के आधार ताल और छन्द नहीं हैं। इसलिये लयबद्ध या छन्दोबद्ध गीत सताल हो यह अनिवार्य नहीं लेकिन सताल गीत अवश्य ही लयबद्ध होगा, छन्दोबद्ध हो यह फिर भी आवश्यक नहीं है।

इस प्रकार छन्द और ताल से पद का संबंध है न कि राग का। हाँ, पद अवश्य एक ओर छन्द और ताल से संबद्ध है और दूसरी ओर राग से। इस प्रकार गेय रूप राग यानी विशुद्ध संगीत और मेय रूप ताल व छन्द को जोड़ने वाली कड़ी पद है। रस और भाव दृष्टि से राग, पद, छन्द और ताल में बड़ा घनिष्ठ संबंध है क्योंकि इन चारों का उचित संयोग होने पर उसी प्रकार रसानुभूति होती है जैसे पान, सुपारी, चूने और कत्थे के संयोग से लाल रंग स्वतः उत्पन्न हो जाता है।

वाणी मनुष्य की चित्तवृत्ति की अभिव्यञ्जिका है। जैसे चित्तवृत्ति के अनुसार मनुष्य के पैरों की गति में अन्तर आता है उसी प्रकार वाणी की गति भी बदलती जाती है। हर्ष के आवेग में स्वर ऊँचा होने के साथ-साथ उच्चारण की गति भी बढ़ जाती है और चाल भी तेज़ हो जाती है। निराशा के क्षणों में उच्छ्वसित ध्वनि और मन्द्र स्वरों के साथ शब्दों की व पैरों की गति भी धीमी रुक-रुक कर चलने वाली होती है। सामान्य वाग्व्यवहार में भाव के अनुसार ही हमेशा गतिभेद होता है। मनुष्य की चित्त-वृत्ति को कलात्मक और परिमार्जित रूप में व्यक्त करने का एक माध्यम काव्य है और दूसरा संगीत। छन्द काव्यात्मक वाणी को और ताल नादात्मक वाणी को गति प्रदान करते हैं इसलिये चित्तवृत्ति की गति का अनुसरण करके ही वाणी प्रवृत्त होती है। विभिन्न गतियाँ काव्य में छन्द और संगीत में ताल कहलाती हैं। इसलिये शब्द और छन्द योजना तो भाव के अनुरूप होनी ही चाहिये, स्वरताल योजना अर्थात् गेय का चयन भी भाव के अनुकूल हो तो फिर रसानुभूति में कोई संदेह नहीं रह जाता। पद और छन्द रस-भाव के अनुरूप हों और राग-ताल की योजना उचित न हो तो रसानुभूति नहीं हो सकती।

संगीत की शास्त्रीय परंपरा में गीतकों को सर्वप्रथम पदयुक्त गीत कहा जा सकता है। वे सभी चतुर्मात्रिक गणों से युक्त हैं। ध्रुवाएँ सभी वर्ण वृत्तों में बद्ध हैं। देशी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रवंधों में भी अनेक प्रवंध छन्दोबद्ध हैं। निर्गीत भी छन्द युक्त हैं। इससे स्पष्ट है कि छन्द और संगीत का घनिष्ठ संवंध रहा है भले ही पद हो या न हो।

डॉ० मिश्र ने मैथ्यू आर्नल्ड और कॉलरिज आदि के उद्धरण देकर यह सार निकालने का प्रयत्न किया है कि पद्य का ही संगीत से संबंध है गद्य का नहीं—"यहाँ कविता से तात्पर्य भावात्मक तथा रचनात्मक रचना से है, और ऐसी रचना, इन आचार्यों के मत से, गद्य में भी हो सकती है। ऐसी रचना से संगीत का संबंध नहीं। ऐसी रचना में शब्द-संगीत भले ही विद्यमान हो, किन्तु वह गाई नहीं जा सकती। अतः जिस रचना को हम पद्य कहते हैं, जो छन्द में निवद्ध है, उसी में सांगीतिकता रहती है और उसी का संवंध संगीत से हो सकता है।"[१]

इस वारे में हमें यह कहना है कि यद्यपि गद्य में लय न होने से छंदोवद्ध पद्य की तरह उसमें अपनी संगीतात्मकता नहीं है फिर भी सांगीतिकता का केवल पद्य या छन्द से गठवंधन नहीं है। छन्दरहित रचना भी मज़े से गाई जा सकती है। मराठी की 'ओवी' इसका उदाहरण है। ऐसा करने पर मूलतः लय या छन्द न होने पर भी उसमें संगीत की लय का आरोप अथवा ताल का प्रयोग होने से विशेष प्रकार की लय उत्पन्न हो जाती है। प्रवंधों के अनेक प्रकारों में से एक गद्य प्रबंध माना ही गया है। जयशंकर प्रसाद के गद्य नाटक 'कामना' को संगीतवद्ध रूप में अत्यन्त सफलता के साथ प्रस्तुत करा कर स्व० पं० ओम्कारनाथ ठाकुर विश्व के संगीत के इतिहास में एक अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत कर चुके हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि काव्य के अंतर्गत छन्द गद्य में नहीं पद्य में है किन्तु ताल और संगीत के साथ उसका अत्यंत प्रिय संबंध है। दूसरी ओर छन्द और ताल का, छन्द और वाद्य का, वाद्य और ताल का तथा पद से छन्द और ताल का दूध और शकर जैसा अभिन्न और मधुर संवंध है।

छन्द का काव्य से संवंध मान कर यहाँ जो विचार किया वह छन्द के प्रचलित स्वरूप को ध्यान में रख कर ही किया गया है। किन्तु यह एकाधिक वार कहा जा चुका है कि छ़न्द का संगीत से भी घनिष्ठ संवंध है।

छन्द की परिभाषा

छन्द की विविध परिभाषाओं, छन्द और लय का संबंध, गद्य और पद्य में भेद तथा छंद का वाद्य, गान और ताल के साथ संवंध—इन सब पर विचार करने के बाद हमें ऐसा अनुभव हुआ है कि छंद न केवल पद्य में है, न केवल लघु-गुरु क्रम है, न केवल अक्षरसंख्या है और न केवल मात्रासंख्या; वह न सार्थक पद में ही है और न निरर्थक में ही। वह ध्वनिमात्र में व्याप्त रहने वाला अत्यंत सूक्ष्म तत्त्व है जिसका स्थूल प्रत्यक्ष नहीं

१. सू. सा. का. छ. अ., पृ. ५६०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता बल्कि जो अनुभूतिगम्य है। इसलिये हमारी दृष्टि से छंद की यह परिभाषा दी जा सकती है:—

"सार्थक निरर्थक पद अथवा ध्वनिमात्र की रचना के भीतर रहने वाला वह आनन्ददायक तत्त्व छंद है जिसकी अनुभूति उस रचना के नियत वर्णक्रम, अक्षरसंख्या अथवा मात्रासंख्या के अनुसार बनने वाले नियत आकार में अनुस्यूत विशिष्ट लय के आधार पर होती है।"

लेकिन आनन्द की अनुभूति किसी माध्यम के द्वारा ही होती है और उस माध्यम को भी उपचार से आनन्ददायक कहा जाता है। उसी प्रकार साहित्य अथवा संगीत में आनंद की अनुभूति कराने वाले लघुगुरु क्रम, अक्षरसंख्या अथवा मात्रासंख्या रूप स्थूल आकार को भी छन्द कहा जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिच्छेद ख

छन्द की शास्त्रीय शब्दावली का परिचय

छन्द की व्युत्पत्ति

'छन्द' शब्द की व्युत्पत्ति और निर्वचन अनेक प्रकार से किया गया है।[1] लेकिन मुख्य रूप से दो धातुओं से इसकी व्युत्पत्ति मानी जाती है। 'चदि आह्लादने दीप्तौ च' के अनुसार चदि' धातु से छंद शब्द बनता है जिसका अर्थ आह्लादकारी है। यास्क ने 'छदि संवरणे' से इस शब्द की व्युत्पत्ति मानी है जिसका अर्थ है आच्छादन। दोनों व्युत्पत्तियाँ छंद के गुण और स्वरूप को प्रकट करती हैं। छंद के आच्छादक रूप की सार्थकता इसलिये है कि वह भाषा और वाणी की रक्षा करता है। छन्दोबद्ध रूप में कही गई बात अधिक स्थायी होती है और उसमें परिवर्तन की गुंजाइश कम होती है। यही कारण है कि मुख्य रूप से मौखिक परंपरा में रहते हुए भी प्राचीन वाङ्मय का बहुत बड़ा भाग लम्बे समय तक सुरक्षित रह सका यद्यपि अनेक राजनैतिक और सामाजिक क्रान्तियाँ हुईं।

भरत की छन्दोगत विधि

भरत के अनुसार छन्दोगत विधि में निम्न बातें आती हैं :—

सम्पद्विरामपादश्च देवतास्थानमक्षरम्।
वर्णः स्वरा विधिर्वृत्तमिति छन्दोगतो विधिः॥[2]

सम्पद्, विराम, पाद, देवता, स्थान, अक्षर, वर्ण स्वर, विधि और वृत्त—छन्दोगत विधि का इतना विस्तार है। भरत के अनुसार इनका अर्थ समझ लेना आवश्यक है।

सम्पद्

छन्दोविधान में अक्षरसंख्या कम या ज्यादा किये बिना काव्य का सम्पन्न होना सम्पद् है—

---

१. वै. छ., द्वितीय अध्याय

२. ना. शा., १४/१०२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नैवातिरिक्तं हीनं वा यत्र सम्पद्यतेऽक्षरम् ।
विधाने छन्दसामेषा संपदित्यभिसंज्ञिता ॥[1]

अभिनव ने यह स्पष्ट किया कि पादों में अक्षरों की न्यूनाधिकता की जो छूट वेदों में है वह काव्य में नहीं है इसीलिये भरत ने सम्पद् की बात कही है :—

सम्पदिति स्वराट् विराट् भुरिक् निवृत् श्रुतावेव संभवो न काव्य इति तात्पर्यम् ।[2]

तात्पर्य यह है कि जहाँ अक्षरों की न्यूनाधिकता के बिना अर्थात् छंद की नियत अक्षरसंख्या के द्वारा काव्य संपन्न होता है वहाँ सम्पद् का अस्तित्व है। मूल श्लोक व टीका दोनों में सम्पद् का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है लेकिन डॉ० शुक्ल, डॉ० मिश्र आदि संभवतः इसका सही अर्थ समझ नहीं सके हैं। डॉ० शुक्ल ने सम्पद् का अर्थ चरण किया है— "विभिन्न छन्दों के साथ विभिन्न सम्पदों (चरणों) का प्रयोग संस्कृत गीतों में होता था।"[3] डॉ० मिश्र ने इस रूप में समझा है—"पद के गेय होने के कारण उसमें सामान्यतया एक ऐसी छोटी पंक्ति होती है, जिसकी आवृत्ति बार-बार गाने के समय गायक करता है। इसकी आवृत्ति बार-बार होती है, इसीलिये इसे स्थायी कहते हैं। साधारणतः इस छोटी पंक्ति को टेक और उसके बाद वाली पंक्तियों को अन्तरा कहते हैं। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में टेक के लिये छन्दक और अन्य पंक्तियों (अन्तरा) के लिये सम्पद् शब्द का प्रयोग किया है—

गीतानां छन्दकानां च भूयो वक्षाम्यहं विधिम् ।
सर्वेषामेव गीतानामन्ते छन्दक इष्यते ॥
विधाने छन्दसामेषा सम्पदित्यभिसंज्ञिता ।"[4]

सम्पद् का उपर्युक्त अर्थ तो बिलकुल ग़लत ही है लेकिन छन्दक को टेक कहने में क्रम का भी ध्यान नहीं रखा गया है। छन्दक जो भी हो, गीत के अन्त में ही उसका प्रयोग होता है। टेक आरम्भ, मध्य या अन्त में से कहीं भी हो सकती है, जैसा कि डॉ० मिश्र द्वारा दिये गये उद्धरणों से ही स्पष्ट है। स्थायी तो अनिवार्य रूप से गीत का प्रथम खण्ड है जिसमें एक से अधिक पंक्तियाँ भी हो सकती हैं। इस स्थिति में टेक को छन्दक कैसे कहा जा सकता है ? छन्दक नामक गीत के स्वरूप पर विशेष विचार गीतक संबंधी अध्याय में किया जा चुका है, फिर भी इतना स्मरण दिलाना उचित होगा कि छंदक एक गीत प्रकार है, गीत की विभिन्न कड़ियाँ (अन्तरे) नहीं; जिसका प्रयोग सामान्य रूप से आसारित वर्धमान गीतकों के अन्त में होता था, स्वतंत्र रूप से नहीं। वह गीत का अंग नहीं स्वतंत्र रचना है जिसे गीत के अन्त में जोड़ दिया जाता है।

विराम

अर्थ की समाप्ति जिस स्थान पर हो उसे विराम कहते हैं :—

१. वही, १०३
२. वही, अभि., पृ. २४४
३. आ. हि. का. में छन्द, पृ. ३६८-३६९
४. सू. सा. का छ. अ., पृ. ४२०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यत्रार्थस्य समाप्तिः स्यात्स विराम इति स्मृतः ।[१]

सामान्यतः छन्द में २ अथवा ४ चरणों पर विराम होता है। विश्रान्ति के लिये छन्दों में दो शब्दों का प्रयोग होता है—यति और विराम। चरण के बीच की विश्रान्ति को यति और अन्तिम विश्रान्ति को विराम कहा जाता है। भरत ने यति का यह लक्षण दिया है :—

नियतः पदविच्छेदो यतिरित्यभिसंज्ञिता ।[२]

नियत स्थान पर पदविच्छेद की आवश्यकता पाद के बीच में ही होती है। भरत ने यद्यपि छन्दों के लक्षणों में यति नियम नहीं कहा फिर भी उदाहरणों में उसका पालन किया है।

पाठ्य में विराम का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसीलिये 'काकुस्वरव्यञ्जन' नामक १७वें अध्याय में इस पर भरत ने विस्तार से लिखा है। वहाँ ६ अंगों में से एक 'विच्छेद' है। उच्चारण के बीच में होने वाले विराम को विच्छेद कहा गया है—'तत्र विच्छेदो नाम विरामकृतः'।[३] विराम अर्थ का अनुदर्शक है इसलिये उसका अनुष्ठान प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये—'एवं विरामे प्रयत्नोऽनुष्ठेयः। कस्मात्, विरामो ह्यर्थानुदर्शकः'।[४] अर्थ के दर्शक विरामों के अनुसार वाचिकाभिनय करना चाहिये अन्यथा अभिनय में विसंगति आ जाती है।

आंगिक-वाचिक अभिनय में भी विराम का अत्यन्त महत्त्व है। बात शुरू होने पर दृष्टि उठती और समाप्ति के साथ गिरती है; साथ ही साथ हाथ भी उठते और गिरते हैं। इस प्रकार अर्थ-निश्चय अभिनय, अलंकार और विराम के द्वारा होता है।

विराम का प्रयोग अर्थ-समाप्ति, पद-समाप्ति या 'प्राण' के अनुरोध से होता है :—

समाप्तेऽर्थे पदे वापि तथा प्राणवशेन वा ॥[५]
कार्यो विरामः पादान्ते तथा प्राणवशेन वा ॥
शेषमर्थेनैव विरामं सम्प्रयोजयेत् ।[६]

अभिनव ने 'प्राण' के लिये कहा—'प्राणा रसभावाद्याः, तदौचित्येन छेदः'।[७] अर्थात् रसभाव नाट्य में प्राणरूप हैं इसलिये रसभाव के औचित्य के अनुसार होने वाले छेद यानी विराम को प्राणवश कहा जा सकता है।

विराम का प्रयोग छन्द में यों तो निश्चित स्थान पर होता ही है लेकिन पाठ्य के प्रसंग में भरत ने अर्थ के अनुरोध से विराम का प्रयोग कहा है जो एक, दो, तीन या चार अक्षरों के बाद भी हो सकता है :—

---

१. ना शा., १४/१०४
२. वही, ८६
३. वही, १७/१३० गद्यखण्ड
४. वही, पृ. ४००
५. वही, १७/१३८
६. वही, १३६-१४०
७. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अथ विरामः अर्थसमाप्तौ कार्यवशान्न छन्दोवशात् कस्मात्, दृश्यन्ते ह्येकद्वित्रिचतुरक्षरा विरामाः ।[१]

इसीलिये भरत ने स्पष्ट रूप से कहा कि वृत्तों के पादों के अनुसार होने वाले विराम का उत्क्रमण करके भी पाठ्य में अर्थानुसार विराम किया जा सकता है लेकिन पाठ इस प्रकार न किया जाय कि अन्य वृत्त की भ्रान्ति हो जाय।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए विराम का प्रयोग बहुत सावधानी से करना चाहिये। ऐसा न करने से अर्थ बदल जाता है और विपरीत अर्थ या अनर्थ भी हो सकता है। जैसे—'रुक मत जा' में रुक के बाद विराम करने से 'मत जा' अर्थ निकलेगा (रुक, मत जा) और 'मत' के बाद विराम 'जा' अर्थ प्रकट करेगा (रुक मत, जा)।

पाद

छन्द का चौथा भाग पाद कहलाता है :—

पादश्च पद्यतेर्धातोश्चतुर्भागः प्रकीर्तितः ।[२]

इसे अभिनव ने स्पष्ट करते हुए कहा कि चतुर्भाग यानी पाद के अन्त में छेद करना चाहिये क्योंकि पाठ करते समय प्रत्येक पाद को आधार बना कर ही मध्य में विश्रान्ति की जाती है। कभी-कभी ऐसा करते समय पाद समाप्ति अर्थ के अनुरोध से न होकर वृत्त के अनुरोध से ही पूर्ववर्ती अक्षर पर हो जाती है। जैसे—'ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु' में इन्द्रवज्रा वृत्त के नियमानुसार पाद ११ अक्षर पर यानी 'परिणद्धपूगा' पर समाप्त होता है जब कि शब्द 'परिणद्धपूगासु' पर समाप्त होता है। किन्तु पढ़ते समय अनायास ११ अक्षर पर यानी 'परिणद्धपूगा' पर ही पादसमाप्ति हो जाती है। अभिनव के शब्दों में—

चतुर्भाग इति पादान्ते छेदः कर्तव्यः न तु "ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेला" इति। प्रयोगी प्रतिपादमङ्कुरीकृत्य पठन्मध्ये विश्राम्यति। विश्रान्तौ चात्र वृत्तभङ्गोऽर्थभङ्गोऽभिनेयोऽत्र श्राव्यत्वाद्भट्टशङ्करादिभिरुपगतमेतत् "क्वचिदुपान्त्यो वा" इति।[3]

चौथा भाग कहने से यह स्पष्ट है कि भरत को चतुष्पाद रचना ही छन्द के रूप में मान्य है, द्विपदी या षट्पदी नहीं।

सामान्य रूप से भी पाद का अर्थ चौथा भाग ही माना गया है और यह धारणा अवश्य ही वैदिक काल में गाय अथवा घोड़े जैसे चतुष्पाद ('चौपाया'—जानवर) से ही आई होगी। अंग्रेज़ी में छन्द के एक भाग को foot ही कहा जाता है जो पाद या चरण का पर्याय है।

१. वही, १३२ गद्यखण्ड
२. वही, १४/१०४
३. वही, अभि., पृ. २४५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वेद उपनिषदों में अनेक स्थानों पर पाद शब्द का प्रयोग चतुर्थांश के अर्थ में हुआ है। उदाहरण के लिये :—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।[१]
पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि[२]

अर्थात् उस परमेश्वर का एक पाद पूरा विश्व है और तीन पाद देवलोक है।

संस्कृत साहित्य में भी चतुर्थांश के लिये पाद का प्रयोग हुआ है। यथा :—

तस्मिन्नात्म चतुर्भागे प्राङ्नाकमधितस्थुषि।
राघवः शिथिलं तस्थौ भुवि धर्मस्त्रिपादिव ॥[३]

अर्थात् अपने चौथे भाग लक्ष्मण के स्वर्गलोक चले जाने पर राघव उसी प्रकार शिथिल हो गये जैसे त्रेतायुग में तीन पाद वाला धर्म पृथ्वी पर शिथिल हो जाता है।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में 'पाद' का अर्थ चतुर्थ भाग होते हुए भी वैदिक छन्दों में पाद का यही अर्थ नहीं है क्योंकि वहाँ छन्दों में ४ से कम या ज्यादा चरण भी होते हैं और उनके लिये पाद संज्ञा का ही प्रयोग होता है।[४]

दैवत, स्थान

छन्दों के अग्नि आदि देवता कहे गये हैं। स्थान दो प्रकार का है—शरीर के आश्रित और दिशा के आश्रित :—

अग्न्यादि दैवतं प्रोक्तं स्थानं द्विविधमुच्यते।
शरीराश्रयसंभूतं दिगाश्रयमथापि वा ॥[५]

शरीराश्रित का अर्थ यह है कि यदि शरीर के अंगों का वर्णन करना हो तो विशेष छंदों में करना चाहिये। इसी प्रकार दिशाओं के लिये भी छन्द निश्चित हैं, जैसा कि अभिनव ने कात्यायन का उद्धरण देकर स्पष्ट किया है—

शरीराश्रयेत्यादि। यथोक्तं कात्यायनेन—
वीरस्य भुजदण्डानां वर्णने स्रग्धरा भवेत्।
नायिकावर्णने कार्यं वसन्ततिलकादिकम् ॥
शार्दूललीला प्राच्येषु मन्दाक्रान्ता च दक्षिणे ॥ इत्यादि[६]

अर्थात् वीर की बाहुओं के वर्णन में स्रग्धरा, नायिका वर्णन में वसन्ततिलका, प्राच्य दिशाओं में शार्दूललीला और दक्षिण दिशा में मन्द्राक्रान्ता वृत्तों का प्रयोग करना चाहिये।

अक्षर

ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से अक्षर तीन प्रकार का होता है :—

---

१. ऋग्वेद १०/९०/३, पुरुषसूक्त
२. छान्दो., ३/१२/६
३. रघु., १५/९६
४. वै. छ., पृ. १२२-१६६
५. ना. शा., १४/१०५
६. वही, अभि., पृ. २४६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं चैव त्रिविधं चाक्षरं स्मृतम् ।[१]

पहले कहा जा चुका है कि छंद के संदर्भ में अक्षर की त्रिविधता केवल भरत ने ही कही है, परवर्ती शास्त्रकारों ने ह्रस्व और दीर्घ—ये दो ही रूप माने हैं। अभिनव ने इसका यह स्पष्टीकरण दिया है कि कभी-कभी किसी शब्द का पाठ तो 'दीर्घवत्' होता है लेकिन उच्चारण प्लुत ही किया जाता है, ऐसे स्थलों पर ही प्लुत का उपयोग है :—

प्लुतस्याप्यत्र प्रयोगो भवत्येव। यथा—'यतोऽपि मानेन स एष मूढो द्रोणारिरेयातिपद्यत्रिलग्नो (?)' स तु पाठो दीर्घवत्पठितव्यः प्रयोक्त्रा त्रिमात्र एव ।[२]

इस उदाहरण में प्लुत उच्चारण कहाँ अभिप्रेत है यह तो स्पष्ट नहीं है लेकिन तात्पर्य वही है जो ऊपर कहा गया है।

वर्ण

छन्दों के श्वेतादि वर्ण कहे गये हैं लेकिन उनका प्रयोग प्रातिशाख्य आदि में ही कहा गया है संस्कृत वृत्तों में नहीं इसलिये भरत ने इनका उल्लेख नहीं किया, ऐसा अभिनव ने कहा है ।[३]

स्वर

मन्द्र, मध्य और तार—तीन प्रकार के स्वर होते हैं :—

तारश्चैव हि मन्द्रश्च मध्यमश्च त्रिधा स्वरः ॥
ध्रुवाविधाने चैवास्य संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ।[४]

ध्रुवाविधान का आशय ध्रुवा संबंधी ३२वें अध्याय से नहीं है क्योंकि इसमें स्वर के इन प्रकारों का उल्लेख नहीं है। स्वर और स्थानों का उल्लेख २८वें अध्याय में ही हुआ है। भरत ने 'ध्रुवाविधाने' शब्द का प्रयोग अन्यत्र भी गेयाधिकार यानी २८वें से ३१वें अध्यायों के लिये किया है। यथा—

निर्गीतानां सगीतानां वर्धमानस्य चैव हि।
ध्रुवाविधाने वक्ष्यामि लक्षणं कर्म चैव हि ॥[५]

इसकी टीका में अभिनव ने स्पष्ट किया कि 'ध्रुवाविधान' का अर्थ ध्रुवाध्याय नहीं बल्कि ध्रुवाओं यानी निर्गीतों का विधान है जो २९वें और ३१वें अध्यायों में है जहाँ निर्गीतों के लक्षण और क्रियाएँ हैं :—

ध्रुवाणां विधाने कर्तव्ये सतीत्यर्थः। न तु ध्रुवाध्याये। एतदुक्तं भवति—ध्रुवागानस्येहोपरञ्जकज्येष्ठतया तस्य वक्तव्यप्रकृतिभूतं गान्धर्वं ज्ञातुं यत्तल्लक्षणं

---

१. वही, १०७
२. वही, अभि., पृ. २४६
३. वही
४. वही, १०८-१०९
५. वही, ५/५७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वक्ष्यते तत्रैतत्ततातोद्यविधाने तालाध्याये च वक्ष्यामि इति ।[1]

स्वरों के त्रिविध भेद के संबंध में भी भरत को २८वाँ अध्याय ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। यहाँ स्वरों का निरूपण तो विस्तारसहित हुआ है लेकिन 'स्थान' पर इतना कह कर छोड़ दिया है—'स्थानं च त्रिविधं पूर्वोक्तलक्षणं काकुविधाविति ।'[2] काकुविधान में स्थान का अर्थ शरीर के उर, कंठ और शिर—ये तीन स्थान हैं जिनसे क्रमशः नीची, मध्य और ऊँची ध्वनि उत्पन्न होती है। वहाँ मन्द्र, मध्य, तार स्थान नहीं हैं—'त्रीणि स्थानानि—उरः कण्ठः शिरः इति' ।[3] इन स्थानों के प्रयोग के लिये यह विधान है - दूरस्थ के प्रति भाषण में 'शिर से' अर्थात् ऊँची ध्वनि में, वहुत दूर न हो तो 'कण्ठ से' यानी मध्यम ध्वनि में और 'पार्श्वतः' यानी विल्कुल पास हो तो 'उर से' यानी नीची ध्वनि में पाठ करना चाहिये ।[4]

इससे ऐसा समझा जा सकता है कि छन्द और वृत्तों के प्रसंग में भरत को गेय रूप नहीं वल्कि पाठ्य रूप ही अभिप्रेत है क्योंकि पाठ्य के काव्य में स्वर यानी स, रि, ग, आदि रक्तत्व धर्म से युक्त स्वरों का वर्णन न करके उच्चता, नीचता, मध्यमता और आन्दोलन धर्म वाली ध्वनियों के प्रयोग का ही भरत ने विधान किया है :—

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा ।
वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठ्ययोगे तपोधनाः ॥[5]

अभिनव ने इस पर लम्बी टीका की। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार है :—

पाठ्ययोगे काव्ये स्वरस्य रक्तिभागमपहाय वर्णा एव वक्तव्याः। रक्तिभागाभिनिवेशे तु गानयोगो न पाठ्ययोगः स्यादित्यवादिषुः ।[6]

इसलिये स्वर के मन्द्र, मध्य, तार का अर्थ तीन स्थान नहीं वल्कि स्वर का नीचापन, मध्यमता और ऊँचापन समझना चाहिये ।

विधि

विधि दो प्रकार की है—गणों के अनुसार और अर्थ के अनुसार। गणविधि के ३ भेद हैं—(१) दिव्य—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती दिव्य हैं क्योंकि इनमें देवस्तुति की प्रधानता है और वेदों तथा स्तोत्रशास्त्रों में भी इन्हीं छन्दों की प्रधानता है। (२) दिव्येतर—अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति और अतिधृति दिव्येतर अर्थात् मानुष हैं क्योंकि इनका प्रयोग मानुष चरित में होता है। (३) दिव्यमानुष—कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति,

---

१. वही, अ. ५. अभि., पृ. २२६
२. वही, २८/गद्य खण्ड, पृ. २७
३. वही, १७/१०५
४. वही, १०७-१०८
५. वही, १०९
६. वही, अभि. पृ. ३९०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संकृति, अभिकृति और उत्कृति दिव्यमानुष हैं क्योंकि इनमें राम आदि दिव्य मनुष्यों और उत्तम प्रकृति के राजा आदि का वर्णन होता है।[1]

अर्थगत विधि को भरत या अभिनव किसी ने भी स्पष्ट नहीं किया है। लेकिन भरत ने ध्रुवाध्याय में अनेक बार कहा है कि ध्रुवा (वृत्त) का प्रयोग अर्थ, प्रकृति, रस भाव के अनुसार होता है। इसलिये छंद अध्याय में अर्थगत विधि का आशय अर्थानुसारी वृत्त प्रयोग समझना चाहिये।

वृत्त

प्रस्तार विधि से बनने वाले छंद के भेद-प्रभेदों को वृत्त कहा है। पूर्वोक्त वृत्तों के नाम गिनाने के बाद अन्त में भरत ने कहा—

एतेषां छन्दसां भूयः प्रस्तारविधिसंश्रयम्।।
लक्षणं संप्रवक्ष्यामि नष्टमुद्दिष्टमेव च।[2]

कुछ आगे चल कर वृत्त के बारे में कहा :—

वृत्तं तु सर्वच्छन्दस्सु प्रस्तारविधि रेव तु।[3]

यानी प्रस्तारविधि के आश्रित जो भेद बनते हैं वे वृत्त हैं। १५वें अध्याय के अन्त में भरत ने कहा—

वृत्तैरेवं तु विविधैर्नानाछन्दस्समुद्भवैः।।
काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विता।।

अर्थात् नाना छन्दों से उत्पन्न वृत्तों से ३६ लक्षणयुक्त काव्यबन्ध करने चाहियें। यहाँ छन्द और वृत्त का अन्तर बिल्कुल स्पष्ट रूप से कहा गया है।

सामान्य रूप से 'छन्द' और 'वृत्त' शब्दों का प्रयोग पर्याय के रूप में किया जाता है किन्तु भरत ने दोनों में अन्तर किया है जो निम्न श्लोक में अत्यन्त स्पष्ट है :—

छन्दांस्येवं हि यानीह मयोक्तानि द्विजोत्तमाः।
वृत्तानि तेषु नाट्येऽस्मिन्प्रयोज्यानि निबोधत।।[4]

अर्थात् पहले जो (गायत्री, उष्णिक् आदि) छन्द कहे उनमें जिन वृत्तों का प्रयोग नाट्य में होता है वे समझने चाहियें। इससे स्पष्ट है कि १४वें अध्याय में गायत्री आदि छन्द हैं और १५वें अध्याय में दिये गये तनुमध्या आदि वृत्त हैं। १४वें अध्याय के छंद वैदिक छंद परम्परा के ही हैं लेकिन यहाँ ये मुख्यतः छन्द नहीं छन्द जातियाँ हैं क्योंकि अक्षर-संख्या जो वेदों में विभिन्न छन्दों का आधार थी, काव्य में वह छन्दभेदों का आधार बनी और एक निश्चित संख्या के अक्षरों में लघुगुरु वर्णों के विभिन्न क्रमों (गणों) के आधार पर जो भेद प्रभेद बनाये गये हैं उन्हें यहाँ वृत्त कहा गया। जैसे—वेदों में गायत्री छन्द

१. वही, अ. १४, अभि., पृ. २४७
२. वही, १४/११६-११७
३. वही, १२०
४. वही, १५/१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है लेकिन काव्य में वह केवल ६ अक्षरसंख्या का द्योतक है। उसमें विभिन्न प्रस्तारों के आधार पर बने तनुमध्या, मकरशीर्षा, मालिनी, मालती आदि वृत्त हैं।

उपर्युक्त श्लोक की टीका में अभिनवगुप्त ने इस भेद को और अधिक स्पष्ट किया है :—

यदुक्तमक्षराणि निवेशयेदिति तत्र श्रव्यताकृतं प्रविभागमाख्यातुमुपचक्रमे छन्दांस्येवमिति। एषां छन्दसां नाट्यप्रयोगयोग्यानि वृत्तानि निबोधतेति संबन्धः। गुरुलघुनियमेनश्रव्यता वर्तते येषु तानि वृत्तानि श्राव्यार्थत्वात्, अधिकरणे क्तः।[1]

अर्थात् छन्दों में लघुगुरु के विभिन्न सन्निवेशों के आधार पर श्रव्यता भेद उत्पन्न होता है क्योंकि हर संनिवेश के अपने लयखण्ड बनते हैं। 'वृत्त' शब्द वृत्त + क्त से बनता है जिसका अर्थ है जिसमें लघुगुरु नियम के कारण श्रव्यता रहती है। स्पष्ट है कि छन्द और वृत्त में भेद के लिये वर्णगण अभिप्रेत हैं। ध्रुवाध्याय में भी भरत और अभिनव ने यह अन्तर किया है। वहाँ छंद के लिये 'जाति' शब्द का प्रयोग भी है :—

अत्युक्तं च प्रतिष्ठं च मध्यं गायत्रमेव च।
एताः स्थितापकृष्टासु न्यस्ता ज्ञेयास्तु जातयः॥[2]
सर्वासामेव जातीनां त्रिविधं वृत्तमुच्यते।[3]

इस पर अभिनव :—

स्थितासु विलम्बितासु ध्रुवास्वपकृष्टासु छन्दः। जातय इत्युपचारात् सामानाधिकरण्येनोक्ताः। छन्दस्सु जातिशब्दप्रयोगो वक्तव्यः। तदनुयायित्वात् वृत्तेषु जातिशब्दप्रयोगो ध्रुवाभेदेऽप्यनुगमात्। ध्रुवासु जातिव्यवहारो रसभावकृतभेदस्यान्वयात्।[4]

अन्त में यह भी स्पष्ट किया है कि छन्दों के लिये तो जाति शब्द का प्रयोग हुआ ही है ध्रुवा के लिये भी रसभावकृत भेद के अन्वय के कारण जाति शब्द प्रयुक्त हुआ है।

हमने प्रस्तुत अध्याय में और ध्रुवाध्याय में भी भरत और अभिनव के अंशों को समझाते समय छंद और वृत्त के भेद को बनाये रखने का प्रयत्न किया है; अन्यत्र संस्कृत और हिन्दी परंपरा के अनुसार पर्याय के रूप में ही प्रयोग किया है।

भरतोत्तरकालीन छन्द संबंधी पारिभाषिक शब्द

संस्कृत वृत्त संबंधी शब्द

संस्कृत और हिन्दी छंद परंपरा के कुछ पारिभाषिक शब्द और उनके अर्थ संक्षेप में प्रस्तुत हैं।

---

१. वही, अभि. पृ. २५२
२. वही, ३२/३५
३. वही, ३२
४. वही, अभि., पृ. ३०४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अक्षर, वर्ण

वैदिक साहित्य में 'अक्षर' का प्रयोग अ, इ, उ आदि स्वरों और स्वरयुक्त व्यञ्जनों क, ख, ग आदि के लिये हुआ है, केवल व्यञ्जनों क्, ख्, ग् आदि के लिये नहीं। समस्त वैदिक छंद अक्षर छंद कहलाते हैं क्योंकि उनमें अक्षर गणना केवल स्वरों की ही की जाती है, मात्र व्यंजन की नहीं।[1]

इसलिये अक्षर वहाँ स्वर या स्वरव्यञ्जन के संयुक्त रूप का वाचक है। दूसरी ओर प्राचीन वैयाकरण संयुक्त रूप के लिये 'वर्ण' का प्रयोग भी करते हैं :—

वर्णवाहुः पूर्वसूत्रे। अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा क्रियते—महाभाष्य १।१ झभञ् सूत्रे।[2]

भरत ने अच् (स्वर) और झल् (व्यंजन) के समुदाय के लिये 'वर्ण' का प्रयोग किया है :—

व्यञ्जनानि स्वरा वर्णाः.................।[3]
स्वराः अचः वर्णाः अज्झल् समुदायाः।[4]

इस प्रकार संयुक्त स्थिति में अक्षर और वर्ण दोनों का प्रयोग मान्य रहा है। लेकिन वाद में केवल व्यंजन के लिये वर्ण का प्रयोग न होने से यह समझा जा सकता है कि यदि 'अक्षरवर्ण' कहा जाय तो अक्षर केवल व्यंजन के लिये और 'वर्ण' स्वर व्यंजन के संयुक्त रूप के लिये प्रयुक्त हुआ है। फिर भी इस बारे में कोई कड़ा नियम नहीं है।

मात्रा

मात्रा अर्थात् वर्ण के उच्चारण का काल। एक ह्रस्व वर्ण का उच्चारण काल ह्रस्व मात्रा से और एक दीर्घ वर्ण का काल दीर्घ मात्रा से पहचाना जाता है। छन्द का मात्राकाल ताल के मात्राकाल से भिन्न होता है। छन्द की ह्रस्व-दीर्घ मात्रा के समानान्तर ताल में लघु-गुरु मात्राएँ हैं। ह्रस्व-दीर्घ का संबंध वर्ण के उच्चारण से और लघु-गुरु का हाथ की क्रियाओं से है।

पाद

सामान्य रूप से छन्द का चौथा भाग। लेकिन प्राकृत, अपभ्रंश, डिंगल और हिन्दी छन्दों में द्विपदी, षट्पदी जैसे २ और ६ पाद वाले छन्द भी प्रयोग में आये। इसलिये पाद का अर्थ हुआ छंद का दूसरा, चौथा अथवा छठा भाग जिसके अन्त में विश्रान्ति हो।

विराम

छन्द का वह स्थान जहाँ अर्थ की समाप्ति हो। यह साधारणतः पाद या चरण के अंत में होता है।

---

१. वै. छ., पृ. ८२-८३
२. वही
३. ना. शा., २८/१६
४. वही, अभि., पृ. ९

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यति

पाद या चरण के बीच में होने वाली अल्पविश्रान्ति जो मात्रा अथवा वर्ण के नियत संख्यासमूह पर होती है। यति का काल क्या हो—इस बारे में छन्दःशास्त्र में कोई विचार नहीं किया गया लेकिन श्री० सुरेन्द्र मोहन टैगोर ने कहा 'छन्द की यति ही संगीत का अणुद्रुत है'।[1] इसका अर्थ यह है कि संगीत (ताल) के अणुद्रुत मान से छन्द में यति करनी चाहिये।

वर्णगण

३-३ अक्षरों (वर्णों) के ऐसे विभिन्न समूह वर्णगण हैं जिनमें लघुगुरु क्रम निश्चित हैं। भरत ने इन्हें 'अंश' या 'त्रिक' कहा और छन्दों के वृत्त निरूपण में इनका प्रयोग बताया है। अक्षरों की संख्या तीन निश्चित कर लेने पर लघु और गुरु के आधार पर ८ ही प्रस्तार बन सकते हैं इसलिये आठ ही गण बने और संकेत के लिये य, म, त, र, ज, भ, न, स—ये अक्षर चुन लिये गये। तीन संख्या बड़ा महत्त्व रखती है क्योंकि यह छोटी संख्याओं में सबसे बड़ी और बड़ी संख्याओं में सबसे छोटी होने से छोटी और बड़ी संख्याओं के बीच की कड़ी है। 'बहुत्व' की सूचक यही सबसे पहली संख्या है। आठ गण ये हैं—यगण, मगण, तगण, रगण, जगण, भगण, नगण और सगण। इनमें नगण सर्वलघु होने से ३ मात्रा का और मगण सर्वगुरु होने से ६ मात्रा का है। शेष ६ गणों में से यगण, तगण और रगण ५-५ मात्राओं के तथा जगण, भगण और सगण ४-४ मात्राओं के हैं :—

यगण	। ऽ ऽ
मगण	ऽ ऽ ऽ
तगण	ऽ ऽ ।
रगण	ऽ । ऽ
जगण	। ऽ ।
भगण	ऽ । ।
नगण	। । ।
सगण	। । ऽ

निम्नलिखित सूत्र में हर संकेताक्षर के साथ अगले दो अक्षर मिला कर उस अक्षर के द्वारा सूचित गण का लघुगुरु क्रम भी मालूम हो जाता है :—

। ऽ ऽ ऽ । ऽ । । । ऽ
यं मा ता रा ज भा न स ल गम्

जैसे—जगण का लघुगुरु क्रम जानने के लिये 'ज' के साथ अगले दो अक्षर 'भा' और 'न' जोड़ कर जगण का स्वरूप 'जभान' अर्थात् । ऽ । बनता है। इसी प्रकार अन्य

---

१. मंत., पृ० २०६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गणों के स्वरूप भी मालूम किये जा सकते हैं। अन्तिम दो वर्ण 'लगम्' लघु गुरु के संकेताक्षर हैं जो पादपूर्ति अथवा गणपूर्ति के लिये जोड़े गये हैं।

मात्रिक गण

२ से ६ मात्राओं के समूह मात्रिक गण कहलाते हैं। इनमें मात्रासंख्या निश्चित होती है, अक्षर कम-ज्यादा किये जा सकते हैं। प्रत्येक मात्रिक गण में लघुगुरु के क्रम परिवर्तन से अनेक भेद बन सकते हैं। ५ मात्रिक गणों के प्राचीन नाम और मात्रासंख्या तथा अन्य अधिक प्रचलित नाम व उनके संकेताक्षर इस प्रकार हैं:—

प्राचीन नाम	मात्रासंख्या	प्रचलित नाम	संकेताक्षर
टगण	६	छगण	छ
ठगण	५	पगण	प
डगण	४	चगण	च
ढगण	३	तगण	त
णगण	२	दगण	द

इनमें बनने वाले विभिन्न प्रस्तारों के उदाहरणस्वरूप चतुर्मात्रिक गण के प्रस्तार नीचे दिये जा रहे हैं:—

।।।।, S।।, ।S।, ।।S, SS

मात्रावृत्त

वे वृत्त जो मात्रासंख्या के आधार पर बनते हैं मात्रावृत्त कहलाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—१. जिनमें चरण की कुल मात्रा संख्या निश्चित होती हैं; जैसे—चौपाई जिसके हर चरण में १६-१६ मात्राएँ होती हैं और २, जिनमें कुल मात्रा संख्या नियत होने के साथ चरण में यतिनियम भी होता है; जैसे—हरिगीतिका जिसमें २८ मात्रा के चरण में ७-७ मात्राओं पर यति होती है।

वर्णवृत्त

ऐसे वृत्त जो वर्णगणों के आधार पर बने हों वर्णवृत्त कहे जाते हैं। वृत्तों के चार भेद माने गये हैं—सम, अर्धसम, विषम और अर्धविषम। सम वृत्त वह है जिसके चारों चरण समान हों। अर्धसम में विषम-विषम और सम-सम यानी पहले-तीसरे और दूसरे-चौथे चरण समान होते हैं। विषम के चारों चरण असमान होते हैं। अर्धविषम के दो चरण सम और दो विषम होते हैं। भरत ने इन चारों का उल्लेख किया है। बाद में अर्धविषम का विषम में ही अन्तर्भाव कर लिया गया।

छन्द जाति

एक नियत अक्षर संख्या वाले छंद जिनमें से अनेक भेद प्रभेद बन सकें छन्दजाति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहलाते हैं। क्रमशः हर पाद में १ अक्षर से शुरू करके २६ अक्षर तक की २६ छन्द जातियाँ होती हैं जिनके नाम और अक्षर संख्या इस प्रकार हैं:—

नाम	अक्षरसंख्या	नाम	अक्षरसंख्या
उक्ता	१	शक्वरी	१४
अत्युक्ता	२	अतिशक्वरी	१५
मध्या	३	अष्टि	१६
प्रतिष्ठा	४	अत्यष्टि	१७
सुप्रतिष्ठा	५	धृति	१८
गायत्री	६	अतिधृति	१९
उष्णिक्	७	कृति	२०
अनुष्टुप्	८	प्रकृति	२१
बृहती	९	आकृति	२२
पंक्ति	१०	विकृति	२३
त्रिष्टुप्	११	संकृति	२४
जगती	१२	अभिकृति	२५
अतिजगती	१३	उत्कृति	२६

दण्डक

२६ से अधिक अक्षर संख्या वाले वृत्तों को भरत ने मालावृत्त नाम दिया और परवर्ती शास्त्रकारों ने दण्डक। इसी प्रकार ३२ मात्रा से अधिक पाद वाले मात्रावृत्त भी दण्डक कहे जाते हैं।

हिन्दी छन्द संबंधी विशेष शब्द

चरण

चरण सामान्य रूप से 'पाद' का पर्याय है यानी पाद के लिये चरण का प्रयोग किया जा सकता है लेकिन चरण के लिये पाद का नहीं क्योंकि पाद छन्द का चौथा भाग होता है जब कि चरण दूसरा, चौथा, छठा भी हो सकता है।

विश्रान्ति

विराम का पर्याय है।

तुक

पाद के बीच के खण्डों में परस्पर अथवा पादों के अंत में परस्पर होने वाली प्रास योजना तुक कहलाती है। पाद की मध्यवर्ती तुकयोजना यति के अनुसार अथवा यति का बोध कराने के लिये होती है जो अपभ्रंश से हिन्दी में आई। यति का सम्बन्ध पाद की आभ्यन्तर विश्रान्ति से है जो अर्थ के अनुसार अथवा ताल के आवर्तन के अनुसार होती है। चार पादों की एक-एक इकाई में जो अवान्तर खंड बनते हैं वह यति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है।[1] यति में तुक योजना के कारण तुक भी अर्थानुसारी खंडों की बोधिका होती है।

ध्रुव अथवा टेक

पद शैली में प्रयुक्त ऐसी छोटी पंक्ति जिसका बार-बार प्रयोग होने से 'ध्रुवत्व' होता है 'ध्रुव' कहलाती है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी के पदों में ध्रुव पंक्ति पद के आरम्भ, मध्य या अंत में होती है।

हिन्दी के पदों की पहली पंक्ति जो अन्य पंक्तियों से छोटी होती है 'टेक' कहलाती है। टेक का अर्थ है सहारा। इस पंक्ति की बार-बार आवृत्ति होने से गायक को सहारा रहता है संभवतः इसीलिये यह टेक कहलाती है।

पद

छन्दोवद्ध रचना का एक विशेष प्रकार है जिसमें निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं:—

(१) गेय होता है।

(२) आरम्भ में ध्रुव अथवा टेक जिसकी आवृत्ति होती है।

(३) पूरे पद में एकसी तुक।

(४) कभी-कभी अवान्तर खंडों में भी तुक योजना।

(५) अन्तिम कड़ी में कवि की छाप।

(६) विशेष छन्द योजना जिसमें ध्रुव पंक्ति छोटी होती है। सामान्यतः अन्य कड़ियों के दूसरे चौथे चरण जितनी लंबी होती है। शेष कड़ियों में १६-१२ या १६-१४ मात्राओं के चरण होते हैं।

छन्द संबंधी कुछ फुटकर नियम

अक्षरसंख्या नियम—वैदिक छन्दों का आधार अक्षर संख्या होते हुए भी किसी चरण में १-२ अक्षरों की कमी या अधिकता होने से छन्द में अंतर नहीं आता था। लेकिन संस्कृत में वर्णवृत्तों की प्रधानता होने के कारण वर्णों का क्रम मुख्य आधार था यद्यपि अक्षरसंख्या भी निश्चित होती थी। लेकिन इनमें अक्षर की कमी-बेशी को छन्द-भंग दोष माना गया। यही स्थिति प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी छन्दों में भी थी।

लघु गुरु नियम—अन्तिम वर्ण को छोड़ कर ह्रस्व अक्षर को दीर्घ बनाने की छूट संस्कृत वृत्तों में नहीं थी। दीर्घ को ह्रस्व तो किसी हालत में नहीं बनाया जा सकता था। कहीं-कहीं छन्दोभंग दोष से बचने के लिये दीर्घ को लघु करने का संकेत मिलता है—

---

१. यति के साथ संगीत की 'विदारी' तुलनीय है—'पदवर्णसमाप्तिस्तु विदारीत्यभिसंज्ञिता' (ना. शा., ३२/१७)। गीत का खण्ड विदारी है जो पद और स्थायी आदि वर्णों के अनुसार होता है—'अवान्तर-वाक्यस्य समाप्तौ स्थाय्यादिवर्णस्याप्यपन्यासेन न्यासेन वा समाप्तिर्विदारी। विदारणं विदारी। ·········गीतखण्डो विदारी'। (वही, अभि.)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभंगं न कारयेत्'। फिर भी ऐसा करना कवि का 'दिवालिया-पन' ही माना जाता था। लेकिन प्राकृत से ही गुरु का लघु उच्चारण अथवा एक लघु अक्षर के काल में २-३ अक्षरों का उच्चारण होने लगा था[1] जो प्राचीन हिन्दी के घनाक्षरी और सवैये में पूरी तरह मान्य हो गया। इतना ही नहीं कि लघु को दीर्घ और दीर्घ को लघु पढ़ना छन्द दृष्टि से दोष नहीं रहा बल्कि सवैये में तो वह शोभाजनक होकर नियम बन गया। घनाक्षरी में क़दम और आगे बढ़ा तथा सारे गुरु लघु ही बना दिये गये।

यति नियम—वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी—सभी में पादान्त यति अर्थात् विराम के नियम का पालन हुआ है। पाद के मध्य में आने वाली यति के बारे में अवश्य दो मत हैं।[2] पिंगल, जयदेव, भरत आदि आचार्यों ने मध्य यति मानी है लेकिन मांडव्य, काश्यप, सैतव आदि नहीं मानते। भरत ने वृत्त लक्षणों में यति का निर्देश न करते हुए भी अधिकांश वृत्तों के उदाहरणों में इसका पालन किया है। यति का प्रयोग छन्द में सौंदर्य, माधुर्य और लय की विविधता लाने के लिये किया गया लगता है। साथ ही कंठ को विश्रान्ति देना भी प्रयोजन है। अपभ्रंश और हिन्दी छन्दों में मध्य यति में तुक की योजना के द्वारा एक हद तक अर्थ की समाप्ति का बोध कराया गया और सौंदर्य तथा माधुर्य की सृष्टि की गई। संस्कृत वृत्तों में मध्य यति का प्रयोग लयवैविध्य लाने के लिये किया गया। जैसा बिना मध्य यति वाले शशिकला वृत्त में मध्य यति की योजना करके स्रक् और मणिगुणनिकर वृत्त बनाये गये।[3] अपभ्रंश मात्रिक छंदों में यति ताल के आवर्तन की समाप्ति की सूचक है।[4]

तुक योजना—पादों के अंत या मध्य में एक स्वर अथवा अधिक स्वर-व्यंजनों का साम्य होना 'तुक' है। प्राचीन संस्कृत काव्य तुक रहित है। संस्कृत से इतर काव्य में तुक योजना सर्वप्रथम अपभ्रंश छंदों में दिखाई देती है जिसे विक्रमोर्वशीय में देखा जा सकता है। वास्तव में स्तोत्र साहित्य का प्रास तुक योजना ही है जो अपभ्रंश से भी पूर्व है। किन्तु डॉ० व्यास के अनुसार संस्कृत में सर्वप्रथम जयदेव के गीतगोविंद में तुक योजना है और वह अपभ्रंश का प्रभाव है।[5] संस्कृत में अन्त्यानुप्रास के रूप में वह अलंकार था लेकिन अपभ्रंश से छनता हुआ हिन्दी काव्य में वह लक्षण बन गया। अति आधुनिक प्रयोगों को छोड़ दें तो हिन्दी काव्य में सर्वत्र प्रास का सहज और स्वाभाविक प्रयोग है।

डिंगल के छंदों में भी प्रायः तुकयोजना है, विशेष रूप से 'देशी' अथवा 'गेय' पदों में।[6] लेकिन यह उल्लेख करना आवश्यक है कि देशी प्रबंधों में एला नामक प्रबंध, जिसका सर्वोपरि स्थान था, के जिन भेदों में संस्कृत पद होते थे उनके किन पादों में प्रासयोजना अनिवार्य है यह भी कहा गया है। इस प्रबंध का निरूपण बृहद्देशी में मिलता है जो प्रायः

---

१. प्रा. पैं., भाग २, पृ. ३०४-३०५
२. वही, पृ. ३०७
३. वही, पृ. ३०८
४. वही, पृ. ३१३-३१४
५. वही, पृ. ३१८
६. बृ. पिं., पृ. ५७४-५७६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

४ थी सदी ई० की रचना मानी जाती है। इसलिये प्रास का योजनाबद्ध प्रयोग करने वाले सर्वप्रथम कवि जयदेव नहीं हैं; संगीत में इसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।

तुक या अन्त्यानुप्रास की प्रवृत्ति नैसर्गिक है जो गीतों अथवा लोकगीतों से साहित्यिक छंदों में आई है। लोकगीतों की रचना मूलतः जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हुई, बाद में वह मनोरंजन का साधन बना इसलिये लोकगीतों में पद और संगीत एक दूसरे से अभिन्न हैं। भावावेग में सहज रूप से उत्पन्न रचना में सांगीतिकता के कारण स्वतः तुक मिलती है, उसके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। तुक से पद में विशिष्ट प्रकार की लय उत्पन्न होती है जिससे उसमें सांगीतिकता आ जाती है। यही कारण है कि कविता के भाव या मर्म को न समझने पर भी तुकान्त या प्रासयुक्त रचना का श्रव्य आनन्द सभी लेते हैं। प्राकृत के मात्रिक छंदों में तुकयोजना प्रायः नहीं है इसलिए उनमें वैसी संगीतात्मकता नहीं है जो अपभ्रंश व हिन्दी छंदों में पर्याप्त है। इनमें मध्य प्रास होने के कारण विशेष सौंदर्य आ जाता है।

तुकयोजना की चरम सीमा भक्तिकालीन पद साहित्य और प्राचीन साहित्यिक ध्रुपदों में दिखाई देती है जहाँ वह बाह्य अलंकार न रह कर पद का धर्म बन गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिच्छेद ग

छन्द के उद्भव और विकास-क्रम का परिचय

प्रस्तुत खंड में छंद की उत्पत्ति; संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, डिंगल और हिन्दी छन्दों की कतिपय विशेषताएँ और विकास क्रम; बँगला तथा मराठी छंदों की विशेषताएँ और हिन्दी के कुछ छंदों के उद्भव और विकास-संबंधी मान्यताएँ और संगीत की दृष्टि से उनका महत्त्व—मुख्यतः इन विषयों का परिचय मात्र दिया जायगा क्योंकि छंदों अथवा छंद परंपराओं का शास्त्रीय दृष्टि से ऐतिहासिक अध्ययन करना न हमारा लक्ष्य है और न इसके लिये यहाँ अवकाश है। इस विषय पर अनेक विद्वान् उल्लेखनीय कार्य कर भी चुके हैं।

छन्द का उद्भव

उत्पत्ति के दो क्रम माने गये हैं—१. ब्रह्मा द्वारा सृष्टि की हर वस्तु की उत्कृष्ट रूप में उत्पत्ति और २. परिवर्तनों और परिवर्द्धनों अर्थात् क्रमिक विकास के द्वारा उत्कृष्ट रूप की उपलब्धि। भारतीय वैदिक परम्परा में पहला क्रम माना गया है और पाश्चात्य विचारधारा में दूसरा क्रम मान्य है।

विश्व के उपलब्ध साहित्य में वेदों को प्राचीनतम माना जाता है। वेद ब्रह्मप्रोक्त हैं इसलिये अनादि, अपौरुषेय हैं जो किसी की कृति या रचना नहीं हैं। ऋषियों ने इनके मंत्रों का दर्शन किया। धार्मिक दृष्टि से यह सही है कि हर वस्तु अपनी उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म अर्थात् ईश्वर में ही रहती है। वेद भी मूलतः ईश्वर से ही व्यक्त हुए इसलिये इन्हें किसी की कृति न माना जाय; लेकिन इससे भिन्न यह दृष्टि भी हो सकती है कि ऋषियों ने इनका दर्शन किया और विश्व के सामने उन्होंने ही रखा। सभी वेद छन्दोबद्ध हैं जो न मात्रिक हैं और न वार्णिक वल्कि हर पाद में नियत अक्षर संख्या के अनुसार हैं। उपर्युक्त दृष्टि से तो यही मानना होगा कि वैदिक छन्द ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुए।

दूसरी विचारधारा के अनुसार छंद का मूल खोजने के लिये आदिम मानव से सम्बंध स्थापित करना होगा। विकास के क्रम में सहज और स्वाभाविक रूप ही पहले आता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। आनंद के अतिरेक में सहज रूप से झूम उठने में मनुष्य के मुख से विभिन्न ध्वनियाँ निकलने के साथ ही हाथ और पैरों ने भी कुछ क्रियाएँ अवश्य की होंगी। इस प्रकार मुख की ध्वनियों से गीत, हाथ की क्रियाओं से ताल और पैर की क्रियाओं से नृत्य उत्पन्न हुआ। हाथ की क्रियाओं से काल का विभाजन हुआ और उनके नियमित ढंग से होने पर ताल के मूल रूप की उत्पत्ति हुई। इन्हीं कालखंडों का अधिक विकास होने पर विभिन्न आवर्तनों की कल्पना करके शास्त्रीय तालों का रूप स्थिर हुआ। 'ताल' संज्ञा का प्रयोग भले ही बाद में हुआ लेकिन इसके द्वारा व्यक्त किये जाने वाले लय, कालखंड के आवर्तन, मात्रा, क्रिया आदि अर्थों के रूप में ताल काफ़ी पहले से मौजूद था।

जब वर्णात्मक ध्वनियों के रूप में मनुष्य को एक साधन और मिल गया तो उनका विकास करके पहले वर्ण, फिर पद, पद से वाक्य और भाषा की रचना उसने कर ली। फिर पहले से उपलब्ध ताल की लयबद्धता का भाषा के साथ प्रयोग किया। यहीं से छंद की रचना और उसके विकास के इतिहास का प्रारम्भ माना जा सकता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पहले ताल का और उसके बाद छंद का विकास हुआ।

छन्द का क्रमिक विकास

सभी क्रियाएँ लयबद्ध आवर्तक रूप में ही होती हैं। सृष्टि मात्र में आवृत्ति और लय व्याप्त है। नक्षत्रों की गति, सूर्य चन्द्र का घूमना, दिन रात का चक्र, ऋतुओं का परिवर्तन, वर्ष-मास-दिन-घंटे-मिनट-सैकिण्ड, हृदय की धड़कन, श्वास-प्रश्वास सबकी एक गति से आवृत्ति होती रहती है। इनकी गति में, आवृत्ति के ढंग में जरा सा परिवर्तन होते ही अस्तव्यस्तता व्याप्त हो जाती है। इसलिये हर क्रिया के मूल में लयबद्धता और आवृत्ति है।

मनुष्य की हाथ पैरों की क्रियाओं में भी एक लय रहती है। उन क्रियाओं की लयबद्ध आवृत्ति से आवर्तन रूप ताल बना। पद का विकास होने पर उसमें भी सरल आवर्तक खंडों का योग करके छंद का प्रारम्भिक रूप बना। भाव के आवेग के अनुसार हर खंड में २, ३, ४, ५ या किसी संख्या की मात्राओं से युक्त अक्षर रहे हों, यह कल्पना की जा सकती है। इस रूप में मात्रिक छंद का विकास पहले हुआ, यह स्वाभाविक लगता है।

आवृत्ति मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। अच्छे लगने वाले भावों, पदों, लयों की आवृत्ति सभी को प्रिय लगती है। छंदों में भी आवर्तक वर्ग के छंद अधिक इष्ट लगते हैं इसलिये यह भी कहा जा सकता है कि आवर्तक छंद पहले बने।

गणयोजना दीर्घकालीन विकास की सूचक है, सहज नहीं। निश्चित मात्रा संख्या के आवर्तनों में २, ३, ४, ५, ६, ७ आदि लय खंडों के जो प्रकार (मात्रिक गण) प्रचलित रहे होंगे उन्हीं में से ३ से ६ मात्रा तक के गण चुन लिये गये और उनके आधार पर ३-३ अक्षरों के ८ समूह बना लिये गये जो वर्णगण कहलाये। इन्हीं से वर्णवृत्त बने। आवृत्तिप्रियता के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रति सहज आकर्षण के कारण इन वर्णगणों के आधार पर पहले आवर्तक वर्णवृत्त बने हों तो कोई आश्चर्य नहीं। वाद में विभिन्न गणों के परस्पर संयोग से अनावर्तक वर्णवृत्त बना लिये गये होंगे।

सार्थक पदरहित संगीत में विभिन्न आवर्तक लयखंडों में ही छंद के दर्शन होते हैं; जैसे—सरिस, रिगरि, गमग में त्रिमात्रिक; सरिगरि, रिगमग में चतुर्मात्रिक; सरिगमग, रिगमपम में पञ्चमात्रिक आवर्तक मात्राखंड हैं। संगीत में छंद का यह सरलतम रूप है।

'स्वरतालपदात्मकम्' लक्षण वाले गीतकों में केवल चतुर्मात्रिक गण हैं इसलिये कहा जा सकता है कि वे छंद के विकास के प्राचीनतम काल के रहे होंगे।

दूसरी ओर वैदिक छन्दों में पाद में केवल अक्षर संख्या निश्चित है, न उनका लघुगुरु क्रम और न मात्रा संख्या। कभी-कभी तो अक्षरसंख्या में भी १-२ अक्षरों की कमी-वेशी हो सकती है। इसलिये उनमें न वह गति है, न लय और न प्रवाह जो छंद के ऊपर उल्लिखित सहज क्रम से भिन्न है और जो छन्द की परवर्ती धारणा का अनिवार्य अंग है। इसीलिये वैदिक छंदों को ध्यान में रख कर छन्द की परिभाषाओं में केवल अक्षरों के परिमाण की ही वात कही गई है, लयवद्धता की नहीं :—

यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः[1] (ऋक्सर्वानुक्रमणी, कात्यायन, २।६)
छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते[2] (अथर्ववेद की वृहत्सर्वानुक्रमणी, पृ. १)

पद्यवद्धता का भी इनमें उल्लेख नहीं है लेकिन उसे इन परिभाषाओं में गृहीत मान लिया गया है।[3]

श्री वेलणकर के अनुसार छन्दों का संगीत से अत्यन्त निकट का संवंध है और उनमें तीन प्रकार का संगीत दिखाई देता है—१. स्वर संगीत, जो वैदिक छन्दों में उदात्तादि के रूप में विल्कुल प्रारंभिक अवस्था में है। वहाँ छन्दों में वर्णों के ह्रस्व-दीर्घ, यति आदि नियम नहीं हैं वल्कि वर्णों के उच्चारण की शुद्धता और संख्या पर वल है। २. वर्ण संगीत—वैदिक काल के अंत में लघु-गुरु क्रम के वर्णसंयोजन के आधार पर छन्द रचना की प्रेरणा हुई। इससे उच्चारण काल के भेद के आधार पर विविध योजनाओं से विभिन्न लयों का वोध हुआ और धीरे-धीरे अक्षरसंख्या वाले छन्द वर्णवृत्तों में वदलने लगे। वीर-काल का अनुष्टुभ् इसका प्राचीन रूप है जिसमें लघुगुरु संबंधी नियम विशिष्ट स्थानों पर आया। वैदिक अक्षर संख्या के साथ-साथ गण आये इससे वर्णसंगीत उत्पन्न हुआ। ३. तालसंगीत—यद्यपि ताल का मूल रूप लोक जीवन में आदिम काल से चला आ रहा था फिर भी छन्द में उसका योग अभी तक नहीं हो पाया था। भाट चारण परंपरा

---

१ वै. छ. से उद्धृत, पृ. ६ २. वही
३. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में छन्द गेय बनने पर ताल अनिवार्य अंग बना। छन्द में ताल के अनुसार खण्ड बनाने के लिये मात्रिक गणों की कल्पना की गई और हर गण के आरंभ में हाथ अथवा वाद्य से क्रिया की जाने लगी जिनसे छन्दों में ताल संगीत उत्पन्न हुआ।[1]

वैदिक युग से लेकर मध्ययुगीय हिन्दी साहित्य में छन्दों और वृत्तों के प्रयोग का क्रम अवश्य ही यही रहा है। वेदों में अक्षरसंख्यानुसारी छन्द ही हैं, संस्कृत में मुख्यरूप से वर्णवृत्त हैं, प्राकृत में मात्रिक छन्द हैं और अपभ्रंश में मुख्य रूप से ताल पर आधारित केवल मात्राखण्डों वाले वृत्त हैं तथा हिन्दी युग के आते-आते विशुद्ध मात्रिक छन्दों की प्रधानता हो गई। नाट्यशास्त्र में केवल दो मात्रिक वृत्त—वानवासिका और आर्या हैं। आर्या के बारे में आगे प्राकृत परंपरा के अन्तर्गत कहा जायगा। वानवासिका का लक्षण यह है: —

पादे षोडशमात्रास्तु गाथांशकविकल्पिताः।
चतुर्भिरंशकैर्ज्ञेया वृत्तज्ञैर्वानवासिका ॥[2]

अर्थात् गाथा के अंश में विकल्पित हर पाद में १६ मात्राएँ हों और ४-४ मात्राओं के ४ अंश हों ऐसे वृत्त को वानवासिका कहा गया है। १६ मात्राओं में ४ खंड करने का जो विधान यहाँ है उसमें तालछन्दों का मूल है। परवर्ती पादाकुलक, पज्झटिका, अडिला, मडिला आदि १६ मात्राओं के विभिन्न वृत्तों का मूल इसी में है। यहाँ गाथा का उल्लेख इसका प्रमाण है कि गाथा वृत्त भरत से भी प्राचीन है जो मूलतः मात्रिक था। इसी से संस्कृत के वार्णिक आर्या का विकास हुआ। संस्कृत साहित्य में प्रायः मात्रावृत्तों का प्रयोग नहीं हुआ लेकिन ईसा से कई सदियों पूर्व से ही बौद्ध जातकों में मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग होता रहा। अपभ्रंश जैन साहित्य, वीरगाथाओं, भक्तिकाल के पदों, साखी भजनों और प्रबन्धों तथा काव्यशास्त्र के ग्रंथों में भी मात्रिक छन्दों का प्रयोग सहज और अबाध रूप से होता रहा।[3]

मात्रिक छन्दों में स्वाभाविक लय है जिसके लिये विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती जब कि वर्णगणों पर आधारित छंद विशेष प्रयत्न साध्य हैं। फिर भी यह मान्यता है कि 'वृत्तों के आवर्तक वर्ग से मात्रिक छन्दों का विकास हुआ। इसका प्रमाण यही है कि अधिकांश मात्रिक छंद आवर्तक वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।'[4]

जैसा ऊपर हम कह आये हैं प्रयोग के क्रम में अवश्य ऐसा हुआ है लेकिन इसे विकास क्रम मानना कहाँ तक उचित होगा यह विचारणीय है। मात्रावृत्तों की प्रतिष्ठा या प्रयोग बाद में हुआ इससे यह नहीं माना जा सकता कि विकास भी बाद में हुआ। विकास

---

१. दि पूना ओरियंटलिस्ट, खण्ड ८ में श्री. ह. दा. वेलणकर के लेख 'Metres and Music' के आधार पर।
२. ना. शा., १५/१७९
३. आ. हि. का. में छन्द., पृ. १९६-१९९
४. वही, पृ. १९६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के क्रम में तो मात्रिक खंडों पर आधारित छन्दों का ही स्थान सर्वप्रथम आता है। उनके आधार पर उन्हीं खंडों में लघुगुरु के विशेष नियम बना कर मात्रावृत्त बने होंगे और इन लघुगुरु क्रमों में से गणों की कल्पना करके वर्णवृत्त बनाये गये होंगे। इनमें भी पहले आवर्तक गणों वाले और बाद में अनावर्तक वर्ग के बने होंगे। दूसरी ओर केवल अक्षर संख्या के आधार पर छन्दों की रचना और विकास इस रूप में सर्वप्रथम माना जा सकता है कि जैसे मनुष्य की प्रारंभिक चेष्टाएँ भावों के आवेग के कारण लयबद्ध नहीं रही होंगी उसी प्रकार प्रथम छन्द भी लयबद्ध न होकर अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति और सुविधा के लिये मात्र अक्षर संख्या नियम के आधार पर बनाये गये हों। यहाँ हम इतना कहना चाहते हैं कि छन्द के उद्भव और विकास संबंधी स्थापित मान्यताओं और धारणाओं से कुछ भिन्न विचार हमने व्यक्त किये हैं जो विचारणीय हैं।

वैदिक छन्द

सभी वैदिक छंद अक्षर छन्द हैं। वे भी दो प्रकार के हैं—१. पादाक्षर संख्या के अनुसार और २. पूरे छन्द की कुल अक्षरसंख्या के अनुसार। ऋक् यानी पद्यबद्ध मन्त्र पहले वर्ग के और यजुः के गद्यमंत्र दूसरे वर्ग के हैं। पहले वर्ग में सात छन्द प्रधान माने गये—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति त्रिष्टुप् और जगती जिनमें हर पाद में क्रमशः ६, ७, ८, ९, १०, ११ और १२ अक्षर होते हैं।[1]

पद्यबद्ध वैदिक छन्द त्रिपाद और चतुष्पाद हैं लेकिन कहीं-कहीं ११ तक पाद हैं। पादों में अर्थ के अनुसार अक्षर कम या ज़्यादा करने की छूट है जो निवृत्, भुरिक्, विराट् और स्वराट् के रूप में नियमबद्ध है।

लघुगुरु नियम, यति, अन्त्यानुप्रास, गण-व्यवस्था, मात्रिक खंड, लय आदि के अभाव में इन छंदों में वैसा श्रवण माधुर्य या कसाव नहीं है जो संस्कृत अथवा हिन्दी छंदों में सहज है।

संस्कृत वृत्त परम्परा

वैदिक छन्दों के अक्षर संख्या नियम में लघुगुरु नियम रूप वर्णगण जोड़ने से संस्कृत वृत्तों का विकास माना जाता है। इस परम्परा के प्राचीनतम ग्रंथ पिंगलसूत्र और नाट्यशास्त्र हैं। वैदिक छंद यहाँ आकर छन्द जाति कहलाये और उनके विविध प्ररोह वृत्त। मुख्य रूप से तीन प्रकार के वृत्त कहे गये—सम, अर्धसम और विषम। भरत ने अर्धविषम भेद का भी उल्लेख किया है। अधिकांश वृत्त सम चतुष्पाद हैं, त्रिपदी-षट्पदी नहीं हैं। यति नियम का निर्वाह है। प्रतिपाद १ से २६ अक्षर तक की २६ जातियाँ हैं। इससे अधिक अक्षर वाले वृत्त दण्डक कहे गये हैं। तुक अथवा अन्त्यानुप्रास का कोई महत्त्व नहीं है। केवल गीतगोविन्द में अन्त्यानुप्रास दिखाई देता है।

प्राकृत परम्परा

नाट्यशास्त्र के ध्रुवाध्याय में प्रायः सभी उदाहरण प्राकृत में हैं। संस्कृत के साथ

---

१. वै. छ., पृ. ८२-८४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राकृत छंदों के विकास का यह प्रारंभिक काल कहा जा सकता है क्योंकि परवर्ती प्राकृत छंदों के अनुसार इनकी रचना नहीं है वल्कि संस्कृत वृत्तों के ही आधार पर हुई है।

प्राकृत में मुख्य रूप से दो प्रकार के छंद हैं[1]—१. वार्णिक छन्द, जो संस्कृत से ज्यों के त्यों ले लिये गये हैं लेकिन प्राकृत में इन्होंने तुकान्त रूप ग्रहण कर लिया है। इनमें सुन्दरी, दुर्मिला, किरीट ऐसे हैं जो अपभ्रंश के प्रभाव से वार्णिक छन्द वन गये, मूलतः वे मात्रिक छंद हैं; ऐसी मान्यता डॉ० व्यास और श्री वेलणकर की है। चर्चरी ऐसा छंद है जिसमें अनेक तालों के अनुसार विभिन्न छंदों का प्रयोग होता रहा है। २. मात्रिक छंद—वास्तव में प्राकृत की देन मात्रिक छंद ही हैं। हिन्दी में मात्रिक छंद यहीं से आये। प्राकृत के मात्रिक छंदों को दो वर्गों में रखा गया है—१. विशुद्ध प्राकृत परम्परा के जिसमें गाथा और गाथा वर्ग के छन्द हैं। ये सभी मूलतः द्विपदी छन्द हैं जिनके दो पद 'दल' कहलाते हैं लेकिन संस्कृत में चतुष्पाद हो गये; जैसे—गाथा, विगाथा, उद्गाथा, गाथिनी आदि। डॉ० व्यास के अनुसार 'गाथा छन्द, भले ही वाद में संस्कृत पंडितों के हाथों पड़ कर चतुष्पात् वन गया हो, असली रूप में विषम द्विपदी छन्द था, जिसकी प्रथम अर्धाली में ३० तथा द्वितीय अर्धाली में २७ मात्रा होती थीं। वाद में संस्कृत पंडितों ने इसे १२, १८ : १२, १५ का विभाजन कर चतुष्पात् वना दिया है।'[2] गाथा ने संस्कृत में आर्या का रूप लिया, यह सभी मानते हैं। किन्तु इस ओर ध्यान दिलाना हम आवश्यक समझते हैं कि आर्या का भेदों सहित लक्षण निरूपण नाट्यशास्त्र के १५वें अध्याय में (बड़ौदा संस्करण) में प्राप्य है जहाँ विषम वृत्तों के अन्तर्गत आर्या का नाम लिये विना आर्या के पथ्या, विपुला, चपला, मुख चपला और जघन चपला—इन ५ भेदों का गण लक्षण देकर वर्णवृत्त के रूप में निरूपण किया है। वहाँ ये सभी भेद अष्टाक्षर चरण वाले और चतुष्पाद वर्णवृत्त हैं जिनकी मात्रा संख्या विषम है। इस प्रकार लक्षण भले ही वर्ण गणों के अनुसार दिये हों 'विषमवृत्त' की सार्थकता तो मात्रा संख्या की विषमता में ही है।

वृत्तों का निरूपण करने के वाद भरत ने कहा:—

एवमेतानि वृत्तानि समानि विषमाणि च।
नाटकाद्येषु काव्येषु प्रयोक्तव्यानि सूरिभिः ॥[3]

और फिर कहा :—

वृत्तलक्षणमेवं तु समासेन मयोदितम्।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ह्यार्याणामपि लक्षणम्।[4]

---

१. द्रष्टव्य—प्रा. पैंगलम्, श्री वेलणकर के विभिन्न लेख और 'छन्दोऽनुशासन' की भूमिका।
२. प्रा. पैं., भाग २, पृ. ४१३ ३. ना. शा., १५/१६२
४. वही, १६५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तथा—

लक्षणं नियमं चैव विकल्पगुणसंश्रयम् ॥
यतिच्छेदस्तु विज्ञेयश्चतुर्मात्रो गणः स्मृतः ।[१]

इनसे स्पष्ट है कि आर्या व उसके भेदों को 'वृत्त' में यानी वर्णवृत्त में नहीं गिना क्योंकि ये मात्रिक वृत्त हैं।

इनमें से विपुला का जो उदाहरण भरत ने दिया है उसका ठीक वही लक्षण है जो ऊपर उद्धृत डॉ० व्यास के अंश में दो अर्धाली वाली गाथा का है। यथा—

विपुलजघनवदनस्तननयनैस्ताम्राधरोष्ठकरचरणैः।
आयतनासागण्डैर्ललाटकर्णैः शुभा कन्या ॥[२]

लेकिन पथ्या का लक्षण और उदाहरण चतुष्पाद मान कर ही दिया है। जैसे—

प्रथमतृतीयौ पादौ द्वादशमात्रौ भवेत्तु सा पथ्या ॥[३]

उदाहरण—

रक्तमृदुपद्मनेत्रा सितदीर्घबहुलमृदुकेशी।
कस्य तु पृथुमृदुजघना तनु बाहूवंसोदरी पथ्या ।[४]

इससे स्पष्ट है कि आर्या ने द्विपाद होते हुए भरत से पूर्व अथवा भरत के समय में ही चतुष्पाद स्वरूप ग्रहण कर लिया था।

२. दूसरे वर्ग के छंद अपभ्रंश से आये हुए हैं जो द्विपदी, समचतुष्पदी, समषट्पदी, अर्धसमचतुष्पदी, अर्धसम षट्पदी, अर्धसम द्वादशपदी, मिश्र और प्रगाथिका वर्गों के हैं।[५] इनमें से अधिकांश छन्द ताल के साथ गाये जाने वाले हैं।

खञ्जक नाम से एक छन्द का सर्वप्रथम उल्लेख विरहांक के 'वृत्तजातिसमुच्चय' में प्राप्त होता है। खञ्जा नाम से प्राकृत पैंगलम् में भी एक छंद है। ये दोनों ही विशेष छंद हैं तथा मात्रिक हैं। छन्दोनुशासन का खञ्जक छन्द विशेष नहीं बल्कि 'गलितक' छन्दों का ही दूसरा नाम है। यदि पादान्त में यमक हो तो गलितक और केवल अन्त्यानुप्रास हो तो खञ्जक कहलाते हैं। इसका अर्थ यह है कि अनेक छन्दों की सामान्य संज्ञा खञ्जक है।[६] विरहांक, हेमचन्द्र और प्राकृत पैंगलम् के खञ्जक अथवा खञ्जा छंद मात्रिक हैं, वार्णिक नहीं। इस संबंध में नाट्यशास्त्र का ३२वाँ अध्याय द्रष्टव्य है। वहाँ शीर्षकों के ८ भेद और खञ्जक के ३ वृत्त दिये गये हैं।[७] लेकिन ये सभी वर्णवृत्त हैं,

---

१. वही, १९७-१९८
२. वही, २१४
३. वही, २१२
४. वही, २१३
५. प्रा. पै., भाग २, पृ ४१९
६ वही, पृ. ४२४
७. ना. शा., ३२/२५५-२७१, २९३-३०० । विशेष विवरण हमने ध्रुवा सम्बन्धी अध्याय में दिया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मात्रिक छंद नहीं। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि शीर्षक और खञ्जक एक छंद की संज्ञा नहीं बल्कि एक विधा है जिसमें अनेक वृत्त हो सकते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि प्राकृत परम्परा की अपनी विशेषता मात्रिक छन्द हैं, उनमें भी द्विपदी विशेष हैं। लेकिन संस्कृत के प्रभाव से वर्णवृत्त व अन्तर्यति और अपभ्रंश के प्रभाव से मात्रिक चतुष्पदी, षट्पदी, तुक योजना भी इसमें आईं। संस्कृत में समवृत्त ही अधिक थे; प्राकृत में अर्धसम, जिसका सबसे बड़ा उदाहरण गाथा वर्ग है।

अपभ्रंश परम्परा

अपभ्रंश छंदों के विकास में लोकगीत शैली का पर्याप्त ऋण है क्योंकि सामान्य वर्ग की भाषा होने के कारण उन्हीं में प्रचलित गीतों से इसके छन्दों का विकास हुआ। इसलिये ये छन्द लोकगीतों की सभी विशेषताओं से युक्त हैं। अन्तर्यति का नियम, जहाँ तुक योजना भी है, पादान्त तुक, मात्रिक गण, गणों व ताल का अटूट संबंध—ये सभी विशेषताएँ इन छंदों में अनिवार्य रूप से हैं। प्राकृत परंपरा में कहा जा चुका है कि अपभ्रंश छंद द्विपदी, चतुष्पदी, षट्पदी और द्वादशपदी वर्ग के तथा सम और अर्धसम दोनों प्रकार के हैं।

अपभ्रंश से विकसित डिंगल छंदों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उनके साथ तालवाद्य पर अथवा हाथ से ताली देकर ताल का प्रयोग अवश्य होता था। ऐसा लगता है कि ताल छन्द की परम्परा राजस्थानी और ब्रज में तो लुप्त हो गई लेकिन डिंगल कवि उसे सुरक्षित रख सके और वहाँ से गुजराती में आ गई। श्री रामनारायण पाठक ने गुजराती 'बृहत् पिंगल' में उन छन्दों में जिन तालों का जिस ढंग से प्रयोग होता था उसका निर्देश भी किया है। संभवत: इस परम्परा के आधार पर ही डॉ. वेलणकर और डॉ. व्यास ने यह अनुमान किया है कि अपभ्रंश के गेय छंदों में भी तालवाद्य का प्रयोग होता था। प्राकृत पैंगलम् या अन्य किसी प्राकृत अपभ्रंश ग्रंथ में ताल प्रयोग का संकेत नहीं है।

उपर्युक्त आधार पर इन विद्वानों ने मात्रागण और तालगण—इन दो गणों के अनुसार अपभ्रंश मात्रिक छंदों के दो वर्ग बनाये—मात्रिक छंद और ताल छंद। तालछन्दों की ३ विशेषताएँ कही जा सकती हैं—(१) तालसूचक गण और यति के द्वारा इनका नियमन होता है। तालगण का अर्थ है छंद के चरण में बनने वाले मात्रिक खण्ड जो ताल के एक आवर्तन या खण्ड के समापन और नये आवर्तन या खण्ड के आरम्भ की सूचना देते हैं। इस कारण पहले गण की अन्तिम मात्रा अगले गण की पहली मात्रा से अलग होती है अर्थात् दोनों मिल कर गुरु नहीं बनती। ताल के अनुसार होने वाली यति को तालयति कहा जाता है। वस्तुत: ताल यति और मात्रिक यति में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि इन छंदों में मात्रा यति और तालयति एक ही स्थान पर होती है। (२) इनमें वर्णों के काल का नियमन ताल की मात्रा से होता है, वर्ण के अपने काल से नहीं। इसलिये ह्रस्व वर्णों को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व, ह्रस्व अथवा दीर्घ को प्लुत और कभी-कभी एक मात्रा के काल में २-३ वर्णों का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उच्चारण भी किया जा सकता है। (३) तालयति की सूचना हर नये तालगण की पहली मात्रा पर हाथ या करताल से ताल देकर और उस मात्रा के वर्ण में प्रयुक्त स्वर पर विशेष बल के द्वारा दी जाती है।

इस वारे में हम डॉ० मिश्र के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि ताल छन्द कोई नया छंद नहीं है बल्कि मात्रिक छंद ही है जिसे कवियों द्वारा तालयंत्र अथवा हाथ से ताली देकर गाया जाता था।[1] मिश्रजी इन्हें ताल छंद नहीं गेय छंद मानते हैं। लेकिन यह मान्यता सही नहीं है क्योंकि यों तो भरत की ध्रुवा भी गेय छंद है लेकिन उनमें वैसी सांगीतिकता नहीं है जो इन ताल छंदों में है। तुक योजना, अन्तर्यति आदि के कारण इनमें विशेष सांगीतिकता है, मात्रा खंडों की आवृत्ति होने के कारण उतनी ही मात्रा के तालों में आसानी से गाये जा सकते हैं। संभव है भरत परंपरा की ध्रुवाओं में वर्णवृत्तों की गणयोजना और मार्ग तालों की लघुगुरु योजना में साम्य न होने के कारण ताल प्रयोग में होने वाली कठिनाई का अनुभव गायक कवियों को हुआ हो, इसलिये आवर्तक वर्ग वाले मात्रिक छंदों की रचना उन्हीं के समान मात्रा संख्या वाले तालों में सहज रूप से गा सकने की सुविधा के लिये की गई हो। यह भी संभव है कि लोक संगीत की गानशैली से अपभ्रंश के छन्दों का विकास हुआ हो जिसमें गाने के साथ सहज ढंग से हाथ से ताली भी दी जाती थी।

ताल छन्दों की दो विशेषताएँ हैं—१. कुल मात्रा संख्या के साथ-साथ विशिष्ट मात्रा खण्डों का सूचन और २. विशेष स्थानों पर विशेष गणों का निषेध। ये दोनों विशेषताएँ ऐसी हैं जिनके कारण यह मानता पड़ता है कि वे छंद ताल के साथ गाये जाते थे। उदाहरण के लिये १६ मात्रा के पादाकुलक, पज्झटिका, अडिला आदि में ४-४ मात्राओं के खंड यह सूचित करते हैं कि इनमें ऐसे ताल का प्रयोग होता था जिसमें या तो ४ मात्रा हों अथवा ४-४ मात्रा के खण्ड बनते हों और छन्द के मात्रा खंडों की पहली मात्रा पर ताल पड़ती हो क्योंकि क्रिया और उच्चारण में विशेष बल के द्वारा ही खंड बनाये जा सकते हैं। यदि ताल प्रयोग अभिप्रेत न होता तो मात्राओं की कुल संख्या वता देना ही पर्याप्त होता। इसी प्रकार ५-५, ६-६ या ७-७ मात्राओं के खण्ड वताने में भी यह अभिप्राय है कि उन छन्दों में उतनी मात्रा के ताल का प्रयोग होता था और हर खण्ड की पहली मात्रा पर ताल पड़ती थी। ताल की आवश्यकता से ही यह नियम भी वनाया गया कि पहले खण्ड की अन्तिम मात्रा और अगले खण्ड की पहली मात्रा मिल कर गुरु न बनें क्योंकि ऐसा करने पर ताल का खण्ड नहीं वनता और वहाँ बल नहीं आता। उदाहरण के लिये पादाकुलक आदि छंदों में दलपत पिंगल के अनुसार तीसरी, छठी, ११वीं, १४वीं मात्राओं पर ताल पड़ता है इसलिये ये मात्राएँ अपने से अगली मात्राओं से मिल कर गुरु वनें तो कोई हानि नहीं लेकिन पूर्ववर्ती मात्राओं से मिलकर गुरु नहीं बननी चाहियें क्योंकि ऐसा करने से ताल टूटता

१. सु. सा. का छं. अ., पृ. ३७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। इसका स्पष्टीकरण बृहत् पिंगल में भी किया गया है।[१] चतुष्कल मात्रिक छंदों के शुरू में जगण (।ऽ।) के निषेध का भी यही कारण है। मोतीदाम जैसे ४ जगण वाले वर्णवृत्त में इसीलिये पहली, ५वीं या तीसरी, ७वीं मात्राओं पर ताली न रख कर दूसरी, छठी आदि पर ताली रखी जाती है। पहली, ५वीं आदि मात्राओं पर ताल रखने से छन्द की लय से साम्य स्थापित नहीं होता क्योंकि उसमें वज़न गुरु अक्षर पर पड़ता है। तीसरी, ७वीं मात्रा पर भी ताल नहीं पड़ सकती क्योंकि वे दूसरी, छठी मात्राओं से मिली हैं। वज़न दूसरी, छठी आदि मात्राओं पर ही है इसीलिये इन पर ताल रखा गया।

ताल छंदों में ताल गण और ताल यति की जो कल्पना की गई है उसकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उपर्युक्त तीनों विशेषताएँ ताल में अनिवार्य रूप से होती हैं। ताल छन्द को सिद्धान्ततः स्वीकार कर लेने पर ताल की विशेषताएँ तो उनमें स्वतः आ ही जाती हैं। ताल में निश्चित मात्रा समूह का पुनरावर्तन होता ही है, एक आवर्तन को दूसरे आवर्तन से अलग रखा ही जाता है और आवर्तन की पहली मात्रा पर बल दिया ही जाता है। तालों में अन्तर्यति ऐसी अनिवार्य शर्त है जिसके खंडित होते ही ताल का स्वरूप ही वदल जाता है। जैसे—१४ मात्रा के दीपचन्दी धमार और ७ मात्राओं के रूपक, तीव्रा प्रचलित ताल हैं। प्रथम जोड़ी में ३-४-३-४ पर और अन्तिम दो में ३-२-२ पर यति है। ३-२-२ में से २-२ के वीच की यति समाप्त कर दी जाय तो इन्हें दीपचन्दी-धमार से अलग करना कठिन होगा। ताल से तात्पर्य घन वाद्य पर अथवा हाथ से की जाने वाली क्रियाओं से है, ताल के वोलों से नहीं क्योंकि ताल के खण्ड क्रियाओं के द्वारा ही बनते हैं।

प्राकृत के चच्चरी की तरह अपभ्रंश में रासक का विशेष स्थान है। यह किसी एक छंद की संज्ञा नहीं है क्योंकि रासक नाम से छन्दोऽनुशासन (५। १५.१) में कम से कम १२ छंदों का उल्लेख है। इनका संवंध राजस्थान, गुजरात के रास, घूमर आदि नृत्यों से जोड़ा जाता है। नृत्यों में अनेक प्रकार के तालों का प्रयोग होता था इसलिये उनके अनुरूप छन्दयोजना वाले पदों का प्रयोग होता होगा। हेमचन्द्र के अनुसार किसी भी मात्रावृत्त को रासक कहा जा सकता है और यह 'रसायन' अर्थात् अनेक रासकों का समूह कहलाता है।[२]

छन्द और संगीत—इन दोनों दृष्टियों से यह उल्लेखनीय है कि रासक और चच्चरी नाम से दो प्रबंध भी कहे गये हैं। बृहद्देशी का प्रबंधध्याय इतना खंडित है कि यह कहना तो कठिन है कि उसमें ये प्रबंध रहे होंगे या नहीं लेकिन भरतभाष्य में इन दोनों का उल्लेख है जो ११वीं सदी के उत्तरार्ध का ग्रंथ है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि रासक और चच्चरी छंद व प्रबंधों की परंपरा अत्यंत प्राचीन है और इनका संबंध अवश्य ही लोक नृत्यों से रहा होगा।

१. बृ. पि. पृ. ३०१   २. छन्दो., ५/३.२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परवर्ती पदशैली भी अपभ्रंश छंदों की देन है जो सबसे पहले बौद्ध चर्या गीतियों में दिखाई देती है। गीतगोविंद पर इसका पर्याप्त प्रभाव है।[1] इस संबंध में प्रबंध अध्याय के परिच्छेद 'घ' में चर्चा की जा चुकी है।

यह उल्लेखनीय है कि गीतगोविंद पर अपभ्रंश व चर्या शैली का प्रभाव होते हुए भी इसमें संस्कृत के वर्णवृत्तों का ही अधिक प्रयोग हुआ है। २४ अष्टपदियों में से २० के श्लोकों में शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग इसका प्रमाण है। इसके अलावा हरिणी, शिखरिणी वंशस्थ, कीर्तिधवल, वसन्ततिलका, मालिनी, पथ्या, पथ्यावक्र, उपेन्द्रवज्रा, पुष्पिताग्रा, आर्या, द्रुतविलंबित, पृथ्वी, शार्दूल, अनुष्टुप्, स्रग्धरा—इतने वृत्तों का प्रयोग हुआ है।

छन्दों में विशेष संगीतात्मकता भरने का कार्य भी अपभ्रंश परंपरा ने किया है। मात्रिक छंदों में तालों का प्रयोग तो इसका प्रमाण है ही, वर्णवृत्तों को भी संगीतात्मक बनाने की दृष्टि से अपभ्रंश में प्रायः उन्हीं वृत्तों का चयन और प्रयोग हुआ है जिनमें मात्राखंडों या गणों की आवृत्ति होती है। जैसे—पंक्तिका (रयजग=ऽ।ऽ।ऽऽ।ऽ।ऽ, इसमें ऽ।ऽ।ऽ की दो आवृत्ति हैं), भुजंगप्रयात (४ यगण), स्रग्विणी (४ रगण), विभावरी (ज र ज र), चित्रा (र ज र ज र ग)।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संगीतात्मकता अपभ्रंश छंदों की विशेष देन है जिसकी कमी वैदिक, संस्कृत और प्राकृत छंदों में थी।

डिंगल परम्परा

१०वीं से १३ वीं सदी के बीच जिस अपभ्रंश छन्द परम्परा का प्रसार प्रायः पूरे उत्तर भारत में था उसी का विशेष ढंग से विकास डिंगल भाषा में हुआ। सिन्ध, गुजरात और राजस्थान के परस्पर जुड़े हुए सीमा भागों में जिस भाषा का प्रयोग होता था और जिसमें इन तीनों भाषाओं के शब्दों का मिश्रण था वह डिंगल कहलाई। इस भाषा के चारणकवि ऐसे छंदों का प्रयोग करते थे जो संस्कृत की भाषा, शैली व छंदों से भिन्न लेकिन अपभ्रंश परंपरा के थे तथा जिनमें लोकगीतों व लोकशैली के छंदों का प्रभाव अपभ्रंश से अधिक था। इन छंदों की मुख्य विशेषताएँ ये थीं—(१) ताल का प्रयोग अवश्य होता था। इस विशेषता को मध्ययुगीय गुजराती कवि ही सुरक्षित रख पाये हैं जैसा कि बृहत् पिंगल में हर छंद के ताल, ताल के ग्रह स्थान आदि निर्देशों से पता चलता है। गुजराती कवि दलपतराम की पुस्तक 'दलपत पिंगल' में इन तालों का, ताल के आरंभक स्थान का और छन्द के प्रथम पाद में ताल पड़ने वाले स्थानों का निर्देश मिलता है। (२) हर गीत में कम से कम तीन 'द्वाले'[2] (यानी कड़ी) होते थे और (३) प्रथम द्वाले के शुरू में २ या ३ मात्राएँ अधिक रहती थीं जिनका प्रयोजन संभवतः गीत में विशेष वेग लाना था और ये गद्य में बोली जाती थीं।[3] (४) चतुष्कल छन्दों में पहली पंक्ति की २ मात्राएँ प्रायः तालरहित होती थीं। अन्तिम दो और अगली पंक्ति की २ मात्राएँ मिलकर चतुष्कल

१. प्रा. पैं., पृ. ३४२
२. बृ. पिं., पृ. ४७८/प्रा. पैं., ३६७
३. बृ. पिं., पृ. ४७८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बनाती थीं और यह क्रम पूरी कड़ी में चलता है इसीलिये ताल का आरंभ तीसरी मात्रा से होता है। इसे 'ऊथला' कहा गया है।[१] (५) समसंख्यक मात्रिक छंदों में भेदक लक्षण प्रास होता है। उदाहरण के लिये— पालवणी, ईलोल, झडलुपत और दुमेल—इन चतुष्पाद छंदों में हर चरण में ४ चतुष्कल होते हैं और पहली पंक्ति में २ मात्रा ज्यादा होती हैं। लेकिन दुमेल में दो-दो पंक्तियों में एकसी प्रास योजना रहती है जब कि पालवणी में चारों चरणों में समान प्रास होता है। ईलोल में पालवणी जैसी ही तुकयोजना होती है लेकिन सब चरणों के अंत में सगण (। । ऽ) होता है। झडलुपत में पहले, दूसरे और चौथे चरणों में तुक होती है, तीसरा अतुकान्त रहता है।[२]

डिंगल परंपरा की सबसे बड़ी विशेषता उसके विशेष प्रकार के पद हैं जो गेय होते हुए भी छंद के क्षेत्र में आते हैं। प्राचीन गुजराती में इन्हें 'देशी' कहा गया है।[३] प्राकृत अपभ्रंश के छंदों में लघुगुरु के विपर्यास की जो छूट थी वह 'देशी' में अनियंत्रित ढंग से ली गई; फिर भी इतनी मर्यादा अवश्य रखी गई कि अक्षरविन्यास में खंड दिखाई देने चाहियें।[४]

देशी की दूसरी विशेषता यह थी कि इनमें 'ध्रुव' (दोहराई जाने वाली पंक्ति) का विशेष महत्त्व था। यह पंक्ति देशी के आरंभ में अथवा बीच में या अन्त में हो सकती थी।

तीसरी विशेषता यह थी कि छन्द के अनुसार चतुष्कल खण्ड वाली रचनाएँ भी देशी में पढ़ते या गाते समय षट्कल या सप्तकल बन जाती थीं।[५] यह देशी में गेयतत्त्व की प्रधानता का द्योतक है।

चौथी विशेषता 'रे, हेजी, जी, हो, ए' आदि संबोधन पदों का प्रयोग है[६] जिनका छन्द दृष्टि से पद में स्थान नहीं होता बल्कि गेय के अनुरोध से जोड़ दिये जाते हैं।

पाँचवें, जो गीत मात्रिक छन्द के अत्यन्त निकट होते हैं वे उस छन्द की 'देशी' कहलाते हैं।[७]

हिन्दी छन्द परम्परा के कुछ छन्द

वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, डिंगल छंदों की थाती लेकर हिन्दी छन्दों का विकास हुआ। संस्कृत वर्ण वृत्तों से लेकर प्राकृत अपभ्रंश आदि के गेय छन्दों का भी हिन्दी में पर्याप्त प्रयोग हुआ। लेकिन घनाक्षरी, सवैया, पद और ध्रुवपद मध्ययुगीय हिन्दी की निजी सम्पत्ति हैं जिन्होंने पूर्ववर्ती परंपराओं से बहुत कुछ लिया लेकिन उसे पूरी तरह आत्मसात् करके ऐसा स्वरूप दिया कि कुछ भी उधार नहीं रहा।

घनाक्षरी

'घनाक्षरी' शब्द इस छन्द के स्वरूप को इंगित करता है। जिसमें 'अक्षरों' की

१. वही, पृ. ४७६
२. वही, पृ. ४७८/प्रा. पैं., पृ. ३६७
३. बृ. पिं., पृ. ५७४
४. वही, पृ. ५७७
५. वही, पृ. ५८६
६. वही, 'देशी के पद' शीर्षक में उद्धृत गीत
७. वही, पृ. ५६६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'घनता' हो वह 'घनाक्षरी' है। इसमें सभी अक्षरों को लघु बना कर पढ़ने के कारण अक्षर इतने पास-पास आ जाते हैं कि उसमें घनता की अनुभूति होती है इसीलिये यह घनाक्षरी कहलाता है।

दण्डक वर्ग के मुक्तक छन्दों में इसकी गणना की जाती है। इसे कवित्त, घनाक्षरी अथवा मनहरण कहा जाता है। इसमें केवल अक्षरसंख्या का नियम है लघु-गुरु क्रम अथवा मात्रासंख्या का नहीं। सामान्यतः हर चरण में ३१ अक्षर होते हैं, अन्तिम अक्षर गुरु होता है। ८. ८, ८, ७ पर यति मानी गई है लेकिन ऐसा न भी हो तो १६, १५ पर यति अवश्य होनी चाहिये। पदयोजना में यह ध्यान अवश्य रखा जाता है कि यदि कहीं विषम अक्षर वाला पद हो तो उसके बाद विषम ही होना चाहिये जिससे विषमता दूर हो जाय। लेकिन सम, विषम, विषम प्रयोग न हो अर्थात् शुरू में विषम + विषम रह सकता है अन्त में नहीं[1] क्योंकि उससे घनाक्षरी की लय टूटती है।

घनाक्षरी के अनेक भेद हैं—मिताक्षरी, नागर, गोरस, सूरघनाक्षरी, मनहरण, रूपघनाक्षरी, जलहरण[2], देवघनाक्षरी। इन सबमें मूल सिद्धान्त वही है केवल अक्षरों की घट-बढ़ है। घनाक्षरी की विशेषता उसकी लय है जो इस छन्द को पढ़ने के विशेष ढंग में निहित है। इसमें सब अक्षरों को ह्रस्व रूप में पढ़ा जाता है, पद में चाहे ह्रस्व हों अथवा दीर्घ। गुजराती में हर अक्षर को दीर्घ करके पढ़ने की परंपरा है।[3]

इसके उद्भव के बारे में अनेक धारणाएँ हैं। पन्तजी ने इसे हिन्दी का औरस पुत्र न मान कर पोष्यपुत्र माना जिसमें हिन्दी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है।[4] उन्होंने बँगला पयार से भी इसका संबंध जोड़ा। डॉ. मनोज ने सेन कवि (१५०४ ई.) को प्रथम घनाक्षरी लेखक बताया।[5] डॉ. शुक्ल ने अक्षरसंख्या के आधार पर वैदिक अनुष्टुप् और उष्णिक् से इसका संबंध स्थापित किया।[6] श्री पाठक ने इसे 'जाति छंद' कह कर अपभ्रंश छंद से इसके संबंध का संकेत किया है।[7] डॉ. व्यास ने प्राकृत पैंगलम् के गंधाण में घनाक्षरी की गन्ध पाई।[8] उन्होंने प्राकृत पैंगलम् के जलहरण या मनहरण से भी इसे जोड़ने का प्रयत्न किया[9] और सूर तथा तुलसी के पदों में से भी कवित्त के उदाहरण दिये हैं।[10] ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर के दरबारी गायकों बैजू और बख़्शू के गेय ध्रुवपदों का विकास पाठ्य घनाक्षरी के रूप में हुआ हो ऐसी संभावना भी उन्होंने व्यक्त की है। इसका कारण यह कहा जा सकता है कि ध्रुपद ताल पर घनाक्षरी को गाया जाता है।[11]

डॉ० गौरीशंकर मिश्र इनमें से किसी से सहमत नहीं हो सके। उन्होंने स्वयम्भू

---

१. छ. प्र., पृ. २१४-२१६
२. सू. सा. का छ. अ., पृ. ३९८-४१६
३. बृ. पिं., पृ. ५५२
४. पल्लव (प्रवेश), पृ. ३८
५. शर्वाणी, भूमिका, पृ. ३
६. आ. हि. का. में छन्द., पृ. १६०
७. बृ. पिं., पृ. ५५३
८. प्रा. पैं., पृ. ४६२-४६३
९. वही, पृ. ५८०
१०. वही, पृ. ५७७-५७८
११. वही, पृ. ५७६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और हेमचन्द्र के अशोक पुष्पमंजरी से घनाक्षरी का विकास सूत्र ढूँढने का प्रयत्न किया।[१] लेकिन उन्होंने अनेक दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया है कि घनाक्षरी के सर्वप्रथम लेखक सूर और गायक बैजू हैं। घनाक्षरी के ७ प्रकारों का सूर ने प्रयोग किया है। तुलसी ने भी अनेक घनाक्षरियों की रचना की। मीरा के पदों में मनहरण मिलते हैं। बैजू के ध्रुपदों में अक्षरों की घट-बढ़ तो है लेकिन लय घनाक्षरी की ही है। सूर, तुलसी, मीरा लगभग समसामयिक हैं।[२] बैजू मानसिंह तोमर के दरबारी गायक थे जिनका काल १४८६-१५१९ ई० माना गया है। सूरदास का जन्मकाल १४८४ ई० के आसपास का है।[३] स्पष्ट है कि सूर के जन्मकाल के लगभग वे ग्वालियर दरबार में थे और कम से कम १८-२० वर्ष के अवश्य रहे होंगे। इसलिये वे सूर के समसामयिक नहीं पूर्ववर्ती ही कहे जायँगे। इस दृष्टि से बैजू को घनाक्षरी का प्रथम रचयिता क्यों न माना जाय?

बैजू के निम्न ध्रुपद में घनाक्षरी की लय पूरी तरह सुरक्षित है भले ही एकाध अक्षर कम हैं—

> बोलियो न डोलियो ले, आउँ हूँ प्यारी को सुन, हो सुघर वर....
> अब हीं मैं जाउँ हूँ।
>
> मानिनी मनाय के तिहारे पास ल्याय के, मधुर बुलाय के तो
> चरण गहाउँ हूँ।
>
> सुनरी सुन्दर नार काहे करत (करे) एती रार, मदन डारत मार
> चलत पत बुझाउँ हूँ।
>
> मेरी सीख मान कर, मान न करो तुम ऐसे बैजू प्रभु प्यारे सों,
> बहियाँ गहाउँ हूँ॥[४]

बख्शू के ध्रुपदों में भी घनाक्षरी का स्वरूप मिलता है—

> बसन सुधार कहूँ, बासियत बार कहूँ, पोइयत हार कहूँ,
> काम की कहल है।
>
> कहूँ भुज ताड़ कहूँ, काढ़ियत आड़ कहूँ, मिलवे की चाड़ कहूँ,
> जोवन लहल है॥
>
> कहूँ मर्द वाने कहूँ, सखी मुसकाने (कहूँ), कंचुकी उरोज तातें,
> पेम की पहल है।
>
> साहब सुजान साहजहाँ.................., (नवल) महल आज,
> रावरे (री) टहल है॥[५]

---

१. सू. सा. का छं. अ., पृ. ४११

२. वही, पृ. ३९८-४०९

३. वही, पृ. ४०९

४. संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं, सं. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, पृ. ७७

५. सहस., पृ. ३५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'सहसरस' की संपादिका के अनुसार 'प्राकृत में विषम छंदों का बाहुल्य ध्रुपद को विरासत में मिला होगा और फिर क्रमशः उसमें से छन्द और ताल के सामंजस्य के विकास से घनाक्षरी का उद्‌भव हुआ होगा।'[1]

घनाक्षरी के उद्‌भव के संबंध में हमारी धारणा प्रस्तुत है।

अक्षरसंख्या के नियम मात्र के कारण घनाक्षरी का संबंध भले ही वैदिक अनुष्टुप् से जोड़ा जाय लेकिन यह निश्चित है कि वैदिक अथवा संस्कृत छन्दों से इसका कोई रिश्ता हो ही नहीं सकता। कारण यह है कि घनाक्षरी की लय और दीर्घाक्षरों का ह्रस्व उच्चारण संस्कृत के लिये बिल्कुल विदेशी प्रयोग है। उच्चारण की अत्यधिक शुद्धता संस्कृत की ही विशेषता है; उसमें घनाक्षरी जैसी स्वच्छंदता के लिये कोई गुंजाइश नहीं है।

छान्दसिक धारणाओं और नियमों के अनुसार तो सभी दीर्घ अक्षरों को लघु पढ़ने की छूट हिन्दी छन्दःशास्त्र में भी नहीं है क्योंकि घनाक्षरी के अतिरिक्त एक भी ऐसा छंद नहीं है जिसमें इस प्रकार का प्रयोग होता हो। सवैये में भी विशेष स्थानों पर ही ह्रस्व को दीर्घ या दीर्घ को ह्रस्व बनाया जा सकता है, सर्वत्र नहीं। इसलिये यह कहना अनुचित नहीं है कि घनाक्षरी मूलतः छन्द नहीं है बल्कि अन्यत्र से आकर कवियों में प्रतिष्ठा पा गया और फिर छन्दःशास्त्र में भी प्रवेश पा गया।

हम डॉ. व्यास के इस अनुमान से पूरी तरह सहमत हैं कि मूल रूप में गायकों में प्रचलित किसी विशेष शैली से संबद्ध रहा होगा। लेकिन उनका यह कथन गले नहीं उतरता कि इस शैली में हर अक्षर को १-१ मात्रा में बाँध कर गाया जाता होगा।[2] इसका कारण यह है कि १२ मात्रा वाले ताल से ध्रुवपद के संबंध के संकेत अकबर के काल से प्राप्त होते हैं। १२ मात्रा के ताल में घनाक्षरी को गाने के लिये कुछ कर्षण करना तो अनिवार्य होगा और तब हर अक्षर को १-१ मात्रा में नहीं गाया जा सकेगा। संगीत की तकनीक से परिचित व्यक्ति यह जानते हैं कि ताल में लघु एक मात्रा कहलाता है। मात्रा का मान अक्षर के अनुसार नहीं होता बल्कि पूरे आवर्तन की जो लय होती है उसके आधार पर निश्चित होता है। उस मात्रा में अनेक अक्षरों के उच्चारण की पूरी छूट है। एक मात्रा में योग्यता और सुविधा के अनुसार २, ३, ४ या अधिक अक्षरों का उच्चारण भी किया जा सकता है। एक मात्रा में उच्चरित अक्षर ह्रस्व ही हो यह भी आवश्यक नहीं। साथ ही एक ह्रस्व अथवा दीर्घ अक्षर का कर्षण एक से अधिक मात्राओं में भी किया जा सकता है। इस प्रकार संगीत में यह सुविधा है कि एक मात्रा में १-१ अक्षर या कम ज्यादा अक्षरों का प्रयोग किया जा सकता है। घनाक्षरी की उच्चारण विधि का सीधा संबंध इसी गान विधा से है।

बैजू और बख़्शू के रचे हुए अनेक ध्रुपद घनाक्षरी हैं यह ऊपर दिखाया जा चुका है। गेय पदों में छन्द के ह्रस्व दीर्घ वर्ण संबंधी नियम का पालन ज़रूरी नहीं है क्योंकि

---

१. वही, भूमिका, पृ. १३५

२. प्रा. पैं., पृ. ५७८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वहाँ छंद की लय पर ताल की लय का आरोप हो जाने के कारण छंद की मौलिक लय तो नष्ट हो ही जाती है। गायकों के द्वारा गेय रचनाओं में इस नियम के पालन की जरूरत भी नहीं होती इसलिये उन्होंने ऐसे पदों की रचना की जिसमें ह्रस्व दीर्घ का नियम तो न हो लेकिन अक्षरसंख्या ऐसी हो जो ताल के आवर्तन में सुविधा से गाई जा सके। दूसरी ओर प्रबन्ध गान की क्लिष्टता, पद के असाधारण महत्त्व, अत्यधिक लम्बाई, परिवर्तन की प्रवृत्ति और पद के बजाय गेय की ओर अधिक झुकाव—इन सब कारणों से ऐसी नई शैली की आवश्यकता महसूस की गई जो प्रबन्ध पद्धति से टक्कर ले सके और राजदरबारों में छा सके। इसलिये नवीन प्रकार की पद रचना, तालयोजना, अपेक्षाकृत संक्षिप्त और प्रबंध के पद की अपेक्षा गेयप्रधान स्वरूप लेकर ध्रुवपद शैली का विकास हुआ। इस शैली को शरीर यानी आकार प्रदान किया घनाक्षरी ने।

ये ध्रुपद मौखिक परम्परा से चले आये हैं। बख़्शू के ध्रुपदों का जो संग्रह प्राप्त है उसमें चौताल का उल्लेख नहीं है। दलपत पिंगल में घनाक्षरी के १, ५ ९, १३ संख्यक अक्षरों पर ताल के ठोकों का निर्देश है[1] जिसके आधार पर यह संभावना भी व्यक्त की जाती है कि घनाक्षरी किसी ऐसे ताल में गाया जाता होगा जिसकी हर मात्रा में १-१ अक्षर गाने से पूरा चरण दो आवर्तनों में बैठ जाता होगा। इस प्रकार हर अक्षर १-१ मात्रा में गाने की परंपरा पड़ी हो।

लेकिन अकबर के इतिहासकार अबुलफ़ज़ल द्वारा दिये गये ध्रुवपद के लक्षण के अनुसार ध्रुवपद में ताल और छंद का सामंजस्य नहीं रहता था। कवित्त सवैया जैसे छंद १२ मात्रा के तालों में बँधे मिलते हैं जिनका चौताल से कोई संबंध नहीं।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि घनाक्षरी को १२ मात्रा के ताल में बाँधकर ध्रुवपद के रूप में गाने की परंपरा काफ़ी पुरानी है। ताल व छंद के असामंजस्य का कारण यही हो सकता है कि घनाक्षरी के ८-८ अक्षर वाले खंड को १२ मात्रा के आवर्तन में गाने के लिये कुछ कर्षण किया जाता होगा।

घनाक्षरी छंद के अधिकांश ध्रुपद आज चौताल में गाये जाते हैं जो १२ मात्रा का ताल है। मौखिक परंपरा से प्राप्त होने और उनका स्वरलिपिबद्ध रूप प्राप्त न होने के कारण यह कहना कठिन है कि वे आज जिस रूप में गाये जाते हैं वही उनका मूल रूप रहा होगा। लेकिन आज घनाक्षरी की जो गानशैली है उसमें एक विशेषता तो निश्चित रूप से परिलक्षित होती है। घनाक्षरी के हर चरण में ८, ८, ८, ७ अक्षर होते हैं। इनमें से १, ३, ५, ७ संख्यक विषम अक्षरों को गुरु बना कर यानी २-२ मात्रा देकर गाया जाता है, पद में वे चाहे ह्रस्व हों या दीर्घ। इस प्रकार ८ अक्षर ताल के १२ मात्रा के एक आवर्तन में समा जाते हैं। अन्तिम यानी ३१वें वर्ण का कर्षण ३ मात्राओं में होता है। चार चरण क्रमशः ध्रुपद के स्थायी, अंतरा, संचारी, आभोग—ये चार खंड बन जाते हैं।

---

१. द. पि., पृ. ५६ २. सं. वि., पृ. ५२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि घनाक्षरी मूलतः छन्द नहीं गेय पद है जो कवियों की देन नहीं बल्कि ऐसे संगीतज्ञों की देन है जिन्हें 'वाग्गेयकार' कहा गया है। वाग्गेयकार के जो लक्षण दिये गये हैं उनमें सबसे पहले काव्यरचना संबंधी शब्दानुशासन ज्ञान, अभिधान-प्रवीणता, छन्दः प्रभेद ज्ञान, अलंकार कौशल, रस भाव परिज्ञान आदि गुण रखे गये हैं। बैजू, बख्शू आदि संगीतज्ञ केवल गायक नहीं थे बल्कि उच्च कोटि के कवि भी थे; संगीत शास्त्र के ज्ञाता तो थे ही, जैसा कि उनकी 'नायक' उपाधि से प्रकट होता है। फ़क़ीरुल्लाह ने रागदर्पण (पृ० १३०) में नायक का लक्षण यह दिया है कि जो गायक होने के साथ शास्त्रज्ञ भी हो। इनके अनेक ध्रुपद ऐसे हैं जो साहित्यिक दृष्टि से भी अत्यन्त उच्च कोटि के हैं।[१]

घनाक्षरी के एक पक्ष पर ही अब विचार करना शेष रहता है। हिन्दी के कवियों में इसने स्थान कैसे पा लिया और छंद की परिधि में कैसे आ गया ?

ऊपर हम देख आये हैं कि इसकी पद रचना में लघुगुरु नियम नहीं था। इस प्रकार पाठ करने से एक अनोखा लय वैचित्र्य उत्पन्न होता है जो परंपरागत छन्दों में नहीं है। संगीत और साहित्य परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते ही रहे है। संगीत की इस गेय शैली की अनोखी लय ने हिन्दी कवियों को आकर्षित किया होगा और इस विचित्रता को काव्य में ग्रहण करने के लोभ का संवरण वे न कर पाये होंगे। फलतः उस रचना शैली को ग्रहण कर लिया और कवित्त नाम से उसका खुल कर प्रयोग करने लगे। अपनी इसी आकर्षकता के कारण बाद में तो वह, डॉ० व्यास के अनुसार, हिन्दी का 'लाडला छंद' बन गया। उच्च कोटि के कवियों के द्वारा इतना पोषित होने, अत्यधिक प्रयुक्त होने, अक्षर संख्या के नियम और भेद-प्रभेदों के कारण ही वह छन्द की परिधि में आ गया और मुक्तक दण्डक वर्ग में रखा गया। दरबारों में कवि और संगीतज्ञ एक साथ रहते थे और परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते थे। इसलिये गायकों की घनाक्षरी का कवियों में प्रतिष्ठा पा जाना सहजगम्य है।

सवैया

सवैया भी घनाक्षरी की तरह बहुचर्चित छंद है। इसके उद्भव, विकास और प्रकृति के बारे में भी अनेक मान्यताएँ हैं। पन्तजी कहते हैं—'सवैया तथा कवित्त मुझे हिन्दी कविता के अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते। सवैये में एक ही सगण की ८ बार पुनरावृत्ति होने से उसमें एक प्रकार की जड़ता, एकस्वरता (मोनोटोनी) आ जाती है। उसके राग का स्वरपात बार-बार दो लघु अक्षरों के बाद आने वाले गुरु अक्षर पर पड़ने से सारा छंद एक तरह की कृत्रिमता तथा राग की पुनरुक्ति से जकड़ जाता है। कविता की लड़ी में छन्द की डोरी पर दोनों के बीच दी हुई स्वरों की गाँठें तो बड़ी-बड़ी होकर सामने आ जाती हैं और भावोद्योतक शब्दों की गुरियाँ छोटी पड़, उन गाँठों के बीच छिप जाती हैं। चूने के

---

१. द्रष्टव्य, सहसरस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पक्के किनारों के बीच बहती हुई धारा की तरह, रस की स्रोतस्विनी से अपने वेगानुसार तटों में स्वाभाविक काटछाँट करने का अधिकार छीन लिया जाता है; अपने पुष्प गुल्म-लताओं के कोमल पुलिनों से चुम्बन, आलिंगन बदलने, प्रवाह के बीच पड़े हुए रंगबिरंगे रोड़ों से फेनिल हास परिहास करने, क्षिप्त आवर्तों के रूप में भ्रूपात करने का उसे अवसर ही नहीं मिलता; वह अपने जीवन की विचित्रता (रोमांस), स्वतंत्रता तथा स्वच्छंदता खो बैठती है।[१] प्राचीन और आधुनिक हिन्दी के प्रायः सभी सत्कवियों ने जिसे अपनी लेखनी द्वारा सर्वाधिक लाडला छन्द बनाया, जिसमें संस्कृत शार्दूलविक्रीडित की तरह सभी रसों, भावों को व्यक्त करने की क्षमता है उसके बारे में पन्तजी की अनुभूति उनकी निजी ही कही जा सकती है। डॉ. मनोज इसे विशुद्ध वार्णिक छन्द मानते हैं जिसमें सभी संबद्ध नियमों का पालन किया गया। आरंभ में उच्चारण की समस्या भी नहीं थी क्योंकि जिस अक्षर को लघु पढ़ना हो उसे ह्रस्व ही लिखा जाता था। बाद में छापेखाने में ऐसे टाइप की सुविधा न होने से यह कठिनाई हुई क्योंकि अर्धगुरु अथवा ह्रस्व स्वर के चिन्ह नहीं थे।[२] डॉ. शुक्ल के अनुसार भी यह मूलतः वर्णवृत्त ही है क्योंकि सभी सवैयों की लय वार्णिक ही है जिनमें विभिन्न गणों की आवृत्ति होती है।[3] आ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत के किसी वर्णवृत्त से इसका संबंध होने का अनुमान किया लेकिन उसका नाम निर्देश नहीं किया।[४] इसी के आधार पर डॉ. नामवरसिंह ने दो त्रोटकों के सम्मिलित रूप को सवैया कहा।[५] लेकिन डॉ. व्यास के अनुसार यह न तो मूलतः वर्णवृत्त है और न त्रोटक से ही इसका कोई संबंध है। उनके विचार से द्विगुणित त्रोटक में सवैये की गूंज, गति, लय नहीं है और न सवैये के चारों चरणों की सम तुक है। उनके अनुसार इसका मूल अपभ्रंश के किसी गेय तालछन्द (मात्रिक) में है, जो बाद में असंगीतज्ञ कवियों द्वारा वार्णिक बना दिया गया, जो मूलतः द्विपदी था और बाद में चतुष्पदी बन गया, जो लोकगीत में स्वयम्भू के काल से भी पुराना था, जो वार्णिक चतुष्पदी बन जाने पर भी सम तुकान्त ही रहा और जिसमें ताल छन्दों की तरह अन्त्ययति पर भी तुक बनी रही।[६] प्राकृत पैंगलम् के मात्रिक दुर्मिल, सुन्दरी और किरीट से हिन्दी के वार्णिक दुर्मिल, सुन्दरी और किरीट का विकास उन्होंने सिद्ध किया है। सभी के मात्रिक वार्णिक रूपों में यति व्यवस्था एक सी है और ताल का नियम भी है।

डॉ. मिश्र को उपर्युक्त क्रम असंगत प्रतीत हुआ। उनके विचार से मात्रिक सवैयों से वार्णिक सवैयों का विकास उल्टा क्रम है क्योंकि सामान्यतः जटिलता से सुगमता की ओर जाने की ही प्रवृत्ति होती है। वार्णिक सवैये की प्राचीनता उन्होंने विरहांक, स्वयम्भू, हेमचन्द्र, केदार, जयकीर्ति, कविदर्पण, प्राकृत पैंगल आदि द्वारा अनेक नामों से दिये गये

---

१. पल्लव, प्रवेश, पृ. ३८
२. हि. क. का छन्द को. यो., पृ. १६६
३. आ. हि. का. में छन्द, पृ. ४१४
४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ. १०२
५, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान, पृ. ३०४
६, प्रा. पैं., पृ. ५६७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वार्णिक छन्दों में दिखाई है।[1] जैसा डॉ. मनोज और डॉ. शुक्ल के तर्कों व उदाहरणों से सिद्ध होता है, हिन्दी सवैयों में भी वार्णिक लय ही है। तुलसी आदि के सवैयों में दीर्घ अक्षरों के ह्रस्व उच्चारण में वार्णिक सवैयों का ही मुक्तक रूप में विकास है।

डॉ० नगेन्द्र ने सवैये को सपादिता का अपभ्रंश रूप स्वीकार किया है।[2] आ० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी 'सपाद' का अपभ्रंश रूप सवैया कहा है। सपाद का अर्थ है पाद अर्थात् चौथे अंश सहित। सवैया का प्राण अर्थात् सार अन्तिम पाद में रहता है इसलिये प्राचीन परम्परा के अनुसार पहले अन्तिम पाद को पढ़ कर फिर पूरा सवैया पढ़ा जाता था। इस प्रकार 'सपाद' कहलाया।[3] सवैये का अर्थ है सवा अर्थात् एक और चौथाई।

भगणात्मक और सगणात्मक सवैये ही मूल हैं जिनमें हर पाद में कुल ३२ मात्रा होती हैं। दलपतपिंगल और बृहत् पिंगल के तालविधान से स्पष्ट है कि ये गेय छंद थे। गुरु अक्षर से ताल का आरंभ होता था इसलिये भगण सवैये में १, ५, ९, १३ आदि मात्रक अक्षरों पर ताल पड़ती थी। सगण सवैय में गुरु की दो मात्रा छोड़ कर तीसरे अक्षर या मात्रा से ताल का आरम्भ होता था और फिर ४-४ अक्षर मात्राओं पर ताल रहती थी। इनके अनुसार ८ मात्रा के ताल में सवैये गाये जाते थे अतः ताल के ४ आवर्तनों में एक चरण पूरा होता था। इस कारण किसी अक्षर का कर्षण करने की आवश्यकता नहीं होती थी। हर ह्रस्व अक्षर को १-१ तालमात्रा और दीर्घ अक्षर को ताल की २-२ मात्रा देकर सीधे-सीधे गा लिया जाता था। इससे भी यह प्रकट होता है कि यह गेय छंद था। लेकिन कर्षण करके इसे चौताल में ध्रुपद के रूप में भी गाया जाता रहा है। भगण सवैये का गेय रूप पं० भातखंडे की पुस्तक से डॉ० उमा मिश्र ने उद्धृत भी किया है।[4]

फिर भी यह सही है कि सवैया संगीत का 'पोष्यपुत्र' था घनाक्षरी की तरह 'औरसपुत्र' नहीं।

सवैये के भेद—संस्कृत में मदिरा, संगता, लताकुसुम नाम से मदिरा का; मयूरगति नाम से मत्तगयंद का; सुभद्र और किरीट नाम से किरीट सवैयों का उल्लेख है।[5] वहाँ ये वर्णवृत्त ही हैं। छन्दःप्रभाकर में मात्रिक और वार्णिक दोनों प्रकार के सवैये हैं। इनमें दुर्मिल, वाम, किरीट, सुन्दरी, अरविंद, लवंगलता, सुख, सुमुखी, मत्तगयंद, चकोर, मदिरा वार्णिक हैं तथा वीर, समान, दुर्मिल आदि मात्रिक सवैये हैं।

डॉ० मनोज ने १४ सवैयों का उल्लेख किया है। इनमें ५ भगण कोटि के, ३ जगण के, २ सगण के, १-१ तगण, रगण, यगण के नाम दिये हैं। भगण में मदिरा, इंदव, चकोर अरसात और किरीट, जगण में सुमुखी, वाम और मोतीदाम, सगण में दुर्मिल और सुन्दरी तगण में आभार, रगण में गंगोदक और यगण में महाभुजंगप्रयात हैं।[6] भगण, जगण और

---

१. सू. सा. का छन्द, अ., पृ. ४१२-४१३
२. का. और सं. का पा. सं., पृ. २६६
३. हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ. ४५२
४. का. और सं. का पा. सं., पृ. २६८
५. सू. सा. का छन्द. अ., पृ. ४१२-४१३
६. हि. का. का छन्द. को योग., पृ. ८३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सगण में ह्रस्व अक्षर अधिक होने से द्रुतलय होती है, शेष तीन गणों में दीर्घाक्षर अधिक होने के कारण विलम्बित लय होती है।

डॉ० हेम भटनागर ने हिन्दी छन्दप्रकाश के हवाले से ४८ सवैयों का उल्लेख किया है।[1] दलपतपिंगल में सवैया नाम से ३१ और ३२ मात्रा के दो छंद हैं जो चतुष्पदी हैं।[2] वृहत्पिंगलकार ने डिंगल का सवैया दिया है जो त्रिपदी छन्द है लेकिन अन्तःप्रासयुक्त है। हर पाद में ४-४ सगण हैं।[3]

ध्रुवपद

घनाक्षरी पर विचार करते समय ध्रुवपद पर भी कुछ चर्चा की जा चुकी है। विशेष चर्चा प्रवंध अध्याय में की जा चुकी है। यहाँ इतना ही कहेंगे कि यह छन्द नहीं, गेय शैली है। लेकिन घनाक्षरी के साथ इसके घनिष्ठ संवंध और इसमें घनाक्षरी के प्रयोग के कारण संगीत में और कभी-कभी साहित्य के क्षेत्र में भी घनाक्षरी के पर्याय के रूप में ध्रुवपद का प्रयोग मिलता है।

पद

'छन्द की शास्त्रीय शब्दावली का परिचय' के अंतर्गत पद का सामान्य अर्थ और स्वरूप वताया गया और विस्तृत चर्चा प्रबन्ध अध्याय के परिच्छेद 'घ' में ध्रुपद के अंतर्गत की गई है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि यह विशेष छंद नहीं है बल्कि छन्द विशेष के आधार पर बद्ध ऐसी गेय रचना है जिसमें पूर्वोक्त (शास्त्रीय शब्दावली के अन्तर्गत कही गई) विशेषताएँ रहती हैं। इसका मूल रूप बौद्ध चर्या गीतों तथा जयदेव के गीतगोविंद में और पूर्ण विकसित रूप ध्रुपदों और सगुण-निर्गुण भक्त गायक कवियों में है।

आधुनिक हिन्दी काव्य की छान्दसिक प्रवृत्ति

आधुनिक युग में, विशेष रूप से २०वीं सदी के दो दशकों के बाद से जीवन के हर क्षेत्र में विद्रोह की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठी। सदियों की गुलामी की जंजीरों में जकड़ी जनता एक झटके में सब कड़ियाँ तोड़ कर उन्मुक्त जीवन जीने के मीठे सपने सँजोने लगी। फलस्वरूप स्वच्छंदता की ऐसी बाढ़ आई जिसने पूरी मानवता को, विश्व चेतना को, समाज को, व्यक्ति को, कणकण को झकझोर दिया। उच्छृंखलता के इस आवेग में अपने अस्तित्व को सर्वोपरि बनाये रखने के मोह ने सब मर्यादाओं के बंधन तोड़ डाले। साहित्य भी इस कशमकश के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता था। फलतः अनेक नये प्रयोग होने लगे जिन्हें गद्य काव्य, गद्य गीत, गद्य-छन्द, रबड़ छंद केचुआ छन्द, 'अ'-छन्द, 'अ'-कविता आदि अनेक नाम दिये गये। लेकिन सन्तोषजनक बात यही थी कि नयेपन की भूलभुलैया में सारे कवि नहीं खोये।

---

१. अ॰. यु. में सं. का., पृ २५३   २. द. पिं., पृ. १७

३. बृ. पिं., पृ. ४८१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

छंदों के क्षेत्र में भी अनेक नये प्रयोग हुए, नये आविष्कार नहीं; क्योंकि अधिकांशत: पुराने छन्दों को केवल नया रूप दिया गया। यह वर्णवृत्त और मात्रावृत्त दोनों क्षेत्रों में हुआ। संस्कृत की संश्लिष्ट यानी समास युक्त पदशैली और उच्चारण की शुद्धि के कारण वर्णवृत्त उसके अनुकूल थे। लेकिन हिन्दी विश्लिष्ट भाषा है जिसमें संस्कृत की तरह एक शब्द पूरे भाव को व्यक्त करने में समर्थ नहीं होता बल्कि 'अलग-अलग शब्द भाव के एक अंश मात्र को व्यक्त करता है'।[१] इसलिये वर्णवृत्तों के लिये खड़ी बोली में उतनी गुंजाइश नहीं थी। फलत: संस्कृत के इन्द्रवज्रा, वसंततिलका, शिखरिणी, द्रुत विलंबित, मालिनी, शार्दूलविक्रीडित आदि छंदों का प्रयोग गुप्तजी, हरिऔध, प्रसाद, पाडेण्य जैसे बड़े कवि ही सफलतापूर्वक कर सके। साथ ही नये भावों और नये ढंग की शैली के लिये ये वृत्त उपयोगी भी नहीं थे। इसलिये मात्रिक छंदों में ही नये प्रयोग हुए।

आधुनिक छंदों के विकास के ४ चरण हैं—पहले चरण में प्राचीन छन्दों में से ही अनुकूल छदों का चुनाव किया गया लेकिन यति, गति आदि तत्त्वों में परिवर्तन का अधिकार कवि के पास रहा। दूसरे चरण में लय प्राचीन छंदों से लेकर चरणों की संख्या, लघु गुरु मात्रा क्रम आदि की योजना और आवृत्ति के द्वारा नये छंदों का निर्माण किया गया। तीसरे चरण में तुक या अन्त्यानुप्रास का बन्धन पूरी तरह समाप्त कर दिया गया और चौथे चरण में छन्दों ने विषम छन्द' संज्ञा को पूरी तरह सार्थक किया।[२]

अधिकांश प्रयोग मात्रा गणों के आधार पर हुए। मुख्य रूप से ५, ६, ७ और ८ मात्रा के गण प्रयोग में आये। प्राचीन लम्बे मात्रिक छन्दों में बीच में यति रख कर दो चरण बना कर अथवा दो छोटे छंदों को मिला कर भी नया रूप दिया गया।[३]

संगीत की कसौटी पर भी इन छंदों को परख लें। आधुनिक मुक्त या स्वच्छन्द प्रवाही छंद में, जिसमें चरणों की लम्बाई समान नहीं होती, कभी-कभी लय की निश्चित आवृत्ति भी नहीं होती, सहज लयबद्धता अथवा स्वाभाविक संगीतात्मकता नहीं कही जा सकती। यति, मात्रा मैत्री, अन्त्यानुप्रास आदि का पूरा निर्वाह न होने के कारण उसमें वैसा प्रवाह, गति, लयबद्धता नहीं है जो स्वर के योग के बिना भी एक विशेष प्रकार की सांगीतिकता उत्पन्न कर देते हैं। यों तो संगीत में छन्द के किसी भी 'रोग' को दूर करने के लिये कर्षण की ऐसी अचूक औषधि है जो आधुनिक कविता को भी लयबद्ध तो कर देगी लेकिन स्वाभाविक लय की कमी तो उसमें कही ही जायगी। यही कारण है कि खड़ी बोली का उत्कृष्ट काव्य भी संगीतज्ञों को विशेष आकर्षिक नहीं कर सका जब कि मध्ययुगीय पदसाहित्य, नीति व सिद्धान्तपरक मुक्तक और प्रबंध काव्य आज तक उनके लिये अमूल्य निधि बने हुए हैं। इन्हें ध्रुपद, ख़्याल जैसी विशुद्ध शास्त्रीय शैलियों में भी बाँधा गया

१. हि. क. का छन्द. को योग., पृ. १६९ २. आ. हि. का. में छन्द., पृ. ३८६-३८७

३ वही, तृतीय अध्याय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और भजन, गीत आदि अपेक्षाकृत सरल मिश्र शैलियों में भी गाया गया। आधुनिक काव्य में प्रसाद के 'कामायनी' और 'कामना' (क्रमशः महाकाव्य और गद्य नाटक) अपवाद कहे जा सकते हैं जो प्रसाद साहित्य के मर्मज्ञों की भाषा में स्व. पं. ओंकारनाथ ठाकुर जैसे श्रेष्ठ संगीतज्ञ के हाथों में पड़ कर वह संदेश दे गये जो संभवतः महाकवि स्वयं भी न दे सके हों।

आधुनिक छंद के नवीनतम प्रयोग छंद तो क्या 'छन्द की गंध' से युक्त ही कहे जा सकते हैं इसलिये अधिक से अधिक 'वृत्तगन्धि' वर्ग के कहे जा सकते हैं। वह गंध भी उन्हें विशेष ढंग से (हल्के से स्वर के संयोग से) पढ़ने के कारण ही आती है अन्यथा न तो वे वृत्त कहलाने के अधिकारी हैं और न छन्द।

छंद के क्षेत्र में क्रान्ति के नाम पर जो प्रयोग हो रहे हैं उनका नवीनता से दूर का भी रिश्ता नहीं है, अनियमितता और स्वच्छंदता ही अधिक है जिसे काव्य क्षेत्र का 'नक्सलवाद' भी कहा जाता है। जो बिल्कुल समझ में न आये या जिसे कुछ गिने चुने व्यक्ति ही समझ सकें या जिसमें बुद्धि को कसरत करनी पड़े या जो आनन्द ने देकर हल्के और क्षणिक सुख की ही अनुभूति कराये वह उच्च और नवीन कहलाने का अधिकारी नहीं है।

आशा की एकमात्र किरण यही है कि जीवन में स्थिरता आने के साथ-साथ हिन्दी साहित्य और छंद के क्षेत्र में भी स्थिरता आयेगी। नवीन प्रयोगों से किसी का कोई विरोध नहीं हो सकता, नहीं होना चाहिये क्योंकि यह प्रगति का सूचक है, जीवन का चिन्ह है। लेकिन जो विकासपथ पर अग्रसर न कराये, आनन्द की अनुभूति न करा सके, कुछ दे न सके उसे विकास नहीं कहा जा सकता।

बँगला छन्द

उच्चारण भेद के कारण बँगला छंदों के दो भेद हैं—१. मात्रिक छन्द, जिनमें वर्णों का उच्चारण ह्रस्व दीर्घ मात्राओं के काल के अनुसार ही होता है। इसे ब्रज शैली या हिन्दी शैली कहा जाता है।[1] २. मुक्तक—जिनमें अक्षर संख्या की गणना तो होती है लेकिन हिन्दी घनाक्षरी की तरह वर्णों का उच्चारण किया जाता है यद्यपि बँगला में ह्रस्व दीर्घ का उच्चारण हिन्दी से बहुत भिन्न है। बँगला में सभी अक्षर पूरी तरह लघु या गुरु नहीं होते यानी लघु का ठीक दुगना काल गुरु में या गुरु का आधा लघु में नहीं होता।

बँगला में ३ से ८ मात्रा और अक्षर के गण होते हैं। इनमें से मात्रानुसारी गणों के आधार पर चलने वाले छंद मात्रिक यानी ब्रजशैली के हैं और अक्षरसंख्यानुसारी गणों के आधार पर वार्णिक या बँगला शैली के छंद हैं। दोनों शैलियों के गणों में कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत हैं[2]—

१. आ. हि. का. में छन्द., पृ. ११६ २. वही, पृ. ११६-१२२ से उद्धृत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

त्रिसंख्यक (मात्रिक)—

सैन्य सकल समय कुशल,
निरखि भीत अरिदलबला,
कम्पित हय धरनी तल,
वासुकि नत लाजे।

चतु:संख्यक (आक्षर)—

धरनीर आंखिनीर मोचनेर छले,
देवतार अवतार वसुधार तले।

पञ्चसंख्यक (मात्रिक)—

अनिल अति वहिल मृदु झरिल सित कौमुदी
विगतरवि तापयत साँझे—
स्निग्ध कम परशलभि आज सुख अम्बुधि
उच्छ्वसित शान्त मन मांझे।

(आक्षर)

भ्रमर कहे 'होथाय बेला, होथाय आछे, नलिनी,
उदर काछे बेलिवो नाको, आजि ओ याहा, वलिनी।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि छंदों का मूल आधार तो संस्कृत हिन्दी छंदों से ही लिया गया है लेकिन बँगला की उच्चारण शैली के अनुसार उनमें परिवर्तन हुए। बँगला की उच्चारण शैली घनाक्षरी वर्ग यानी मुक्तक के अधिक उपयुक्त है इसलिये मुक्तक छन्दों का प्रयोग अधिक हुआ।

मुक्तकों में पयार का विशेष स्थान है जिसका संबंध घनाक्षरी से जोड़ा जाता है।[१] इसके दो प्रकार हैं। पहले में दो चरणों में ८, ६ की यति से १४-१४ अक्षर होते हैं। इन यतिखंडों में भी ४, ४, ४, २ के अक्षरखंड होते हैं। दूसरे प्रकार का पयार 'प्रवाही पयार' कहलाता है क्योंकि इसमें अक्षरसंख्या की काफ़ी छूट है। इसमें ४, ६, ८, १० अक्षरों पर इच्छानुसार यति रखी जा सकती है।

मराठी छन्द

मराठी परंपरा संस्कृत से जुड़ी हुई है इसलिये इसके छंद संस्कृत और हिन्दी के बहुत निकट हैं। यों तो मराठी का उच्चारण ज्यादा खड़ा होने के कारण इसमें संस्कृत वृत्तों का हिन्दी की अपेक्षा अधिक प्रयोग हुआ है लेकिन हिन्दी की घनाक्षरी और बँगला के पयार तरह मराठी की भी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। जैसे—ओवी और अभंग, जो मराठी के अपने छंद हैं। ये अक्षर छंद हैं यानी इनमें केवल अक्षरसंख्या का नियम है।

१. पल्लव, प्रवेश

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ओवी—सामान्य नियम यह है कि ओवी के शुरू के तीन चरणों में ८-८ अक्षर और एक सी तुक तथा अंतिम चरण में ७ अक्षर होने चाहियें जिसमें तुक नहीं होती। भिन्न-भिन्न कवियों की ओवियों में अक्षरसंख्या भिन्न रही है। ज्ञानदेव की ओवी में ८, ८, ८, ६; मुक्तेश्वर की १०, १०, ९, ७; एकनाथ की ९, ९, ९, ८ श्रीधर की १०, ८, १०, ८; रामदास की ८, ९, १०, ४;[1] ताम्बे की ४, ८, ८, ८, और इसी प्रकार अक्षरसंख्या घटती बढ़ती रही है; लेकिन तीन चरणों में प्रास के नियम का पालन सभी ने किया है। इसके उपर्युक्त प्रकारों को पढ़ने पर कहीं लय अथवा पद्यवद्धता के दर्शन नहीं होते, न मात्रा संख्या अथवा मैत्री का कोई नियम है। तीन चरणों में प्रास ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है जो उसे छन्द के निकट ले आता है, अन्यथा वह प्रासबद्ध गद्य ही है। इस तथ्य की पुष्टि बृहत् पिंगल में भी की गई है।[2]

अभंग—ओवी की ही तरह अभंग के भी अनेक प्रकार प्रयुक्त हुए हैं जिनमें ६, ६, ६, ४; ८, ८; ६, ८; ८, ७; ८, ८, ८, ८ अक्षर संख्या वाले ५ भेद मुख्य हैं। इनमें प्रास का अन्तर है। प्रथम भेद में दूसरे तीसरे चरणों में; दूसरे भेद में पहले-दूसरे-तीसरे चरणों में; तीसरे भेद में दो-दो पादों में चरणों के अन्त में प्रास होता है; चौथे में अंत में प्रास नहीं होता, लेकिन पहले चरण का अन्तिम अक्षर दूसरे चरण के चौथे स्थान पर आता है और पाँचवें में पहले तीन चरणों में तुक होती है।[3]

ये दोनों छंद विषम मुक्तक वर्ग के हैं और गेय छंद हैं। तुकाराम के अभंग और ज्ञानेश्वर की ओवियाँ ख़ूब गाई जाती हैं। गाते समय हिन्दी घनाक्षरी की तरह प्रथम चरण को ध्रुव पंक्ति बना लिया जाता है। दोनों छंदों का अंतिम चरण अन्य चरणों से छोटा होता है।

गेय होते हुए भी ये दोनों मराठी में 'छन्द' कहलाते हैं और 'पद' से भिन्न माने जाते हैं। पद में हिन्दी पदों की तरह ध्रुवपंक्ति और तुक होती है जब कि इनमें न ध्रुवपंक्ति है और न चरणों के अंत में समान तुक।

बृहत् पिंगल के अनुसार ओवी का हर चरण स्वतंत्र होता है और हरेक ओवी स्वतंत्र होने से एक ओवी और दूसरी ओवी में छन्द की दृष्टि से कोई संबंध नहीं होता। लेकिन अभंग पूरा छन्दोमय और जुड़ा हुआ है। ओवी में शुरू के तीन चरणों में अक्षरसंख्या समान न हो तो भी केवल प्रास से चल सकता है लेकिन अभंग में अक्षरसंख्या समान होती है।[4] ओवी को 'प्रबंधों' में स्थान मिला है जिसकी चर्चा प्रबंध अध्याय में की जा चुकी है।

ऊपर जिन उत्तर भारतीय छन्द परंपराओं की चर्चा की गई है वे प्रायः एक वर्ग की हैं और परस्पर संबद्ध है। किन्तु दाक्षिणात्य भाषाएँ भिन्न वर्ग की हैं। उनके अध्ययन

१. छ. प्र., पृ. २३३। आ. हि. का. में छन्द, पृ. १३७ २. बृ. पिं., पृ. ५७१
३. छ. प्र., पृ. २३२ ४. बृ. पिं., पृ. ५७२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संबंधी अपनी सीमाओं तथा दाक्षिणात्य छन्दों की रचना और स्वरूप भिन्न होने के कारण यहाँ दाक्षिणात्य छंद परंपराओं पर विचार नहीं किया गया। लेकिन इतना संकेत आवश्यक है कि तमिळ की अपनी छन्द परंपरा रही है। दक्षिण के संत अरुणगिरि नाथ ने अपने आराध्य देवता मुरुग की प्रशस्ति में १६ हज़ार मंत्र गाये थे, ऐसा कहा जाता है, जो 'तिरुप्पुगज' कहलाते हैं। उनमें १००८ 'छदम्' प्रकार थे, ऐसा माना जाता है।[२]

उपसंहार

साहित्य में छन्द की अनुभूति इस आधार पर होती है—१. चरणों में अक्षरों, गणों या मात्राओं की समसंख्या, २. अन्त्यानुप्रास अथवा ३. पाठ करने का विशेष ढंग। पहले वर्ग में सभी भाषाओं के विशुद्ध मात्रिक, वार्णिक छन्द आते हैं। दूसरे में प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी के प्रासबद्ध छन्द तथा आधुनिक हिन्दी व बँगला के वे छन्द आते हैं जिनमें अक्षर या मात्रा संख्या समान नहीं हैं लेकिन अन्त्यानुप्रास के कारण अन्त में एकसी गति आ जाती है। घनाक्षरी वर्ग के छन्द तीसरे प्रकार के हैं जिनमें कभी-कभी अक्षरसंख्या भी नियत नहीं रहती; लघुगुरु क्रम तो होता ही नहीं, लेकिन घनाक्षरी के ढंग से पढ़े जाने के कारण विशेष प्रकार की लय उत्पन्न हो जाती है। जहाँ इनमें से कुछ भी न हो उसे छन्द न कह कर गद्य कहना ही उपयुक्त होगा।

---

१. श्री. टी. एँस्. वासुदेवन् के पेपर 'Thiruppugazh Innisai Thilagam' के आधार पर।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिच्छेद घ

विशेष छन्दों का विशेष तालों से सम्बन्ध

छंद और ताल के सामान्य संबंध पर पिछले खंडों में काफ़ी चर्चा की जा चुकी है और यह संकेत भी दिया जा चुका है कि विशेष छंदों का विशेष तालों के साथ निश्चित संबंध है। प्रस्तुत खण्ड में विशेष संबंध पर ही प्रकाश डाला जायगा।

विशेष छन्दों को विशेष तालों में गाने की परम्परा अपभ्रंश में बड़ी पुष्ट थी। वहाँ से डिंगल में और फिर हिन्दी तथा गुजराती में भी बनी रही। अपभ्रंश में प्राय: उन्हीं वर्णवृत्तों का प्रयोग हुआ जिनमें गणों की आवृत्ति होने कारण मात्राखंड भी एकसे होते हैं। जैसे—चित्रा (र ज र ज र ग=SIS ISI SIS ISI SIS S), विभावरी (ज र ज र=ISI SIS ISI SIS), पंक्तिका (र य ज ग=SIS ISS ISI S), स्रग्विणी (र र र र=SIS SIS SIS SIS), भुजंगप्रयात (य य य य=ISS ISS ISS IS S)। चित्रा और विभावरी ६ मात्रा के ताल में, पंक्तिका ८ मात्रा के ताल में और स्रग्विणी तथा भुजंगप्रयात ५ मात्रा के ताल में गाये जाते रहे हैं।[1]

इनके अलावा कुछ अन्य वर्णवृत्त भी इसी कोटि में आते हैं—त्रिमात्रिक खण्ड वाले प्रमाणिका (ज र ल ग=ISI SIS IS), पंचचांमर (ज र ज र ज ग—प्रमाणिका का दुगना), समानिका अथवा मल्लिका (र ज ग ल=SIS ISI SI), चंचला (मल्लिका का दुगना); चतुर्मात्रिक खंड वाले—तोटक (स स स स=IIS IIS IIS IIS), मत्तगयंद (७ भगण, अन्त में दो गुरु=SII SII SII SII SII SII SII SS), पंचमात्रिक—सारंग (४ तगण=SSI SSI SSI SSI), मन्दारमाला (सारंग का दुगना)।

सार्थक पद न रहने पर आवर्तक खण्ड वाले वर्णवृत्तों का उपयोग ही संगीत में संभव है। अनावर्तक छन्दों की बहुत स्पष्ट अनुभूति नहीं होगी, यद्यपि एक विशिष्ट लय के पुनरावर्तन से छन्द का कुछ बोध तो अवश्य होगा।

---

१. प्रा. पैं., पृ. ३४५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वृत्त और तालों में समानता

वृत्त दो प्रकार के होते हैं—१. वर्णवृत्त, जिनमें ह्रस्व या दीर्घ हर इकाई की स्वतंत्र सत्ता है यानी जो परस्पर परिवर्तित नहीं हो सकतीं। २. मात्रावृत्त, जिनमें हर इकाई स्वतंत्र नहीं बल्कि मात्रासंख्या का नियम है यानी जिनमें लघुगुरु क्रम में परिवर्तन हो सकता है लेकिन खण्ड मात्रिक गण के अनुसार होने चाहियें। तालों में भी दो भेद हैं—१. मार्गताल जिनमें लघु, गुरु, प्लुत इकाइयों का स्वतंत्र व्यक्तित्व है, उनका क्रम भी निश्चित है और इकाई भी अपरिवर्तनीय है। उसमें परिवर्तन होते ही ताल का स्वरूप बदल जाता है। प्राचीन देशी तालों में भी लघुगुरु इकाई निश्चित होती थी और आजकल की तरह मात्रा-संख्या या मात्राखंड का महत्त्व नहीं था। इसलिये उन्हें भी मार्गताल के वर्ग में ही रखना होगा। दूसरे, अधुना प्रचलित ताल, जिनमें कुल मात्रा संख्या का नियम है, लघुगुरु का अस्तित्व है ही नहीं।

जैसे वर्णवृत्तों में लघुगुरु क्रम और अक्षरसंख्या निश्चित होती है उसी प्रकार मार्ग व देशी तालों में भी लघुगुरु क्रम और क्रियाओं की संख्या निश्चित होती है। वर्णों या मात्राओं को विघटित करके कुल मात्रा संख्या गिनने का नियम वर्णवृत्तों या देशीतालों में नहीं है। जैसे—चच्चपुट का यथाक्षर रूप SSIS' है इसलिये क्रियाएँ भी इसी मान से होंगी, ४ गुरु अथवा ८ लघु के मान से नहीं। वर्तमान ताल पद्धति में ताल की कुल मात्राओं की संख्या और अवान्तर मात्राखंड का ही नियम है, जैसे मात्रिक छंदों में भी कुल मात्रा संख्या और मात्रागणों का नियम रहता है। (यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक काव्य में भी वर्णवृत्तों के स्थान पर मात्रिक छंदों का ही प्रयोग अधिक हुआ है। जटिलता से सरलता की ओर जाने की प्रवृत्ति ने ही दो भिन्न क्षेत्रों में एक से विकास को प्रोत्साहित किया है।) इसलिये जैसे मात्रिक छन्दों में अवान्तर खंडों में मात्राओं के संख्याभेद के कारण अन्तर होता है वैसे ही वर्तमान तालों में भी मात्राओं के विभाजन भेद से ताल भिन्न हो जाते है। जैसे—झपताल और सूलताल में १०-१० मात्राएँ हैं लेकिन मात्रा विभाजन भिन्न है। झपताल में २-३-२-३ और सूलताल में २-२-२-२-२ का क्रम है। इसी प्रकार १४ मात्रा के आड़ा चौताल और झूमरा भिन्न हैं। इनमें से पहले में २-२-२-२-२-२-२ और दूसरे में ३-४-३-४ का विभाजन है। इन तालों का लक्षण यदि लघुगुरु इकाइयों में दिया जाय तो ये लगभग देशी तालों की श्रेणी में आ सकते हैं। लेकिन आज ऐसा प्रचार नहीं है इसलिये इन्हें मात्रावृत्त के समानान्तर ही रखा जा सकता है।

मार्ग देशी तालों और आज के तालों में एक बड़ा अंतर यह है कि इनमें से प्रथम वर्ग के तालों का प्रयोग घनवाद्य अथवा हाथ के द्वारा ही होता था, अवनद्ध वाद्य केवल उपरंजन के लिये थे। लेकिन आज के तालों का सहचार अवनद्ध वाद्यों और विभिन्न 'ठेकों' के साथ है इसलिये ताल, ठेका और अवनद्ध वाद्य आज अभिन्न हैं।

छन्द और ताल में एक समानता यह भी है कि जैसे छंदों में वर्णगणों की समानता होते हुए भी लयभेद के कारण छंद भिन्न हो जाते हैं उसी प्रकार तालों में भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है। उदाहरण के लिये, तोटक में ४ सगण और दुर्मिल सवैये में ८ सगण होते है। लेकिन तोटक की लय द्रुत होने से वीर छन्द माना गया जब कि सवैये की मध्य विलंबित गति होने के कारण वह अन्य रसों के उपयुक्त माना गया। इसी प्रकार मात्रा संख्या समान होते हुए लयभेद के कारण तालों में भी भेद दिखाई देता है। यहाँ तालों की कुछ जोड़ियाँ दी जा रही हैं जिनमें मात्रा संख्या समान हैं—तिलवाड़ा-तीनताल, झूमरा-दीपचंदी, तीव्रा-रूपक। पहले द्विक में १६-१६, दूसरे में १४-१४ और तीसरे में ७-७ मात्राएँ हैं। लेकिन तीनों द्विकों के पहले-पहले तालों की गति स्थिर, प्रौढ़ है जब कि दूसरे तालों की तरल, चंचल या उछलती हुई।

दूसरी ओर जैसे अनेक छंदों में एक लय अथवा गति का प्रयोग हो सकता है उसी प्रकार ताल में भी होता है। इसे दो ढंग से समझा जा सकता है—१. द्रुत, मध्य आदि लयों के आधार पर और २. द्विकल, चतुष्कल, मिश्र लय खंडों के आधार पर। कहरवा, आड़ा चौताल, रूपक, एकताल आदि अनेक तालों में द्रुत लय का प्रयोग हो सकता है। द्विकल लय खंड का प्रयोग सूलताल और आड़ा चौताल में तथा एक-ताल और चौताल में; चतुष्कल का कहरवा, तीन ताल में; मिश्र का सादरा-झपताल, रूपक-तीव्रा, दीपचंदी-झूमरा में होता है।

इस संबंध में हम डॉ० मिश्र की ये पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहते हैं—'एक लय को एक ही ताल में सुगमता से गाया जा सकता है। इसके अपवाद को आप चाहे गायक का कौशल मानें और चाहे दुराग्रह।'[1] लय से तात्पर्य मध्य, द्रुत आदि नहीं बल्कि छन्दःशास्त्रीय लय (लय खंडों) से है, यह लेखक ने स्पष्ट कर दिया है। उन का यह कथन किसी हद तक त्रिकल लय खंड पर तो लागू हो सकता है क्योंकि त्रिकल के दादरा और खेमटा के अतिरिक्त अन्य कोई ताल हैं ही नहीं इसलिये तुलना के लिये गुंजाइश ही नहीं है। लेकिन जैसा हम पिछले पैरा में दिखा चुके हैं एक लय खण्ड का विभिन्न तालों में आसानी से प्रयोग होता है। यहाँ न कोई अपवाद है, न दुराग्रह। जैसे एक ही प्रकार की लय के लिये अनेक छंदों की कल्पना की जाती है उसी प्रकार एक लय के लिये तालों में भी अनेक संभावनाएँ हो सकती हैं।

'कर्षण' और उसका छन्द व ताल से संबंध

कर्षण ऐसा तत्त्व है जो मात्र संगीत की धरोहर है। इसका छंद या ताल में उपयोग नहीं फिर भी उनसे सीधे संबंधित है। गीत के शब्दों अथवा वाद्य में स्वरों को एक से अधिक मात्राओं में लम्बाना कर्षण है जो ताल के अनुरोध से ही किया जाता है। कर्षण एक ओर 'रवड़ छन्द' जैसी लयहीन रचनाओं को भी लयबद्ध बना देता है, दूसरी ओर छन्दोबद्ध रचनाओं के अपने छंद को नष्ट भी कर देता है। आधुनिक मुक्तक या स्वच्छन्द छन्द, जिनमें न लंबाई समान होती है और न लय खंडों की आवृत्ति, यों तो संगीतोपयोगी नहीं, विशेष रूप से ताल के साथ उनका सीधा संबंध नहीं जुड़ सकता;

---

१. आ. हि. का. में छन्द., पृ. ४६१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लेकिन कर्षण के द्वारा उन्हें भी तालवद्ध किया जा सकता है। दूसरी ओर छन्दवद्ध पद में अधिक कर्षण होने पर पद के छंद या प्रास के सौंदर्य का बोध नहीं होता क्योंकि कर्षण से शब्द टूट जाते हैं। उनमें सन्निहितता नहीं रहती, शब्द का एक अक्षर गा लेने के कई मात्रा वाद दूसरा अक्षर आता है इसलिये शब्दों में अर्थ वोध कराने वाला स्फोट[1] नहीं हो पाता। इसीलिये कर्षण होने पर अर्थ वोध भी नहीं हो पाता। छन्द में अक्षर का काल ह्रस्व, दीर्घ या क्वचित् प्लुत हो सकता है लेकिन यहाँ ह्रस्वाक्षर का कर्षण ६-७ मात्रा तक भी हो सकता है और ताल की यह मात्रा छन्द की मात्रा से कई गुनी बड़ी होती है। ख़्याल गायन शैली में कर्षण वहुत होता है। यही कारण है कि विलंबित ख़्याल के पदों में कोई छंद नहीं होता क्योंकि कर्षण के बिना ख़्याल गान संभव ही नहीं है और एक अक्षर का कर्षण कहाँ, कितना होगा यह निश्चित नहीं होता। ख़्याल के पदों का गद्य से इतना ही अन्तर होता है कि इनमें गद्य की तरह पूरी वाक्य रचना नहीं होती वल्कि पद्य या कविता की तरह मुख्य अर्थ कुछ शब्दों के द्वारा प्रकट कर दिया जाता है, क्रिया पदों या संवंध कारक का रहना आवश्यक नहीं होता। लयवद्धता प्राय: नहीं होती लेकिन अन्त्यानुप्रास बड़े और छोटे ख़्याल में प्राय: रहता ही है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

बड़े ख़्याल में प्रास—

(१) स्थायी—नई रुत नई फूली, नई बेली बहारियाँ,
नयो (नई) कलियन को नयो नयो रस।
अंतरा—नये नये द्रुमन के नये नये पतवा;
ता पर भँवरा, भयो बस॥[2]

(२) स्थायी—पतिया ले जा 'प्रणव' पिया के देस।
अंतरा—गल वीच माला कानन विच मुंदरा,
कर रही जोगन वारो वेस॥[3]

छोटे ख़्याल में अन्त्यानुप्रास—

(१) स्थायी—चैन सों सोइ, रैन सब खोई।
अंतरा—जागी जव तव सोचन लागी,
कर मल मल पछतानी,

---

१. व्याकरण का एक सिद्धान्त जिसके अनुसार शब्द का हर अक्षर उच्चारण के साथ ही अपने अर्थ का संस्कार छोड़ता चलता है और शब्द पूरा होने पर उसका पूरा अर्थ स्फुट होता है। इसी प्रकार हर शब्द अपना संस्कार छोड़ता जाता है और वाक्य पूरा होने पर पूरे अर्थ का स्फोट होता है। यह सिद्धान्त गहन चर्चा का विषय है, यहाँ इसका बिल्कुल मोटा अर्थ दिया गया है।

२. सं., भाग ३, पृ. २०१ ३. वही, भाग ५, पृ. २२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रोई मुख धोई, रैन सब खोई ॥[१]

(२) स्थायी—राधिका तिहारे नैन श्याम रंग घोले,
अंजन बिना खंजन मृग मीन जलज डोले ।

अंतरा—स्निग्ध सरल विमल रसिक नेह भाव बोरे,
'प्रणवरंग' वारी जात नयनन अनमोले, लोले विलोले ॥[२]

कर्णाटक संगीत में आज गाये जाने वाले गीतों में छन्दःशास्त्र की दृष्टि से छन्दबद्धता नहीं है क्योंकि उनमें न तो सब चरणों की लंबाई समान होती है, न हर चरण में अक्षर-संख्या अथवा मात्रासंख्या निश्चित रहती है। गीतों में सर्वत्र अन्त्यानुप्रास भी नहीं होता। फिर भी द्रविड़ साहित्य में द्वितीयाक्षर या द्वितीय और तृतीयाक्षर प्रास की अपनी जो निजी विशेषता है वह गेय कृतियों में भी अक्सर दिखाई देती है।[३] यह रूप द्रविड़ संस्कृति के प्राचीनतम साहित्य 'तमिळ प्रवन्धम्' में भी मिलता है। इस प्रकार के प्रास में कभी अक्षरों की और कभी ध्वनि अर्थात् केवल अ, इ, उ आदि स्वरों की आवृत्ति दिखाई देती है। जैसे—

ऐन्दुकु पेद्दला..................वले बुद्धि.................. ।
ऐन्दु पोदुनैय्या..................रामैय्या ॥ पल्लवि
अन्दरिवैले..................दाटिवदरिति ।
अन्दरानि..................॥ अनु०
वेदशास्त्र..................।
भेदरहित ....।
नादविद्या..................।
नाथ..................। चर०

यहाँ पल्लवि और अनुपल्लवि में अक्षरों का, चरणम् में वेद-भेद में 'एद' का प्रास है। कभी-कभी चरणम् के बीच में यति होने पर उस चरण के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में भी प्रास रहता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में पोदुनैय्या और रामैय्या में 'ऐय्या' का तथा अन्दरिवैले और दाटिवदरिति में 'दरि' का।

छोटे ख़्याल में कर्षण कम होता है और कभी-कभी बिल्कुल नहीं होता; पद की जैसी लघु गुरु योजना हो ठीक वैसा ही गाया जाता है। ऐसे पदों में छन्द के अनुरूप ताल की योजना करना आसानी से संभव होता है। पद के छंद को ज्यों का त्यों बनाये रखते हुए, कर्षण किये बिना गाया जाने वाला एक गीत संगीतलिपि सहित यहाँ दिया जा रहा है।

---

१. वही, भाग २, पृ. १६०
२. वही, भाग १, पृ. ५६
३. आ. भक्तों का त. प्र., पृ. ४३०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

राग तिलककामोद—त्रिताल

स्थायी —मन अटकी छवि नागर नट की, केसर खौर मुकुट माथे पर, वनमाला गल लटकी अटकी ।

अंतरा —मृदु मुसकान नैन अनियारे, चितवन हिय बिच खटकी अटकी ॥

स्थायी

×				५				०				१३			
															ग
												रे ग	सा रे	रे प	म
												म ·	न ·	अ ·	ट
		नी		सा								म	प	ध	प ।
ग रे	ग - - रे	सा	नी	प	—	नी	सा	ग रे	ग — — रे	नी	सा	रे	म	प	सा
की ·	· ऽ ऽ ·	छ	बि	ना	ऽ	ग	र	न ·	ट ऽ ऽ ·	की	·	के	·	स	र
। सा				रे						सा		। सा		।	।
प	ध	म	ग रे	ग— —रे	सा	सागरे—	रेपम—	ग	— रे	नी	सा	प	नी	सा	रे
खी	·	र	मु ·	कु ऽ ऽ ·	ट	मा · · ऽ	· · · ऽ	थे	ऽ ·	प	र	व	न	मा	·
। ग		। रे		। सा	प	ग			ग	रे					
। रे	। । ग - - रे	नी	। सा	प	ध— —प	म	ग— —रे	सा	रे ग	नी	सा				
ला	· ऽ ऽ ·	ग	ल	ल	ट — ऽ ·	की	· ऽ ऽ ·	अ	ट ·	की	·				

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंतरा

×				५				०				१३			
												नो	ध	प	
												म	प	सां	सां
												मृ	दु	मु	स
नी				सां						रें					ग
सां	–	सां	सां	प	प	नी	सां	ग रे	ग – – रे	नी	सां	रे ग	सां रे	रे प	म
का	ऽ	न	नै	·	न	अ	नि	या ·	· ऽ ऽ ·	रे	·	चि ·	त ·	व ·	न
		सां		सां		ग				रे					
ग रे	ग – – रे	नी	सां	प ध	प ध	म	ग – – रे	सा ग	रे ग	नी	सां[1]				
हि ·	य ऽ ऽ ·	बि	च	ख ·	ट ·	की	· ऽ ऽ ·	अ ·	ट ·	की	·				

१. संगी., भाग ३, पृ. १०४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस पद में चरणों की संख्या व पूरे पद की रचना को देख कर यह कहा जा सकता है कि यह विशुद्ध गेय रचना है, साहित्यिक नहीं। लेकिन हर चरण में ४-४ मात्राओं के ४-४ चौकले होने से १६-१६ मात्राएँ हैं। इस प्रकार कसी हुई अत्यन्त सुन्दर रचना है, त्रिताल में पूरी बैठ जाती है और स्वर-ताल योजना भी बिल्कुल इसके अनुरूप होने के कारण पद, छन्द और ताल का पूरा सामंजस्य इसमें है।

ध्रुपदों में भी घनाक्षरी में अन्त्यानुप्रास तो होता ही है, कभी-कभी विदारियों में भी प्रास रहता है। लेकिन घनाक्षरी से भिन्न अन्य पदों में भी तुकयोजना अवश्य रहती है। ध्रुपद में प्रासयोजना के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

(१) घनाक्षरी पद में आभ्यंतर तुक व अन्त्यानुप्रास दोनों का उदाहरण —

स्थायी—आत होंगे आलि प्यारे भूखन ला रत नारे
बेग उठ धावो प्यारि हियरा हुलसात है।

अंतरा—फूलन की सेज करो सखि सब काम तजो
फूलन के परस (फर्स) करो हमरे मन भात है।

संचारी—सगरे सिंगार करो अंजन हूँ नैन धरो
मुख में तमोल फीको मदहूँ सरसात है।

आभोग—द्वारन पै जावो बीर जिया धरे नाहिं धीर
कहे हरिबल्लभ ये बासक हरखात है॥[1]

(२) घनाक्षरी से भिन्न ध्रुपद का उदाहरण—

स्थायी—चन्द्रमा भाल विराजत, वंधन लसत अंग,
शुभ शुभकर, राजत एकदंत।

अंतरा—विघ्न हरन अष्टसिद्धि, नवनिधि दायक
गणनायक देव ही वाको कंत॥

संचारी—लम्बोदर गिरिजा सुत, अभय करन शुंड दंड
मूषक को वाहन, कुमति हंत।

आभोग—(चिन्तामणि) अघखंडन, चिदानंद चेत रूप
वेदगुन गावत, पावत न पार जाको आदि अंत॥[2]

ध्रुपद में बड़े ख़्याल की अपेक्षा कर्षण तो कम होता है लेकिन गेयस्वरूप में मूल छंद का बोध नहीं होता। वहाँ स्वर और ताल प्रधान बन जाते हैं और पद 'अनुभावक' के रूप में ही रह जाता है।

---

१. हिं. सं. प. क्र. पु. मा., भाग ३, पृ. २४२-२४४

२. स्व. पं. ओमकारनाथ ठाकुर से मौखिक परम्परा से प्राप्त राग गान्धारी का ध्रुपद।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्रुपद के पद प्रायः दो प्रकार के होते हैं—१. घनाक्षरी, २. केवल गेय दृष्टि से रचे गये पद। इन दोनों प्रकार के पदों में गेय की योजना भी दो प्रकार की होती है—१. पद यदि त्रिकल खंड पर आधारित हो तो पद जैसा हो लगभग वैसा ही गा लिया जाता है। २. त्रिकल खंड न हों तो १, ३, ५, ७ संख्यक अक्षरों को गुरु बना कर यानी दो मात्रा में कर्षण करके उनका गेयस्वरूप त्रिकल बना लिया जाता है। इन दोनों प्रकारों में यह विशेषता है कि ताल के खंड ४-४-४ के चलते हैं लेकिन गेयखंड ३-३-३-३ के। इस प्रकार पद अर्थात् गेय को ताल काटती हुई चलती है। कलाओं में सौंदर्य अथवा चमत्कार दो प्रकार से उत्पन्न किया जाता है—साम्य सम्पादन द्वारा और वैपरीत्य की योजना के द्वारा। संगीत में चौताल में गाये जाने वाले ध्रुपदों की ही एकमात्र ऐसी गानशैली है जिसमें पद और तालयोजना के वैपरीत्य के द्वारा सौंदर्य की सृष्टि करके आनन्दानुभूति करायी जाती है।

पदरचना के लयखंड और गेय के खंडों की उपर्युक्त योजना की स्पष्ट अनुभूति हो सके, इस दृष्टि से दोनों प्रकार के ध्रुपदों के पद और उनकी स्थायी की संगीत लिपि दी जा रही है।

(१) त्रिकलात्मक पद वाला ध्रुपद[1]—

राग केदार—ध्रुपद—चौताल

स्थायी—सरस सीस मोर मुकुट पाछन को
राजत कुंडल ललित
कुटिल अलक भाल विशाल
तिलक मृगमद के नीके झलके।

अंतरा—भौंह धनुष नैन कमल
नास कीर अधर विम्ब
दशन कुन्द कंठ कम्बु
ता मध मणि कौस्तुभ शोभे झलके॥

इसमें स्थायी में एक दो स्थानों पर त्रिकल खंडित होते हैं, शेष पूरा पद त्रिकल है।

स्थायी

×	०	५	०		९		११	
			म	रे	सा	म-ग	प	प
			स	र	स	सीऽ	·	स

१. संगी., भाग ३, पृ. १६६-१७१

				ध							
ध	ना॒	ध	प	म्	प	प म्	ध	ध	प	म	–
मो	·	र	मु	कु	ट	पा·	·	छ	न	को	ऽ
			।			ध					
प	ध	प	सा	नी	ध	म्	प	ध	प	म	–
रा	·	·	ज	त	·	कुं	·	·	ड	ल	ऽ
सा								प	म		
म	म	म	म–ग	ध	प	प म	म	म	रे	–	सा
ल	लि	त	कुऽ.	टि	ल	अ·	ल	क	भा	ऽ	ल
प				म		सा				ध	
–सा	सा नि	रे	सा	सा	सा	म	म–ग	ध	प	म्	प
वि	शा·	·	ल	ति	ल	क	मृऽ.	ग	म	द	के
म	–	रे	सा	रे	सा						
नी	ऽ	के	झ	ल	के						

'राजत कुंडल ललित' और 'मद के नीके झलके' में त्रिकल नहीं हैं तथा अन्तिम पंक्ति में ठीक-ठीक त्रिकल नहीं बनते। इसलिये रा ऽ ऽ जत ऽ कुं ऽ ऽ डलऽ, मदके नीऽके झलके, कौऽऽ स्तुऽभ शोऽभे झलके—इस प्रकार कर्षण करके शुरू से अन्त तक गेय में त्रिकलात्मकता रखी है।

(२) त्रिकल रहित पदरचना वाला ध्रुपद[1]—

राग भूपाली

चौताल

स्थायी—चारों वानी के व्योहार, सुन लीजे गुनिजन,
तब पावे ये विद्या को सार।

अन्तरा—प्रथम बानी गोबरहार, दूजी कहत खण्डार,
तीजी डागुर गावत, और भनत नोहार॥

१. वही, भाग १, पृ. ११-१२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्थायी

×		०		५		०		९		११	
						ग	रे	सा	रे	ध̱	सा रे
						चा	·	रों	बा	·	नी··
						सा	सा				
प	ग	रे	ग	रे	सा	ध̱	ध̱	सा	ग	रे	ग
के	·	ब्यौ	हा	·	र	सु	न	·	ली	‘	जे
			।	।				।		।	
			सा	सा		प		सा	।	सा	
रे	ग	प	ध	ग	ग	ग	प	ध	सा	प	ध
गु	नि	·	ज	·	न	त	ब	·	पा	·	वे
				।							
।				सा				प	।	।	।
सा	—	प	ध	ग	प	प	ध	ध	सा	सा	रे
ये	ऽ	वि	·	द्या	·	को	·	·	·	·	·
।											
सा	ध	प	ग	रे	सा						
सा	·	·	·	·	र						

यहाँ भी सर्वत्र त्रिकल बनाये गये हैं यद्यपि पद में नहीं हैं। त्रिकलों की अनुभूति तब अत्यन्त स्पष्ट होती है जब ध्रुपद में तिगुन की जाती है।

ध्रुपदों में शब्दरचना में अथवा उसके गेयस्वरूप में त्रिकल बनाने का प्रचलन कब से और क्यों हुआ होगा, प्रमाणों के अभाव में यह कहना कठिन है। लेकिन इस बारे में एक अनुमान किया जाता है। ध्रुपद में 'तिगुन' के प्रयोग की परंपरा प्राचीन नहीं है। मार्ग संगीत या मार्ग तालों में त्रिकल खण्डों का कोई स्थान नहीं है, न त्रिकल ताल है, यहाँ तक कि लय भी मूल की दुगनी-दुगनी है। बख़्शू, बैजू, तानसेन आदि के ध्रुपदों का गेयस्वरूप लिखित रूप में प्राप्त नहीं है। मौखिक परंपरा से चले आ रहे इनके ध्रुपदों में मूल रूप की प्रामाणिकता संदेहास्पद हो सकती है। दूसरी ओर आज गाये जाने वाले अनेक ध्रुपदों में या तो शब्द रचना त्रिकलात्मक है या उसका गेय रूप। इसके अलावा ध्रुपदों में तिगुन का प्रयोग भी किया जाता है। इनसे यह अनुमान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किया जाता है कि ध्रुपद में तिगुन-प्रयोग के समय होने वाली कठिनाई को दूर करने के लिये गीत को त्रिकलात्मक बनाया गया हो जिससे तिगुन सरलता से की जा सके।

ध्रुपद में कर्षण का विशेष ढंग है। पहले कहा जा चुका है कि पहले, तीसरे, ५वें और ७वें अक्षरों का ही कर्षण किया जाता है, शेष सब लघु बना दिये जाते हैं। इससे भिन्न को अपवाद समझना चाहिये। संभव है घनाक्षरी की ८-८ अक्षर की विदारियों में इस प्रकार कर्षण करके १२ मात्रा बनाने की अधिक सुविधा रहने के कारण घनाक्षरी को चौताल में गाया जाने लगा।

यह ध्यान देने योग्य है कि प्रायः ध्रुपद के पदों में पदशैली जैसी छोटी ध्रुव-पंक्ति नहीं होती, न घनाक्षरी में होती है। लेकिन पद की पहली पंक्ति को ही ध्रुव-पंक्ति बना लिया जाता है। यद्यपि ऐसा करने पर शेष चरणों से ध्रुवपंक्ति की तुक नहीं मिलती।

घनाक्षरी को झपताल में भी गाया जाता है, यद्यपि चौताल में गाने का ही अधिक प्रचार है। झपताल में बिठाने के लिये केवल तीसरे और सातवें अक्षरों का कर्षण किया जाता है, शेष सब लघु बना दिये जाते हैं। अन्तिम खण्ड में ६ या ७ अक्षर हों तो आवश्यक कर्षण करके मात्रा पूर्ति कर ली जाती है। उदाहरणार्थ—

चिरियाँ चुहचुहानी, चकवा की सुन बानी,
कहत यशोदा रानी, जागो मोरे लाला ॥

रवि की किरण जानी, कुमुदानी सकुचानी,
समुदित बिकसानी, दधि मथत बाला ॥[1]

इसके पहले चरण में ८-८-८-६ और दूसरे में ८-८-८-७ अक्षर हैं। प्रथम तीन-तीन यतियों में भी तुक है और दोनों चरणों के अन्त में भी समान तुक है। स्थायी की संगीत-लिपि प्रस्तुत है—

राग देशकार[2]

छोटा ख़्याल—झपताल

स्थायी

×	.	३			०		८		
ध	प	ध / ग	प	ग प	ध–सां ध	प	ग	रेसा –	सा
चि	रि	याँ	·	चु ·	हऽ · ·	चु	हा	· ऽ	नी

१. राग., भाग २, पृ. १२३, पदसंख्या १०

२. संगी., भाग ५, पृ. ९३-९४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

	सा	ध							
सा	ध	सा	—	ग	ग —प	गपधप	ग	रेसा --	सा
च	क	वा	ऽ	की	सु ऽ ·	न · · ·	वा	· · ऽ	नी

				सा			सा		
सा	सा ध	सा ध	—	ध	धसारेसा	ध प	ध	सा	सा
क	ह ·	त ·	ऽ	य	शो · · ·	दा ·	रा	·	ना

सा		ध						ध	
रे	सा	सा	ध – – प	ग – – प	प साध-	ग – – प	पसाध–	ग	प
जा	गो	मो	· ऽ ऽ ·	रे ऽ ऽ ·	ला · · ऽ	· ऽ ऽ ·	ला · · ऽ	·	·

इसमें केवल अन्तिम पंक्तियों में आवश्यकतानुसार चौथी विदारी के अन्तिम दो वर्णों का कर्षण ५-५ मात्राओं में किया गया है, शेष सर्वत्र तीसरे और ७वें अक्षरों का ही कर्षण है।

नियत ढंग से कर्षण करके सगण सवैये जैसे चतुर्मात्रिक खंड वाले छंद को धमार जैसे सप्तमात्रिक खंड वाले ताल में बिठाने का भी उदाहरण प्रस्तुत है।

राग भीमपलासी—ताल धमार[1]

स्थायी—तट तें निकसी रघुवीर वधू धरि धीर दिये मग में डग द्वै ।
जल की भरि भालकनी झलकी पुट सूखि गये मधुराधर वै ।

अंतरा—पुनि पूछति है चलनोब कितो ? पिय पर्णकुटी करि हों कित ह्वै ?
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै ।।

(उपर्युक्त सवैये का शुद्ध रूप यह है—

पुर तें निकसी रघुबीर बधू धरि धीर दिये मग में डग द्वै ।
झलकी भरि भालकनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै ।
फिर बूझति हैं चलनो अब केतिक, पर्णकुटी करि हों कित ह्वै ।
तिय की लखि आतुरता पिय की, अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै ।।)

---

१. वही, भाग २, पृ. ६१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपर्युक्त सवैये को धमार में योजित करने के लिये कर्षण किस ढंग से किया गया है केवल यह दिखाने के लिये यहाँ इसके स्थायी की संगीतलिपि दी जा रही है। इसमें तीसरे, ६ठे, ९वें, १२वें आदि दीर्घ अक्षरों का ५-५ मात्रा तक कर्षण करके ८-८ मात्राओं के खंडों को १४-१४ मात्राओं के खंड बना कर धमार ताल में बिठाया है।

स्थायी

×					६		०			११		१३	
												म	प
										नि॒	सा	ग॒	म
										आ	·	त	ट
नि॒			म		म			सा				म	
प	–	–	ग॒	सा	ग॒	म	ग॒	रे	सा	नि॒	सा	ग॒	म
तें	ऽ	ऽ	·	·	नि	क	सी	·	·	·	·	र	धु
	सां						प						
प	नि॒	–	प	नि॒	सां	नि॒	ध	प	म	प	–	ग॒	म
वी	·	ऽ	·	·	र	व	धू	·	·	·	ऽ	ध	रि
							प						
सा	ग॒	म	प	म	प	नि॒	ध	प	–	ग॒	म	नि॒	प
धी	·	·	·	·	र	दि	ये	·	ऽ	·	·	म	ग
म					सा		म	सा					
प	–	–	ग॒	सा	ग॒	म	ग॒	रे	सा	रे	नि॒	रे	सा
में	ऽ	ऽ	·	·	ड	ग	द्वै	·	·	·	·	ज	ल
							म						
म	–	–	ग॒	म	प	म	प	–	–	प	म	प	सां
की	ऽ	ऽ	·	·	भ	री	भा	ऽ	ऽ	·	·	ल	क
							प						
नि॒	–	–	प	नि॒	सां	नि॒	ध	प	–	म	प	ग॒	म
नी	ऽ	ऽ	·	·	झ	ल	की	·	ऽ	·	·	पु	ट

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

		।	।		।		प						
प	नि॒	सा	रे	नि॒	सा	नि॒	ध	प	–	ग॒	म	नि॒	प
सू	·	·	·	·	ख	ग	ये	·	ऽ	·	·	म	धु
				।			म						
ग॒	म	प	नि॒	सा	नि॒	ध	ग॒	रे	सा	प म	प		
रा	·	·	·	·	ध	र	द्वै	·	·	· ·	·		

पं० भातखंडे ने भी स्वर और तालबद्ध एक सवैया[1] दिया है लेकिन उसमें पद के लघुगुरु का कोई नियत स्वरूप दिखाई नहीं देता।

ताल में छन्द का स्वरूप

ताल में छन्द का स्वरूप मुख्यतः दो प्रकार से दिखाई देता है—१. विभिन्न तालों की रचना में और २. किसी ताल में विभिन्न बोलों की रचना में। ताल और छंद का मौलिक संबंध प्रथम प्रकार में है। जैसे हरिगीतिका छन्द में कुल २८ मात्राएँ हैं और ३-२-२ के क्रम से ७-७ मात्राओं के खण्ड बनते हैं; उसी प्रकार रूपक, तीव्रा, धमार में भी ३-२-२ के खण्ड होते हैं। इसीलिये हरिगीतिका छन्द का इन तालों के साथ पूरा सामंजस्य है।

दूसरे प्रकार के बारे में प्रथम खंड में भी कुछ प्रकाश डाला जा चुका है और वहाँ दो उदाहरण भी दिये गये थे। विभिन्न बोलों और परनों की रचना में विशिष्ट छंदों की लयों का प्रयोग करने की परम्परा कुछ वर्ष पूर्व तक मृदंगवादकों में थी। मृदंगवादन का प्रचार कम होने के साथ-साथ यह परम्परा भी धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। उपर्युक्त दोनों प्रकारों के बारे में अगले पृष्ठों में विस्तार से चर्चा की जायगी।

ताल की रचना और विशिष्ट छन्द

इस शीर्षक के अन्तर्गत कुछ तालों के साथ विशिष्ट छन्दों का संबंध दिखाना ही हमारा प्रयोजन है। इसलिये मुख्य रूप से उन्हीं तालों को यहाँ लिया जा रहा है जिनके समकक्ष छन्द भी उपलब्ध हैं। जैसे—दादरा, कहरवा, सादरा अथवा झपताल, रूपक अथवा धमार, तीव्रा और त्रिताल। इनके समकक्ष छन्दों के लक्षण श्री० जगन्नाथप्रसाद भानु के छन्दःप्रभाकर से लिये हैं। जहाँ नाम अथवा लक्षण भिन्न हैं उनका अलग से उल्लेख किया है।

दादरा

इसमें कुल ६ मात्राएँ हैं, ३-३ मात्राओं के दो खण्ड हैं जिनकी पहली-पहली मात्राओं

---

१. हिं. सं. प. क्र. पु. मा., भाग ४, पृ. १२९-१३०, राग छायानट, चौताल, 'छाया परी जमना जल में' पद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर विशेष बल रहता है। इस कारण तिस्र गति अत्यन्त स्फुट होती है। दादरा के हर खंड में ३-३ मात्रा होने के कारण ही तिस्र गति रहती है, यदि २-२ मात्राओं के तीन खंड कर दिये जायें तो वह गति ही नष्ट हो जाती है। इसलिये इसी प्रकार के खंडों और बल वाले छन्द इस ताल के अधिक उपयुक्त होंगे। प्रतिष्ठा जाति (४ अक्षर) के उषा, कला, सुधी; सुप्रतिष्ठा (५ अक्षर) का करता; अनुष्टुप् (८ अक्षर) के प्रमाणिका, समानिका; १५ अक्षर का चामर तथा १६ अक्षर का पंचचामर दादरा के अनुकूल हैं। इनमें से प्रत्येक का लक्षण नीचे लिखे अनुसार है—

उषा—य ल = । ऽ ऽ ।, कला—भ ग = ऽ । । ऽ, सुधी—ज ग = । ऽ । ऽ, करता—न ल ग = । । । । ऽ, प्रमाणिका—ज र ल ग = । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ, समानिका—र ज ग ल = ऽ । ऽ । ऽ । ऽ ।, चामर = र ज र ज र = ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ, पंचचामर—ज र ज र ज ग = । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ, धारी अथवा वर्त्म[1]—र ल = ऽ । ऽ । ।

उपर्युक्त सभी वृत्तों में ३-३ के खण्ड बनते हैं इसलिये वे दादरा के अनुकूल हैं। लेकिन दादरा में पहली और चौथी मात्रा पर जो स्वाभाविक अधिक बल है वह उन्हीं वृत्तों में है जिनमें ऽ। की आवृत्ति है क्योंकि गुरु के बाद लघु आने से गुरु पर सहज रूप से बल आ जाता है। इसलिये समानिका, चामर, पंचचामर और धारी दादरा की प्रकृति के अधिक अनुकूल हैं। पंचचामर में शुरू की एक मात्रा छोड़ कर अर्थात् लघु के बाद गुरु से ताल का ग्रह होगा।

कहरवा

इस ताल में ४-४ मात्राओं के खण्ड से ८ मात्राएँ होती हैं किन्तु इसके ठेके में पहली मात्रा के अतिरिक्त चौथी और सातवीं मात्राओं पर बल रहता है, पाँचवीं पर नहीं। जैसे, धा गे न ति न क धि ऽ में रेखांकित बोलों पर बल आता है। वास्तव में बल के अनुसार इसमें ३, ३, २ के खण्ड बनते हैं। इस ताल की गति चंचल और उछलती सी है। छन्दों में कन्या—म ग = ऽ ऽ ऽ ऽ, हरि—न ल = । । । ।, शशिवदना—न य = । । । । ऽ ऽ मात्रासंख्या की दृष्टि से अनुकूल छन्द हैं। लेकिन ३, ३, २ के खण्डों के अनुसार न न ग = । । । । । । ऽ लक्षण वाला द्रुतगति अथवा चपला[2] छन्द इसके अधिक निकट होगा। कहरवा में ४-४ मात्रा के खण्ड रखें तो चतुर्मात्रिक खंड वाले सभी छन्द आ जायेंगे।

तीव्रा, रूपक और धमार—इनमें से प्रथम दो ताल ३, २, २ के मात्रा विभाजन वाले ७ मात्रा के और तीसरा ३, २, २, ३, २, २, वाला १४ मात्रा के ताल हैं, जिनमें हर खंड की पहली-पहली मात्राओं पर यानी पहली, चौथी और छठी मात्राओं पर तथा

---

१. जय., पृ. ११८   २. ना. शा., ३२/१०१-१०२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धमार में इनके अतिरिक्त ८, ११, १३ पर भी बल रहता है। आज के प्रचार में तीव्रा ध्रुपद अंग का, रूपक ख़्याल अंग का और धमार होरी-धमार अंग का ताल माना जाता है। क्रीडा, रंगी, मात्रिक गीतिका, हरिगीतिका के लिये ये ताल उपयुक्त हैं। क्रीडा—य ग = ISSS, रंगी—र ग = SISS, गीतिका—१४ + १२ मात्राएँ जिनमें से ३, १०, १७, २४ संख्यक मात्राएँ लघु, हरिगीतिका—१६ + १२ मात्राएँ हैं। इनमें से हरिगीतिका की शुरू की २ मात्रा छोड़ कर ताल का ग्रह हो और गीतिका के अंत में २ मात्रा का कर्षण कर लिया जाय तो इन दोनों में तथा रंगी वृत्त में ये ताल ख़ूब जमते हैं।

सादरा अथवा झपताल—सादरा में २, ३ के अनुसार तथा झपताल में २, ३, २, ३ के क्रम से १० मात्राएँ होती हैं। इनमें भी हर खण्ड की पहली मात्राओं पर अधिक बल होता है। मन्थान, भुजंगप्रयात, महामोदकारी, स्रग्विणी तथा सादर वृत्तों के लिये ये ताल उपयुक्त हैं। मन्थान—त त = SSI SSI, भुजंगप्रयात—य य य य, महामोदकारी—य य य य य य, स्रग्विणी—र र र र, सादर[1]—स न ग ल। इन सभी में ५-५ मात्राओं के खण्ड बनते हैं। सादर छन्द १९वीं सदी के अंत में सूदन कवि की देन है। संभव है इसी सादर छन्द के आधार पर सादरा ताल की रचना हुई हो।

त्रिताल—४-४-४-४ के मात्राखंडों के अनुसार इसमें कुल १६ मात्राएँ होती हैं। समान मात्रिक खंड होने, पर्याप्त लम्बा होने तथा द्रुत, मध्य, विलंबित तीनों लयों में प्रयोगक्षमता के कारण इसमें ऐसे सभी वार्णिक, मात्रिक वृत्त खप जाते हैं जिनमें—४, ४ मात्राओं के खंड बनते हों। चौपाई, दोधक, तोटक, मोदक, सवैया और इसी तरह के अन्य छन्द जिनमें चौकले बनते हों इस ताल के अनुकूल हैं। घनाक्षरी के लिये भी यह संभावना बताई जा चुकी है कि यह मूलतः १६ मात्राओं के ताल में गाया जाता था जिसमें १, ५, ९, १३ पर ताली पड़ती थी।[2] संभव है त्रिताल जैसा कोई ताल उस समय रहा हो जिसका प्रयोग घनाक्षरी में होता रहा हो।

कुछ विचारणीय बिन्दु

विशेष छन्दों में विशेष तालों का योग करते समय निम्न बातें ध्यान में रखनी आवश्यक हैं अन्यथा उनका संबंध अमैत्रीपूर्ण हो सकता है—

(१) किसी छंद के लिये उपयुक्त ताल का चुनाव कुल मात्रा संख्या के अनुसार तो होना ही चाहिये लेकिन इससे भी अधिक आवश्यक है उसके मात्राखंडों का ध्यान रखना। ७ मात्रा वाले छन्द को मात्रासंख्या की दृष्टि से तो रूपक या तीव्रा में बिठाया जा सकता है लेकिन यदि पद्य में ३-२-२ के बजाय २-३-२ या २-२-३ के खण्ड अनियमित ढंग से बनते हों तो ये ताल उपयुक्त नहीं होंगे क्योंकि वहाँ ताल के खण्ड कहीं पद्य के साथ और कहीं पद्य के खण्ड को काटते हुए चलेंगे। उदाहरणार्थ, सुगती छन्द ७ मात्रा का है जिसमें खण्ड का नियम नहीं है[3]। जैसे—

---

१. हिं. क. का छन्द. को योग., पृ. १३६

२. बृ. पिं., पृ. ५५०। द. पिं., पृ. ५६ पर इसी के अनुसार ताल के चिन्ह दिये हैं।

३. सभी उदाहरण छन्दःप्रभाकर से लिये हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२ २ ३ २ २ ३ २ ३ २ २ ३ २
शिव शिव कहो, जो सुख चहो। जो सुमति है, तो सुगति है।

दो भिन्न प्रकार के खण्ड होने के कारण इसमें तीव्रा या रूपक का प्रयोग करने से वैसा सामंजस्य नहीं होगा जो किसी भी एक प्रकार के खण्ड होने से होता। उदाहरणार्थ, रंगी छन्द में—

३ २२ ३ २२ ३ २२ ३ २२
राग रंगी। श्याम संगी। नित्य गावो। मुक्ति पावो।

इसलिये ताल और छन्द के पूर्ण सामंजस्य के लिये यह आवश्यक है कि पद्य में शब्दों का या मात्राओं का विभाजन ताल के मात्राविभाजन के अनुरूप हो।

(२) मात्रा विभाजन ठीक होने पर ताल के ग्रह यानी उठान को ध्यान में रखना चाहिये। पद्य में जिस शब्द या अक्षर से उठाने पर उसका ताल के मात्राखण्डों से सामंजस्य स्थापित हो सके वहीं से ग्रहण करना चाहिये। उदाहरण के लिये, भुजंगप्रयात वृत्त में शुरू का लघु छोड़ कर गुरु पर ही वज़न आता है। पद्य के इस स्थान से यदि ताल उठाया जाय तो पूरा छन्द झपताल में आसानी से गाया जा सकता है। इसी प्रकार हरिगीतिका की शुरू की दो मात्रा छोड़ कर उठाने से तीव्रा, रूपक या धमार इनके साथ जमते हैं।

सन्त तुलसीदास की हरिगीतिका छंद की एक रचना प्रस्तुत है जिसमें उपयुक्त ताल के चुनाव, सही स्थान से ताल के ग्रहण और अर्थ-भाव के अनुसार स्वरयोजना के कारण रचना का सौंदर्य निखर आया है। यहाँ भी केवल स्थायी की ही लिपि दी जा रही है।

राग विहाग — धमार[1]

स्थायी—जय रामरूप अनूप निरगुन सगुन गुन प्रेरक वही।
दशशीश बाहु प्रचंड खंडन चाप शरमंडन मही॥
अन्तरा—पाथोज गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं।
नित नौमि राम कृपालु बाहु विशाल भवभय मोचनं॥

स्थायी

×			०		६		०			११		०	
												ग	म
												ज	य
ग	(रि) नि̱	सा	सा	नि̱सा	रि	सा	नि̱	ध̱ म्̱ प̱ –	प̱	सा	सा	सा	सा
रा	.	म	रू	. .	प	अ	नू	. . . ऽ	प	नि	र	गु	न

1. संगी., भाग २, पृ. १५-१६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ग									नि	नि			
नि	सा	सा	म	ग	प	—	म्	प	ध	ग	—	ग	म
स	गु	न	गु	न	प्रे	ऽ	र	क	व	ही	ऽ	द	श
			।	।	।	।		ध					
प	नि	नि	सा	निसा	रि	सा	नि	म्	प	धम्	प	म	ग
शी	.	श	वा	. .	हु	प्र	चं	.	ड	खं.	.	ड	न
ग	—	ग	गम	नि	धम्प —	—	ग	म	ग	रिनिसा —	सा		
चा	ऽ	प	श.	र	मं . . ऽ	ऽ	ड	न	म	ही . . ऽ	.		

(३) छन्द का संबंध ताल की केवल कुल मात्रासंख्या के आधार पर नहीं बिठाया जाना चाहिये क्योंकि कुल मात्रासंख्या की दृष्टि से कोई छन्द भले ही किसी ताल के उपयुक्त घोषित कर दिया जाय लेकिन अगर उसमें अवान्तर खण्ड किसी अन्य ताल या लय के अनुसार बनते हों तो १-२ मात्रा का कर्षण करके भी उसी ताल में बिठाना चाहिये। उदाहरण के लिये १४ मात्रा के छंद के लिये ३-२-२-३-२-२ अथवा ३-४-३-४ अथवा २-२-२-२-२-२-२ में से जिस प्रकार के खण्ड बनते हों उसके अनुसार तीव्रा-रूपक अथवा झूमरा-दीपचंदी अथवा आड़ा चौताल का चुनाव करना चाहिये।

(४) पद्य में ताल की योजना करते समय ताल का वज़न खंडित नहीं होना चाहिये। अगर कहीं ऐसा होता हो तो समझ लेना चाहिये कि ताल उस पद्य के अनुकूल नहीं है अथवा सही जगह से ताल का उठान नहीं हुआ है।

(५) छंद के लिये ऐसा ताल चुनना चाहिये जिसमें कर्षण के द्वारा मात्रा पूर्ति कम से कम करनी पड़े क्योंकि अधिक मात्रा पूर्ति करके तो किसी भी पद्य को किसी भी ताल में गाया जा सकता है, लेकिन उससे छन्द का अपना स्वरूप नष्ट हो जाता है।

कुछ भ्रान्तियों का निराकरण

विशिष्ट छंदों को विशिष्ट तालों में बिठाने का प्रयत्न मुख्य रूप से दो पुस्तकों में किया गया है—१. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना (ले०—डॉ. पुत्तूलाल शुक्ल) और २. सूरसाहित्य का छन्दःशास्त्रीय अध्ययन (ले०—डॉ० गौरीशंकर मिश्र)। दोनों के लेखकों ने इस कार्य के द्वारा साहित्य और संगीत के, विशेषतः छंद और ताल के, संबंध-स्थापन का द्वार खोला लेकिन इसमें कुछ भूलें और भ्रान्तियाँ दिखाई देती हैं। साहित्य और संगीत—दोनों से संबद्ध विषय के शोधार्थी के नाते अपना कर्तव्य समझ कर उनका निराकरण हम कर रहे हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) ठुमकि चलत रामचंद्र बाजत पैंजनियाँ—तुलसी के इस पद के प्रत्येक चरण में २२ मात्राएँ हैं। अष्टमंगल ताल में भी कुल २२ मात्राएँ होती हैं। इस आधार पर श्री शुक्ल ने इस पद के लिये अष्टमंगल ताल को चुना है। दादरा में २ मात्राओं की पूर्ति करनी पड़ती है इसलिये उसे छोड़ दिया है।[1]

पहले कहा जा चुका है कि पद्य की कुल मात्रा संख्या ही ताल के चुनाव के लिये पर्याप्त नहीं है, मूल बात उसके अवांतर खंडों की या लय की है। ताल का चुनाव करते समय छन्द का ऐसा, यथासंभव छोटे से छोटा, खंड चुन लेना चाहिये जिसकी आवृत्ति होती हो और किसी ताल से साम्य हो। पूरे छंद को ताल के एक आवर्तन में बिठाने से ही छंद की रक्षा नहीं हो सकेगी। लम्बे छंदों को गेय बनाते समय एक आवर्तन में बिठाने के बजाय उससे साम्य रखने वाले छोटे खंडों के ताल का प्रयोग ही लक्ष्यसम्मत है। बड़े तालों की रचना बड़े छन्दों के लिये हुई हो यह संभावना कम है। ध्रुपद में गंभीरता बनाये रखने, राजदरबारों में नयेपन से चमत्कृत करने और विविध लय प्रयोगों के लिये अधिक गुंजाइश प्राप्त करने की दृष्टि से लम्बे ताल बने हों, यह अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

उपर्युक्त पद में शुरू से अंत तक प्रायः ३-३ मात्रा के ही खंड बनते हैं इसलिये दादरा ही इसके लिये एकमात्र उपयुक्त ताल है। अष्टमंगल में तो मात्राखंड २-२ के ही आधार पर बनते हैं इसलिये मात्रापूर्ति करने की आवश्यकता न होने पर भी इसकी अपेक्षा २ मात्राओं की पूर्ति करके दादरा ही सर्वथा उचित है। स्व० श्री. डी. वी. पलुस्कर का रिकॉर्ड सुनने के बाद तो इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती।

(२) भुजंगप्रयात को ग्रह परिवर्तन और मात्रापूर्ति के साथ जगदम्बा ताल में बिठाने के लिये कहा है।[2]

भुजंगप्रयात मात्रापूर्ति के बिना ही झपताल में बैठ जाता है और उसके मात्रिक खंड भी इस ताल के बिलकुल अनुकूल हैं। फिर सीधा रास्ता छोड़ कर टेढ़ा रास्ता अपनाने और जबरदस्ती मात्रापूर्ति करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

(३) धुमाळी ताल ७ का नहीं ८ मात्रा का ही होता है इसलिये हरिगीतिका जैसे छंद इसमें नहीं समायेंगे, जैसा लेखक ने कहा है।[3]

(४) डॉ० मिश्र ने पंचक पर्व के आधार पर बने तोमर और नित छंदों के लिये झपताल सुझाया है।[4] साथ ही अतीतग्रह का सहारा लेकर यानी तोमर के 'सुनि', 'अति', 'आ', 'अनु' और नित के 'बे', 'सुनि' गा लेने के बाद ताल का प्रारंभ करने के लिये कहा है। दोनों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

---

१. आ. हिं. का. में छन्द, पृ. ४९३
२. वही, पृ. ५०२
३. वही, पृ. ५०३-५०४, ५०८
४. सू. सा. का. छं. अ., पृ. ५६७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सुनि । विटप चं । चल पात ।
अति । निकट कौ । अकुलात ।
आ । कुलित पुल । कित गात ।
अनु । राग नैं । न चुचात । (सूरसागर, पद १२४१)
बे । ली द्रुम च । पल भए ।
सुनि । पल्लव प्र । गटि नए ।[1]

ताल दृष्टि से यहाँ एक बड़ी भूल दिखाई देती है। अतीत ग्रह का अर्थ यह है कि गीत से पहले ताल शुरू हो जाय। दो मात्रा छोड़ कर ताल का ग्रहण करने में गीत की उठान पहले है इसलिये अतीत ग्रह कहना अनुचित है। लेकिन दोनों छंदों में १२-१२ मात्राएँ हर चरण में होने के कारण हर बार २-२ मात्राएँ पूरी तरह छोड़ देना भी ग्रह की धारणा में असंभव है। छन्द के किसी निश्चित स्थान से एक बार ताल का ग्रहण हो जाने के बाद पूरा छन्द ताल में आना ही चाहिये। यहाँ प्रत्येक चरण में १२ मात्रा होने से १० मात्रा का झपताल उसके उपयुक्त नहीं हो सकता क्योंकि २ मात्रा तालमात्राओं से अधिक हैं। हर चरण में २-२ मात्राएँ लावारिस नहीं छोड़ी जा सकतीं और ऐसी क्रिया को अतीत ग्रह कहना संगीत संबंधी अज्ञान का सूचक है।

दूसरे, इनमें से किसी भी छंद में ताल की दृष्टि से पंचक पर्व नहीं बनते। तोमर में कहीं ३-२ और कहीं २-३ के खंड बनते हैं। इसमें १२ मात्राएँ अवश्य हैं लेकिन उनमें कोई नियमन नहीं है। इसलिये इसे झपताल या हंसलोल में बिठाना जबरदस्ती ठूँसने जैसा होगा।

तीसरे, नित छंद में भी १२ मात्राएँ हैं इसलिये झपताल या हंसलोल उपयुक्त नहीं है। इसमें छंद दृष्टि से भले ही पंचक पर्व कहा जाय ताल की दृष्टि से तो यह त्रिकल रचना ही है इसलिये मात्रापूर्ति किये बिना ही दादरा अधिक उपयुक्त रहेगा।

सामान्य रूप से मात्रासंख्या, मात्रा-विभाजन, बल-अबल आदि को ध्यान में रख कर तालयोजना की जानी चाहिये। फिर भी यह नहीं भूलना चाहिये कि सार्थक पद होने पर अर्थबोध अथवा रसानुभूति ही मुख्य प्रयोजन होता है। छंद की तरह राग और ताल का संबंध भी रसभाव से है इसलिये मुख्यत: रसभाव के और उसके बाद छंद के अनुकूल तालयोजना हो रसानुभूति करा सकती है।

ताल में छंद के दो पहलू बताये गये थे जिनमें से प्रथम की चर्चा अभी हुई। अब दूसरे प्रकार पर विचार करेंगे।

विभिन्न बोलों में छंद का स्वरूप

मृदंगवादकों में भिन्न-भिन्न छंदों के आधार पर परनों और बोलों की रचना करने की परिपाटी रही है। कुछ छंदों में कुछ बोल नमूने के लिये दिये जा रहे हैं।

१. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) भुजंगप्रयात—इसका एक बोल इसी अध्याय के पहले खंड में दिया जा चुका है। नीचे के बोल में कोष्ठक में दिये हुए अंश में इस छंद के दर्शन होते हैं। बीच में दो स्थानों पर चिन्हित 'धा' छन्द से बाहर हैं जो तिहाई के कारण आये हैं—

ता धिन् किड़ धित् ता ऽन किड़न गतिर किटता ऽतिर किट ऽ
। ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
[किड़ धित् त्ता किड़ धित् त्ता किड़ धा धान् धा किड़ धित् त्ता
। ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
किड़ धित् त्ता किड़ धा धान् धा किड़ धित् त्ता किड़ धित् त्ता]
। ऽ ऽ
किड़ धा धान्।[1]

(२) झूलना—इसका भी एक बोल पहले खंड में दिया जा चुका है। झूलना के अनेक भेदों में से एक भेद में ५-५ मात्राओं के खंडों के अनुसार हर चरण में २०-२० मात्रा होती हैं। प्रस्तुत बोल इसी भेद के अनुसार हैं—

१ २ ३ ४ ५ १ २ ३ ४ ५ १ २ ३ ४ ५ १ २ ३ ४ ५
का तिर किट धा ऽ। न कि ट ति ट। क ति ट धा ऽ। न क ति ट ता।
१ २ ३ ४ ५
ऽ न धि ट ति।[2]

(३) घनाक्षरी—इस छन्द की यह विशेषता है कि इसमें सभी अक्षर लघु यानी समान कालमान के हो जाते हैं और १, ५, ९, १३वें अक्षरों पर बल आता है। यथा—

सुंदर सुजान पर, मंद मुसकान पर
बाँसुरी की तान पर, ठौरन ठगी रहै।

इसी प्रकार के कुछ बोल प्रस्तुत हैं—

१. १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
का तिर किट धा ऽ न तिट तिट क्रधा तिट धिट
९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६
क्रधा तिट धाऽ क्रधा तिट धाऽ क्रधा तिट। धा[3]

२. १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
का तिर किट धा तिट किड़ धा तिट कत धा तिर किट तक

१. ताल., भाग ३, पृ. २१
२. वही, भाग २; पृ. २०
३. वही, भाग ४, पृ. १८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६
धागे तिट कत कत का तिर किट तक तागे तिट । धा[1]

३. १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
धागे नत किट धेन धगे नधा ऽड़ धेन
९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६
धेन गदि गन धेन तिरकिट तूना किट तक
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
ता किट तक धिर किट धिर किट तक तान किट तक धिंधिं
९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६
धिंधिं धा तिर किट धा तेटे धाऽ तेटे धाऽ तेटे।
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
धा धा तिर किट धा तेटे धाऽ तेटे धाऽ तेटे
९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६
धाऽ धा तिर किट धा तेटे धाऽ तेटे धाऽ तेटे। धा[2]

(४) गण्डका—इस छन्द का लक्षण र ज र ज र ज ग ल है जिसमें ऽ । की १० वार आवृत्ति होती है।

ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ ।
[धाऽ न धाति ट कति ट नाति ट गेने ना नाति ट कति ट
ऽ । ऽ ।
ताऽ क तिट ता] = ता................ ।[3]

चिन्हित अंश में ही गंडका की गति है।

(५) चम्पकमाला[4]—भ म स ग=ऽ।।ऽऽऽ।।ऽऽ । इसमें ऽ।।ऽऽ की दो वार आवृत्ति होती है।

ऽ । । ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ
१. धिगे न धि गेन धाड़ा तिगे न ति गेन ताड़ा
ऽ । । ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ
धिगे न धि गेन धाड़ा तिगे न ति गेन ताड़ा ।[5]
ऽ । । ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ
२. नाधी ऽक् धि नाड़ा धि नाती ऽक् ति नाड़ा तिं
ऽ । । ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ
नाधी ऽक् धि नाड़ा धि नाती ऽक् ति नाड़ा तिं ।[6]

---

१. वही
२. वही, भाग ३, पृ. २५
३. वही, भाग ४, पृ. २०
४. इसे कहरवा छन्द भी कहा है और ये बोल कहरवा छन्द के नाम से ही दिये हैं।
५, ६. वही, भाग ३, पृ. २६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३. ऽ । । ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ
धा ग धि ना धिं धा ग धि ना धिं ता ग ति ना धिं धा ग धि ना धिं ।[1]

(६) कौवाली—इस नाम से कोई छंद प्राप्त नहीं है। लेकिन तालदीपिका, भाग :में पृ. १६ पर सितारख़ानी या कौवाली ताल का ठेका दिया है जो इस प्रकार है—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
ता धिं ऽता ता धिं ऽता ता तिं ऽता ता धिं ऽता
+ २ ० ३

इन बोलों में जगण (।ऽ।) की ४ बार आवृत्ति है—

। ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ ।
ता धिंऽ ता ता धिंऽ ता ता तिंऽ ता ता धिंऽ ता

यही वज़न (गति) इस छन्द के बोलों में भी है—

। ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ ।
१. ता धीक् ता ता धीक् ता ता तीक् ता ता धीक् ता
। ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ ।
धा तीक् धा धा तीक् ता ता तीक् धा धा तीक् धा ।[2]
। ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ ।
२. धिं ताक् धा ति द्धाड़् धा तिं ताक् धा ति द्धाड़् धा
। ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ ।
धिं ताक् धा ति त्ताड़् ता तिं ताक् धा ति द्धाड़् धा ।[3]

(७) भड़ौआ—कौवाली की तरह भड़ौआ छन्द भी उपलब्ध नहीं है लेकिन ताल-दीपिका, प्रथम भाग में पृष्ठ ५ पर ठेका पंजाबी भड़ौआ छन्द का दिया है जो इस प्रकार है-

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
धा ऽधी ऽक । धा धा ऽधी ऽक ता ता । ऽती ऽक धा
+ २ ० ३

इसकी गति इस प्रकार है—

धा ऽ ऽ धी ऽ क | धा ऽ धा ऽ ऽ धी ऽ क ताऽ, ताऽ | ऽती ऽक धाऽ

अर्थात् खंड इस प्रकार बनते हैं—

३ २ १ २ ३ २ १ २ ३ २ १ २
धाऽऽ धीऽ क धाऽ, धाऽऽ धीऽ क धाऽ, ताऽऽ तीऽ क धाऽ

ठेके में १२ मात्रा हैं किन्तु बोल झपताल में दिये हैं जो १० मात्रा का है। इस प्रकार भड़ौआ के ठेके और भड़ौआ छंद के बोलों में सामंजस्य नहीं दिखाई देता। फिर भी दो बोल दिये जा रहे हैं।

---

१. वही, २, ३. वही, पृ. ३१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१.	कत्ते	टेघा	नाते	टेता	ऽकिड़	धाति	द्धाक्ड़ा	ऽन्धा	ऽतिर	किटतक्
	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
	धा धा[1]	धा	क्ड़ान्	धाऽतिर	किटतक्	धा	धा	क्ड़ाऽन्	धाऽतिर	किटतक।
	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
२.	तग्घ्ड़ा	ऽन्धा	थुननत्	तेटे	ऽधा	तिद्धा	कतघड़ा	ऽनधा	ऽकिट	तक्ता
	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
	धा	कतघड़ा	ऽनधा	ऽकिट	तक्ता	धा	कतधड़ा	ऽनधा	ऽकिट	तक्ता

डॉ० भोलाशंकर व्यास के अनुसार भड़ौआ कोई छंद नहीं बल्कि कविता का एक प्रकार है जो मुस्लिम साम्राज्य के पतनोन्मुख काल की देन है। किसी 'सूम' (अयोग्य) आश्रयदाता का मज़ाक उड़ाने के लिये हल्के स्तर की व्यंगोक्तियों से युक्त जिस कविता की रचना की जाती थी जिसमें उच्छृंखलता और क्षुद्र प्रकृति दिखाई देती थी वह भड़ौआ कहलाती थी। आगे चल कर किसी पर भी व्यंग कसने के लिये इसका प्रयोग होने लगा। भोजपुरी के मशहूर शायर तेग़ अली का एक 'भड़ौआ' संग्रह भी है जो १८५७ के ग़दर के आस-पास की रचना है।

भड़ौआ ताल की लय मे उच्छृंखलता और क्षुद्र प्रकृति के दर्शन होते हैं। संभव है कि इसी कारण इस ताल को और उसके लयरूप छन्द को भड़ौआ संज्ञा दी गई। भड़ौआ शब्द का संबंध 'भाड़' (भाँड) से मालूम होता है। इस शब्द में ही क्षुद्रता दिखाई देती है।

इन सभी बोलों को देखने से लगता है कि विभिन्न छन्दों की मूल लय के आधार पर पहले बोलों की रचना करके फिर उन्हें विभिन्न तालों में बिठाया गया है। इस प्रकार छन्द पर बोलों का और फिर बोलों पर तालों का आरोप कर दिया गया है। यही कारण है कि कुछ बोलों को तालों में जिस प्रकार दिया गया है उससे उन छंदों की स्पष्ट अनुभूति नहीं हो पाती। इसका कारण यह भी हो सकता है कि इन बोलों को बजाते समय शायद छन्द की लय दिखाई देती हो लेकिन लिखते समय वे ठीक उसी रूप में न लिखे जा सके हों क्योंकि क्लिष्ट, सूक्ष्म व कई प्रकार के लयभेद एक ही बोल में रहते हैं जिनके अंकन के लिये उतनी सक्षम लिपि नहीं है। बोलों में मूलतः वे छन्द अवश्य हैं।

प्रस्तुत खण्ड में पद, गेय छन्द और तालों के संबंध का क्रियात्मक रूप अनेक उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया गया। इतना संकेत करना भी आवश्यक है कि अनेक प्रबंध नामों का छन्दों व तालों से साम्य है। उन प्रबंधों में उन-उन छन्दों अथवा तालों का प्रयोग होता है। संगीतरत्नाकर के कुछ ऐसे प्रबंधों का उल्लेख अन्त में किया जा रहा है जिनमें उन्हीं नाम वाले छंद अथवा छंद और ताल दोनों का प्रयोग होता है—

१. वही, पृ. ४१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

छन्द व प्रबन्ध

आर्या
ओवी
कलहंस
क्रौञ्चपद
गद्य
गाथा
झम्पट
तोटक
दण्डक
द्विपथ (दोधक अथवा दोह)
पद्धडी
मंगल
मातृका
राहडी
हंस

छन्द, ताल व प्रबन्ध

चच्चरी
त्रिभंगी
रास अथवा रासक
हयलील

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अध्याय ५

ध्रुवा

ध्रुवा की सामान्य चर्चा

गीतरचना की दृष्टि से ध्रुवा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाट्य के अंग के रूप में प्रयुक्त संगीत में तो यह प्राणस्वरूपा है। नाट्यारम्भ से पहले पूर्वरंग में प्रयुक्त वहिर्गीतों में भी शुष्काक्षरयुक्त ध्रुवाएँ वाद्यप्रयोग की उपरंजक होने के कारण विशेष महत्त्व रखती हैं। मूलतः नाट्य की विभिन्न परिस्थितियों में रसानुभूति करा कर उन परिस्थितियों को तीव्र वनाने अथवा पात्रों के चरित्र को उभारने के लिये जिन छन्दोबद्ध गीतों का प्रयोग नाट्य के भीतर किया जाता है वे ध्रुवा कहलाती हैं। गीतकों के विभिन्न अंगों का इनमें प्रयोग होने के कारण ये गीतकों से भी संबद्ध हैं। इस प्रकार ध्रुवा का संबंध छन्द, ताल और गीत अथवा प्रवन्ध तीनों से है। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ में ध्रुवा का अध्ययन और विश्लेषण उपादेय होगा।

संगीत सम्वन्धी उपलब्ध ग्रंथों में से केवल नाट्यशास्त्र, भरतभाष्य और अभिनव-भारती में ही इसका निरूपण प्राप्त है। नाट्यशास्त्र को समझने का एकमात्र आधार अभिनवभारती ही है। भरतभाष्य का पाठ इतना भ्रष्ट और खंडित है कि उससे कोई विशेष सहायता नहीं मिलती, यद्यपि कुछ उल्लेख इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं कि वे नाट्य-शास्त्र में प्राप्त नहीं हैं। इसके अधिकांश निरूपण, लक्षण आदि का नाट्यशास्त्र से साम्य है।

गान्धर्व और गान का भेद

संगीत में 'गान्धर्व' और 'गान' ऐसे विषय हैं जिनकी चर्चा तो प्रायः की जाती है लेकिन दोनों की धारणा वहुत स्पष्ट नहीं है। वास्तव में गांधर्व और गान में घनिष्ठ संबंध भी है और दोनों में बड़ा अन्तर भी है। गांधर्व की गीतकों से और गान की ध्रुवाओं से अभिन्नता होने के कारण इनके संबंध पर भी विचार करना आवश्यक है। इस बारे में मुख्य रूप से नाट्यशास्त्र के 'गुणदोषविचार' नामक ३३वें अध्याय पर अभिनवगुप्त की टीका का आधार लिया गया है। अभिनवभारती में अन्यत्र भी गांधर्व और गान के भेद और उनके अपने-अपने स्वरूप के बारे में प्रचुर उल्लेख हैं। उनका भी आवश्यक उपयोग यहाँ किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गांधर्व का लक्षण है 'स्वरतालपदात्मकम्'। यह ऐसा सामान्य लक्षण है जो गान में भी है। इतने अंश में गांधर्व शब्द भी दोनों में सामान्य है; जैसे 'नाटक' शब्द नाट्य के दस भेदों यानी दशरूपकों के लिये भी प्रयुक्त होता है और दशरूपकों में से एक भेद को भी नाटक कहा जाता है। लेकिन अगर गांधर्व का उपर्युक्त लक्षण ही मान लिया जाय तो बालगोपालों के गीत भी स्वर, ताल और पद से युक्त होने के कारण गांधर्व मान लिये जाते। ये गीत वास्तव में गान हैं। गांधर्व का विशेष लक्षण है—स्वर, ताल, पद के विशेष स्वरूप वाला, प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रधान दृष्ट (रंजन) और अदृष्ट (देवता परितोष) फल देने वाले सामवेद से उत्पन्न, अनादि काल से प्रयुक्त, जो अन्य किसी का उपरंजक न होने के कारण प्रमुख हो वह गांधर्व है—

> स्वरतालपदविशेषात्मकं प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रधानदृष्टादृष्टफलसामवेदप्रभवमनादिकाल-निर्वृत्तमन्योपरञ्जनगुणताविहीनं गान्धर्वमिति ।[1]

गांधर्व की स्वरविधि में दो ग्रामों का भेद रहता है, जाति और अंश का भेद तथा स्वर के लोपनियम का पालन होता है, एक स्थान में कम से कम पाँच स्वरों का प्रयोग होता है, मन्द्रतारप्रसन्न आदि विशेष अलंकारों का ही प्रयोग होता है और १४ मूर्च्छनाओं तथा ८४ शुद्ध तानों की सीमा में रहता है। इसके विपरीत गान में दृष्ट यानी सामाजिकों के चित्त का रंजन फल होता है; अर्थबोध, रसानुभूति और चित्तवृत्ति का निरूपण प्रयोजन रहता है। इसलिये इनके अनुसार स्वर, ताल और पदयोजना होती है। एक स्थान में केवल दो स्वरों का प्रयोग भी किया जा सकता है, ५०४० कूटतानों में से यथेच्छ तानों का प्रयोग किया जा सकता है। छन्द और रसविनियोग का सम्बन्ध भी गान से ही है, गांधर्व से नहीं। गांधर्व में प्रयोजन मुख्यतः देवतापरितोष होने के कारण विनियोग या तो उसके अनुसार या इच्छानुसार किया जा सकता है लेकिन गान में रसभाव औचित्य विशेष के अनुसार ही विनियोग होता है।

गान की स्वरगत विधि को स्पष्ट करते हुए अभिनव ने अनेक उदाहरण दिये हैं। गान में अन्तर काकली के विपुल प्रयोग से श्रुतिवैचित्र्य दिखाई देता है। राग, भाषा, विभाषादि देशीमार्गगत रागों में प्रयुक्त स्वरों में श्रुतिवैचित्र्य रहता है; जैसे मालवकैशिक में। ग्रामों के अनुसार अन्तराल नियम अर्थात् स्वरों में नियत श्रुतिव्यवस्था का पालन गान में आवश्यक नहीं। ग्राम व्यवस्था के अनुसार कम से कम दो श्रुतियों का अन्तराल आवश्यक है किन्तु गान में रागभाषादि में एकश्रुति प्रयोग का उल्लेख अभिनव ने वृद्धकश्यप के आधार पर किया है।[2] गांधर्व के विपरीत गान में मध्यम का लोप और चतुःस्वर प्रयोग भी ग्राह्य है जैसे भिन्नषड्ज की भाषा कालिंदी में। अन्तरमार्ग में भी शोभा के अनुरोध से प्रयोग होता है अर्थात् गांधर्व के विधान का पालन आवश्यक नहीं। गान में विन्दु, श्येन आदि ऐसे अलंकारों का प्रयोग नहीं होता जिनमें वर्ण का अत्यधिक कर्षण हो, कम्पन हो

---

१. ना. शा., अ. ३३, पृ. ३९४ २. वही, अ. २८, पृ. ३४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अथवा एक ही अक्षर में अनेक अलंकारों का प्रयोग हो क्योंकि ऐसा होने पर अर्थबोध नहीं होता।[१]

गान में ग्रामराग, भाषा, विभाषादि ग्रामवर्ग के रागों के नियत प्रयोग का उल्लेख अभिनव ने अनेक बार किया है तथा कश्यप, कोहलादि आचार्यों के प्रमाण भी दिये हैं। २८वें अध्याय के अंत में उद्धृत अंश के अंत में कहा गया है कि ग्रामरागाश्रित भाषाओं का प्रयोग ध्रुवागान में होता है।[२] जातियों के रसविनियोग निरूपण में भी अभिनव ने कहा कि नाट्य में अर्थात् ध्रुवागान में इनका उपयोग होता है तथा कश्यप के श्लोक उद्धृत किये जिसमें ध्रुवाओं अर्थात् प्रबन्धगान में उपयोगी ग्रामराग, भाषादि का उनके प्रयोगस्थल सहित निरूपण किया गया है।[३] ग्रामरागादि का स्वरूप नियत था लेकिन गान में आवश्यकतानुसार छूट ली जाती थी क्योंकि रक्ति का सम्पादन अनिवार्य था।

गांधर्व और गान के तालविनियोग में भी बड़ा अंतर है। जिस प्रकार सामगान में हाथ की विशेष क्रियाओं आदि का सही प्रयोग अनिवार्य माना गया है (अन्यथा वे उपयुक्त फल देने के बजाय अनिष्ट फलकारी होती हैं) उसी प्रकार गांधर्व में हाथ की क्रियाओं पर आधारित ताल का प्रयोग भी बिल्कुल सही ढंग से होना चाहिये। ताल का प्रयोग नियत रूप से काल के परिच्छेद और संख्या के मान के लिये है। यति, लय, ग्रह, मार्ग आदि का अदृष्ट में उपयोग, कलाओं का भंजन केवल लघु तक ही करना (द्रुत, अणुद्रुत नहीं), वर्धमान में प्रयुक्त विशाला आदि ताल के परिवर्तों का विशेष ढंग से प्रयोग, शीर्षक आदि विभिन्न अंगों का नियत क्रम में प्रयोग—ये सब गांधर्व तक ही सीमित हैं। गान में इतना तालप्रपंच नहीं है। यहाँ तो उत्तम, मध्यम, अधम प्रकृति के स्त्री पुरुषों की उद्धत, मसृण, मन्थर गति के अनुसार गुरुलघु ही नहीं; द्रुत-अणुद्रुत पातों का भी प्रयोग हो सकता है क्योंकि यहाँ ताल का उपयोग इन पात्रों के पैरों की अथवा चित्त की गति के साथ साम्य स्थापित करने में ही है।

गांधर्व की पदविधि भी ध्रुवा से भिन्न है। गांधर्व में स्वरताल प्रधान हैं और पद गौण है। स्वर और ताल का प्रयोग निराधार नहीं हो सकता इसलिये पद इनका अनुभावक यानी आधार है। यहाँ आधार शब्द का प्रयोग प्रधानता के अर्थ में नहीं बल्कि गौण या सहायक के रूप में किया गया है। अभिनव का यह वाक्य इस बारे में द्रष्टव्य है—

> एतेन गान्धर्वे स्वरः प्रधानं तदाधारत्वेन गुणभूतं पदमिति यत् तद्विपरीतं गानेऽर्थसंवेदनयोगेन पदस्य प्राधान्यात् तदुपरञ्जनाच्च गुणभावात् स्वरस्यैतदपि ह्याकर्णितं भवति।[४]

ध्रुव आदि पात, वर्ण, अलंकार, यति, ग्रह, लय आदि को अन्योन्य रूप से यानी ध्रुव रूप से पद ही बाँध कर रखता है इसीलिये जिस रचना में ये सब ध्रुव रूप से बँधे रहते हैं वह ध्रुवा कहलाती है।

---

१. वही, पृ. ८६-८७
२. वही, पृ. ६४-६६
३. वही, पृ. ७२-७८
४. वही, अ. ३२, अभि., पृ. ३६५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एतेषां ध्रुवादीनामन्योन्यसम्बन्धे व्यभिचारितया ध्रुवरूपे निमित्तं पदम्। आधारत्वादौचित्ययोजनाच्च। न हि निराधारा वर्णादय इति।[1]

नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में पंचविध ध्रुवा के संदर्भ में ध्रुवा का अर्थ अभिनव ने 'गीत्याधारो नियतः पदसमूहः' किया है। यहाँ भी पद को ध्रुवा इसीलिये कहा है कि ध्रुवा में वही आधार यानी प्रधानभूत है।

स्वरतालपदात्मक गांधर्व की वस्तु पद है—

गान्धर्वं यन्मया प्रोक्तं स्वरतालपदात्मकम्।
पदं तस्य भवेद् वस्तु स्वरतालानुभावकम्॥[2]

किसी भी कृति में 'वस्तु' ऐसा तत्त्व है जिसके सहारे कथा, चित्र या गीत आगे बढ़ते हैं। गांधर्व में स्वर और ताल प्रधानभूत होते हुए भी पद के सहारे ही आगे बढ़ते हैं इसलिये पद ही वस्तु है। इसमें सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार के पदों का प्रयोग होता है। निरर्थक पद गीत और वाद्य के अनुरंजक होते हैं इसलिये गांधर्व में स्वर और ताल प्रधान हैं तथा पद अनुरंजक हैं। सार्थक पद अनुरंजक नहीं होता, स्वयं अनुरंजित होता है। गान अर्थात् ध्रुवा में सार्थक पद होने के कारण पद प्रधान है और स्वरताल उसके उपरंजक या पूरक हैं क्योंकि पद द्वारा होने वाले अर्थावगम में स्वर और ताल सहायक होते हैं। नाट्य के अंतर्गत भी ध्रुवा में जहाँ निरर्थक अक्षरों का प्रयोग होता है वहाँ वे शब्द अपने में प्रधान नहीं होते बल्कि आगे आने वाली ध्रुवा में उपरंजक के रूप में प्रयुक्त होने वाले वीणा-वंशादि के पूरक के ही रूप में उपयोगी होते हैं इसलिये वहाँ भी वे गौण रहते हैं। साथ ही एक बड़ा अन्तर यह भी है कि मुख्यतः गांधर्व में संस्कृत भाषा का और गान में प्राकृत आदि देशी भाषाओं का प्रयोग होता है।

उपर्युक्त कारण से गांधर्व यानी गीतक में अर्थ की गौणता होने और जातियों में रचित वर्णांग आदि और ताल के द्वारा नापे गये स्वर की प्रधानता होने के कारण पद गौण रूप से स्थित होता है। गान में रसभावोचित वृत्तप्रधान है, काव्य में जो कुछ कहा नहीं जा सकता उसके पूरण के लिये चित्तवृत्ति के अनुसार जाति, अंश, राग, रागांग, गीति आदि का उपरंजक रूप में विनियोग होता है। इस प्रकार स्वर, ताल और पद—गांधर्व और गान में रहने पर भी इनका दोनों में वैलक्षण्य यानी भेद है।

पूर्वरंग में गांधर्व ही प्रधान है और पूर्वरंग गीतक से भिन्न कुछ नहीं है—'पूर्वरङ्गे गान्धर्वमेव प्रधानम्,' 'न पूर्वरङ्गो नामान्यः कश्चित् अपि तु गीतकान्येवेति दर्शितम्'।[3] गीतकों का प्रयोग पूर्वरंग में ही होता है, नाट्य के बीच में नहीं। सार्थक पदयुक्त ध्रुवा यानी गान का प्रयोग नाट्य में ही है उससे बाहर नहीं क्योंकि विशेष परिस्थिति आदि को व्यक्त करने वाले गीत के रूप में ध्रुवा विशेष का नाट्य से बाहर प्रयोग होने पर उसका प्रसंग और संदर्भ पता न चलने से पूरा आनन्द नहीं लिया जा सकता। इसीलिये अभिनव ने कहा—

१. वही, पृ. २९२ २. वही, ३२/२७
३. वही, अ. ३३, अभि., पृ. ३६६-३६७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न हि नाट्याद्बहिर्लयभङ्ग्यापि ध्रुवागानं गीयमानमुख(सुख)पाद-मुत्पाद यति ।[1]

संभवतः इसी कारण पूर्वरंग में शुष्कावकृष्टा और निर्गीतों की ध्रुवाएँ भी सार्थकपद रहित हैं और उनमें निरर्थक अक्षरों का ही प्रयोग कहा गया है। उत्थापनी और परिवर्तनी ध्रुवाओं का प्रयोग पूर्वरंग में पूजा आदि में सूत्रधार व उसके सहयोगियों के अभिनय को स्पष्ट करने के प्रयोजन से है इसीलिये वहाँ सार्थक पद रहता है।

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि गांधर्व और गान में स्वरतालपदात्मकता समान रूप से होते हुए भी इनके विनियोग व प्रयोजन में भेद है इसलिये गांधर्व का अदृष्ट फल प्रयोक्ता को और गान का दृष्ट फल सामाजिक को होता है—

गान्धर्वस्य प्रयोक्तरि प्राधान्येन दृष्टफलत्वाद्। गानस्य तु पात्रवर्गे साम्यसम्पत्तिः सामाजिकजने चोपरञ्जनपूर्वकं.........इति दृष्टं मुख्यं फलम्।[2]

गांधर्व गीतक का और गान ध्रुवा का पर्याय है यह भी स्थापित हुआ।

ध्रुवा का महत्त्व

शब्द के द्वारा जो अर्थ व्यक्त नहीं किया जा सकता उसका पूरण गीत से यानी स्वरताल-योजना के द्वारा किया जाता है—

यानि वाक्यैस्तु न ब्रूयात् तानि गीतैरुदाहरेत्।[3]

इसीलिये भरत ने गीत में पूरा अवधान रखने की बात कही है। दैनिक व्यवहार में भी यह प्रायः अनुभव में आता है कि शब्द स्वर के विना पंगु है क्योंकि शब्द के द्वारा जिस अर्थ का बोध कराना होता है वह अर्थ केवल उस शब्द से ही नहीं बल्कि उसमें प्रयुक्त (ध्वनि के उतार-चढ़ाव रूप) स्वरों के द्वारा भी होता है। हर शब्द के अर्थ सीमित होते हैं लेकिन उनमें स्वर परिवर्तन से अनेक अर्थ उत्पन्न किये जा सकते हैं। जब बोलचाल की भाषा में अर्थबोध की इतनी सम्भावना है तो संगीत में तो यह सहज ही समझा जा सकता है कि बोले हुए शब्द के द्वारा जो बात नहीं कही जा सकती वह गेय शब्द के द्वारा बड़ी सरलता से कही जा सकती है। आज भी उच्च कोटि के संगीतज्ञों के कथन और गीतप्रयोग इसके साक्षी हैं। अभिनव का ध्रुवा संबंधी यह वाक्य भरत के उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है—

सा गानप्रयोगमपनयन्ती काव्यस्वरूपं परिपूरयितुं प्रयुज्यते। तत्पूरणं च प्रकृतिमुखेन वा रसभावचेष्टितमुखेन वा।[4]

अर्थात् काव्य के स्वरूप में जो कमी हो उसका पूरण गानप्रयोग वाली ध्रुवा, पात्र की प्रकृति के अनुसार या रसभावचेष्टा के अनुसार करती है।

---

१. वही, पृ. ३९६
२. वही
३. वही, ३२/३५१
४. वही, अभि., पृ. ३६५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्रुवा का स्वरूप

ध्रुवा के स्वरूप का प्रतिपादन भरत ने इस प्रकार किया है—

ध्रुवासंज्ञानि यानि स्युर्नारदप्रमुखैर्द्विजैः ।
गीताङ्गानीह सर्वाणि विनियुक्तान्यनेकशः ।।
या ऋचः पाणिका गाथाः सप्तरूपाङ्ग एव च ।
सप्तरूपप्रमाणं हि तद् ध्रुवेत्यभिसंज्ञितम् ।।
एभ्यस्त्वङ्गान्यथोद्धृत्य नानाच्छन्दःकृतानि तु ।
ध्रुवात्वं यानि गच्छन्ति तानि वक्ष्याम्यहं पुनः ।।[1]

इसके अनुसार सप्तरूप यानी सप्तगीतक; उनके सप्तरूप प्रमाण—त्र्यश्र चतुरश्रादि; गीतकों में प्रयुक्त गीताङ्ग; मुख-प्रतिमुखादि; ऋक्, गाथा, पाणिकादि सभी की संज्ञा ध्रुवा है—

नारदाद्यैर्यानि गीताङ्गानि वर्णाङ्गानि सप्तरूपाङ्गमात्राणि मुखप्रतिमुखानि सप्तरूपप्रमाणं त्र्यश्रचतुरश्रादि याश्चर्य ऋग्गाथाः पाणिका इह नियुक्तानि तदेवं ध्रुवेति संज्ञितम् ।[2]

ये सब मिल कर नाट्य में अतिशय रंजन लाते हैं इसलिये इन सबको मिला कर ध्रुवा कहा है। ऊपर कहे गये सभी तत्त्व गीतकों से संवद्ध हैं। गीतकों के अंगों को लेकर विविध छन्दों में गेय पद बाँध दिये गये और इस प्रकार ध्रुवत्व को प्राप्त हुए इसलिये इन्हें ध्रुवा कहा गया। इसका अर्थ यह है कि ध्रुवा कारणरूप भी है और कार्य रूप भी। क्योंकि गीतक, जिनके अंग लेकर गीत बनाये गये वे, कारण हैं और उन अंगों के आधार पर जिस नई वस्तु की रचना हुई, जिसकी विशेष संज्ञा ध्रुवा है, वह कार्य है। अभिनव के अनुसार गीतांग, सप्तरूपांग और सप्तरूपप्रमाण की संज्ञा ध्रुवा है और ऋक् गाथादि की मूल प्रकृति ध्रुवा है—

गीताङ्गसप्तरूपाङ्गसप्तरूपप्रमाणस्य ध्रुवेति संज्ञा। ऋग्गाथापाणिकानां च ध्रुवा हि मूलप्रकृतिरुच्यते ।[3]

सप्तगीतकों में विशिष्ट छंद नहीं हैं लेकिन एक प्रकार का नियमन है। मात्रिक व्यवस्था या चतुर्मात्रिक खण्डों के कारण विशेष प्रकार की गति या लय है जो ताल से भिन्न है। वहाँ छन्दविशेष न होते हुए भी छन्दत्व है। यही मूल प्रकृति यानी कारण रूप ध्रुवा है। ऋक् गाथादि की रचना विशेष छन्दों के आधार पर हुई है और गीतकों के अंग भी इनमें हैं इसलिये ये गीतकों की प्रकृतिरूपा ध्रुवा के कार्य हैं। इस प्रकार गेयमात्र की मूल प्रकृति ध्रुवा है।

१. वही, ३२/१-३
२. वही, अभि., पृ. २८८
३. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गीतकों की प्राचीन परम्परा थी। वैदिक अनुष्ठान से भिन्न धार्मिक पूजा अर्चना की आगमिक परम्परा भी रही होगी जिसके अनुसार मन्दिरों और देवालयों में विशेष विधि-विधान सहित पूजा होती रही होगी। वैदिक परम्परा में यज्ञादि व सामगान होता था उसी प्रकार आगम परम्परा में पूजा की गान परम्परा भी रही होगी। संभव है इसमें विशेष प्रकार के गीतों का प्रयोग होता हो जो परम्परागत ढंग से गाये जाते हों, जिनमें कोई परिवर्तन नहीं किया जाता हो और जिनमें स्वर ताल योजना भी विशेष प्रकार की यानी अदृष्ट में सहायक रही हो। जब नाट्य के आरम्भ में देव पूजा का अनुष्ठान किया जाने लगा तब संभव है उन्हीं गीतों को ज्यों का त्यों अथवा कुछ परिवर्तन के साथ नाट्य में ग्रहण करके गीतक संज्ञा दी गई। आगे चल कर इन्हीं में से कुछ अंग लेकर विशेष परिवर्तन के साथ नाट्य के अन्तर्गत गीत प्रयोग होने लगा जिन्हें ध्रुवा कहा गया।

यह भी संभव है कि गीतक और ध्रुवा का विकास तो साथ-साथ हुआ लेकिन धार्मिक प्रयोजन होने के कारण गीतकों को प्रधानता मिली और इस कारण इन्हें मूल प्रकृति व ध्रुवा को इनका कार्य माना गया। ऐसा मानने में एक कारण यह भी है कि जिसमें स्थिरता अधिक हो उसे प्रधानता प्राप्त हो जाती है और परिवर्तनीय वस्तु गौण बन जाती है। गीतकों की संख्या, विषय, स्वरूप, प्रयोग विधि, स्वर-ताल-पदयोजना, नियम आदि में कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ इसलिये उसे प्रधान और मूल मान कर कारणभूत कहा गया। ध्रुवा का प्रयोग परिस्थिति के अनुकूल होता है। इसलिये परिस्थिति, पात्र आदि में अंतर होने के साथ ही ध्रुवा की स्वर, ताल, पद योजना भी बदल-जाती है इसीलिये इसे कार्य कहा गया।

अभिनव ने यह उल्लेख किया कि गीतकों के समूह में से नाट्य के विशेष प्रयोजन में उपयोगी कुछ विशेष अंग समूहों को चुन कर 'ध्रुवा'—यह विशेष संज्ञा दे दी गई जैसे मनुष्यों के समूह में से कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को विशेष वाहनों पर आसीन करके विशेष स्थान दे दिया जाता है—

> यथाऽभ्यूहात्मनि सङ्घाते नरसेनायामङ्गानि पुरुषभटगजादीनि केनचिदुत्कर्षेण स्थितानीति कृत्वा सङ्घातान्तरेण सम्पाद्यमानापूर्वदशावैचित्र्येण कारणकार्यात्मभावोऽभिव्यनक्ति तथा गीताङ्गादीन्यदृष्टप्रधानानि गीतकादिरूपसंघातोऽस्थितानि कुतश्चिद्रसभावकृतान्यौचित्यसमर्पणात्मकरञ्जनयोग्यलक्षणादुत्कर्षादुचितगीयमानवृत्तविशेषाश्रयेण संघातात्मकरूपं प्रतिपन्नकारणत्वं प्राग्दशाया अननुभूय कार्यमौत्तरकालिकं भजन्ते कारणशब्द व्यपदेश्यानि च भवन्तीति।[1]

गीतक की अपेक्षा ध्रुवा में यही विशेषता है कि वह रसभावकृत औचित्य की समर्पिका और रंजन के उत्कर्ष से युक्त होती है। गीतक का प्रयोजन भिन्न होने के कारण उनमें रसभावसमर्थकत्व और रंजन की प्रधानता नहीं है।

---

१. वही, पृ. २९०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सभी ध्रुवाएँ संघातरूप हैं क्योंकि विभिन्न रस, भाव, प्रकृति के अनुसार प्रवृत्त होने वाले मात्रिक और वार्णिक वृत्तों के आधार पर ये ध्रुवाएँ बनती हैं—

तथा ध्रुवाभवं नानाप्रकारं रसभावप्रकृत्याद्यौचित्यात् प्रवृत्तं मात्रावृत्त वर्णवृत्तविशेषमाधारमाश्रित्याथैव संघातरूपतां भजन्ते ।[1]

ऐसी कोई ध्रुवा नहीं जिसमें गीतक का कोई न कोई अंग और कोई न कोई वृत्त न हो। इसीलिये ध्रुवाओं में गीतकों के अंगों का योग बता कर अन्त में कहा कि पाँचों ध्रुवाओं में 'नित्यशः' इन अंगों की योजना होती है। ध्रुवा का परिगीतिका, मद्रक और चतुष्पदा से अंतर स्थापित करते हुए भरत ने कहा कि एक वस्तु से ध्रुवा होती है और क्रमशः २, ३ और ४ अंगों से शेष तीन। यहाँ वस्तु का अर्थ अभिनव के अनुसार ताल और वर्णांग है—

एकवस्त्विति। यत्रैकेनैव तालेन वर्णाङ्गेन च निर्वहणं तत्र ध्रुवेत्येव संज्ञा।[2]

यानी एक ही ताल और एक ही वर्णांग का प्रयोग होने पर ध्रुवा होती है।

भित्तिचित्र में चित्र का आधार जैसे भित्ति होती है उसी प्रकार ध्रुवा का आधार पद है और वह किसी न किसी वृत्तजाति में ही रहता है इसलिये पद जिस वृत्तजाति में रहता है वह भी ध्रुवा कहलाती है—

अन्येऽपि कुड्यचित्र दृष्टान्तेन तेन ध्रुवाणामाधारः पदमिति पर्यायात् तद्विद्यते यस्यां वृत्तजातौ सा ध्रुवेति।[3]

ध्रुवा अर्थात् वृत्त अक्षरों की लघुगुरु योजना के आधार पर बनते हैं तथा अक्षरयोजना के आधार पर ध्रुवा में द्रुतादि लययोजना होती है—'अक्षरयोजनाच्च ध्रुवा द्रुताद्या लयाः'।[4]

इस प्रकार अक्षर, अक्षरयोजना, पद, लय, गुरुलघु पात, वृत्त जाति—ये सभी परस्पर संबद्ध हैं लेकिन इन सबको बाँधने वाला तत्त्व पद ही है। पद नियत यानी ध्रुव रूप से रहता है इसीलिये प्रावेशिकी आदि ध्रुवा कहलाती हैं—

ध्रुवं पदं तस्माद्धेतोः प्रावेशिक्यादयो ध्रुवा इति।'[5]

इनका प्रयोग पात्रों के प्रवेश, निष्क्रमण (रंगमंच से जाना), रसान्तर के आक्षेप, प्रविष्ट पात्र की चित्तवृत्ति को सामाजिक में प्रकाशित करने और पात्रों की गति आदि—इन पाँच प्रकार की विशेष स्थितियों में होता है। ये स्थिति विभिन्न भावों तथा रसों में और विभिन्न प्रकृति के पात्रों में हो सकती हैं इसलिये एक ही ध्रुवा का प्रयोग अनेक रसों, भावों और प्रकृतियों में भी हो सकता है और इनके अनुसार ही पदयोजना होती है।

---

१. वही
२. वही, पृ. २६२
३. वही
४. वही
५. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्रुवाओं में वृत्त अनिवार्य रूप से रहता है लेकिन सभी ध्रुवाएँ गेय होती हैं, वृत्त की तरह केवल पाठ्य नहीं इसीलिये व्यवहार में गीत, गेय या प्रबंध को ही ध्रुवा कहा जाता है— 'लक्ष्ये गीयमानं रूपकमेव ध्रुवेत्याहुः' ।[१]

गीयमान रूपक यानी गान उपर्युक्त पाँच स्थितियों के अनुसार पाँच प्रकार का होता है—प्रवेशगान, निष्क्रामगान, आक्षेपगान, प्रसादगान और आन्तरगान—

प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम् ॥
गानं पञ्चविधं ज्ञेयं ध्रुवायोगसमन्वितम् ।[२]

पंचविध गान के आश्रित, विभिन्न वृत्तों से उत्पन्न, यथास्थान ('स्थान' पारिभाषिक शब्द है जिसकी आगे चर्चा की जायगी) व रस के अनुकूल, उत्तम-मध्यम-अधम प्रकृति के पात्रों के अनुसार इष्ट वृत्तों के प्रमाण से युक्त पाँच प्रकार की ध्रुवाएँ होती हैं—प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी और अन्तरा—

तत्रेष्टवृत्तप्रामाण्याद् ध्रुवा कार्या प्रमाणतः ॥
ध्रुवास्तु पञ्च विज्ञेया नानावृत्तसमुद्भवाः ।
यथास्थानरसोपेता ह्युत्तमाधममध्यमाः ॥[३]

प्रावेशिकी तु प्रथमा द्वितीयाऽक्षेपिकी स्मृता ।
प्रासादिकी तृतीया च चतुर्थी चान्तरा ध्रुवा ॥
निष्क्रामिकी च विज्ञेया पञ्चमी वृत्तकर्मणि ।[४]

ध्रुवा और गीतक के अंग

पहले कहा जा चुका है कि गीतकों के अंगों में से विशेष अंगों का ध्रुवाओं में प्रयोग होता है। भरत के अनुसार इन अंगों का प्रयोग होता है—मुख, प्रतिमुख, शीर्षक, स्थित, प्रवृत्त, माहाजनिक, सन्धि, माषघात, वज्र, सम्पिष्टक, चतुरस्र, उपवर्तन, उपपात, प्रवेणी, संहरण, वैहायस, प्रस्वार, अंताहरण, एकक, विविध, वृत्त। इनमें से एकक, विविध, वृत्त और प्रस्वार को छोड़ कर शेष मूलतः तालांग हैं। एकक का अधम प्रकृति में, एकक सहित विविध का मध्यम में और एकक, विविध, वृत्त—तीनों का उत्तम प्रकृति में प्रयोग किया जा सकता है। गीतकों में यह बताया जा चुका है कि एकक में एक, विविध में दो और वृत्त में ३ से ६ तक विदारियाँ हो सकती हैं। उत्तम प्रकृति में अनेकार्थता होने के कारण वाक्य के बीच में अवान्तर विश्रान्ति होती हैं इसलिये अधिक विदारी संभव हैं, मध्यम व नीच प्रकृति में कम।

उपर्युक्त अंगों को देखने से मालूम होगा कि गीतकों के लगभग सभी प्रमुख अंग ध्रुवाओं में हैं। ध्रुवाओं में गीतकों जैसी लम्बी वस्तु तथा शाखा, प्रतिशाखा और शरीर—ये अंग नहीं होते। लेकिन एकक, विवध और वृत्त को छोड़ कर शेष अंगों में दोनों में बड़ा

१. वही
२. वही, ६/२९-३० ; ३२/३१०
३. ना. शा., ३२/२४-२५
४. वही, १७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अन्तर है। गीतकों में ये अंग ताल अथवा वर्ण (गीति) के अनुसार हैं इसलिये ये तालांग और वर्णांग अथवा गीतांग कहे गये हैं। ध्रुवाओं में भी अंगों के नाम वही हैं जो गीतकों में हैं लेकिन उनका स्वरूप वर्ण या ताल के अनुसार स्थिर नहीं होता बल्कि पद व अर्थ के अनुसार होता है। यहाँ ध्रुवा के संदर्भ में इन अंगों के अर्थ अभिनव की टीका के आधार पर[1] दिये जा रहे हैं।

मुख—प्रधान अर्थ अर्थात् मुख्य कथावस्तु की सूचना देने के लिये।
प्रतिमुख—उसके वाद की वस्तु के सूचन के लिये।
वैहायस—वस्तु में अलंकार योजना से संबद्ध।
स्थित—यथास्थित (जो हो चुका है) और प्रस्थित (जो आगे होने वाला है उस) के अनुवंध (संवंध स्थापन) के लिये।
प्रवृत्त—निवृत्त (समाप्त हुए) के संधान के लिये।
वज्र—अर्थ के प्रकाशन के लिये।
सन्धि—अनुसंधान के लिये।
संहरण—वाक्यार्थ की समाप्ति के लिये।
प्रस्वार—वर्णों (गीति) का अनुत्कर्ष अर्थात् पद के उत्कर्ष वाला (स्पष्ट नहीं है)।
माषघात—सिमटे हुए तात्पर्य का योग (संभवत: व्यंग्यार्थ से अभिप्राय है)।
उपवर्तन—आवृत्ति द्वारा गान से संबंध।
उपपात—पूर्वार्थ के निगमन के लिये।
वेणी, प्रवेणी—एक ही अर्थ के वैचित्र्य योग में।
चतुरश्र—दो में विभक्त करने वाला।
शीर्षक—प्रधानार्थ की विश्रान्ति के लिये।
सम्पिष्टक—छन्द क्रम में आये हुए लघुगुरु के पूर्ण गति-वैचित्र्य का सूचक।
अन्ताहरण—भावी अर्थान्तर का आक्षेप करने के लिये।

इस संबंध में कुछ प्रश्न उठते हैं। भरत के अनुसार गीतकों के अंगों से ही ध्रुवा की रचना हुई। इस का क्या यही अर्थ है कि गीतकों के अंगों के केवल नामों का ध्रुवाओं के संदर्भ में उपयोग किया गया है? गीतकों के अंग मुख्यत: ताल के अनुसार और गौण रूप से गीति के अनुसार हैं जव कि ध्रुवाओं में इन दोनों में से किसी का भी विशेष और निश्चित निर्देश नहीं है। ध्रुवाओं में त्र्यश्र, चतुरश्र, भङ्गलयादि तथा चच्चत्पुटादि तालों का संकेत मात्र दिया गया है। गीतकों में तालक्रियाएँ ही प्रमुख हैं यहाँ क्रियाओं का प्रयोग नहीं है। गेय के बारे में भी ध्रुवाओं में गांधारी, मध्यमा, पंचमी जातियों का तथा नाट्य की सन्धियों में ७ ग्रामरागों के प्रयोग का उल्लेख मात्र है। तब उपर्युक्त अंगों की क्या सार्थकता है?

---

१. वही, पृ. २६०-२६१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'ध्रुवा' शब्द अत्यन्त व्यापक है, यह अब तक की चर्चा से स्पष्ट हो चुका है। प्रकृति और विकृति यानी गीतक, गीतांग और उनसे उत्पन्न ध्रुवा विशेष, स्वर ताल का आधार रूप पद, पद जिस वृत्त में बद्ध हो वह वृत्तविशेष, मात्राओं का लघुगुरु क्रम, गेय रूपक, वे परिस्थितियाँ जिनमें इन रूपकों का प्रयोग है—इन सबका सूचक 'ध्रुवा' शब्द है। ध्रुवा ऐसा गेय पद है जो निश्चित रूप से किसी विशेष वृत्त में निबद्ध रहता है, जिसका छन्द यानी लघुगुरु क्रम तो नियत है लेकिन पात्र और प्रकृति के अनुसार पदयोजना भिन्न हो सकती है और जो सताल या अताल किसी भी प्रकार का हो सकता है।

पञ्चविध ध्रुवाओं का स्वरूप

पाँच प्रकार की ध्रुवाओं के अर्थ, लक्षण और स्वरूप इस प्रकार हैं—

प्रावेशिकी—पात्रों के प्रवेश के समय उनकी प्रकृति, अवस्थान, भाव आदि का सूचक प्रवेशगान होता है—

पात्रस्य प्रवेशे भावप्रकृत्यवस्थानादिसूचकं यद्गीयते तत्प्रवेशगानम्।[1]

प्रवेशगान से युक्त ध्रुवा प्रावेशिकी कहलाती है। अतः अनेक प्रकार के अर्थों और रसों से युक्त ध्रुवा जो पात्रों के प्रवेश के समय गाई जाती है वह प्रावेशिकी है—

नानारसार्थसंयुक्ता नृणां या गीयते प्रवेशे तु।
प्रावेशिकी तु नाम्ना विज्ञेया सा ध्रुवा तज्ज्ञैः॥[2]

अथवा विभिन्न अर्थ, रसादि से युक्त होने के कारण जिसके द्वारा सामाजिकों के हृदय में प्रवेश हो—इस प्रयोजन वाली प्रावेशिकी है—

नाना रसा भावा अर्थाश्च विभावादयः तेषां युक्तः सामाजिकानां हृदयेषु प्रवेशो ययेति प्रयोजनम्।[3]

आक्षेपिकी—रसान्तर का आक्षेप कराने वाला गान आक्षेपगान कहा गया है—रसान्तरोपक्षेपार्थमाक्षेपगानम्।[4] आक्षेपगान से युक्त ध्रुवा आक्षेपिकी कहलाती है। 'आक्षेप' का अर्थ है क्रम का परिवर्तन। जैसे—करुणरस के प्रसंग में अचानक वीररस का आक्षेप। भरत ने यह लक्षण दिया है—

क्रममुल्लङ्घ्य विधिज्ञैः क्रियते या द्रुतलयेन नाट्यविधौ।
आक्षेपिकी ध्रुवासौ द्रुता स्थिता वाऽपि विज्ञेया॥[5]

क्रम का उल्लंघन करके अर्थात् प्रकृत रस के स्थान पर अन्य रस का आक्षेप करके जिसका प्रयोग होता है ऐसी आक्षेपिकी दो प्रकार की होती है—द्रुता और विलम्बिता। उल्लंघन में चित्तवृत्ति दीप्त अथवा शमित होती है। दीप्ति का प्रसंग हो तो द्रुता और शमन का हो तो विलम्बिता ध्रुवा का प्रयोग होता है—

---

१. वही, अ. ६, अभि., पृ. २७०
२. वही, ३२/३११
३. वही, अभि., पृ. ३६०
४. वही, अ. ६, अभि., पृ. २७०
५. वही, ३२/३१३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तत्राक्षिप्यमाणरसस्य दीप्ततया द्रुता।………वीररसस्याक्षेप्यस्य तु रसस्य मासृण्ये स्थितेति विलम्बिता।[1]

अभिनवगुप्त ने उदाहरणों के द्वारा इन्हें स्पष्ट किया है। द्रुता के लिये उदात्तराघव नाटक का उदाहरण दिया है जिसमें नायक राम के श्रृंगार प्रसंग में अचानक रावण का क्रुद्ध रूप में प्रवेश करते हुए निम्न कथन है—

अरे तापस स्थिरो भव। क्वेदानीं गम्यते।
स्वसुर्मम पराभवप्रसव एकदत्तव्यथ।
(खरप्रभृतिबान्धवोद्वलनवातसन्धुक्षितः।
तवेह विदलीभवत्तनुसमुच्चलच्छोणितक्षराच्छुरितवक्षसः प्रशममेतु
कोपानलः॥)

यहाँ प्रस्तुत रस श्रृंगार के विपरीत अचानक रौद्ररस का आक्षेप होने से आक्षेपिकी ध्रुवा है। दीप्ति के कारण द्रुतलय में इसे गाया जायगा इसलिये द्रुता आक्षेपिकी है।

दूसरा उदाहरण वेणीसंहार नाटक का है जहाँ युद्ध के वीर प्रसंग में संलग्न अश्वत्थामा अपने पिता द्रोणाचार्य के पराक्रम द्वारा शत्रुओं का पराभव देखने के लिये उत्सुक है। तभी अचानक नेपथ्य से द्रोण की मृत्यु की सूचना देकर करुण रस का आक्षेप कराती हुई उसके सारथि की ध्वनि सुनाई देती है—'कुतोऽद्यापि ते तातः'। यहाँ वीर का शमन तथा करुणरस का आक्षेप होने से इसे विलम्बित लय में गाया जायगा। इस कारण विलम्बिता आक्षेपिकी है।[2]

रससंबंधी भाव दो प्रकार के होते हैं—आत्मस्थ और परस्थ। संबंधित व्यक्ति में जो साक्षात् व्यक्त होते हैं वे आत्मस्थ कहे जाते हैं। किसी अन्य में व्यक्त होने वाले भावों का संबंधित व्यक्ति में प्रभाव दिखाये जाने पर परस्थ होते हैं। जैसे—सीता के विप्रलंभ में राम का रुदन आत्मस्थ है लेकिन लक्ष्मण का रुदन परस्थ है। आत्मस्थ और परस्थ करुणाश्रित भावों में द्रुता आक्षेपिकी और मृत तथा अभिहत के दर्शन में स्थिता आक्षेपिकी होती है।

नैष्क्रामिकी—रंगपीठ से पात्र के बाहर जाने के समय प्रयुक्त होने वाला निष्क्रामगान होता है। इस प्रकार के गान संबंधी नैष्क्रामिकी ध्रुवा होती है। पात्रों के निष्क्रमण तथा नाट्य में अंक की समाप्ति पर इस ध्रुवा का प्रयोग होता है—

अङ्कान्ते निष्क्रमणे पात्राणां गीयते प्रयोगेषु।
निष्क्रामोपगतगुणां विद्यान्नैष्क्रामिकीं तां तु॥[3]

प्रासादिकी—रंगस्थल में प्रविष्ट हुए पात्र की चित्तवृत्ति को सामाजिकों के सम्मुख समर्पित करने के प्रयोजन से प्रस्तुत किया जाने वाला गान प्रसादगान कहलाता है—

---

१. वही, अभि., पृ. ३६०-३६१ २. वही
३. वही, ३२/३९२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रविष्टस्यान्तर्गतां चित्तवृत्ति सामाजिकान्प्रति प्रसादयितुं प्रथयितुं प्रसादगानम् ।[१] इससे संबद्ध ध्रुवा की संज्ञा प्रासादिकी है। भरत के अनुसार—

या च रसान्तरमुपगतमाक्षेपवशात् कृतं प्रसादयति ।
रागप्रसादजननीं विद्यात् प्रासादिकीं तां तु ॥[२]

आक्षेप के कारण रसान्तर की अवस्था में काव्य के उत्कर्ष से जो राग का प्रसादन कराती है अर्थात् सामाजिकों की चित्तवृत्ति को राग में तन्मय बना देती है वह प्रसादन कराने के कारण प्रासादिकी कहलाती है। इसे स्पष्ट करते हुए अभिनव का निम्न वाक्य उल्लेखनीय है—

काव्यगतेनोत्कर्षेण रागप्रसादस्य जात्यंशकगीतिवर्णालङ्कारस्य सौभाग्यकृतस्य सामाजिकहृदयं तन्मयीभावापत्तियोग्यतामात्मनो जननमिति गीतिशोभया वा प्रसादयोजनः ।[३]

अर्थात् काव्य के उत्कर्ष के माध्यम से राग यानी जाति, अंश, गीति, वर्ण, अलंकार आदि संपूर्ण गेयांश का प्रसादन करके सामाजिक के हृदय का तन्मयीभाव कराती है अथवा केवल गेय की शोभा के द्वारा प्रसादन करती है। आक्षेपिकी के द्वारा रसान्तर का आक्षेप होने के बाद इसका प्रयोग अवश्य होता है तभी रसान्तर का प्रसादन होता है इसीलिये अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से कहा है—

इयं हि प्रावेशिक्याक्षेपिक्या अनन्तरमवश्यप्रयोज्या भवति ।[४]

प्रासादिकी ध्रुवा की ही अन्य संज्ञा 'आवसानिकी' भी है। इसका अवसान निश्चित रूप से रस में ही होता है इसलिये आवसानिकी कहलाती है—

अवसायोऽवसानं निश्चयो रसः । तत्प्रयोजनमस्येत्यावसानिकी ।[५]

प्रयोज्य वृत्तों के बारे में सामान्य कथन यह है कि इसके प्रत्येक पाद में ६ से १४ तक अक्षर वाले (गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिजगती और शक्वरी) वर्णवृत्तों का अथवा १४ से २५ मात्रा प्रतिपाद वाले मात्रावृत्तों का प्रयोग करना चाहिये। ऐसे ही वृत्तों का प्रयोग इसमें उचित है जो अक्षरसंख्या अथवा मात्रासंख्या की दृष्टि से बहुत छोटे न हों क्योंकि रसाभिव्यक्ति के लिये विभाव-अनुभाव आदि का स्फुट निरूपण अनिवार्य है जो बहुत छोटे वृत्तों में संभव नहीं है। अनावश्यक विस्तार भी रसनिरूपण के लिये हानिकर है—

तेन उष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यतिजगतीशक्वरीच्छन्दःप्रमाणेन वानैककेन द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिरधिकैर्वा प्रासादिकी कार्या । अल्पीयोऽक्षरे च्छन्दसि न विभावानुभावाभ्यां स्फुटनिरूपणा ।[६]

---

१. वही, अ. ६, अभि., पृ. २७०
२. वही, ३२/३१४
३. वही, अभि., पृ. ३६१
४. वही
५. वही, पृ. २९८
६. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रसाद, याचना, अनुस्मरण, हर्ष, प्रार्थना, श्रृंगार, अद्भुत के दर्शन में मध्यलयाश्रित प्रासादिकी का प्रयोग विहित है। श्रृंगार और हास्य के प्रसंग में ललित भाव होने के कारण प्रासादिकी के साथ खंजक और नर्कुट ध्रुवाओं का प्रयोग भी संभव है। प्रासादिकी सामान्यतः उत्तम प्रकृति में प्रयुक्त होती है।

अन्तरा—'अन्तर' का प्रसंगप्राप्त अर्थ है गति या परिक्रमण। ऐसे अवसर पर जिस गान का प्रयोग हो वह आन्तरगान कहलाता है—

> आन्तरमिति गतिपरिक्रमणनिरूपणादिरवसरः। तत्र यद्गीयते तदान्तरं गानम्।[1]

आन्तरगान संबंधी ध्रुवा 'अन्तरा' है। भरत ने इसका विशेष प्रयोजन कहा है—

> विषण्णे मूर्च्छिते भ्रान्ते वस्त्राभरणसंयमे।
> दोषप्रच्छादना या च गीयते सान्तरा ध्रुवा॥[2]

विषाद, मूर्च्छा, भ्रान्ति, वस्त्राभरण ठीक करने आदि प्रसंगों में और दोषों को ढकने वाली ध्रुवा अन्तरा है। अन्तर का अर्थ 'बीच में' भी है। इसलिये दो रसों के बीच की स्थिति में जहाँ कोई विशेष रस न हो वल्कि पहले से प्राप्त रस का अनुवर्तन अथवा आने वाले रस की भूमिका हो वहाँ दो रस-परिस्थितियों के बीच में होने के कारण अन्तरा ध्रुवा कही जाती है—

> अन्तरे छिद्रे गीयते इत्यन्तरा ध्रुवा।
> तत्र च प्राक्तनं भावि वा रसस्वरूपमनुवृत्तमित्यवश्यं द्रुतमध्यविलम्बितान्यतमेन भाव्यम्।[3]

इसका प्रयोजन पात्र के थक जाने, मूर्च्छित हो जाने, पाठ आदि भूल जाने या वेशभूषादि ठीक करने की आवश्यकता जैसे दोषों को ढकना मात्र है, कोई रस समर्पित करना या किसी परिस्थिति को उत्कट वनाना नहीं। इसलिये इसमें सार्थक पद नहीं रहते वल्कि शुष्काक्षरों से गाई जाती है—

> केवलं छिद्राच्छादनमात्रप्रयोजनायामस्यां न सार्थकपदकदम्बयोजनमुपगीतिशुष्काक्षरैरेवेयं.................नाट्यधर्मं प्रायेयम्।[4]

इसीलिये यह नाट्यधर्मी ध्रुवा है [नाट्य में दो प्रकार का अभिनय माना गया है—(१) लोकधर्मी—जो लोक में भी संभव हो और (२) नाट्यधर्मी—जो लोक में न हो वल्कि नाट्य के अनुरोध से जिसका प्रयोग आवश्यक हो। जैसे—स्वगत कथन आदि जहाँ विशिष्ट परिस्थितियों में पात्र की चित्तवृत्ति को दिखाने के लिये रंगमंच पर अन्य पात्रों के रहते हुए भी एक ओर मुँह करके वोला जाता है और तब यह समझा जाता है कि स्वयं वोलने वाले और सामाजिकों के अतिरिक्त अन्य पात्र उसे नहीं सुन रहे हैं]।

---

१. वही, अ. ६, अभि., पृ. २७०
२. वही, ३२/३१५
३. वही, अभि., पृ. ३६१
४. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इनके अतिरिक्त शारीरिक व्यसन या रोष के कारण जब नट रंगमंच से चला जाय तब उसके स्थान पर अन्य नट की योजना करने के लिये समय के इस अन्तर को भरने के लिये द्रुतलय में इसका प्रयोग होता है—

शरीरव्यसने रोषे पुनःसन्धानकर्मणि ।
सानुवन्धा बुधैः कार्या गीतज्ञैरन्तरा ध्रुवा ॥[1]

इसे अभिनव ने स्पष्ट किया—

सानुवन्धेति द्रुतलयेत्यर्थः । ....शरीरव्यसनवशाद् रोषवशाद्वा यदा नटोऽपसर्पति तदा तत्स्थानेऽन्यस्य तद्भूमिकायां द्वितीयस्य योजनं त्वस्याः कर्तव्यम् ।[2]

पञ्चविध ध्रुवाओं के भेद

प्रावेशिकी आदि ध्रुवाओं में से प्रत्येक के ६ भेद होते हैं—शीर्षका, उद्धता, अनुवद्धा, विलम्बिता, अड्डिता और अपकृष्टा अथवा अवकृष्टा—

शीर्षका चोद्धता चैव ह्यनुवद्धा विलम्बिता ।
अड्डिता चापकृष्टा च षट्प्रकारा ध्रुवा स्मृता ॥[3]

शीर्षका—शिरस्थानीय होने के कारण शीर्षका संज्ञा है—'शिरस्थानीयमेतद्धि यस्मात् तस्मात्तु शीर्षका'।[4] अभिवनगुप्त ने इसकी टीका में शीर्षका के महत्त्व को स्पष्ट किया—

तत्रोत्तमप्रकृतिः प्राधान्येन प्रवर्तमाना हि शीर्षका। उत्तमसमाश्रयो हि रसभावादिरनन्तपरिजनादिगतचित्तवृत्यन्तर्जीवितकल्पः ।

अतोऽस्य शिर इति व्यपदेशः ।
शिरस्थानीयं प्रधानं भवति ।[5]

अर्थात् उत्तम प्रकृति में प्रवृत्त होने वाली है। शिरस्थानीय प्रधान होता है इसलिये शीर्षका कहलाती है। शिरस्थानीयता का कारण यह है कि उत्तम प्रकृति के रसभावादि अनन्त परिजनों की चित्तवृत्ति के लिये प्राण के समान होते हैं।

उद्धता—जो उद्धत हो वह उद्धता है। गमन, आगमन, भ्रमण आदि चेष्टाओं की प्रधानता रहती है इसलिये इसकी संज्ञा उद्धता है—

उद्धता तूद्धता यस्मात् तस्मात् ज्ञेया ध्रुवा बुधैः ।[6]
चेष्टितप्राधान्येनोद्धतसञ्ज्ञता ।[7]
गमागमभ्रमणादिप्राधान्यात् ।[8]

---

१. वही, ३२/३२६
२. वही, अभि., पृ. ३६५
३. वही, ३२/३२९
४. वही, ३२/३३०
५. वही, अभि., पृ. ३६५
६. वही, ३२/३३०
७. वही, अभि., पृ. ३६५
८. वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अथवा वीर, रौद्र आदि उद्धतविषयक होने से उद्धता है, इस मतान्तर का उल्लेख अभिनव ने किया है—'अन्ये तु वीररौद्रविषयेयमित्याहुः।'[1] शीर्षका और उद्धता का प्रयोग देवता और राजादि उत्तम प्रकृति में ही होता है।

अनुबद्धा—'अनुबद्ध' का अर्थ है बाँध कर रखना। यह ध्रुवा यति, लय, वाद्य-प्रयोग, पदगत विराम, वृत्तगत लघुगुरु क्रम, गीति, पद को बाँध कर रखती है इसलिये अनुबद्धा है अथवा ये सब प्रकृष्ट रूप से तथा अन्योन्य रूप से संश्लिष्ट होकर इसमें रहते हैं इसलिये अनुबद्धा कही जाती है। भरत के अनुसार लक्षण यह है—

यतिं लयं वाद्यगतिं पदं वर्णान् स्वराक्षरम्।
अनुबन्धाति यत्नैवमनुबद्धा भवेत्तु सा॥[2]

प्रयोग के औचित्य से इसके द्वारा कवि, नाट्याचार्य, वर्णकवि, गाता, नट आदि अनुबद्ध होते हैं इसलिये भी यह अनुबद्धा कहलाती है—

यस्यां ध्रुवायामेवमिति प्रयोगौचित्येन कविर्नाट्याचार्यो वर्णकविर्गाता नटो वा यत्नानुबध्नाति सा ध्रुवा अनुबद्धा।[3]

यह ध्रुवा विभाव–अनुभाव–व्यभिचारी आदि भावसम्पत्ति को सूचित करती है—

समस्तविभावानुभावव्यभिचारिसम्पदं सूचयत्यनुबद्धा।[4]

विलम्बिता—इसे भरत ने स्थिता, विलम्बिता, द्रुतविलम्बिता आदि संज्ञाओं से अभिहित किया है। नाट्य में द्रुत और विलम्बित लयों के सहचार से नाट्यधर्मयुक्त रसादि के वैचित्र्य के नियम का अनुसरण करने के कारण द्रुतविलम्बिता कही गई है—

नाट्ये त्वरितसञ्चारा नाट्यधर्ममनुव्रता।
सविलम्बितसञ्चारा भवेद् द्रुतविलम्बिता॥[5]

यह द्रुत विलम्बित लयभेद के द्वारा उत्तम, मध्यम, अधम प्रकृति की भिन्न चित्तवृत्तियों और चेष्टाओं को सूचित करती है—

अधममध्यमनीचैरित्यादिस्थिता तु भिन्नां प्रकृतिचित्तवृत्तिं भिन्नं च तद्गतं चेष्टितं सूचयति द्रुतविलम्बिता।[6]

मध्यम प्रकृति के पात्रों में केवल प्रवेश के समय इसका प्रयोग होता है। अधम प्रकृति में स्थिता और अड्डिता के प्रयोग का निषेध है।

अड्डिता—शृंगाररस वर्णन जिसमें उत्कट रूप से रहता है और चित्तवृत्तिरूप स्थान जिसके द्वारा प्रकृष्ट रूप से व्याप्त होता है वह अड्डिता है—

---

१. वही
२. वही, ३२/३३१
३. वही, अभि., पृ. ३६६
४. वही, पृ. ३६५
५. वही, ३२/३३३
६. वही, अभि., पृ. ३६५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अड्डिता तूत्कटगुणा शृंगाररससम्भवा ।
यस्मात् स्थाने प्रसन्ना च तस्मादेषाड्डिता स्मृता ॥[1]

यह सापेक्षभावरूपा है और संविद् के विकास से शोभित है अर्थात् रस के आश्रित होकर चित्तवृत्ति को विकसित करती है—

सापेक्षभावरूपं संविद्विकाससुन्दरं रसमाश्रयत्यड्डिता ।[2]

इससे स्पष्ट है कि इसका विशेष संबंध शृंगाररस से है। शृंगाररस को 'उज्ज्वल-वेषात्मक', 'शुचि' कहा गया है जो उत्तम प्रकृति का गुण है इसीलिये अधम प्रकृति में अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग वर्जित किया गया है। इसका प्रयोग देवताओं, राजाओं, वेश्याओं, अप्सराओं तथा कुलांगनाओं के लिये विहित है—

दिव्यपार्थिववेश्यानां स्त्रीणां योज्या तथाड्डिता ।[3]

ये सभी उत्तम प्रकृति या शृंगाररस के आश्रय हैं इसीलिये इनमें अड्डिता ध्रुवा होती है।

अवकृष्टा—अड्डिता के बिलकुल विपरीत अवकृष्टा ध्रुवा कही गई है क्योंकि अड्डिता शृंगारप्रधान है और अवकृष्टा करुणप्रधान। करुण भावों में कर्षण होता है इसलिये यह अवकृष्टा कहलाती है—

अन्यभावेषु कृष्टा च कृष्टहेतुषु गीयते ।
यस्मात् कारुण्यसंयुक्ता ह्यवकृष्टा भवेत्ततः ॥[4]

कर्षण को अभिनव ने लाक्षणिक ढंग से समझाया है—

कारुण्ये सम्यग्युक्ता उचिता प्रकृष्टा यस्मात् कृष्टमुत्थानं कृत्वा गीयते।.........कर्मणि चित्तवृत्त्यवसादरूपे मान्थर्यकारणेषु भावेषु विप्रलम्भभयानकादिषु व्यभिचारिभूतेषु निर्वेदग्लानिशमचिन्ताप्रभृतिषु ।[5]

अर्थात् करुण से युक्त होने के कारण इसमें कर्षण होता है। विप्रलंभ शृंगार, भयानक आदि रसों, निर्वेद-ग्लानि-शम-चिन्ता आदि व्यभिचारिभावों में चित्तवृत्ति का अवसाद होने पर मन्थरता के कारण विलम्ब का भाव रहता है, विलंब में कर्षण होता ही है इसीलिये करुण से युक्त भाव वाली ध्रुवा की संज्ञा 'अवकृष्टा' है।

मृत्यु के समय इसका सर्वत्र प्रयोग होता है—राजादि उत्तम प्रकृति में, वेश्यादि मध्यम प्रकृति में, स्त्रियों और अधम प्रकृति में भी—

कुर्यान्नीचे मृते चैव त्वनुबन्धं लयाश्रयम् ।
स्त्रीणां राजन्यवेश्यानामपकृष्टां तथैव च ॥[6]

द्रुता—उपर्युक्त ६ भेदों में द्रुता का नाम नहीं है लेकिन भरत ने अनेक स्थानों

१. वही, ३२/३३४
२. वही, पृ. ३६५
३. वही, ३२/३३८
४. वही, ३२/३३५
५. वही, अभि., पृ. ३६७
६. वही, ३२/३४१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर द्रुता का उल्लेख किया है। विलंबित गति वाली विलंबिता के विपरीत द्रुतलय वाली ध्रुवा द्रुता कही गई है। जिन ध्रुवा वृत्तों के लक्षण-उदाहरण भरत ने दिये हैं उन्हें दो वर्गों में बाँटा है—विलंबिता के और द्रुता के। इसी से स्पष्ट है कि ध्रुवा के दो मोटे भेद लय के आधार पर करके द्रुता को भी महत्त्व दिया है।

पाठ्य तथा गेय वृत्तों का भेद

संस्कृत छन्दःशास्त्र में वृत्तों के सम, अर्धसम, विषम आदि भेद कहे गये हैं। प्रतिपाद ६ से २६ अक्षर के वृत्तों की गणितसिद्ध संख्या भरत ने १३४२१७७२६ कही है। लेकिन ये सभी काव्य या गेय में उपयोगी नहीं होते। काव्योपयोगी वृत्तों में पाठ्यमानत्व की प्रधानता होनी चाहिये और गीतोपयोगी वृत्तों में सुपाठ्यता के अतिरिक्त गेयता आवश्यक है तथा ताल के साथ साम्य स्थापित करने की योग्यता भी होनी चाहिये। गीत में वृत्त सुपाठ्य न भी हो तो ताल और वर्ण (स्वरयोजना) के प्रकर्ष के द्वारा वह कमी दूर की जा सकती है। इसीलिये भरत ने कहा है—

> सन्त्यन्यान्यपि वृत्तानि यान्युक्तानीह पिण्डशः।
> न च तानि प्रयोज्यानि हतशोभानि तानि हि॥
> यान्यत्र प्रतिषिद्धानि गीतके तानि योजयेत्।
> ध्रुवायोगे तु वक्ष्यामि तेषामेव विकल्पनम्॥[1]

इसके अनुसार हतशोभा वाले वृत्तों का प्रयोग काव्य में नहीं होता बल्कि 'गीतकों' में होता है। अभिनव ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया—

> ननु हतशोभानीति चेत् कथं प्रयोज्यानीत्याह यान्यत्र प्रतिषिद्धानीति गीतं पाठ्यमानत्वाभावात् न वृत्तगता श्रव्यतापेक्षते केवलं तालयोजनार्थसाम्यमवश्यकर्तव्यमिति मात्राणां वर्णानां नियमस्तत्राश्रीयते।[2]

अर्थात् गेय में पाठ्यमानत्व का अभाव होने के कारण वृत्तगत श्रव्यता की अपेक्षा नहीं होती, केवल तालयोजना के लिये साम्य अवश्य होना चाहिये इसलिये वहाँ मात्रा या वर्णों का नियम रहता है।

भरत द्वारा 'गीतक' शब्द मद्रक, वर्धमानादि गीतकों के लिये प्रयुक्त हुआ है और 'ध्रुवायोग' का अर्थ 'ध्रुवा' नहीं बल्कि गेयाधिकार है जहाँ गीतकों का निरूपण हुआ है।

अभिनव के अनुसार गीतकों में वर्णांग के अनुसार तथा मात्रा के नियम से युक्त वृत्त होता है—'गीतकेषु तालोचितवर्णाङ्गानुसारेण मात्रानियमात्मकं वृत्तम्।'[3] गीतकों में ताल की इकाई वृत्त की मात्रा से भिन्न होती है। वहाँ १ मात्रा ५ ह्रस्वाक्षरकाल के बराबर होती है तथा मौलिक इकाई (गुरु) का काल १० ह्रस्व अक्षर होता है। एक गुरु के काल में पद का एक गण (चतुर्मात्रिक) गाया जाता है। इस प्रकार पद के एक अक्षर

---

१. वही, १५/१९३–१९४ २. वही, अभि., पृ. २८७

३. वही, ३२/१६, अभि., पृ. २९६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का गेयकाल ढाई अक्षर के काल के बराबर होता है। इस कारण गीतक के गेय रूप में वृत्त की पाठगत श्रवणीयता नहीं रहती यानी पढ़ते समय वृत्त जैसा सुनाई देता है वैसा गाते समय नहीं।

गीतकों में सभी पाद समान लम्बाई के हों यह आवश्यक नहीं। चतुर्मात्रिक गणों में कभी-कभी एक गण की अन्तिम मात्रा अगले गण की पहली मात्रा से मिल कर गुरु बन जाने के कारण गण भी सर्वत्र व्यवस्थित नहीं होते जिसके फलस्वरूप पाठ करते समय लय खण्डित होती है और पद में सुश्राव्यता नहीं रहती। किन्तु गेय रूप में स्वरांश और ताल-मात्रा प्रधान हो जाने के कारण पदगत वृत्तभंग का बोध नहीं होता और 'हतशोभा' होते हुए भी गीयमानता बनी रहती है।

गेय और पाठ्य वृत्तों में अभिनव ने अन्यत्र भी अन्तर किया है—

भगवते कृत इति केषांचिद्दोद(ध)कतोद(ट)कादीनां गीयमानतया शोभातिशयो भवति श्लोकः, स्रग्धरादीनां तु पाठेन।[1]

यहाँ दोधक, तोटक आदि में गीयमानता के द्वारा और स्रग्धरादि में पाठ के द्वारा शोभातिशय कहा गया है। दोधक में ३ भगण और अन्त में दो गुरु और तोटक में ४ सगण होने के कारण गणों की आवृत्ति होती है। स्रग्धरा में भगण, रगण, भगण, नगण और ३ यगण की योजना में गणों की आवृत्ति नहीं है इसलिये प्रथम दो में एक विशेष प्रकार की आवर्तक लय बनती है और स्रग्धरा में नहीं। दोधक की गीयमानता का उल्लेख अभिनव ने दोधकवृत्त की व्याख्या में भी किया है—'मन्दं मन्दं दोधकेन गीयमानं वृत्तं दोधकम्।'[2]

गीतकों की तुलना में तोटक, स्रग्धरादि लघुगुरु नियम के कारण श्रव्यता से युक्त और सुपाठ्य हैं किन्तु स्रग्धरादि की अपेक्षा दोधकादि में गेयता अधिक है क्योंकि इनमें तालसाम्य स्थापित करना सरल है। इसीलिये इनमें गेय की और स्रग्धरादि में पाठ की शोभा कही गई है।

ध्रुवाओं में प्रयुक्त वृत्त

विभिन्न ध्रुवाओं में जिन वृत्तों का प्रयोग होता है उनका लक्षण, उदाहरणसहित विस्तार से निरूपण नाट्यशास्त्र और भरतभाष्य में ही मिलता है। भरतभाष्य का अंश अस्पष्ट है। नाट्यशास्त्र में विभिन्न ध्रुवाओं में लगभग ११० वृत्तों के लक्षण हैं जिनमें से ९ या १० को छोड़कर शेष सभी वृत्त परवर्ती छन्दःशास्त्रकारों द्वारा संस्कृत वृत्तों में सम्मिलित किये गये हैं। भरत ने इन्हें १४वें, १५वें अध्यायों में निरूपित वृत्तों से अलग क्यों किया इसका कारण समझ में नहीं आता।

वृत्तों में अन्तर के कुछ आधार निम्न हो सकते हैं—

(१) अक्षरसंख्या—अक्षरसंख्या कम या अधिक हों।

(२) गणभेद—मात्रिक या वर्णगणों पर आधारित हों।

---

१. वही, अ. १४, अभि., पृ. २४६ २. वही, अ. १५, अभि., पृ. २४७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(३) आवर्तक या अनावर्तक गण—गणों की आवृत्ति हो या न हो।
(४) सम, अर्धसम, विषम आदि भेद—पाद समान या असमान आकार के हों।
(५) पादसंख्या—पादों की संख्या न्यूनाधिक हो।

वृत्त और ध्रुवावृत्तों में इनमें से कोई भी भेदक तत्त्व नहीं दिखाई देता। दोनों में २६ अक्षरों तक के छन्द हैं; मात्रिक छन्द दोनों में नहीं हैं (ध्रुवाओं में केवल एक मात्रा-वृत्त है—वानवासिका), केवल वर्णवृत्त ही हैं; दोनों में तोटक और मत्तचेष्टित जैसे आवर्तक छन्द हैं; दोनों में मुख्यत: समवृत्त हैं, वृत्तों में कुछ विषम और अर्धसम भी कहे गये हैं लेकिन उनकी संख्या बहुत कम है, दोनों में केवल चतुष्पाद वृत्त हैं। छन्द और वृत्त-अध्यायों में कुल ५३ समवृत्त हैं और ध्रुवाध्याय में १११ ध्रुवाएँ हैं जिनमें से केवल एक अर्धसम वर्ग की है तथा वर्धमानता से बने ८ वृत्त विषमवर्ग के हैं। ९ वृत्त दोनों अध्यायों में हैं। इन सबके लघुगुरु क्रम व अक्षरसंख्या सहित लक्षण नीचे दिये जा रहे हैं।

छन्द नाम	स्वरूप	अक्षरसंख्या
१. तनुमध्या	ऽ ऽ । । ऽ ऽ	६
२. मकरकशीर्षा	। । । । ऽ ऽ	६
३. भ्रमरमाला	ऽ ऽ । । । ऽ ऽ	७
४. मत्तचेष्टित	। ऽ । ऽ । ऽ । ऽ	८
५. रथोत्तर (छन्दाध्याय में रथोद्धता संज्ञा है)	ऽ । ऽ । । । ऽ । ऽ । ऽ	११
६. प्रमिताक्षरा	। । ऽ । ऽ । । । ऽ । । ऽ	१२
७. तोटक	। । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ	१२
८. वंशपत्रपतित	ऽ । । ऽ । ऽ । । । ऽ । । । । । । ऽ	१७
९. आमोद (छन्दाध्याय में मद्रक संज्ञा है)	ऽ । । ऽ । ऽ । । । ऽ । ऽ । । । ऽ । ऽ । । । ऽ	२२

संभवत: भरत के पहले से कोई ऐसी परंपरा चली आ रही थी जिसमें कुछ वृत्त नाट्य के पाठ्यांश में ही प्रयुक्त होते होंगे और कुछ गेयांश में तथा कुछ का दोनों में प्रयोग होता होगा। अत: भरत ने उसी परंपरा का अनुसरण करते हुए लक्ष्य के आधार पर लक्षण निरूपण किया। वृत्त और ध्रुवा के छन्द अलग करने का यदि कोई तर्कसम्मत आधार रहा हो तो वह ज्ञात नहीं है।

ध्रुवाध्याय में दिये गये वृत्त लक्षणसहित एक तालिका के रूप में प्रस्तुत किये जा रहे हैं। ऐसा लगता है कि इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया गया है। १ से ५२ तक विलम्बिता ध्रुवाओं के तथा ५३ से ८३ तक द्रुता ध्रुवाओं के वृत्त हैं। ८४ से ९२ तक के वृत्त वर्धमानता से बने हैं, ९३ से १०० तक शीर्षक भेद हैं, १०१ से १०८ तक नर्कुट वृत्त और १०९ से १११ तक खञ्जक वृत्त हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(अ) विलम्बिता वर्ग

(१) प्रासादिकी के वृत्त

संख्या	छन्द नाम	लघुगुरु क्रम	अक्षरसंख्या	छन्दजाति
१	श्री	ऽ ऽ	२	अत्युक्ता
२	विद्युत्	ऽ । ऽ	३	मध्या
३	धृति	। ऽ ऽ	,,	,,
४	रजनी	। । ऽ	,,	,,
५	प्रतिष्ठा	ऽ । ऽ ऽ	४	प्रतिष्ठा
६	सुप्रतिष्ठा	ऽ । । ऽ	,,	,,
७	भ्रमरी	। । ऽ ऽ	,,	,,
८	जया	। ऽ । ऽ	,,	,,
९	विजया	ऽ ऽ । ऽ	,,	,,
१०	विद्युद्भ्रान्ता	ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ	५	सुप्रतिष्ठा
११	भूतलतन्वी	ऽ । । ऽ ऽ	,,	,,
१२	कमलमुखी	। । । । ऽ	,,	,,
१३	वागुरा	ऽ । ऽ । ऽ	,,	,,
१४	शिखा	। ऽ । ऽ ऽ	,,	,,
१५	घनपंक्ति	। । ऽ ऽ ऽ	,,	,,
१६	तनुमध्या	ऽ ऽ । । ऽ ऽ	६	गायत्री
१७	मालिनी	ऽ । । ऽ । ऽ	,,	,,
१८	मकरकशीर्षा	। । । । ऽ ऽ	,,	,,
१९	विमला	। । ऽ । ऽ ऽ	,,	,,
२०	वीची अथवा वीथिका	ऽ ऽ ऽ । । ऽ	,,	,,
२१	गिरा	। । । ऽ । ऽ	,,	,,
२२	जला	ऽ ऽ । ऽ । ऽ	,,	,,
२३	सुनन्दा	ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ	,,	,,
२४	सुललिता	ऽ । । ऽ ऽ ऽ	,,	,,
२५	नलिनी	। । ऽ । । ऽ	,,	,,
२६	पंक्ति	ऽ ऽ ऽ । । ऽ	,,	,,
२७	नीलतोया	ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ	,,	,,
२८	चपला, द्रुतगति	। । । । । । ऽ	७	उष्णिक्
२९	तन्वी	। । ऽ । ऽ । ऽ	,,	,,
३०	कामिनी अथवा शिखा	ऽ । ऽ । ऽ । ऽ	,,	,,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३१ भ्रमरमाला	SSIIISS	,,	,,
३२ भोगवती	SIISIIS	,,	,,
३३ मधुकरिका	SSIIIIS	,,	,,
३४ सुभद्रा	ISISISS	,,	,,
३५ मत्ता अथवा कुसुमवती	IIIISSS	,,	,,
३६ चित्रा	ISSIISS	,,	,,
३७ मनोज्ञा	IIISISS	,,	,,
३८ विलम्बिता (सुभद्रा जैसा ही है)	ISISISS	,,	,,
३९ दीप्ता	IISSISS	,,	,,
४० चञ्चलगति	SIIISIS	,,	,,

(२) प्रावेशिकी के वृत्त

(क) उत्तम, मध्यम प्रकृति तथा स्त्रियों में प्रयोज्य

४१ विमलजला	IISIIIIS	८	अनुष्टुप्
४२ ललिता	IIIISIIS	,,	,,
४३ मही	IIIIISIS	,,	,,
४४ मधुकरिका	IIIIIISS	,,	,,
४५ नलिनी (ललिता जैसा ही है)	IIIISIIS	,,	,,
४६ नदी	SIIIIIIS	,,	,,

(ख) अधम प्रकृति में प्रयोज्य

४७ रुचिरा	SSISIIISS	९	बृहती
४८ प्रमिता	IISISIIISS	१०	पंक्ति
४९ विगतशोका	IIIIISIIISS	११	त्रिष्टुप्
५० विश्लोका	SSISIIISIIS	,,	,,
५१ ललित	SSISIIISISIS	१२	जगती
५२ मनोवती	IISISIIISISIS	१३	अतिजगती

(आ) द्रुता वर्ग

(१) प्रावेशिकी के वृत्त

(क) उत्तम प्रकृति में प्रयोज्य—इसमें जगती से अतिधृति तक ८ जातियों की ध्रुवाओं के सन्दर्भ में भरत ने यह निर्देश किया है कि प्रारम्भ में दोधक का प्रयोग करके शेष में ह्रस्वयोजना करनी चाहिये—

मुखे तु दोधकं कृत्वा शेषं ह्रस्वैस्तु योजयेत् ।[1]

१. ना॰ शा॰, ३२/१५६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस पर अभिनव ने व्याख्या करते हुए कहा कि इन ध्रुवाओं में प्रथम पाद में दोधक का प्रयोग करके शेष तीन पादों में उतने लघुओं की योजना करनी चाहिये जिनसे दोधक की मात्राओं का पूरण हो जाय।[1] अभिनव के इस कथन का आशय स्पष्ट नहीं है क्योंकि दोधक ११ अक्षर का छन्द है जिसमें ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽऽ के क्रम से अक्षरयोजना होती है। यदि मात्रासंख्या देखें तो १६ मात्राएँ होती हैं। उत्तम प्रकृति के ८ वृत्त जगती से अतिधृति तक यानी १२ से १९ अक्षर वाले छंद हैं और एक को छोड़ कर प्रत्येक की मात्रासंख्या २२ है जो दोधक से बहुत अधिक हैं। इसलिये इन वृत्तों के प्रथम पाद में दोधक का तथा शेष पादों में दोधक का पूरण होने जितने लघुओं का प्रयोग किस प्रकार किया जायगा यह समस्या उत्पन्न करता है।

५३	विक्रान्ता	ऽऽऽऽऽऽऽऽऽ।।ऽ	१२	जगती
५४	मदनवती	ऽऽऽऽऽऽऽऽ।।।।ऽ	१३	अतिजगती
५५	विमलगति	ऽऽऽऽऽ।।ऽऽ।।।।ऽ	१४	शक्वरी
५६	भूतलतन्वी	ऽ।।ऽऽऽ।।ऽऽ।।।।ऽ	१५	अतिशक्वरी
५७	सुकुमारा	ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽऽ।।।।ऽ	१६	अष्टि
५८	माला	।।।।ऽ।।ऽ।।ऽऽ।।।।ऽ	१७	अत्यष्टि
५९	स्खलितविक्रमा	।।ऽऽ।।ऽऽऽ।।ऽऽ।।।।ऽ	१८	धृति
६०	चपला	।।।।ऽ।।ऽ।।।।ऽ।।।।ऽ	,,	,,
६१	मुखचपल	।।।।ऽ।।।।।।ऽ।।।।।।ऽ	१९	अतिधृति

(ख) मध्यम तथा अधम प्रकृति में प्रयोज्य

६२	आक्षिप्तिका	।।ऽ।ऽ।।ऽ।।ऽऽ।।।।ऽ	१७	अत्यष्टि
६३	कनकलता[2]	ऽऽ।।।।ऽऽऽ	९	बृहति
६४	शशिलेखा	।।।।ऽ।।ऽऽ	,,	,,
६५	अविचालिता	।।।।।ऽ।ऽऽ	,,	,,
६६	मणिगुणनिकरकृता	।।।।।।।।ऽ	,,	,,
६७	सिंहाक्रान्ता	ऽऽऽऽ।।।।ऽ	,,	,,
६८	सुरदयिता	ऽ।।ऽऽ।।।।ऽ	१०	पंक्ति
६९	कुमुदिनी	ऽऽऽ।।।।।।ऽ	,,	,,
७०	दोधकवत्[3]	ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ	,,	,,
७१	कृतोद्धत	ऽऽऽ।।ऽ।।ऽऽ	,,	,,
७२	पंक्तिरथा	ऽ।।ऽऽऽ।।ऽऽ	,,	,,

१. वही, चभि., पृ. ३२४

२. कनकलता नाम से दो ध्रुवाएं हैं। प्रथम में ११ अक्षरों में से प्रथम ४ तथा अन्तिम में गुरु हैं। दूसरी को कनकलता आक्षिप्तिका कहा है। ऊपर इसी का लक्षण है।

३. दोधक में अन्त में २ गुरु होते हैं, यहां एक ही है। सम्भवतः इसीलिये 'दोधकवत्' नाम दिया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

७३ विपुलभुजा	I I I I S I I S S S	,,	,,
७४ चपलगति	S S I I I I I I I I S	११	त्रिष्टुप्
७५ कमलदलाक्षी	I I I I S S I I I I S	,,	,,
७६ द्रुतपादगति	I I I I S I I S I I S	,,	,,
७७ मुखचपला	I I I I S S I I I I S	,,	,,
७८ विमला	I I S S S S I I I I S	,,	,,
७९ रुचिरा	S I I S S I I I I S S	,,	,,
८० अपरवक्त्र	I I I I I I S I S I S	,,	,,
८१ कमललोचना	I I I I I I I I S I I S S	१३	अतिजगती[1]
८२ त्वरितगति	I I I I I I I I I I I I S	,,	,,
८३ मदकलिता	I I I I S I I I I I I S S	,,	,,

(इ) वर्धमानता से बने वृत्त

नाम	प्रतिपाद-अक्षरसंख्या
८४ प्रतिष्ठा	४+५+६+७
८५ सुप्रतिष्ठा	५+६+७+८
८६ गायत्री	६+७+८+९
८७ उष्णिक्	७+८+९+१०
८८ अनुष्टुप्	८+९+१०+११
८९ बृहती	९+१०+११+१२
९० पंक्ति	१०+११+१२+१३
९१ त्रिष्टुप्	११+१२+१३+१४
९२ जगती	१२+१३+१४+१५

प्रतिष्ठा से उष्णिक् तक के उपर्युक्त वृत्त त्र्यश्र हैं तथा इसके बाद के चतुरश्र हैं ऐसा भरत का विधान है।[2] इन वृत्तों में प्रथम पाद की अक्षर संख्या जिस छन्द जाति की सूचक है उसी के नाम पर वृत्त को संज्ञा दी गई है। विषम छंद तो संस्कृत में भी हैं लेकिन यहाँ विशेषता यह है कि क्रमशः प्रत्येक पाद में १-१ अक्षर बढ़ा कर वैचित्र्य लाया गया है जो संस्कृत के विषम वृत्तों में नहीं है।

(ई) शीर्षक भेद

शीर्षक वृत्त २१ से २६ अक्षरों द्वारा बनते हैं। कुल ७½ गण होते हैं। इनमें से शुरू के ४ गण युग्म, ओज अथवा मिश्र चतुर्मात्रिक गण होते हैं तथा शेष ३ गण केवल लघु

---

१. कमललोचना की जाति जगती कही है। जगती में १२ अक्षर और अतिजगती में १३ होते हैं। हमने अक्षरसंख्या के अनुसार इसे अतिजगती में रखा है।

२. ना. शा., ३२/२३० तथा अभि.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अक्षरों के समूह होते हैं। अन्त में आधा गण एक गुरु अक्षर से होता है। युग्म अर्थात् दो गुरु अथवा ४ लघुओं के समूह, ओज अर्थात् एक गुरु दो लघुओं (और संभवतः दो लघु एक गुरु) के समूह तथा मिश्र संभवतः एक लघु, एक गुरु, एक लघु के समूह से बनते हैं।

	छन्द नाम	लघुगुरु क्रम	अक्षरसंख्या	जाति
९३	श्येनी[1]	S I S I S I S S, I I I I I I I I I I I I S	२१	कृति (?)
९४	चपला	I I I I S I I S I I S S, I I I I I I I I S[2]	२१	प्रकृति
९५	क्रौञ्च	S S S S S I I S S, I I I I I I I I I I I I S	२२	(उल्लेख नहीं है)
९६	पुष्पसमृद्धा	S I I S S S I I S S, I I I I I I I I I I I I S	२३	विकृति
९७	सम्भ्रान्ता	I I I I S S S I I S S, I I I I I I I I I I I I S	२४	सङ्कृति
९८	स्खलिता	S I I S I I S I I S S, I I I I I I I I I I I I S	,,	,,
९९	मत्ताक्रीडा या विद्युन्माला	S S S S S S S S, I I I I I I I I I I I I I I I I S[3]	२५	अभिकृति
१००	वेगवती	I I I I S I I I I I I S S, I I I I I I I I I I I I S	२६	उत्कृति

श्येनी और चपला को छोड़ कर शेष सभी वृत्त परवर्ती छन्दःशास्त्र के ग्रंथों में ज्यों के त्यों मिलते हैं। इनमें उल्लेखनीय बात यह है कि ये सभी वृत्त दो-दो वृत्तों के मिश्रण से बने प्रतीत होते हैं और बहुत लंबे हैं। लघुगुरु क्रम के बीच में दो-दो छंदों की दृष्टि से पृथक्ता लाने के लिये अर्धविराम चिन्ह (,) हमने लगाया है। इनमें जिन छंदों का मिश्रण दिखाई देता है उनके नाम इस प्रकार हैं—

श्येनी	सिंहलेखा + त्वरितगति
चपला	कमलविलासिनी + मणिगुणनिकर
क्रौञ्च	सुन्दरलेखा + त्वरितगति
पुष्पसमृद्धा	पंक्तिरथा + त्वरितगति
सम्भ्रान्ता	पतिता + त्वरितगति
स्खलिता	दोधक + त्वरितगति
मत्ताक्रीडा	विद्युन्माला + (?)
वेगवती	मदकलिता + त्वरितगति

इनमें से कमलविलासिनी, सुन्दरलेखा और पतिता नाट्यशास्त्र में ध्रुवा अथवा वृत्त में से किसी में उल्लिखित नहीं हैं, शेष सब ध्रुवाओं में है।

१. श्येनी की जाति कृति कही है किन्तु अक्षरसंख्या २१ है। कृति में २० तथा प्रकृति में २१ अक्षर होते हैं। शीर्षकाओं में आरम्भ में ४ चतुर्मात्रिक गण होते हैं किन्तु श्येनी में ३ लघु कम होने से शुरू में ३$\frac{1}{4}$ ही गण हैं।

२. चपला में ७$\frac{1}{2}$ के स्थान पर ६$\frac{1}{2}$ गण ही हैं।

३. इसमें ७$\frac{1}{2}$ के स्थान पर ८$\frac{1}{2}$ गण हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(उ) नर्कुट वृत्त

	छन्दनाम	लघुगुरुक्रम	अक्षरसंख्या	जाति
१०१	रथोत्तर	S I S I I I S I S I S	११	त्रिष्टुभ्
१०२	बुद्बुदक	I I I I S I S I S	९	बृहती
१०३	उद्गत	I I S I S I I I S I S S I S I S	१६	अष्टि
१०४	वंशपत्र	S I I S I S I I I S I I I I I I S[1]	१७	अतिधृति (?)
१०५	प्रमिताक्षरा	I I S I S I I I S I I S	१२	(उल्लेख नहीं है)
१०६	ध्वजिनी	I I S I S I I I S S, S I I S I S I I I S S	१० + ११	

यह अर्धसमवृत्त है जिसके विषम चरणों में १०-१० तथा सम चरणों में ११-११ अक्षर हैं।

१०७	हंसास्य	I I S S I S S I I S I S	१२	जगती
१०८	तोटक	I I S I I S I I S I I S	,,	,,

(ऊ) खञ्जक वृत्त

१०९	आमोद	S I I S I S I I I S I S I I I S I S I I I S	२२	आकृति
११०	भाविनी	S I S I S I S I S	९	
१११	मत्तचेष्टित	I S I S I S I S	८	

पूर्वरंग में प्रयुक्त ध्रुवाएँ

ध्रुवा में सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार का पद हो सकता है, यह पहले कहा जा चुका है। साधारणतः नाट्य के भीतर प्रयुक्त होने वाली ध्रुवाओं में सार्थक पद ही रहता है। किन्तु आगे आने वाली ध्रुवा में प्रयुक्त वाद्यों के पूरक के रूप में निरर्थक ध्रुवा भी हो सकती है। इसका प्रयोग गायक की प्रकृति, योग्यता और अवकाश के अनुसार होता है। पूर्वरंग में प्रयुक्त होने वाले निर्गीत अथवा बहिर्गीत, उत्थापनी, परिवर्तनी और शुष्कावकृष्टा—ये सभी ध्रुवाएँ ही हैं।

'अपद' यानी निरर्थक वर्णों अर्थात् झण्टुमादि की योजना होने के कारण निर्गीत कहलाते हैं। देवताओं की ईर्ष्या के कारण इन्हें बहिर्गीत अर्थात् 'गांधर्व से बाहर' कहा गया। लेकिन पूर्वरंग में ये भाण्डवाद्य और ध्रुवा के उपरंजक रूप में प्रयुक्त होने के साथ वीणावाद्य के वैचित्र्य के लिये अवकाश देने वाले हैं। शुष्क नामक वीणावाद्य का साथ में प्रयोग होने के कारण इन्हें शुष्कवाद्य भी कहा गया, ऐसा उल्लेख अभिनव ने किया है— 'वादित्रं तद्गतं शुष्काख्यं वीणावाद्यम्'।[2]

---

१. श्लोक में लघुगुरु क्रम सही नहीं है। हमने लक्षण उदाहरण के आधार पर दिया है। इसकी जाति अतिधृति कही है जब कि १७ अक्षर की जाति अत्यष्टि होती है।

२. ना. शा., अ. ५, अभि., पृ. २२१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीतरत्नाकर में यह उल्लेख है कि विशाखिल ने इन्हें शुष्कवाद्य कहा—'आश्रावणं शुष्कवाद्यमत्र त्वाह विशाखिलः' ।[१] यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भरत और अभिनवगुप्त ने इन्हें गीत यानी गेय ही कहा है । बहिर्गीतों की उत्पत्ति सम्बन्धी जिस कथा का भरत ने उल्लेख किया है[२] उसके अनुसार नारदादि के द्वारा देवताओं की स्तुति में गाये गये गीतकों को सुन कर ईर्ष्या के कारण दानव क्षुब्ध हुए और उन्होंने उन गीतकों में से स्तुति-पद निकाल कर झण्टुमादि निरर्थक पद रख कर, साथ में वीणावाद्य प्रयोग रहने दिया और कहा कि देवता अपनी स्तुति करके प्रसन्न रहें हम तो निर्गीत से ही सन्तुष्ट रहेंगे । इस क्षोभ के कारण देवताओं ने इन निर्गीतों को बहिर्गीत कहा । स्पष्ट है कि ये फिर भी मुख्यतः गेय थे । अभिनव ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि इनमें गीत वाद्य दोनों की समान प्रधानता थी और गीतकों के उपोहन-प्रत्युपोहन से युक्त थे—

गीतवाद्यगीतोभयप्रधाना क्रमेण चित्रादयो वृत्तिमार्गाः । .. ..तद्विषयं यद्गीतकं सहोपोहन प्रत्युपोहनैः वर्धमाननिर्गीतेन च आश्रावणा तथारम्भ इत्यादिना... ।[३]

निर्गीतमिति तावदाद्य नाम । निरर्थकं गीतमिति ।[४]

गीयमानेभ्यः पदेभ्यः सार्थकेभ्यः पदेभ्यो बहिर्गीतमिति ।[५]

यद्यपि यह भी विचारणीय है कि २८वें अध्याय के शुरू में पूरे गेयाधिकार का जो उद्देश (संग्रह) किया है उसमें निर्गीतों को 'शुष्क' संज्ञा से दारवी वीणा के विषय संग्रह में रखा है, शरीरवीणा में नहीं तथा इनका निरूपण भी वीणावादन विधि के अन्तर्गत ही किया है । संभव है कि सार्थक पद न रहने और निरर्थक अक्षरों के साम्यसम्पादन में प्रयुक्त वीणावादन की धातुओं का प्रयोग होने के कारण वीणा का वैचित्र्य काफ़ी प्रबल रहता हो इसीलिये काष्ठवीणा के साथ संबद्ध किया हो ।

संगीतरत्नाकर और परवर्ती ग्रंथों में इनका निरूपण वाद्यों के संदर्भ में ही हुआ है । संगीतरत्नाकर में इन्हें वीणा के निर्गीतवाद्य कहा है—'भेदान्निर्गीतवाद्यस्य वैणस्याथ प्रचक्ष्महे' ।[६] इनके निरूपण में बीच-बीच में 'गेय' शब्द भी आया है—

आश्रावणायां गेया सा सूरिभिः सिद्धिमीप्सुभिः ।[७]

....लीलाकृतं भवेत् । षड्जग्रामस्थजात्यंशे यद्गीतं वार्तिके पथि ।।[८]

गीतकत्रयसंयोगादेवं लीलाकृतं त्रिधा ।।

प्रयोगौ द्वौ पदैश्चान्यः सार्थकैश्च निरर्थकैः ।[९]

फिर भी मुख्यतः इन्हें वीणा के वाद्यभेद ही माना गया है जैसा संगीतरत्नाकर के निम्न श्लोक से प्रकट होता है, जिसमें निर्गीत का संबंध वीणाविधि से कहा गया है—

---

१. सं. र., ६/१८३

२. ना. शा., ५/३१-४४

३. ना. शा., अ. ५, अभि., पृ. २२०

४. वही, पृ. २२२

५. वही, पृ. २२३

६. सं. र., ६/१७८

७. वही, १८६

८. वही, २३३

९. वही, २३६-२३७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वृत्तित्रयेण वाद्यैश्च तत्वाद्यैः करणेन च ॥
धातुना चित्रिता कार्या बुधैर्वीणाविधाविह ।[1]

लीलाकृत और आसारितत्रय निर्गीतों का संगीतरत्नाकर में जिस रूप में निरूपण हुआ है उसमें भी गीत और गीतकों से इनका संबंध बताया गया है। फिर भी इन्हें वाद्यभेद क्यों माना यह शंका होती है। नाट्य के प्रसंग में इन निर्गीतों का पूर्वरंग में प्रयोग विहित था जिनमें गीत और वाद्य दोनों का समान महत्त्व था। लेकिन नाट्य से स्वतन्त्र संगीत के प्रयोग में नाट्यप्रसंग न होने से गेय स्वरूप का उतना महत्त्व न रहा हो। ऐसी स्थिति में यह संभव है कि प्रधान रूप से वीणावादन में इनका ग्रहण व प्रचार हो गया हो लेकिन भरतोक्त होने के कारण उनके स्वरूप को बदलना उचित न लगा इसलिये लक्ष्य में तो वे मुख्य रूप से वाद्यभेद ही बने रहे लेकिन शास्त्र में वाद्य के संदर्भ में निरूपण के समय भी भरत के गेयस्वरूप को ज्यों का त्यों रहने दिया गया।

भारतभाष्य के ध्रुवावृत्त

भरतभाष्य के ध्रुवाध्याय में कुछ ऐसे नाम मिलते हैं जो नाट्यशास्त्र में नहीं हैं। इनके लघुगुरु क्रम और तालसंबंधी लक्षण भी हैं। संभव है कि इन ध्रुवा वृत्तों के साथ विशेष तालों का संबंध बताना अभिप्रेत हो। इन वृत्तों में कहीं-कहीं रागों का निर्देश भी है। भरतभाष्य में जो नये नाम हैं वे इस प्रकार हैं।

प्रभावती, संगता, लतिका, धारा, मल्लक, उत्फुल्ल, छिन्नक, भिन्नक, खण्डक, अण्डिका (खण्डिका); घट, चतुरस्र, फडक्कक, जंभेटिका (जंभेलिका), कलिकक (गलितक ?), त्र्यंश, उल्लसना; पञ्चालिका।

यह उल्लेखनीय है कि इनमें से खण्डक, खण्डिका, भिन्नक, गलितक आदि छन्द विक्रमोर्वशीय के प्राकृत छंदों में भी हैं।[2] संभव है कि भरतभाष्य के ये वृत्त इसी प्राकृत अपभ्रंश परंपरा के हों। उपर्युक्त वृत्तों में से एक दो के लक्षण उदाहरणार्थ उद्धृत हैं–

गुरुद्वयं लघुरेको गुरुरेको लघुद्वयम् ।
गुरुमध्ये लघू कार्यौ संगतं समुदाहृतम् ॥
तिस्रोऽथ यतयः कार्या विरामान्ते द्रुतैस्त्रिभिः ।
लयोऽन्तः नर्त्तकः प्रोक्तः सौम्योऽत्र द्विपदी भवेत् ।
विजयारम्भहर्षेषु मत्तोन्मत्त प्रमत्तके ।

यहां द्रुत, विरामान्त, गुरु आदि शब्द तालसंबंधी हैं। विजयारंभ, हर्ष आदि विशेष परिस्थितियों में प्रयोग का भी उल्लेख है। ध्रुवाओं में राग, लय, ताल आदि का विनियोग भी बताया है—

---

१. वही, ६/२४०-२४१

२. छन्दोऽनुशासन, हेमचन्द्र संपा० श्री वेलणकर, भूमिका में 'प्राकृत' शीर्षक के अन्तर्गत उल्लेख।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वीरेषु कनकमाला युद्धोयोग परिक्रमे ।
टक्करागेण ध्रुवा ध्रुवा द्रुतलये सदा ।।
योजयेत् कुमुदिनी रागे मालवकैसिके ।
मध्यमोत्तमपात्राणां माला युद्ध समद्यमे ।
टक्करागेण गातव्या तथा चच्चत्पुट चतुष्टये ।।

हम देख चुके हैं कि भरत की ध्रुवाएँ छंदप्रधान हैं जिनमें ताल का सामान्य उल्लेख तो है लेकिन निश्चित तालों का निर्देश नहीं है। देशी प्रबंधों में कुछ छन्द के अनुसार हैं और अधिकांश नियत रूप से तालों में बद्ध हैं। नान्यदेव की ध्रुवाएँ छन्दोबद्ध भी हैं और निश्चित तालों से युक्त भी। इस काल तक देशी प्रबंधों का पर्याप्त विकास हो चुका था जो भरतभाष्य के प्रबन्धाध्याय से सूचित होता है, फिर भी ध्रुवाओं का अलग से निरूपण किया गया है। भरत की ध्रुवाओं का निरूपण भरत के अनुसार ही है। संभव है कि भरतभाष्य की छिन्नक आदि ध्रुवाएँ भरत की ध्रुवाओं और देशी प्रबन्धों के बीच का विकास हो तथा इन ध्रुवाओं का निरूपण लक्ष्य के अनुसार किया गया हो।

भरत के समय तक प्राकृत परम्परा के विकास का आरंभ हो चुका था यह तो प्राकृत ध्रुवाओं के प्रयोग से ही स्पष्ट है लेकिन जैसा श्री वेलणकर ने छन्दोऽनुशासन की भूमिका में कहा है, भाट परंपरा के प्राकृत काव्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था इसीलिये संस्कृत छन्द परम्परा के अनुसार ही वृत्तों और ध्रुवाओं का निरूपण किया गया।

लेकिन भरत के वृत्त और ध्रुवाओं में केवल ९ वृत्त समान हैं शेष सब भिन्न हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि संभवतः ध्रुवा में उन वृत्तों का प्रयोग हो जिनसे प्राकृत छन्द विकसित हुए हों अथवा जो संस्कृत से प्राकृत की शास्त्रीय परम्परा में आ गये हों।

भरतभाष्य में दिये गये इन नवीन ध्रुवावृत्तों के लक्षण और उदाहरणों में सामंजस्य स्थापित करना संभव नहीं है क्योंकि कहीं लक्षण स्पष्ट नहीं हैं, कहीं उदाहरण स्पष्ट नहीं हैं। पाठ भी अत्यन्त खंडित व भ्रष्ट है इसलिये किसी वृत्त के लक्षण व उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये जा सके हैं।

दशविध निर्गीत

निर्गीत के १० भेद हैं—आश्रावणा, आरंभ, वक्त्रपाणि, सङ्खोटना, परिघट्टना मार्गासारित, लीलाकृत और आसारित त्रय। इनके लक्षणों में भरत और शार्ङ्गदेव में कोई अन्तर नहीं है। इनके निरूपण में मुख्य रूप से तीन पक्ष रखे गये हैं—वीणा की वादन-विधि, ध्रुवा यानी लघुगुरु क्रम और तालयोजना अर्थात् ताल की हस्तक्रियाएँ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हमारे विषय से वीणा की वादन विधि का सीधा संबंध न होने से उसे छोड़ कर शेष दो की दृष्टि से ही निर्गीत का स्वरूप देखेंगे।

(१) आश्रावणा—इसमें ३ खण्ड होते हैं जिनमें से पहले दो खंडों में २४-२४ और तीसरे खंड में १५ अक्षर होते हैं। ध्रुवा का स्वरूप इस प्रकार है – २ गुरु, ८ लघु, १ गुरु, २ लघु, २ गुरु, ८ लघु, १ गुरु—ऐसे दो खंड; तीसरे खंड में २ लघु, १ गुरु, ४ लघु, १ गुरु, ६ लघु, १ गुरु। ताल क्रियाएँ—३ श, ३ ता, २ श, २ ता, १ श, १ ता, १ उत्तर (संताशताशता), चच्चत्पुट (संशताश) = २२ कलाएँ। यथा—

ध्रुवा ऽ ऽ । । । । । । । । ऽ । । ऽ ऽ । । । । । । । । ऽ
अक्षर झण्टुं जगतिय वलितक जम्बुक झण्टुं तितिझल कचतिति चा
ताल श श शताताता शशताता शता,सं ताश ताशता,सं शताश

ऽ ऽ । । । । । । । । ऽ । । ऽ ऽ । । । । । । । । ऽ
दिङ्ग्ले गणपति पशुपति जम्बुक दिङ्ग्ले वरभुज दिगिनिगि चा
। । ऽ । । । । ऽ । । । । । । ऽ
तितिचा दिगिनिगि चा पशुपति तितिचा

इसके आधार पर निम्न तथ्य सामने आते हैं—

(१) सार्थक के स्थान पर केवल निरर्थक अक्षर ही हैं।

(२) वर्णों का लघुगुरु क्रम निश्चित है अर्थात् निश्चित छन्द हैं। किन्तु संस्कृत में ऐसा कोई छन्द नहीं है।

(३) सभी खंडों में चतुर्मात्रिक गण हैं। आधागण अर्थात् १-१ गुरु अधिक है।

(४) चतुर्मात्रिक गणों के ५ प्रकारों में से जगण (। ऽ ।) को छोड़ कर शेष चारों गण (ऽ ऽ, ऽ । ।, । । ऽ, । । । ।) हैं।

(५) ध्रुवा में २४ अक्षर हैं लेकिन तालक्रियाएँ २२ ही हैं। संभवतः अन्तिम दो अक्षरों में कोई क्रिया नहीं है।

(६) सब खंडों की क्रियाएँ नहीं बताई गईं इसलिये या तो पहले खंड में क्रियाएँ होंगी, शेष दो में नहीं अथवा प्रथम दो खंडों में समान क्रियाएँ होंगी, तीसरा खंड क्रियारहित होगा।

(७) सभी क्रियाएँ सशब्द हैं।

(८) उत्तर और चच्चत्पुट के प्रयोग में ध्रुवा का लघुगुरु क्रम इन तालों के अनुरूप नहीं है केवल क्रियाएँ उन-उन तालों की हैं।

(२) आरम्भ—इसमें ३ खंड हैं जिनमें क्रमशः २१, १८ और १३ अक्षर हैं। ध्रुवा—८ गुरु, १२ लघु, १ गुरु = प्रथम खंड; ४ गुरु, ८ लघु, १ गुरु, ४ लघु, १ गुरु =

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्वितीय खंड; ४ गुरु, ८ लघु, १ गुरु=तृतीय खंड। क्रियाएँ—३ ता, १ श, २ ता, २ श, २ ता, २ सं, १ उत्तर, १ चच्चत्पुट। यथा—

ध्रुवा ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । । । । । । । । ऽ
अक्षर झण्टुं झण्टुं झण्टुं झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिगि चा
ताल ताता ताश ताता शश ातातासंसं, संताशता शता, संश ता श

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । । । । ऽ । । । । ऽ
दिङ्ग्ले दिङ्ग्ले तितिझल कुचझल जम्बुक तिति चा

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । । । । ऽ
झण्टुं झण्टुं सुरपति पशुपति चा

यहाँ प्रथम खंड में अक्षरों से क्रिया अधिक हैं। प्रथम दो खंडों में मत्ताक्रीडा छंद है अथवा विद्युन्माला और त्वरितगति का मेल है। तीसरे खंड में म भ न न ग गण हैं लेकिन छन्दःशास्त्र में ऐसा कोई छन्द नहीं है।

(३) वज्रपाणि—३ खंड हैं जो क्रम से १५, १४ और ९ अक्षरों से युक्त हैं। ध्रुवा—पहला खंड—५ गुरु, ६ लघु, ४ गुरु; दूसरा खंड—२ गुरु, १ लघु, ४ गुरु, ४ लघु, ३ गुरु; तीसरा खंड—८ लघु, १ गुरु। क्रियाएँ—द्विकल मद्रक गीतका की अन्तिम मात्रा की तालविधि शुरू की ८ कलाओं में अर्थात् शताताशताशतासं, इसके बाद पंचपाणि के ४ आवर्तन।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । । ऽ ऽ ऽ ऽ
दिङ्ग्ले झण्टुं जम्बुक जगतिय झण्टुं दिङ्ग्ले
श ता ता श ता श ता सं, सं ता श ता श ता, सं

ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । ऽ ऽ ऽ
घे न्दुं च घे टो घा टो टु न कि टि टी नं दु ङ्
ता श ता श ता, सं ता श ता श ता, सं ता श

। । । । । । । । ऽ
घ दु ग दु कि ट म ट नम्
ता श ता

(४) सङ्खोटना—भरत ने अक्षरसंख्या, अक्षर या खंड नहीं कहे। ध्रुवा—२ गुरु, ८ लघु, २ गुरु, १ लघु, १ गुरु, १२ लघु, १ गुरु। क्रियाएँ—शीर्षक के समान पंचपाणि से। शार्ङ्गदेव के अनुसार यथाक्षर और द्विकल पंचपाणि का प्रयोग होता है।

ऽ ऽ । । । । । । । । ऽ ऽ । ऽ । । । । । । । । । । । । ऽ
दिङ्ग्ले जगतिय वलितक ते चा ति चा तितिझल कुचझल पशुपति चा।

यह बहुत छोटी ध्रुवा है, खंड नहीं हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(५) परिघट्टना—खंड नहीं हैं, शुष्काक्षर भी नहीं हैं। ध्रुवा—८ गुरु, २४ लघु, १ गुरु, १६ लघु, १ गुरु। भरत ने 'सम्पिष्टकवत्' ताल कहा है। संपिष्टक ओवेणक में १० या १२ कलाओं का गीतांग है। नाट्यशास्त्र में पाठान्तर से 'सम्पक्वेष्टाक:' भी दिया है। रत्नाकर में दोनों की छूट है। छोटी ध्रुवा है जिसमें लघु अधिक हैं।

(६) मार्गासारित—इसमें ३ खंड हैं जिनमें से प्रत्येक में २४-२४ कलाएँ हैं, शुष्काक्षर नहीं हैं। ध्रुवा—४ गुरु, ८ लघु, २ गुरु, ८ लघु, २ गुरु। प्रत्येक खंड में यही क्रम है। क्रियाएँ—कनिष्ठासारित की कलाविधि कही है यानी १ चच्चत्पुट और २ उत्तर।

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । । । । । ऽ ऽ । । । । । । । । ऽ ऽ
श ता श ता सं ता श ता श ता, सं ता श ता श ता, सं

इस ध्रुवा के बारे में यह उल्लेखनीय है कि यही एकमात्र ऐसी ध्रुवा है जिसके तीनों खंड बिल्कुल एक से हैं।

(७) लीलाकृत—इसमें कोई ध्रुवा नहीं है, न अक्षरसंख्या नियत हैं और न अपनी क्रियाएँ हैं। अभिसृत, परिसृत और लयान्तर नामक गीतकों का ही मधुर, सुकुमार प्रयोग और लयान्तर की तालविधि होने पर लीलाकृत होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार अभिसृत और परिसृत आसारित के भेद हैं। आसारित के ताल के योग वाला किन्तु वार्तिक मार्ग में दुगने अक्षरों से षड्ज-ग्राम में गाया जाने पर अभिसृत और मध्यमग्राम में गाया जाने पर परिसृत कहलाता है। अन्य मत से सप्तांग और नवांग अपरान्तक ही अभिसृत और परिसृत कहलाते हैं। ये दोनों सार्थक पदों से और लयान्तर निरर्थक पदों से होता है।

(८, ९, १०) आसारित त्रय—भरत ने जहाँ निर्गीतों का निरूपण किया वहाँ केवल इतना कहकर छोड़ दिया कि आसारितों के बारे में ताल विधान में (जहाँ गीतकों का विस्तृत निरूपण किया गया है) कहेंगे। वहाँ कहे गये आसारित गीतक यानी गेय हैं और निर्गीत शुष्कवाद्य हैं। आसारितों का प्रयोग वर्धमान के रूप में ताण्डव के समय होता है। ताण्डव नृत्त, गीत, वाद्य का सम्मिलित प्रयोग है। ताण्डव बहिर्यवनिका प्रयोग है और शुष्क वाद्य अन्तर्यवनिका। इनका प्रयोजन क्रमशः अदृष्ट और दृष्ट है। इस दृष्टि से आसारित गीतक का स्वरूप क्या है यह स्पष्ट नहीं होता। संभव है कि शुष्क आसारितों के प्रयोग के समय आसारित गीतक ही वीणा पर बजाये जाते हों और संभवतः इसीलिये आसारित निर्गीतों की स्वतंत्र ध्रुवा किसी ने नहीं बताई।

निष्कर्ष

बहिर्गीतों की ध्रुवाओं के संबंध में उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर निम्न तथ्य सामने आते हैं—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१. सभी ध्रुवाएँ चतुर्मात्रिक गणों से बनी हैं जिनके गण लघु गुरु के विभिन्न प्रस्तारों के आधार पर बने हैं।

२. इन गणों में ऽऽ, ।।ऽ, ऽ।।, ।।।। —ये चार ही गण हैं, पाँचवाँ ।ऽ। छोड़ दिया गया है। छन्दःशास्त्र में मात्रिक छन्दों में भी यह अशुभ गण माना गया है संभवतः यह प्रभाव निर्गीतों में मात्रिक छंदों का अथवा मात्रिक छंदों पर निर्गीतों का हो।

३. कहीं-कहीं बीच में या अन्त में एकाध लघु या गुरु चगणों (चतुर्मात्रिक गणों) से अधिक है।

४. कुछ ध्रुवाएँ बहुत छोटी हैं जिनमें एक ही खण्ड है। लम्बी ध्रुवाओं में ३ खण्ड हैं। इनमें शुरू के २ खण्ड बड़े और तीसरा छोटा है। केवल एक ध्रुवा के सभी खण्ड बराबर हैं।

५. विभिन्न खण्डों का लघुगुरु क्रम भिन्न है, केवल मार्गासारित के तीनों खण्डों में क्रम एक सा है।

६. लघुगुरु क्रम और संख्या दोनों निश्चित हैं।

७. कुछ में शुष्काक्षर हैं, शेष में नहीं।

८. इनके लघुगुरु छन्द के लघुगुरु के प्रमाण के हैं यानी लघु १ अक्षर के और गुरु २ अक्षर के बराबर होते हैं। इसका कारण यह है कि इनका प्रयोग विशेष रूप से वीणा पर होता है। आघात करके बजाई जाने वाली वीणाओं में एक आघात के द्वारा स्वर को देर तक बनाये रखना संभव नहीं होता। स्वर की ध्वनि को बनाये रखने के लिये बार-बार आघात करना आवश्यक है। आघात छन्द के लघुगुरु मान से ही संभव है, ताल के प्रमाण से नहीं।

९. चतुष्पदा ध्रुवा ही पूर्णपदा कही गई है लेकिन निर्गीतों की ध्रुवाओं में तीन से अधिक खण्ड नहीं हैं, कुछ में १-१ ही खण्ड हैं।

१०. एकमात्र मार्गासारित की ध्रुवा समध्रुवा (जिसके सब पाद एक से हों) है लेकिन उस प्रकार का कोई छन्द नहीं है।

११. गीतकों में केवल चतुर्मात्रिक गण होते हैं और वृत्तों में मात्रिक गण या वर्णगण या अक्षरसंख्या का नियम होता है। निर्गीतों की ध्रुवाओं में गीतकों की तरह चतुर्मात्रगण भी हैं, वृत्तों जैसा लघुगुरु का निश्चित क्रम भी है और अक्षरसंख्या का नियम भी। लेकिन वृत्तों की तरह ४ पाद नहीं हैं। इस दृष्टि से इन ध्रुवाओं को गीतकों और गेय ध्रुवाओं के बीच की श्रेणी में रखा जा सकता है।

उत्थापनी ध्रुवा

पूर्वरंग में गीतकों का प्रयोग होने के बाद उत्थापनी ध्रुवा के प्रयोग का विधान है। त्रिष्टुभ् गत विश्लोका जाति की यानी हर पाद में ११ अक्षर वाली ध्रुवा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। लघुगुरु क्रम—ऽ ऽ । ऽ । । । ऽ । । ऽ है। चतुष्पदा होने के कारण पूर्णपदा है। द्विकल चच्चत्पुट ताल का प्रयोग होने के कारण चतुरश्रा है। इसमें द्विकल चच्चत्पुट की ८ कलाओं से एक 'सन्निपात' होता है (सन्निपात का अर्थ ताल का एक आवर्तन है)। ऐसे ४ सन्निपातों का एक परिवर्त होता है और पूरी ध्रुवा में ४ परिवर्त हैं। कुल १२८ कलाओं की ध्रुवा है। तीनों लयों, तीनों यतियों, तीनों ग्रहों का प्रयोग होता है। पहले परिवर्त में विलंबित लय, दूसरे में मध्य लय और तीसरे तथा चौथे परिवर्तों में द्रुत लय होती है। पहले परिवर्त में ताल के तीसरे आवर्तन की अन्तिम कला से पुष्करवाद्य का ग्रहण होता है। दूसरे परिवर्त में विशिष्ट वेशभूषा से युक्त सूत्रधार और सहयोगियों के द्वारा पुष्पाञ्जलि प्रदान, पंचपदी गमन और ब्रह्मा को तीन अभिवादन—ये क्रियाएँ हैं। तीसरे परिवर्त में मण्डल प्रदक्षिणा, आचमन, जर्जर-ग्रहण तथा चौथे परिवर्त में वंदना आदि क्रियाएँ होती हैं। साथ में ध्रुवा यानी गेय पद चलता रहता है। यद्यपि उत्थापनी के प्रसंग में भरत ने गान का उल्लेख नहीं किया किन्तु अभिनवगुप्त के अनुसार इसमें गान भी रहता है।

परिवर्तनी ध्रुवा

अतिजगती यानी प्रतिपाद १३ अक्षरवाली ध्रुवा है जिसमें सब लघु हैं केवल अंतिम गुरु है। यही स्वरूप 'त्वरितगति' ध्रुवा का भी है। यह चतुरश्र है और सर्वद्रुत होने के कारण मध्यलयाश्रित है। उत्थापनी ध्रुवा की ही तरह ८ सन्निपातों का एक परिवर्त और कुल ४ परिवर्त इस ध्रुवा में भी हैं। गीत, वाद्य और अभिनय सभी हैं लेकिन वाद्य गीत का अनुगत है। पंचपदी गमन, दिग्वंदन, देवताभिवादन और जर्जरपूजा—ये चारों अर्थ प्रधान हैं इसलिये विषय के अनुसार पदयोजना और अर्थ के अनुसार अभिनय है। पदयोजना और अभिनय परस्पर पूरक हैं। लेकिन जर्जरपूजा के समय कुतप और भाण्डप्रयोग ही विहित है, स्तोभाक्षरों के द्वारा ही गान होता है; सार्थक पद का भरत ने निषेध किया है। इनके वाद नान्दी पाठ के समय प्रयुक्त ध्रुवा में गेय के स्वरूप का भी किंचित् निर्देश भरत ने किया है—'सूत्रधारः पठेत्तत्र मध्यमं स्वरमाश्रितः'।[1] मध्यम स्वर का अर्थ है मध्यमा जाति।

शुष्कावकृष्टा ध्रुवा

अत्यन्त छोटी केवल १८ अक्षरों की ध्रुवा है। इसमें अवकृष्टा ध्रुवा के सभी लक्षण हैं, केवल अर्थयुक्त पद के स्थान पर शुष्काक्षर हैं इसीलिए शुष्कावकृष्टा संज्ञा है। नान्दीपाठ और जर्जरपूजा के बीच में थोड़ा सा अन्तर देने के लिये संभवतः इसका प्रयोग है। इसके तुरंत बाद जर्जरपूजा होती है इसलिये इसे 'जर्जरश्लोकदर्शिका' कहा है।[2] इसका स्वरूप इस प्रकार है—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । । ऽ ऽ ऽ
दिङ्गले दिङ्गले दिङ्गले दिङ्गले जम्बुक पलितक तेते चाम्।

१. ना० शा०, ५/१०४
२. वही, २५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसमें ९ गुरु, ६ लघु और अन्त में ३ गुरु हैं। ऐसी कोई ध्रुवा, छन्द या वृत्त नहीं है।

इस प्रकार उत्थापनी, परिवर्तनी, शुष्कावकृष्टा और महाचारी में प्रयुक्त ध्रुवाओं में से केवल शुष्कावकृष्टा में शुष्काक्षर हैं, शेष सब सार्थक पदों से हैं तथा इनके वृत्त ध्रुवाओं या वृत्तों में हैं।

ध्रुवा संबंधी फुटकर तथ्य

ध्रुवाओं के वृत्त तीन प्रकार के होते हैं—(१) गुरुप्राय—जिनमें गुरु अक्षर अधिक हों, इनका प्रयोग अवकृष्टा, विलंबिता में होता है और लय विलंबित होती है। (२) लघुप्राय—जिनमें लघु अक्षरों की प्रधानता हो। ये द्रुता ध्रुवाओं में प्रयुक्त होते हैं तथा इनमें द्रुत लय होती है। (३) उभयप्राय—जिनमें दोनों का लगभग समान प्रयोग हो। ये मध्यलय में प्रयुक्त होते हैं।

अक्षरसंख्या के आधार पर वृत्त दो प्रकार के कहे गये—त्र्यश्र और चतुरश्र। त्र्यश्र में ५ से ९ अक्षर तक और चतुरश्र में ८ से १३ अक्षर तक प्रतिपाद में होते हैं। इन्हीं द्विविध वृत्तों के आधार पर ध्रुवाएँ भी त्र्यश्र और चतुरश्र कहलाती हैं। इनमें क्रमशः त्र्यश्र और चतुरश्र तालों का प्रयोग होता है। त्र्यश्र में ५ गणों से तथा चतुरश्र में ८ गणों से ताल समाप्त होता है।

सामान्यतः त्र्यश्रा, विलंबिता, अपकृष्टा ध्रुवाओं में अत्युक्ता, मध्या, प्रतिष्ठा और गायत्री जाति के छंदों का प्रयोग होता है जिनमें क्रमशः २, ३, ४ और ६ अक्षर प्रतिपाद होते हैं। इसी प्रकार त्र्यश्रा प्रासादिकी में ७ से १० अक्षर तक की उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती और पंक्ति का; प्रावेशिकी में ८, ९, १२ अक्षर वाली अनुष्टुप्, बृहती, जगती जातियों का तथा विलम्बिता द्रुता, चपला, उद्गता और कृति का (ये वृत्त जातियाँ नहीं हैं और चपला को छोड़कर इन वृत्तों का उल्लेख भी नाट्यशास्त्र में नहीं है)। उद्धता में १० से १४ अक्षर वाली क्रम से पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अति-जगती और शक्वरी वृत्तजातियाँ प्रयोग में आती हैं।

ध्रुवाओं में अर्थ की प्रधानता होने के कारण मात्रिक गणों में अवान्तर खंड सम हों यह आवश्यक नहीं, विषम भी हो सकते हैं। जैसे—८ मात्रा के गण में ४-४ मात्रा के अतिरिक्त ३-३-२, २-३-३, ३-२-३ के खंड भी हो सकते हैं।

ताल की दृष्टि से जहाँ मात्रा की कमी हो या मात्रा बढ़ती हों उन्हें कर्षण या अनाकर्षण से दूर कर दिया जाता है। यही कारण है कि गेय पदों में निश्चित वृत्त न होने पर भी ताल अपने छन्द के कारण पदगत छन्दोहीनता या लयभंग को समाप्त कर देता है। वहाँ पद के छंद पर ताल के छंद का आरोप हो जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रावेशिकी आदि ध्रुवाएँ उत्तम प्रकृति में 'शीर्षक' कहलाती हैं और मध्यम तथा अधम में खंजक-नर्कुट। शीर्षक को ध्रुवा का एक भेद, एक अंग और एक वृत्त जाति—इन तीन रूपों में प्रस्तुत किया गया है।

ध्रुवाएँ समवृत्तों पर आधारित हैं। नर्कुट के ८ वृत्तों में ध्वजिनी एकमात्र अर्धसम है और वर्धमानता से बने ८ वृत्त ऐसे विषम वृत्त हैं जिनके चारों पाद असमान हैं।

अर्थ, देश, काल, ऋतु, प्रकृति, भाव, लिंग, गति के अनुसार ध्रुवाओं की योजना होती है और यह कार्य कवि अर्थात् नाट्यरचयिता का है।

ध्रुवाओं के ५ निमित्त हैं—जाति, स्थान, प्रकार, प्रमाण और नाम। वृत्त की अक्षरसंख्या 'जाति' है। 'स्थान' का अर्थ है ध्रुवा का अर्थ विशेष। यह अर्थ किसी पात्र में ही रहने के कारण लक्षणा से पात्र ही 'स्थान' है। वृत्त के सम, अर्धसम, विषम भेद ही प्रकार हैं। द्विकल तालों के आश्रित षट्कल, अष्टकल 'प्रमाण' हैं। प्रावेशिकी, प्रासादिकी आदि 'नाम' हैं।

प्रकृत रस की उपरोधिका ध्रुवा का प्रयोग वर्जित है इसलिये रोते या गाते हुए अथवा संभ्रम, आवेग, किसी के द्वारा भेजे जाने, विस्मय आदि स्थितियों में किसी पात्र के प्रवेश करते समय पहले से चल रही ध्रुवा बंद हो जाती है क्योंकि ये सब आकस्मिक परिस्थितियाँ हैं और पहले से चल रही ध्रुवा इनमें उपरोधिका होती है। इसलिये इसे 'अध्रुवा प्रवेश' कहा गया है।

ध्रुवाओं में सब कुछ सीधे-सीधे न कह कर उपमाओं के द्वारा कहा जाता है। उपमाएँ पात्रों की प्रकृति के अनुरूप होनी चाहियें। देवता, राजादि उत्तम पात्रों के लिये प्रताप, आल्हादक, शीघ्रता गुण वाले सूर्य-चंद्र-पवन; दैत्यों-राक्षसों के लिये भयदायक विशालकायता वाले मेघ, पर्वत, सागर; सिद्ध, गंधर्वों के लिये ग्रह, नक्षत्रादि; दिव्य स्त्रियों के लिये विद्युत्, उल्का, रश्मि; यक्षादि के लिये भैंसा, सूअर, सिंह आदि हिंस्र पशु। उपमाओं की योजना स्थावर वस्तुओं में जड़ से, चपल प्रकृति में गत्यर्थ जीवों से और सुख दुःखकृत भावों में तदनुसार होनी चाहिये।

विभिन्न वस्तुओं तथा जीवों की गति के अनुसार ध्रुवायोजना होती है। जैसे—हाथी, घोड़े, मृग, शिविका, विमानादि में लघु गणों से युक्त पद और द्रुता ध्रुवा। सिंह, सारस, वानर, हंसादि में ओजपूर्ण यानी गुरुवर्ण वाले पद व विलंबिता ध्रुवा। जैसी गति दिखानी हो उसके अनुरूप पुष्करवाद्य का प्रयोग किया जाना चाहिये।

विशेष परिस्थितियों में विशेष छन्दों के विनियोग का भी उल्लेख मिलता है जैसे; नान्यदेव ने प्रिय के सान्निध्य में प्रतिष्ठा का विनियोग कहा है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्रुवाओं में सामान्य रूप से शौरसेनी भाषा का प्रयोग होता है। किन्तु नर्कुट में मागधी, देवनृप आदि के लिये संस्कृत तथा सामान्य मनुष्यों के लिये अर्धसंस्कृत का प्रयोग किया जाता है।

ध्रुवाओं में गांधारी, मध्यमा और पंचमी जातियों से उत्पन्न रागों का प्रयोग होता है। नान्यदेव ने विशेष रागों का भी उल्लेख किया है। जैसे—प्रतिष्ठा और वीथिका में मालवकैशिक, तनुमध्या में पंचमभाषा, जला में मालवपंचम, सुनन्दा में ककुभ, नदी में हिंदोल, कनकमाला व शशांकललित में टक्क।

मागधी आदि गीतियों का प्रयोग भी होता है लेकिन पदों की आवृत्ति अर्थ के अनुसार होती है यानी शब्दों को बीच में से इस प्रकार नहीं तोड़ा जाता जिससे अर्थ समझ में न आये।

त्रिविध ग्रहों का प्रयोग होता है—उत्तम प्रकृति में कनीयसीग्रह, मध्यम में सन्निपातग्रह और अधम में आकाशग्रह। इनमें क्रमशः तर्जनी अंगुली के संकेत से, दोनों हाथों के हनन से और शून्य में संकेत के द्वारा भाण्डवाद्य का आरम्भ होता है। कनीयसी में गान के साथ, संनिपात में प्रथम पाद की कला से और आकाश में गान से पहले भाण्डग्रहण हो जाता है इसलिए ये तीनों क्रमशः ताल के सम, अतीत अनागत ग्रहों के समकक्ष हैं।

सौम्य ध्रुवाओं का प्रयोग पूर्वाह्न के लिये, दीप्ताओं का मध्याह्न के लिये, शोकयुक्त ध्रुवाओं का अपराह्न के लिये और करुणाश्रिताओं का सन्ध्या के लिये प्रयोग करना चाहिये।

ध्रुवा के इस अध्ययन के बाद भी कुछ प्रश्न अनुत्तरित रह गये हैं उन्हें यहाँ दिया जा रहा है ताकि ध्रुवा पर होने वाले भावी कार्य के अनुसंधानकर्ताओं द्वारा उनका हल खोजा जा सके।

१. छन्द-अध्याय के छन्दों और ध्रुवा के वृत्तों में पृथक्करण का आधार क्या है और इस सन्दर्भ में भरत के 'हतशोभानि' का क्या अर्थ है ?

२. छन्द और 'छन्दक' का कोई सम्बन्ध है ?

३. प्राचीन छन्दोगान और ध्रुवा गान में क्या संबंध है ?

४. लघु वर्णों की प्रधानता से द्रुता और गुरुवर्णों की प्रधानता से विलंबिता ध्रुवाओं की योजना का तर्कसंगत नियम बनाया गया। लेकिन ध्रुवाध्याय में दिये गये उदाहरणों में ऐसा क्वचित् ही दिखाई देता है। ऐसा क्यों और इस नियम की सार्थकता क्या है ?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

५. त्र्यश्र और चतुरश्र सम्बन्धी अक्षरसंख्या के और लघुगुरु के नियम का पालन किसी भी वृत्त के उदाहरण में नहीं दिखाई देता। तब इस नियम का क्या प्रयोजन है?

६. मात्रावृत्तों में आवर्तकता के कारण गेयता अधिक सहज होती है फिर भी ध्रुवाओं में इनका प्रयोग क्यों नहीं है?

७. ध्रुवाओं में त्र्यश्र-चतुरश्र ताल, त्र्यश्र-चतुरश्र वृत्त और त्र्यश्र-चतुरश्र ध्रुवा का परस्पर क्या सम्बन्ध है?

८. गीतकों के अङ्गों का ध्रुवाओं में कहाँ और किस रूप में प्रयोग होता है?

९. निर्गीत गेय थे फिर वाद्य के अन्तर्गत निरूपण क्यों हुआ? क्या निर्गीत मुख्यत: वाद्य हो गये?

उपसंहार

नाट्य के अन्तर्गत ध्रुवा का वही स्थान कहा गया है जो चित्र में वर्ण का। जैसे रंग के बिना चित्र की शोभा नहीं होती उसी प्रकार गान के बिना नाट्य रंजक नहीं होता—

यथा वर्णाद्दते चित्रं न शोभोत्पादनं भवेत्।
एवमेव विना गानं नाट्यं रागं न गच्छति ॥[1]

अथवा जैसे गगन को नक्षत्र प्रकाशित करते हैं वैसे ही प्रकरण के अनुरूप रसयुक्त ध्रुवाएँ नाट्य के स्वरूप को प्रकाशित करती हैं—

तथा रसकृता नित्यं ध्रुवा: प्रकरणाश्रिता:।
नक्षत्राणीव गगनं नाट्यमुद्योतयन्ति ता: ॥[2]

वास्तव में गान नाट्य की शय्या है इसीलिये सबसे पहले और अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक गान में अवधान करने का विधान किया—

गीते प्रयत्न: प्रथमस्तु कार्य:
शय्यां हि नाट्यस्य वदन्ति गीतम्।
गीतेऽपि वाद्येऽपि च सम्प्रयुक्ते
नाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेति ॥[3]

ध्रुवा अर्थात् गीतवाद्य का सम्यक् प्रयोग करने से नाट्यप्रयोग सफल होता है और उसमें किसी प्रकार की विपत्ति नहीं आती।

---

१. ना. शा., ३२/४२५ २. वही, ४३०
३. वही, ४३६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

(क) प्रकाशित

ग्रंथनाम	विवरण
१. अपराजितपृच्छा	भुवनदेवाचार्य, ओरि० इं० बड़ौदा, १९५०
२. अभिनवभारती	अभिनवगुप्त ओरि० इं०, बड़ौदा, नाट्यशास्त्र के साथ प्रकाशित
३. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना	डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रथम संस्क०
४. आळवार भक्तों का तमिळ प्रबन्धम् और हिन्दी कृष्णकाव्य	डॉ० मलिक मोहम्मद, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, १९६४
५. ऋग्वेद-संहिता	संपा० श्री० सातवळेकर, स्वाध्याय मंडल (पारडी) १९५७
६. कलानिधि	कल्लिनाथ, संगीतरत्नाकर के आड्यार और आनन्दाश्रम संस्करणों के साथ प्रकाशित
७. कवितावली	गो० तुलसीदास, संपा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र व लाला भगवानदीन 'दीन', रामनारायणलाल, इलाहाबाद सं० २०१३
८. काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध	डॉ० उमा मिश्र, दिल्ली पुस्तक सदन, १९६२
९. किशोरी चन्द्रानन्द चम्पू-लहरी	कविचन्द्र, संपा० दामोदर होता, पटना, १९७०
१०. कीर्तन-स्वरलिपि प्रथम खण्ड	संग्रह०, प्रका० श्री हरिदासकर, द्वितीय संस्क०
११. गीतगोविन्द	जयदेव, संपा० रामकृष्ण तैलंग व वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२३
१२. गीतवाद्यसारसंग्रह भाग-२	चारुचरण मुखोपाध्याय, वंगाब्द १३१२
१३. गोदा गीतावली	पं० वागीशाचार्य शास्त्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सं० २०२४
१४. चतुर्दण्डी-प्रकाशिका	व्यंकटमखी, संपा० पं० एस्० सुब्रह्मण्य शास्त्री, म्यूज़िक ऍकेडेमी, मद्रास, १९३४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१५. छन्दःप्रभाकर	जगन्नाथप्रसाद भानु, जगन्नाथ प्रेस, विलासपुर, १९३९
१६. छन्दोऽनुशासन	हेमचन्द्र सूरि, भारतीय विद्याभवन, बंबई, १९६१
१७. छान्दोग्योपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० १९९४
१८. जयदामन्	संपा० एँच्० डी० वेलणकर, हरितोशमाला समिति, बंबई
१९. तबला मृदंगवादन-पद्धति	गुरुदेव पटवर्धन व बलवन्तराव वैद्य, ना० वि० पटवर्धन, १९४९
२०. तबला-वादन	विनायकराव पेंढारकर, बसन्त प्रकाशन, मुंबई, १९४७
२१. तबला-विज्ञान	लालमणि मिश्र, गांधी संगीत विद्यालय, कानपुर, सं० २००७
२२. तालदीपिका—भाग-१, २, ३ और ४	ले० व प्रका० मन्नूजी महाराज दत्तिल, संगीत कार्यालय, हाथरस, १९६०
२३. दत्तिलम्	दत्तिल, संगीत कार्यालय, हाथरस, १९६०
२४. दलपतपिंगल	दलपतराम, गुजरात विद्या सभा, अहमदावाद, १९४९
२५. नाट्यशास्त्रम्-प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ खण्ड	भरत, (अभिनवभारती सहित), ओरि० इं०, बड़ौदा, १९५६, १९३४, १९५४, १९६४
२६. नादविनोद ग्रंथ	गो० पन्नालाल, नारायणदास जंगलीमल, दरीबा कला, दिल्ली
२७. नारदीयाशिक्षा	नारद मुनि, टीका० शोभाकर भट्ट, पीताम्बर पीठ, संस्कृत परिषद्, दतिया (म प्र.) प्रथम संस्करण
२८. पल्लव	सुमित्रानन्दन पन्त
२९. प्रज्ञा, वा० ८ (२), १९६३	बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
३०. प्राकृत पैंगलम् भाग-२	संपा० डा० भोलाशंकर व्यास, प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी, १९५९
३१. बांगलार कीर्तन ओ कीर्तनिया	डा० हरेकृष्ण मुखोपाध्याय, साहित्य संसद, कलकत्ता
३२. बृहत्पिंगल	रामनारायण पाठक, गुजराती साहित्य परिषद्, मुंबई, १९५५
३३. बृहच्छार्ङ्गधरपद्धति	शार्ङ्गधर, बनारसी प्रसाद, १९३१
३४ बृहद्देशी	मतंग, संपा० के० साम्बशिव शास्त्री, त्रावनकोर संस्कृत सीरीज, १९२८
३५. बौद्ध गान ओ दोहा	म० हरप्रसाद शास्त्री
३६. भरत का संगीत सिद्धान्त	कैलासचन्द्रदेव बृहस्पति, सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश, १९५९
३७. भारतीय तालमंजरी	ले. व प्रका० गोविंदराव बुरहानपुरकर, प्रथम संस्करण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३८. भारतीय संगीत भाग-१ — ले० व प्रका० कृ० ग० मुळे, पोर्चुगीज़ चर्च रोड, दादर, मुंबई, १९४०

३९. भारतीय संगीत का इतिहास — श्रीधर शरच्चन्द्र परांजपे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफ़िस, वाराणसी, १९६९

४०. भारतीय संगीते ताल ओ छंद — ले० प्रका० सुबोध नन्दी, बंगाब्द, १३६९

४१. यंत्रक्षेत्रदीपिका — सुरेन्द्रमोहन टैगोर, कालीप्रसन्न बनर्जी, कलकत्ता, द्वितीय संस्क०

४२. मराठी, साहित्य व व्याकरण — कै० मो० स० मोने, दामोदर त्र्यंबक जोशी, १९४९

४३. मादनुल मौसीक़ी — मुहम्मद करम इमाम, संगीत कार्यालय, हाथरस

४४. मानसोल्लास-भाग ३ — सोमेश्वर भूप, ओरि० इं०, बड़ौदा, १९६१

४५. याज्ञवल्क्यस्मृति — योगी० याज्ञवल्क्य, संपा० रामनारायण आचार्य, निर्णय-सागर प्रेस, बंबई, १९४९

४६. रघुवंश (कालिदास ग्रंथावली) — कालिदास, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, सं० २०१९

४७. रसकौमुदी — श्रीकण्ठ, संपा०ए०ऍन्० जानी, ओरि०इं०, बड़ौदा, १९६३

४८. रसिकप्रिया टीका — कुम्भकर्ण, संपा०म०रा० तैलंग व वा०ल० शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९२३

४९. रागकल्पद्रुम प्रथम खण्ड — कृष्णानन्द व्यास, संपा० नागेन्द्रनाथ वसु, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, १९१४

५०. रागकल्पद्रुम द्वितीय खण्ड — कृष्णानन्द व्यास, संपा० नागेन्द्रनाथ वसु, रामकमल सिंह, कलकत्ता, सं० १९७३

५१. राधागोविंदसंगीतसार — महा० प्रतापसिंह देव, बलवन्त त्र्यम्बक सहस्रबुद्धे, १९१०

५२. वायुपुराण — आनन्दाश्रम संस्क०

५३. विक्रमोर्वशीयम् (कालिदास ग्रंथावली) — कालिदास, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, तृतीय संस्क०

५४. विष्णुधर्मोत्तरपुराण तृतीय खण्ड — ओरि० इं० बड़ौदा

५५. वैदिक छन्दोमीमांसा — युधिष्ठिर मीमांसक, हंसराज कपूर, अमृतसर, १९५९

५६. शर्वाणी — अनूप शर्मा

५७. संगीत कलाधर — डाह्याभाल शिवराम, छन्नालाल डाह्याभाल नायक छन्नूलाल डाह्याभाल नायक, १९३८

५८. शृंगार-युग में संगीत-काव्य — डॉ. हेम भटनागर, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

५९.	संगीत (मासिक पत्रिका)	संगीत कार्यालय, हाथरस, मार्च-अप्रैल १९७२
६०.	,, ,, ,,	,, ,, ,, जनवरी १९७०
६१.	संगीत चिन्तामणि	बृहस्पतिजी व श्रीमती सुमित्रा कुमारी, संगीत कार्यालय, हाथरस, १९६६
६२.	संगीत चूडामणि	जगदेकमल्ल, संपा०डी०के० वेलणकर, ओरि०इं०, बड़ौदा, १९५८
६३.	संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ	नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य भवन लि० इलाहाबाद, १९५५
६४.	संगीतदर्पण	चतुर दामोदर, सरस्वती महल, तंजौर, १९५२
६५.	संगीतदामोदर	शुभंकर, संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता, १९६०
६६.	संगीतनारायण	गजपति नारायणदेव, ओडिशा संगीत नाटक अकादमी, भुवनेश्वर, १९६६
६७.	संगीतपारिजात	अहोबल, संगीत कार्यालय, हाथरस, तृतीय संस्क०
६८.	,, ,,	अन्य संस्क०
६९.	संगीतमकरन्द	नारद, संपा० मं० रामकृष्ण तैलंग, ओरि० इं० बड़ौदा, १९२०
७०.	संगीतरत्नाकर प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ खण्ड	शार्ङ्गदेव, संपा० पं० सं० सुब्रह्मण्य शास्त्री, आड्यार लाइब्रेरी, १९४३, १९५९, १९५१, १९५३ तथा आनन्दाश्रम संस्क०
७१.	संगीतसुधा	रघुनाथ भूप, म्यूजिक ऐकेडेमी, मद्रास, १९४०
७२.	संगीतसुधाकर	सिंहभूपाल, संगीतरत्नाकर के आड्यार संस्क० के साथ प्रकाशित
७३.	संगीतराज प्रथम खण्ड	महा० कुम्भकर्ण, संपा० डॉ० प्रेमलता शर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६३
७४.	संगीतराज द्वितीय खण्ड	अप्रकाशित
७५.	संगीतशास्त्र	के० वासुदेव शास्त्री, सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश, १९५८
७६.	संगीतसारामृत	तुलजेन्द्र, संपा० पं० सुब्रह्मण्य शास्त्री, संगीत विद्वत्सभा, मद्रास, १९४२
७७.	संगीतसमयसार	पार्श्वदेव, संपा० आचार्य बृहस्पति, श्री कुन्द कुन्दभारती, दिल्ली, १९७७
७८.	संगीताञ्जलि-भाग १	ले० व प्रका० पं० ओम्कारनाथ ठाकुर, १९७७
७९.	,, भाग २	,, ,, ,, ,, १९७५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

८०.	,, भाग ३	,, ,, ,, ,, १९५५
८१.	,, भाग ४	,, ,, ,, ,, १९५७
८२.	,, भाग ५	,, ,, ,, ,, १९५८
८३.	,, भाग ६	,, ,, ,, ,, १९६२
८४.	संगीतोपनिषत्सारोद्धार	सुधाकलश, संपा० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, ओरि० इं०, बड़ौदा, १९६१
८५.	सहसरस	संपा० डॉ० प्रेमलता शर्मा, संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली, १९७२
८६.	सूरसाहित्य का छन्द.शास्त्रीय अध्ययन	डॉ० गौरीशंकर मिश्र, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्क०
८७.	स्तोत्ररत्नावली	गीता प्रेस, गोरखपुर, बीसवाँ संस्क०
८८.	स्वयम्भूच्छन्दः	स्वयम्भू, संपा० ह० दा० वेलणकर, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, १९६२
८९.	हिन्दी कवियों का छन्द:शास्त्र को योगदान	डॉ. जानकीनाथ सिंह 'मनोज', लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रथम संस्क०
९०.	हिन्दी के कृष्णभक्ति-कालीन साहित्य में संगीत	डॉ० उषा गुप्त, लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २०१६
९१.	हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान	डॉ० नामवर सिंह
९२.	हिन्दी पदपरम्परा और तुलसीदास	डॉ० रामचन्द्र मिश्र, हिन्दी साहित्य संसार, १९६२
९३.	हिन्दी साहित्य का अतीत	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्क०
९४.	हिन्दी साहित्य का आदिकाल	हजारीप्रसाद द्विवेदी
९५.	हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका भाग ३, ४	वि० ना० भातखण्डे, संगीत कार्यालय, हाथरस
९६.	A Dictionary of South Indian Music & Musicians-Vol II	P. Sambmoorthy, Indian Music Publishing House, Madras, 1949
९७.	A Study of Dattilam	Mukund Lath
९८.	History of Classical Sanskrit Literature Vol. I	S. N. Dasgupta & S. K. De, University of Calcutta, 1947
९८.	Indian Music Journal-No. 6	Delhi Sangit Samaj, 1966

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

९९. Journal of Madras Music Academy (Parts I-IV) — V. Raghavan, 1964
Vol. XL — ,, 1970

१००. South Indian Music Book I, II, III, IV, V — P. Sambmoorthy, Indian Music Publishing House, Madras, 1966, 1968, 1964, 1963, 1963

१०१. Suladis and Ugabhogas of Karnataka Music — R. Sathyanarayana, Varalakshmi Academy, Mysore

१०२. The Poona Orientalist-Vol. VIII — 1943

(ख) पाण्डुलिपि

(१) अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में प्राप्य

	नाम	लेखक	संख्या
१.	अनूपसंगीतरत्नाकर	भावभट्ट	३३४६, ३३५७, ३३५९
२.	अनूपसंगीतविलास	,,	३३६९, ३३७९, ३३७१, ३३८१
३.	अनूपसंगीतांकुश	,,	३३८८, ३३९४, ३३९०, ३३९६
४.	नर्तननिर्णय	पुण्डरीक विट्ठल	३४०७, ३४०८, ३४१०, ३४१२

(२) गवर्नमेंट ओरियन्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास में प्राप्य

५.	अभिनवभारती	अभिनवगुप्त	२७७४
६.	अर्जुनादिमतसार	संग्रह. वेंकटाचार्य	३०७०
७.	तालचन्द्रिका	विरूपाक्ष	१३८८५
८.	तालदशप्राणप्रकरणम्		१२९९०
९.	तालदीपिका	गोपति	७७०
१०.	ताललक्षणम्		७९७७
११.	नृत्तताललक्षणम्		१३००३
१२.	संगीतरत्नाकर	शार्ङ्गदेव	डी १३०१९
१३.	संगीतसुधाकर	हरिपालदेव	७७९
१४.	संगीतसूर्योदय	लक्ष्मीनारायण	५५१०

(३) अन्य

१५.	आनन्दसञ्जीवनम्	मदनपाल	संगीतशास्त्र विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रति
१६.	भरतभाष्य	नान्यदेव	,,
१७.	संगीतपाठ	मदन पाल	,,
१८.	संगीतशिरोमणि	पंडित मण्डली	,,
१९.	संगीतसारोद्धार	शारदानन्दन	,,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२६	१४	१०-लघ्वक्षर	१० लघ्वक्षर
,,	नीचे से छठी	द्रष्टव्या:	द्रष्टव्य:
२८	५	तरहवा तिक	तरह वार्तिक
४३	नीचे से दूसरी	कल्लिप.	कल्लि.
४४	५	घ्र ु वका	घ्र वका
४६	९	,,	,,
,,	१३	ताल।श्रित	तालाश्रित
६५	२३	रखा हैं	रखा है
,,	२७	गया हैं	गया है
,,	नीचे से दूसरी	२५६	२५५
६८	२	विच्छेद	विच्छेद
६९	३	पक्ष	पक्ष:
७६	४	प्रस्तारों की सूचक है	प्रस्तारों के सूचक हैं
,,	११	जान ने	जानने
७८	पैरा २, पंक्ति २	प्राप्त	प्राप्त
८४	नीचे से पाँचवीं	द्रु त्र	द्रु त
,,	,, ,, चौथी	ओर से तथा ऊपर से	ओर से ऊपर से
८९	१९	पंक्तियो में	पंक्तियों में
९५	१५	दिया गया हैं	दिया गया है
९७	१३	तालदशप्राणकरणम्	तालदशप्राणप्रकरणम्
१००	९	निरुपण	निरूपण
१०६	अंतिम	१२६	१२५
११५	१४	यद	यह
११६	नीचे से चौथी	है	हो
११७	१३	हीनमानाख्य . . .	हीयमानाख्य . . .
१२१	२६	ठींक	ठीक
,,	२९	भी प्रमाणभूत	ही प्रमाणभूत
१२४	२	ब्रहुत	बहुत
१५५	अंतिम	२०४	२०२
१५९	२२	शब्द प्रयोग	शब्द का प्रयोग

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१६१	अंतिम	७वाँ	८वाँ
१७१	४	स्वर वही	स्वर वही)
१७३	५	आनिवित्र	आनिविप्र
,,	१३	(एककल)	(एककल जैसी)
१७४	नीचे से सातवीं	ताशतास	ताशतासं
१७७	२१	४. अंगों का	४ अंगों का
१७९	१६	अन्त तक के	अन्त के
१८३	७-८	कलान्तरसमाप्त..गता..	कलान्तरसमाप्तगता....
१८४	२५	स्थान है। ताण्डव	स्थान है और ताण्डव
१८५	नीचे से चौथी	दिगिनिग	दिगिनिगि
१८९	४	स्वरूपतस्तु	स्वरूप(त)स्तु
१९६	२८	तस	इस
२५६	३	उसकी दुगनी····चौगुनी लय में	उठान का स्थान बदल-बदल कर विशेष प्रकार से
३८२	७	। । ।	।० । ।
,,	,,	।१३ । ।	।० । ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai